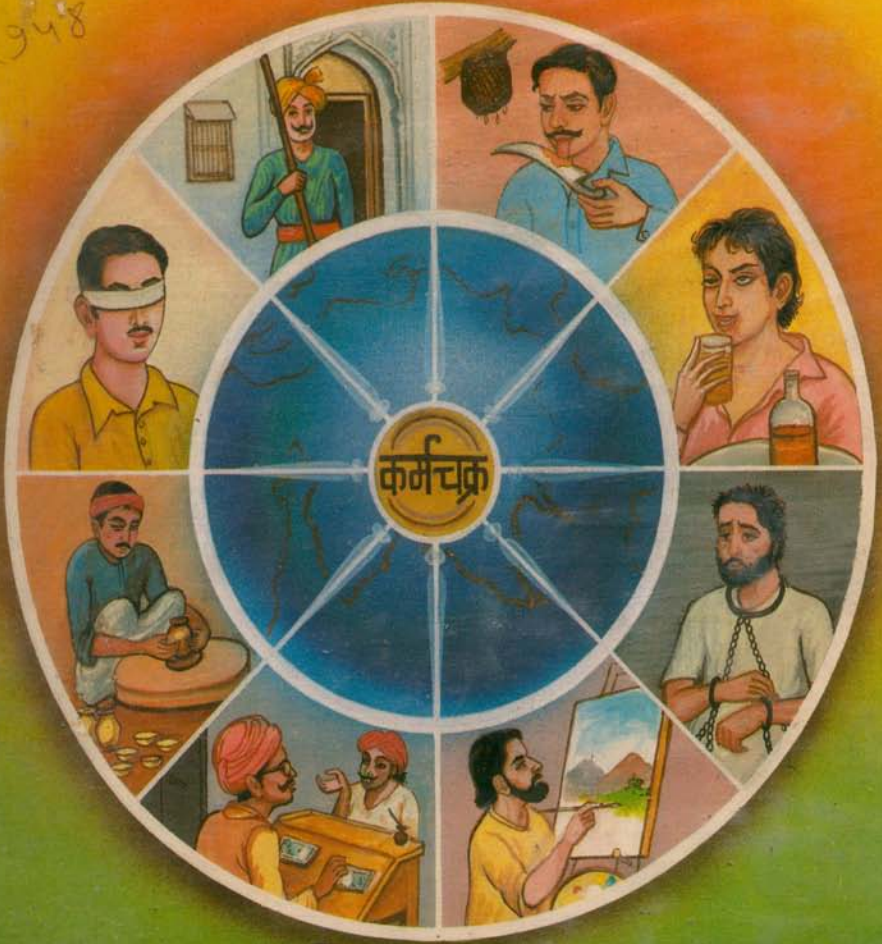


2348
अपाचार्य देवेन्द्र मुनि



कर्म-विज्ञान





• भगवान श्री महावीर का उदात्त चिन्तन/एवं तत्व दर्शन जीव मात्र के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त करता है। यही वह परम पथ है, जिस पर चलकर मानव शान्ति और सुख की प्राप्ति कर सकता है।

वर्षों से मेरी भावना थी कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अध्यात्म एवं तत्वचिन्तन को सरल शैली में प्रामाणिक दृष्टि से जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। अपने उत्तराधिकारी विद्वान चिन्तक उपाचार्य देवेन्द्रमुनि जी के समक्ष मैंने अपनी भावना व्यक्त की, तब उन्होंने मेरी भावना को बड़ी श्रद्धा और प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया, शीघ्र ही आपने जैन नीतिशास्त्र, अप्पा सो परमप्पा, सद्धा परम दुल्लहा, जैसे गंभीर विषयों पर बहुत सुंदर सरस साहित्य प्रणयन करके मेरी अन्तर भावना को साकार किया, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

अब आपने कर्मविज्ञान नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का सृजन कर जैन साहित्यश्री को श्रृंगारित किया है। कर्मवाद जैसे गहन और अतीव व्यापक विषय पर इतना सुन्दर, आगमिक तथा वैज्ञानिकदृष्टि से युक्तिपुरस्सर विवेचन उन सबके लिए उपयोगी होगा जो आत्मा एवं परमात्मा; बंधन एवं मुक्ति तथा कर्म और अकर्म की गुत्थियां सुलझाना चाहते हैं। मैंने इस ग्रन्थ के कुछ मुख्य-मुख्य अंश सुने, बहुत सुन्दर लगे। मुझे विश्वास है, उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी का यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ जैन साहित्य की एक मूल्यवान मणि सिद्ध होगी।

—आचार्य जानन्दरूपि

कर्म-विज्ञान

(द्वितीय भाग)

(कर्म-सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

पूज्य उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी महाराज की ८२वीं जन्म
जयन्ती के शुभ अवसर पर प्रकाशित

श्री तारक गुरुजैन ग्रन्थालय का पुष्प : २८७

- कर्म विज्ञान
(द्वितीय भाग)

- उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

- प्रथम आवृत्ति
वि. सं. २०४८
आश्विन शुक्ला १४
२२ अक्टूबर १९९१

- प्रकाशक-प्राप्तिस्थान
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर
पिन : ३१३००१ (राज.)

- मुद्रण-प्रकाशन
संजय सुराना द्वारा
कामधेनु प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स
ए-७, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड,
आगरा २८२००२ फोन ६८३२८

- मूल्य ●

लागत मात्र रु. ८०/ मात्र (अस्सी रुपया सिर्फ)

समर्पित

शुत-ज्ञान के अनन्य आराधक
जैन आगमों के प्रथम हिन्दी टीकाकार
श्रमण संघ के प्रथम आचार्य—

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

तथा

शम-दम-सम भाव की मंगल मूर्ति

राष्ट्रसन्त

आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज,

आचार्य-द्वय के

दीक्षा एवं जन्म शताब्दी समारोह के पावन-प्रसंग पर
सविनय समर्पित

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय बोल

"धर्म और कर्म" अध्यात्म जगत के दो अद्भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म मनुष्य के भोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म, बंधन का। बन्धन और मुक्ति का ही यह सगस्त खेल है। प्राणी/कर्मबद्ध आत्मा, प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

"कर्मवाद" का विषय बहुत गहन है, तथापि कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत के महान मनीषी, चिन्तक/लेखक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने "कर्मविज्ञान" नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग २५०० पृष्ठ का होने से हमने चार भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तीसरे भाग में आम्रव-संवर की विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। विषय परस्पर सम्बद्ध होने से दूसरे-तीसरे भाग की पृष्ठ संख्या भी क्रमशः रखी गई है।

प्रथम भाग का प्रकाशन पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. की ८१वीं जन्म-जयंती के प्रसंग पर किया जा चुका है।

अब द्वितीय भाग पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इसके प्रकाशन में दानवीर डा. चम्पालाल जी देसरड़ा, औरंगाबाद का अपूर्व योगदान मिला है जो उनकी साहित्यिक अभिरुचि तथा उपाध्यायश्री और उपाचार्यश्री के प्रति अपार आस्था का द्योतक है। ऐसे तेजस्वी धर्मनिष्ठ युवक सुश्रावक पर हमें सात्विक गर्व है। हम उनके आभारी हैं। साथ ही साहित्यसेवी श्रीमान् श्रीचन्द्र जी सुराना "सरस" ने बड़ी तत्परता के साथ इस का सुन्दर मुद्रण व साज-सज्जा युक्त प्रकाशन कर समय पर प्रस्तुत किया; हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

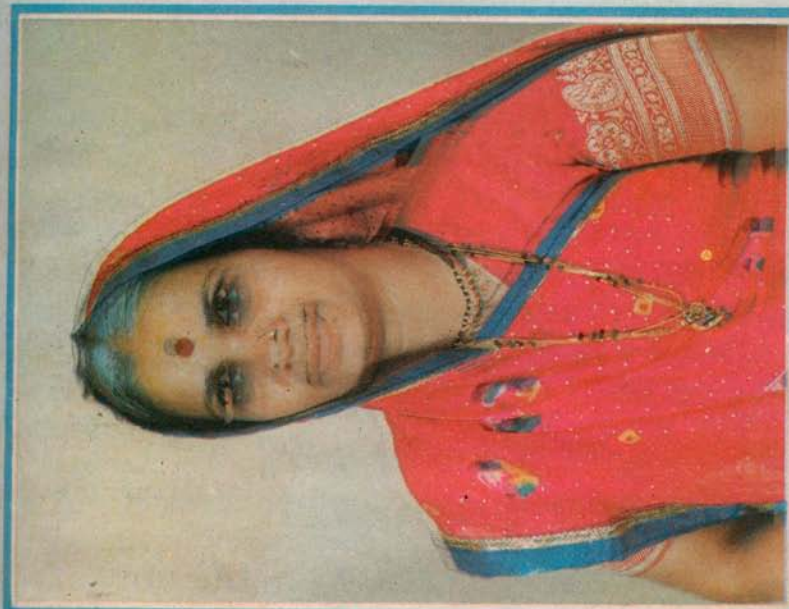
आशा है, पाठक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष



परम गुरुभक्त डा. चम्पालालजी फूलचन्दजी देसरडा



धर्मशीला सौ. प्रभादेवी चम्पालाल जी देसरडा

उदार हृदय डॉ. चम्पालाल जी देशरडा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में, परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डा. श्री चम्पालाल जी देशरडा एवं सौ. प्रभा देवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया। आप में धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाज हित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारता पूर्वक दान देते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले पुरुषों में हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकू बाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारंभ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवास के कारण धातुशास्त्र [Metallurgical Engineering] में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्रीमान मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभा देवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभा देवी धर्म परायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को "धम्मसहाया" विशेषण दिया है। वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है।

आपके सुपुत्र हैं—श्री शेखर। वह भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। अभी इन्जिनियरिंग परीक्षा समुत्तीर्ण की है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीता देवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं—कुमारी सपना और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिण केसरी मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कालेज, गुरु गणेश नगर, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं।

सन् 1988 में श्रेष्ठेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका उपाचार्य श्री से सम्पर्क हुआ। उपाचार्य श्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान भाग-2 के प्रकाशन में आपश्री ने विशेष अनुदान प्रदान किया है। तदर्थ संस्था आपकी आभारी रहेगी।

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं :

Prastishthan Alloy Castings

Parason Enterprises

Aurangabad (M. S.)

—**चुत्रीलाल धर्मवत**
कोषाध्यक्ष

लेखक की कलम से

कर्म: एक अनिवार्य ऊर्जा-शक्ति

कर्म एक ऐसी ऊर्जा (energy) अथवा शक्ति (force) है, जो संसार के प्राणीमात्र की क्रियाशीलता, तथा वृत्ति-प्रवृत्ति को संचालित करती है।

प्राणीमात्र और विशेष रूप से मानवमात्र की यह विवशता अथवा अनिवार्यता है कि उसे सक्रिय रहना ही पड़ता है। स्वेच्छा से अथवा विवशतावश उसे कोई न कोई क्रिया करनी ही पड़ती है। प्राणी क्षणभर भी निष्क्रिय या क्रिया रहित नहीं रह पाता। अंग्रेजी लोकोक्ति है--

Activity is life

(कर्मठता अथवा क्रियाशीलता ही जीवन है।)

कर्म की सत्ता विश्वव्यापी

इस क्रियाशीलता की प्रेरक शक्ति है, कर्म। इसी अपेक्षा से कर्म की सत्ता विश्वव्यापी है। प्रत्येक प्राणी में उसकी अवस्थिति है।

सामान्य दृष्टि से निद्राधीन व्यक्ति को अकर्म या निष्क्रिय कह दिया जाता है, परन्तु निद्रा भी जीवन की गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए उपयोगी है, सहायक है। साधारण भाषा में कर्म न होते हुए भी, वह शरीर एवं मस्तिष्क को सक्षम तथा गतिशील रखने के लिए आवश्यक और अनिवार्य है, इसलिए निद्रा भी एक क्रिया है, कर्म भी है, और दर्शनावरणीय कर्म के एक उपभेद का फलभोग भी है।

इसी प्रकार जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रक्रिया, गति, प्रगति, उन्नति, अवनति में कर्म एक अनिवार्य और उपयोगी कारक है।

कर्म का त्रिविध रूप

कर्म मानसिक भी होता है, वैचारिक भी और कायिक भी। मस्तिष्क में प्रवाहित होने वाली विचार तरंगें मानसिक कर्म हैं। वचन की प्रवृत्ति वाचसिक कर्म और काया (शरीर) द्वारा की जाने वाली प्रवृत्तियां कायिक कर्म कहलाती हैं।

मन, वचन और काया मानव के पास ये तीन ही योग हैं अथवा साधन हैं, जिन से वह कर्म करता है, करवाता है तथा अन्यो द्वारा किये जाने वाले कृत्यों से सहमति व्यक्त करता है।

कर्मशास्त्र अथवा कर्म विज्ञान

मन-वचन-काया की ये क्रियाएं, प्रवृत्तियां, शुभ एवं कल्याणकारी, अपने और दूसरों के हित में भी होती हैं, और अहित में भी। प्राणी को इनके शुभ-अशुभ फल भी भोगने पड़ते हैं। क्योंकि कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। क्रिया की प्रतिक्रिया और फिर प्रतिक्रिया की क्रिया—यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है।

कर्मशक्ति का भी इसी प्रकार चक्र अनवरत रूप से प्रवृत्तमान रहता है। किस कर्म का, कैसा फल प्राप्त होगा, इस विषय पर अनेक विचारकों और मनीषियों ने गहराई पूर्वक चिन्तन-मनन करके अपने-अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। तीर्थंकर या सर्वज्ञों ने जहां अपने निर्मल ज्ञानानुभव से इस विषय की अतल गंभीरता उद्घाटित की है, वहीं विद्वानों के तर्क, युक्ति, प्रमाण एवं लोकानुभव के आधार पर तथा वैज्ञानिकों ने विविध अनुसन्धान एवं प्रयोगों के आधार पर क्रिया या कर्म की फल निष्पत्ति पर प्रकाश डाला है।

इन संग्रहीत एवं एकीकृत निष्कर्षों को ही कर्मवाद, कर्मशास्त्र आदि के रूप में संकलित किया गया है।

जैन दर्शन ने इस विषय में अधिक गहराई से चिन्तन करके कर्मों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है। तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उसके प्रत्येक पहलू को, परिणामों को प्रज्ञा-निकर्ष पर कसकर, एक-निश्चित आकृति एवं अवस्थिति दी है। यह अवस्थिति ही अपनी वैज्ञानिकता के कारण कर्म-विज्ञान के रूप में प्रस्थापित हुई।

कर्म-विज्ञान को समझने वाला व्यक्ति जीवन में कभी भी निराश, हताश और शोकाकुल नहीं होता; क्योंकि वह जानता है, जो कुछ आज मेरे जीवन में हो रहा है, वह मेरे द्वारा किये हुए कर्म का ही परिणाम है, और यह अवश्यमेव भोगना है, और जो कुछ आज कर रहा हूँ उसका भी फल परिणाम रूप में कल मुझे भोगना होगा। अपनी सफलता और असफलता, सुख और दुःख का जिम्मेदार मैं स्वयं हूँ, इसलिए इन प्राप्त फलों के भोग के समय सदा शान्त, प्रसन्न और समभाव में स्थित रहना ही मेरा कर्तव्य है।

इस प्रकार जीवन में शान्ति और मानसिक संतुलन बनाये रखने का मूल रहस्य कर्म-सिद्धान्त के ज्ञान में सन्निहित है।

यह जैन कर्म-विज्ञान की विशेषता भी है और सर्व स्वीकार्य महत्ता भी।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत पुस्तक जैन कर्म-विज्ञान का द्वितीय भाग है। इससे पहले प्रथम भाग छप चुका है। उसमें तीन खण्ड हैं। उसके प्रथम खण्ड में "कर्म का अस्तित्व" अनेक प्रमाणों, युक्तियों व वैज्ञानिक मान्यताओं के आधार से सिद्ध किया गया है। दूसरे

खण्ड "कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यावलोकन" में प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान युग तक की कर्मवाद की विकास यात्रा का बहुआयामी वर्णन हुआ है। तृतीय खण्ड में कर्म के विराट स्वरूप का दिग्दर्शन है।

प्रस्तुत द्वितीय भाग के अन्तर्गत दो खण्ड हैं। (१) चतुर्थ खण्ड एवं (२)

पंचम खण्ड।

१-चतुर्थ खण्ड में कर्मविज्ञान अथवा कर्मों की उपयोगिता, महत्ता और विशेषताओं का विवेचन है।

कर्म विज्ञान अथवा कर्मों का ज्ञान आध्यात्मिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार और कितना उपयोगी है, इसका समीचीन दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है।

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति उन्नति एवं सुख ही चाहता है, अवनति और दुःख कोई नहीं चाहता। लेकिन जब तक उसे यह ज्ञात न हो कि किस प्रकार के कर्मों से, किस प्रकार की क्रिया और प्रवृत्ति से उन्नति होगी, सुख मिलेगा, कल्याण होगा, तब तक वह उपयोगी क्रिया नहीं कर पाता। कर्म एवं कर्मफल के सम्यग् ज्ञान के अभाव में उन्नति एवं सुख की कामना सिर्फ एक सपना मात्र बनकर रह जाती है।

इस खण्ड में विविध उदाहरणों, रूपकों तथा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचना से यह स्पष्ट किया गया है कि कर्मशास्त्र का ज्ञान किस प्रकार मानव की सर्वांगपूर्ण उन्नति में उपयोगी हो सकता है।

आध्यात्मिक अथवा आत्मिक उन्नति के कौन-कौन से सोपान हैं ? व्यक्ति किस प्रकार की क्रिया करे कि उसका व्यावहारिक जीवन सुखी हो; वह समाज, राष्ट्र और मानवता के लिए उपयोगी बन सके और अपने जीवन की कृतकृत्यता अनुभव कर सके।

नैतिकता का धार्मिकता से अटूट सम्बन्ध है। नैतिक व्यक्ति ही धार्मिक, व्यवहारकुशल और समाजोपयोगी होता है। नैतिक आदर्शों का मूल आधार कर्म सिद्धान्त ही है।

कर्मवाद के साथ समाजवाद की तुलना करके इन दोनों की संगति और विसंगति का भी उचित मूल्यांकन किया गया है।

कर्मवाद को कुछ लोग भाग्यवाद मानकर यह आक्षेप करते हैं कि कर्मवाद मानव को निराशावदी तथा आलसी, प्रमादी और कल्पना-जीवी बनाता है, उसे पुरुषार्थहीन कर देता है, वह सोच लेता है—जैसा कर्म में (भाग्य में) लिखा होगा, वैसा ही होगा, फिर पुरुषार्थ से क्या लाभ ?

लेकिन इस भ्रान्ति का निरसन विभिन्न उदाहरणों और सैद्धान्तिक रूप से करके यह स्थापित किया गया है कि कर्मवाद पुरुषार्थयुक्त आशावाद है। कर्मवाद को भलीभांति जानने वाला कभी निराशावादी नहीं हो सकता। वह पुरुषार्थ को प्रधानता देकर अपने दुर्भाग्य को सीभाग्य में बदलने के प्रयास करता है। कर्मवाद की रेल भाग्यवाद की वैशाखी पर नहीं परन्तु पुरुषार्थ की पटरी पर ही चलती है। उद्घर्तन, संक्रमण आदि के सिद्धान्त मनुष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हैं।

इसी प्रकार कर्म-फल विषयक धारणाओं को लेकर यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्मों का फल सामूहिक भी होता है और व्यक्तिगत भी। कर्मवाद न केवल व्यक्तिगत है, न केवल समूहगत, किन्तु उसका नियम सर्वत्र लागू होता है।

२-पाँचवें खण्ड "कर्मफल के विविध आयाम" में कर्मकर्ता, फलभोक्ता तथा कर्मफल-प्रदाता कौन है? इस सम्बन्ध में विशद विवेचन किया गया है।

जैन कर्मविज्ञान का निश्चित सिद्धान्त है कि ईश्वर या भगवान नाम की कोई विशिष्ट शक्ति कर्मफल-प्रदाता नहीं है। प्राणी के पुरुषार्थ संयोग से कर्मों में ही ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे स्वयं ही प्राणी को उसके किये कर्मों का फल भुगतवा देते हैं। कर्म ईश्वर का प्रतिनिधि भी नहीं है, वह प्राणी के पुरुषार्थ का और उसकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है।

जैसे शराब अथवा किसी मादक द्रव्य का सेवन कोई पुरुष कर लेता है तो मद्य उसे स्वयं ही मदमत्त बना देती है। इसी प्रकार कृत कर्म स्वयं ही जीव को फल प्रदान कर देते हैं, इसके लिए ईश्वर आदि किसी अन्य माध्यम (Intermediary) की आवश्यकता ही नहीं है।

कुछ विचारकों का कर्मवाद पर ऐसा आरोप है कि कर्मों का फल तत्काल मिलना चाहिए। ऐसे तत्काल-फलवादियों के भ्रम निवारण हेतु कर्मों के नियमों का स्पष्टीकरण करके उनके इस आक्षेप का निरसन भी किया गया है।

इस विषय में एक सीधा सा व्यावहारिक दृष्टान्त है—कोई बालक मोन्टेसरी की शिक्षा प्रारम्भ करते ही डाक्टर, वकील, इन्जीनियर नहीं बन जाता, उसे कम से कम २०-२५ वर्ष लगते हैं। बीज को अंकुरित होकर वृक्ष बनने व फलदायी बनने में भी समय तो लगता ही है। इसी प्रकार कर्म को परिपक्व होकर फल प्रदान करने में भी समय अपेक्षित है।

यह समय कितना होगा?—यह कर्मकर्ता की मानसिक स्थिति पर निर्भर है। यदि तीव्र रोष, द्वेष, लोभ आदि की भावना से उसने कर्म किया है तो उसका फल इस जन्म में भी मिल सकता है और आगामी जन्मों में भी प्राप्त हो सकता है।

वास्तव में कर्म की त्रैकालिक व्यवस्था है। पिछले जन्म में किये हुए कर्मों का फल इस जन्म में मिल सकता है और इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल आगामी जन्मों में भी प्राप्त हो सकता है।

ऐसा भी नहीं है कि इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल, इसी जन्म में न मिले। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि चोरी, हत्या, परस्त्रीगमन आदि पापों का फल इस जन्म में मिल जाता है, ऐसे लोगों को जेलखाने की कठोर सजा भोगनी पड़ती है। बहुत से क्रूर कर्मों का फल तत्काल हाथोंहाथ मिलता भी देखा/सुना जाता है।

सार यह है कि अन्य भौतिक विज्ञानों, मनो-विज्ञान आदि के समान कर्मों (कर्म-विज्ञान) के भी कुछ निश्चित नियम और सिद्धान्त हैं तथा उन्हीं के अनुसार उनका फलभोग प्राप्त होता है।

इस सिद्धान्त को जैन आगम तथा अन्य धर्म शास्त्रों के विविध उदाहरण देकर प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट कर दिया गया है।

यह सामान्य तथ्य है कि शुभ कर्मों अथवा पुण्य से आत्मा का उत्थान होता है और अशुभ कर्म अथवा पाप से पतन; किन्तु कुछ ऐसे अकुशल व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें सभी प्रकार के अनुकूल साधन और परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, शुभ कर्माद्य होता है, फिर भी वे उन सुविधाओं को प्राप्त करके अपना आत्मिक पतन कर लेते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी आत्मिक उन्नति के पथ पर बढ़ जाते हैं। यह मानवों की सुप्रवृत्ति और दुःप्रवृत्तियों का लेखा-जोखा है।

आधुनिक भौतिक एवं चिकित्सा वैज्ञानिक उन्नति से समायोजन करते हुए संसार की कर्म-विज्ञानसम्मत शाश्वत और प्रयत्नसाध्य दो प्रकार की व्यवस्थाएं बताई गई हैं। मानव द्वारा जितनी भी उन्नति हुई है, वह संसार की प्रयत्नसाध्य व्यवस्था है।

इसके अतिरिक्त जन साधारण और यहाँ तक कि विद्वानों, मनस्वियों में फैले इस भ्रम, कि पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है अथवा पुण्यात्मा धनी होते हैं, को प्रमाण पुरस्सर तकों और चिन्तनपूर्ण अभिव्यक्तियों द्वारा निरस्त करके पुण्य के पर्याय स्वरूप का निर्णय किया गया है। जो सभी के लिए मननीय है।

इसी प्रकार अभावग्रस्तता, दीन-हीन दशा आदि पाप का फल है, इस भ्रम को भी उत्सर्गित करके यह प्रतिपादित किया गया है कि पाप प्रवृत्ति के साथ-साथ प्राणी की पुरुषार्थहीनता भी इन अभाव तः। दुर्दशाओं के लिए जिम्मेदार है।

इस प्रकार कर्मविज्ञान द्वारा पुरुषार्थ का महत्व एवं उपयोगिता को स्थापित करके आशावादी दृष्टिकोण की प्रेरणा दी गई है।

कर्मवाद का विषय बहुत ही गंभीर और व्यापक है। प्राचीन ग्रन्थों में तो इस विषय पर विपुल मात्रा में चिन्तन किया ही गया है, परन्तु वर्तमान विचारकों, विद्वानों और नीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विवेचकों ने भी बहुत प्रयोगों द्वारा इस विषय को पर्याप्त सुस्पष्टता दी है। जिसके आधार पर हम

जैन कर्म-सिद्धान्त की व्यापकता और सत्यता का निस्संकोच प्रतिपादन कर सकते हैं। मैंने अनेकानेक ग्रंथों के परिशीलन से जो तथ्य/सत्य प्राप्त किये हैं, उन्हीं के आधार पर मैंने यह व्यापक ग्रंथ तैयार करने का प्रयास किया है और यह प्रमाणित करने का यथासम्भव प्रयत्न किया है, कि कर्म-बन्धन एवं कर्म-फलभोग की प्रक्रिया समझ लेने पर जीवन में कभी भी निराशा/हताशा का मुंह नहीं देखना पड़ता, अस्तु!

प्रारम्भ में सम्पूर्ण विषय को दो भागों में ही प्रकाशित करने की योजना थी, परन्तु ज्यों-ज्यों लेखन होता गया, ग्रंथ का आकार-प्रकार भी बढ़ता चला गया और अब लगता है सम्पूर्ण ग्रंथ चार या पांच भाग में परिपूर्ण होगा। इसका तृतीय भाग भी छप रहा है। तृतीय भाग में छठा खण्ड है, जिसमें आस्रव, संवर और बंध का विवेचन है। आगे के भागों में निर्जरा तत्व तथा मोक्ष तत्व का एवं विभिन्न कर्म प्रकृतियों का विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

कर्म-विज्ञान में प्रयुक्त कठिन शब्दों का शब्दकोष एवं शब्दसूची भी देने का विचार है, यदि संभव हो सका तो ग्रन्थ सम्पूर्ण होने पर अन्तिम खण्ड में देने का प्रयास किया जावेगा।

कर्म विज्ञान के प्रथम भाग के समान इस द्वितीय भाग में भी मैंने आधारभूत ग्रंथों की प्रामाणिक सामग्री का उपयोग कर प्रत्येक विषय का विस्तृत और सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस हेतु सैद्धान्तिक और कार्मग्राथिक कृतियों का उपयोग तो किया ही है। साथ ही साथ पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों के विचारों का भी यथास्थान तर्कयुक्त ढंग से समावेश किया है। उनकी कृतियों को भी समक्ष रखा है।

इतना ही नहीं, उन पत्र-पत्रिकाओं का भी उपयोग किया है, जिनमें सन्दर्भित विषय-सामग्री की उपलब्धि हुई है।

उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

इस प्रकार मैंने इस महान ग्रंथ को सर्वांगपूर्ण स्वरूप देने का हर संभव प्रयत्न किया है। आशा ही नहीं, विश्वास है—मेरा यह प्रयास सफल होगा। जिज्ञासुओं तथा मनीषियों को भी जैन कर्म विज्ञान संबंधी यथार्थ जानकारी प्राप्त होगी और कर्म संबंधी अनेक भ्रान्तियों का निरसन होगा।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं श्रमण संघ के अध्यात्मनायक आचार्य सप्र्राट श्री आनन्द ऋषि जी

महाराज का स्मरण करता हूँ जिनके मंगलमय आशीर्वाद से मैं अपनी अध्यात्म-साधना में यशस्वी हो रहा हूँ।

मेरे लेखन में पूज्य उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का आशीर्वाद उसी प्रकार सहायक रहा है जैसे दीपक को ज्योति पुंज के रूप में प्रकाशित होने में स्नेह (तेल)। उनका स्नेह, वात्सल्य, करुणा मेरे जीवन की चिरस्थायी निधि है।

परम स्नेही सन्तमानस महामनीषी मुनि श्री नेमीचन्द जी महाराज का सौजन्य पूर्ण सहयोग भी मेरे लिए अविस्मरणीय है। उन्होंने मेरे द्वारा लिखित निबन्धों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से संशोधित/सम्पादित करके स्नेह पूर्ण समर्पण और आत्मीय भाव प्रगट किया है। यह मेरे लिए चिरस्मरणीय है।

प्रतिभामूर्ति ज्येष्ठ भगिनी पुष्पवती जी महाराज की सतत प्रेरणा से मैं (कर्मविज्ञान) प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में गतिशील रहा हूँ। अतः इनका स्मरण सहज ही हो जाता है।

मैं उन सभी सन्तों, मनीषियों, विद्वानों तथा ज्ञात-अज्ञात कृतिकारों एवं सहयोगियों के प्रति आभारी हूँ, जिनके सहकार से मैं इस ग्रन्थ को रोचक एवं आकर्षक रूप प्रदान करने में सक्षम हुआ।

इस अवसर पर परमस्नेही श्रीचन्द जी सुराना "सरस" को भी नहीं भुला सकता, जिनके अथक प्रयास से ग्रन्थ का त्रुटि रहित मुद्रण और आकर्षक साज-सज्जा संभव हुई। वे अत्यधिक धन्यवाद के पात्र हैं।

परम उत्साही सुश्रावक डा. चम्पालाल जी देसरड़ा को भी विस्मृत नहीं हो सकता, जिन्होंने कर्म विज्ञान के द्वितीय भाग के प्रकाशन में अपना उदार आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

जैन विकास केन्द्र

पीपाड सिटी

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

प्राक्कथन

तीर्थंकर-परम्परा से पूर्व भोगभूमि का वातावरण था; जिसमें प्राणी को आजीविका के लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता था। कल्पवृक्ष अपने फलों द्वारा जठराग्नि को शान्त करने का काम पूर्ण करते थे। पूर्वार्जित कर्मों का भोग करता था प्राणी। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म से इस परम्परा में परिवर्तन होना प्रारम्भ होने लगा। फलस्वरूप आजीविका अर्जन के लिए प्राणी को कर्म करने की अपेक्षा हुई। तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्म का प्रवर्तन किया।

किसी क्रिया का परिणाम कर्म होता है। उपयोगी और ललित कर्मों का सूत्रपात कर आम आदमी को श्रम के प्रति आकृष्ट किया गया। शुभ अथवा अशुभ दो रूपों में विभक्त किया गया कर्म को। शुभ कर्म जीवन में सुखद परिणाम जुटाते हैं और अशुभ कर्म जुटाते हैं दुःखद परिणाम। तीर्थंकर ऋषभदेव ने दोनों ही प्रकार के कर्मों के रूप को स्वरूप प्रदान किया।

कर्म का विशिष्ट रूप है कला। ऐन्द्रियक और आध्यात्मिक उपयोग की नाना कलाओं का प्रवर्तन किया गया। कर्म-कला का प्रयोजन होता है जीवन में सुख और समृद्धि का संचार करना। इससे भी ऊपर प्रयोजन की उत्तम परिणति है आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना। आवागमन से छुटकारा पाकर जीव अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख-अनन्त चतुष्टय को जगाता है।

कर्म जीवन को सक्रिय बनाता है। इसी सक्रियता का परिणाम है-संसार! संसार में जीव अपने कर्मानुसार नाना प्रकार की गतियों में जन्म लेकर जीता है, मरता है। कर्म से ही संसार है। कर्म ही जीवन है। कर्म ही सुख और दुःख का दाता है। कर्म से ही यह जीवात्मा परमात्मा हो जाती है।

जब तक वह जीवन को संसरणशीलता से जीता है तब तक वह संसारी जीव कहलाता है। इस अवस्था में जीव मोह के अधीन रहता है। मोह से अनुप्राणित कर्म और उसका फल प्राणी को मिथ्यात्व की प्रेरणा देता है। मोह से मुक्त होकर जब जीव शुभ-कर्मों में ज्ञानपूर्वक प्रवृत्त होता है, तब इसे स्व और पर पदार्थों का स्पष्ट अन्तर प्रमाणित होने लगता है। इस लक्ष्य को लेकर प्राणी जो कर्म करता है उसका परिणाम होता है-सुख। सुख से शाश्वत सुख की ओर प्रवृत्त होने के लिए जो कर्म किया जाता है उसका परिणाम होता है-अन्तरात्मा।

अन्तरात्मा जीव तत्त्व का उत्कृष्ट रूप है। इस अवस्था में पहुँच कर प्राणी सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करता हुआ कर्म करता है। दर्शन श्रद्धान को जन्म देता है और ज्ञान शक्ति का संचार करता है। जबकि चारित्र तो दर्शन और ज्ञान का वैज्ञानिक प्रयोग है। इस त्रिवेणी के तादात्म्य से मोक्ष मार्ग का प्रवर्तन होता है। संयम और तपाचरण पूर्वक जो साधना सम्पन्न होती है वह प्राणी को जागतिक वैभव से मुक्त कर आध्यात्मिक आलोक से भर देती है।

अब जरा विचारिए, जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। कषाय के साथ जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तभी बंध की स्थिति बनती है। यह जीव अनादि काल से अप्त कर्मों के बंधनों से जकड़ा हुआ है। इस बंध-बोझ को मोचना ही वस्तुतः कहलाता है—मोक्ष। कर्म से निष्कर्म होना ही उसकी मुक्तावस्था है। इस प्राकृत कर्म-विधान में कोई शक्ति कभी परिवर्तन नहीं कर सकती है। यदि उसमें कोई परिवर्तन कर सकता है तो उस कर्म का कर्ता ही स्वयं उन कर्मों को न कर अपने में परिवर्तन ला सकता है। सत् कर्म सब धर्मों का सार है।

विवेच्य कृति में विद्वान् लेखक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने कर्म का बड़े विस्तार से विवेचन किया है। कृति में उसका श्रद्धा पक्ष, उसका ज्ञान पक्ष और उसका चारित्र्य अर्थात् विज्ञान पक्ष इस प्रकार विवेचित किया गया है कि कर्म का संसार एकदम स्पष्ट और सुगम हो गया है। विश्व की जितनी धार्मिक मान्यताएँ हैं उन सब में कर्म की चर्चा की गई है किन्तु जैन दर्शन में कर्म की विवेचना जितनी सूक्ष्म और विशद की गई है, उतनी अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही है। मनीषी चिन्तक ने बहुरी कर्म-कुल का बारीकी के साथ मंथन किया है।

लेखक स्वयं शास्त्री है, परन्तु विवेचन में शास्त्र की अपेक्षा विज्ञानी-पद्धति का प्रयोग परिलक्षित है। भाषा के स्वरूप और उसके प्रयोग का जहाँ तक प्रश्न है लेखक ने आर्ष उदाहरणों के अतिरिक्त जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह अनुभव की प्रयोगशाला से दीक्षित होकर निःसृत हुई है। उसमें निश्चितता है, प्राञ्जलता है, आधुनिकता है और सहज प्रभावात्मकता है।

वैज्ञानिक तर्कशील पद्धति का प्रयोग कर महामनीषी लेखक ने कर्म सिद्धान्त का इस प्रकार स्पष्ट और सुबोध शैली में विवेचन किया है कि पाठक को पारायणी परिश्रम किए बिना तथ्य और सत्य का सुबोध सुगमता पूर्वक हो जाता है। विषय उपस्थापन में लेखक की प्रज्ञापदुता प्रमाणित हो जाती है।

इतने विशद और विवेक पूर्ण कर्म-कुल पर लिखी गई प्रस्तुत कृति, कदाचित् विद्या-वाङ्मय में पहल करती है। लेखन में उत्तम, मुद्रण और प्रकाशन में उत्तम प्रस्तुत कृति विवेच्य सामग्री की भाँति प्रतिमान स्थापित करती है। दर्शन और ज्ञान के अध्येताओं के लिए प्रस्तुत कृति मौलिक सामग्री, मौलिक विचारणा के लिए शरवस आकृष्ट करती है। विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रम में स्थिर करने के लिए विद्वान् लेखक की विरल कृति किसी संस्तुति की आवश्यकता नहीं रखती क्योंकि वह कर्म-विवेक का विश्वकोश है। इतनी सुन्दर और सप्रासंगिक संरचना के लिए विश्रुत लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक को बहुत-बहुत बधाइयों। इत्यलम्

शंगल कलश

३१४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़

डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

(एम.ए., पी.एच.डी., डी.लिट.)

अनुक्रम

उपयोगिता, महत्ता और विशेषता

खण्ड (४)

पृष्ठ १-१९८

१. कर्मविज्ञान का यथार्थ मूल्य निर्णय ३
२. आध्यात्मिक क्षेत्र में : कर्मविज्ञान की उपयोगिता २२
३. व्यावहारिक जीवन में : कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता ३४
४. नैतिकता के सन्दर्भ में : कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता ४८
५. सामाजिक सन्दर्भ में : उपयोगिता के प्रति आक्षेप और समाधान ६९
६. कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता ९३
७. जैन कर्मविज्ञान की महत्ता के मापदण्ड ११२
८. जैन कर्मविज्ञान की विशेषता १२६
९. जैन कर्मविज्ञान : जीवनपरिवर्तन का विज्ञान १४८
१०. कर्मवाद-निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद? १५५
११. कर्मवाद और समाजवाद में कहाँ विसंगति, कहाँ संगति? १७९

कर्मफल के विविध आयाम

खण्ड (५)

पृष्ठ १९९-५३८

१. कर्म का कर्ता कौन, फलभोक्ता कौन ?	२०१
२. कर्मों का फलदाता कौन ?	२३३
३. कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?	२६३
४. कर्मफल वैयक्तिक अथवा सामूहिक ?	२८१
५. क्या कर्मफल-भोग में विनिमय या संविभाग है ?	३०३
६. कर्मफल यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में ?	३१४
७. कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल	३४३
८. विविध कर्मफल : विभिन्न नियमों से बंधे हुए	३७७
९. पुण्य-पापकर्म का फल : एक अनुचिन्तन	४१३
१०. हार और जीत के रूप में : पुण्य-पाप के फल	४५०
११. पुण्य और पाप के फल : धर्मशास्त्रों के आलोक में	४६८
१२. कर्मों के विपाक यहाँ भी, और आगे भी	४९१
१३. पुण्य-पाप के निमित्त से : आत्मा का उत्थान-पतन	५२६



कर्म-विज्ञान
(चतुर्थ खण्ड)

उपयोगिता, महत्ता और विशेषता

१. कर्मविज्ञान का यथार्थ मूल्य निर्णय
२. आध्यात्मिक क्षेत्र में : कर्मविज्ञान की उपयोगिता
३. व्यावहारिक जीवन में : कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता
४. नैतिकता के सन्दर्भ में : कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता
५. सामाजिक सन्दर्भ में : उपयोगिता के प्रति आक्षेप और समाधान
६. कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता
७. जैन कर्मविज्ञान की महत्ता के मापदण्ड
८. जैन कर्मविज्ञान की विशेषता
९. जैन कर्मविज्ञान : जीवन-परिवर्तन का विज्ञान
१०. कर्मवाद-निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद ?
११. कर्मवाद और समाजवाद में कहाँ विसंगति, कहाँ संगति ?

कर्म-विज्ञान का यथार्थ मूल्य-निर्णय

आस्तिक के लिए वस्तु के अस्तित्व के साथ वस्तुत्व एवं मूल्य निर्णय भी आवश्यक

जैनदर्शन अस्तिकवादी है, आस्तिक है। वह विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व मानता है। जो वस्तु वास्तव में है, उसके लिए इन्कार करना जैनदर्शन को कथमपि अभीष्ट नहीं है। परन्तु इतना कहने मात्र से अथवा इतना प्ररूपण कर देने मात्र से आस्तिक्य सिद्ध नहीं हो जाता। आस्तिकता के लिए पदार्थ के अस्तित्व के साथ-साथ उसका वस्तुत्व (वस्तुस्वरूप) बताना भी अनिवार्य है और यथार्थ मूल्यांकन अथवा हेय-ज्ञेय-उपादेय की दृष्टि से उसका यथार्थ गुणनिर्णय करना भी अनिवार्य है।^१

तीर्थकरों ने वस्तु के वस्तुत्व एवं गुणधर्मत्व का प्ररूपण किया

किसी वस्तु का अस्तित्व तो स्वयंजात होता है, उसे कोई अस्वीकार करे, उसका कोई अर्थ नहीं। अस्तित्व की दृष्टि से तो सभी पदार्थ समान हैं। जैनदर्शन के आद्यप्ररूपक सर्वज्ञ सर्वहितैषी तीर्थकरों ने विश्व के सभी पदार्थों को छह भागों में वर्गीकृत करके कहा कि यह विश्व षड्द्रव्यात्मक^२ है। यों तो इन छह भागों को संक्षेप में कहना चाहें तो जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में सारे विश्व को समाविष्ट कर सकते हैं।

अस्तित्व की दृष्टि से जीव और अजीव^३ दोनों समान हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, ये पांचों अस्तिकाय अस्तित्व की दृष्टि से समान हैं, किन्तु तीर्थकरों ने इनके पृथक्-पृथक् वस्तुत्व तथा गुणधर्मत्व (उपयोगिता) का कथन किया है।

तत्त्वज्ञ पुरुषों का कार्य केवल अस्तित्व का निर्णय या विचार करना ही नहीं, किन्तु उन-उन तत्त्वों के वस्तुत्व (यथार्थ स्वरूप) का निश्चय करना और उनके गुणधर्म, उपयोगित्व या मूल्य का निर्धारण करना भी है।

१. जैनतत्त्व कलिका (आचार्य आत्माराम जी) पृ. २०३

२. धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।

एस लो गोति पन्नतो, जिणेहिं वरवसिहिं।

—उत्तराध्ययन सूत्र २८/७

३. "जीवा येव अजीवा य, एस लोए वियाटिए।

—उत्तरा. ३६/२

जैसे- समस्त प्रकार के दूध का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। आक का दूध, गाय का दूध भैंस का दूध एवं बकरी, ऊँटनी, भेड़ आदि के दूध का अस्तित्व तो संसार में प्रसिद्ध है। परन्तु उस-उस दूध के पृथक्-पृथक् वस्तुत्व का निर्णय करना तथा उस-उस दूध के गुण-अवगुण का, लाभ-हानि का, हेय-उपादेय का तथा कौन-सा दूध किस व्यक्ति के लिए कहां, किस समय, किस परिस्थिति में, कितनी मात्रा में, कितना उपयोगी या अनुपयोगी है ? इस प्रकार का मूल्य-निर्णय करना भी आस्तिक तत्त्वज्ञों का कर्तव्य है।

इस खण्ड में कर्मसिद्धान्त का मूल्य-निर्णय

जैन कर्मविज्ञान के अनुसार पिछले खण्डों में हम कर्म के अस्तित्व और वस्तुत्व (स्वरूप) को सिद्ध कर चुके हैं। अब इस खण्ड में हम कर्म-विज्ञान का मूल्य-निर्णय करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कर्म की हेयता, ज्ञेयता और उपादेयता अथवा उपयोगिता और अनुपयोगिता का चिन्तन प्रस्तुत करना चाहते हैं। अर्थात्-कौन सा कर्म, कहां, कितनी मात्रा में, किस समय, कितना और कैसे उपयोगी है, अथवा अनुपयोगी है, या हेय है, ज्ञेय है या उपादेय है ? कर्मविज्ञान की दृष्टि से कौन सा कर्म गाढ़बन्ध वाला या शिथिलबन्ध वाला अथवा अल्पस्थिति वाला, दीर्घस्थिति वाला, किस-किस कारण से, कैसे हो सकता है ? इस प्रकार कर्म का मूल्य-निर्णय तीर्थंकरों और जैनाचार्यों ने किया है।

समग्र गणधरवाद में कर्म के अस्तित्व, वस्तुत्व एवं विशेषत्व का निर्णय

किसी भी वस्तु के अस्तित्व का निर्णय तो स्वतःसिद्ध होता है, फिर भी सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्म का या कर्मसिद्धान्त का अस्तित्व एक या दूसरे प्रकार से माना है और सिद्ध भी किया है। परन्तु उसका मूल्य-निर्णय जैन कर्मविज्ञान से सम्बन्धित शास्त्रों और ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है।

सारा गणधरवाद कर्मों के अस्तित्व, वस्तुत्व तथा मूल्यनिर्णय से सम्बन्धित है।

प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने कर्म के बन्धकर्ता जीव (आत्मा) के विषय में प्रश्न उपस्थित किया है। जिसका समाधान भगवान् महावीर ने विविध युक्तियों एवं प्रमाणों से किया है।

द्वितीय गणधर ने तो कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में ही प्रश्न उठाया है, जिसका समाधान भगवान् ने कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के अतिरिक्त कर्म अदृष्ट, मूर्त, परिणामी और विचित्र है, अनादि काल से सम्बद्ध है, इत्यादि रूप से कर्म का वस्तुत्व एवं मूल्य-निर्णय भी सिद्ध कर दिया है।

चौथे गणधर के साथ शून्यवाद या चतुर्भूतवाद से सम्बन्धित चर्चा के दौरान भी आनुषंगिक रूप में कर्म के अस्तित्व एवं वस्तुत्व की चर्चा है।

पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी के साथ संवाद में भगवान ने लोक-परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा करते हुए बताया है कि लोक और परलोक के मूल में कर्म की सत्ता है, यह संसार कर्म मूलक है।

छठे गणधर के साथ उनकी चर्चा का विषय कर्मों के बन्ध और कर्मों से मुक्ति है। साथ ही 'जीव पहले है या कर्म?' इसका भी समीचीन समाधान दिया है।

इसी प्रकार सातवें और आठवें गणधर के साथ हुए संवाद में देवों और नारकों के अस्तित्व की चर्चा है, जो कि शुभ-अशुभ कर्मों के फल से सम्बन्धित है।^१

नौवें गणधर को भगवान ने पुण्य-पाप (शुभाशुभकर्म) के अस्तित्व के साथ-साथ कर्म के संक्रमण का नियम, कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया, कर्म का शुभाशुभरूप में परिणमन, कर्म के भेद-प्रभेद आदि अनेक बातें समझाई हैं।

दसवें गणधर को परलोक का अस्तित्व समझाते हुए यह तथ्य उजागर किया है कि परलोक कर्माधीन है।

अन्तिम गणधर के साथ हुई निर्वाण (मोक्ष) सम्बन्धी चर्चा में भी यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है कि अन्नादि कर्म-संयोग का नष्ट हो जाना ही निर्वाण है।

यों समग्र गणधरवाद में कर्म के अस्तित्व, वस्तुत्व एवं मूल्य-निर्णय की पर्याप्त चर्चा करते हुए भगवान महावीर ने कर्मविज्ञान की महत्ता एवं विशेषता का प्रतिपादन एक या दूसरे प्रकार से कर दिया है।

वस्तु का मूल्य-निर्धारण चेतना के अधीन

यह तो निर्विवाद है कि कर्म के या किसी भी वस्तु के वस्तुत्व का या उसके यथार्थ स्वरूप का तथा उसके गुण-अवगुण अथवा मूल्य-अवमूल्य का निर्धारण तो चेतना के अधीन है। चेतना से सम्बद्ध हुए बिना किसी भी वस्तु का मूल्य-निर्धारण या उसकी विशेषता और महत्ता का आकलन नहीं हो सकता। खाद्य वस्तु के खट्टे, मीठे, घरपरे आदि स्वाद का निर्णय जीव (आत्मा) के उपकरणरूप जिह्वेन्द्रिय के साथ संयोग होने पर ही हो सकता है।^२

इन्द्रियों के माध्यम से मूल्य-निर्धारण पूर्णतः यथार्थ नहीं

यद्यपि प्रत्येक वस्तु का मूल्य-निर्णय चेतना से सम्बद्ध होने पर ही होता है; किन्तु इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का जो निर्धारण चेतना (आत्मा) करती है, वह बहुधा पूर्णरूप

१. देखें, गणधरवाद (पं. दलसुख मालवणिया) की प्रस्तावना, पृ. ११८

२. देखें, जैनतत्त्वकलिका में इस आशय का मन्तव्य पृ. ३०३

६ कर्म-विज्ञान : भाग-२ : उपयोगिता, महत्ता और विशेषता (४)

से यथार्थ नहीं होता; क्योंकि वह नवों, प्रमाणों, निक्षेपों तथा सापेक्षवाद की कसीटी पर कसा हुआ नहीं होता। इसलिए इन्द्रियों द्वारा किया जाने वाला वस्तु का मूल्यांकन समग्ररूप से प्रामाणिक नहीं माना जाता; क्योंकि प्रथम तो इन्द्रियों मन का अनुसरण करती हुई विषय का ग्रहण-निर्धारण करती हैं, इसलिए इन्द्रियों का बोध पूर्णतः यथार्थ होना सम्भव नहीं। फिर अतीन्द्रिय वस्तुओं के सम्बन्ध में इन्द्रियाँ साक्षात् बोध कर ही नहीं सकतीं, मन के द्वारा अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों से ही वस्तु का परोक्षरूप से बोध हो सकता है।

सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा नौ तत्त्वों के माध्यम से यथावस्थित मूल्य-निर्णय

अतः कर्म जैसे अतीन्द्रिय अथवा यों कहें कि चतुःस्पर्शी पुद्गल रूप पदार्थ होते हुए भी साधारण आत्माओं की इन्द्रियों द्वारा यथार्थ रूप से अगोचर वस्तु का वास्तविक मूल्य-निर्धारण या गुणावगुण-विशेषता का आकलन अतीन्द्रिय ज्ञानी (सर्वज्ञ) ही कर सकते हैं।

साधारण या अल्पज्ञ आत्माओं द्वारा जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं जाना जाता, उसके अस्तित्व, वस्तुत्व एवं गुणावगुणत्व का अन्तिम निर्णय तो विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञानियों (सर्वज्ञों) या श्रुतकेवलियों द्वारा ही किया जाता है। उनके द्वारा प्रतिपादित एवं प्ररूपित धर्म, कर्म आदि के तथ्यों तथा जीव आदि तत्त्वों को उनका अनुगामी साधुवर्ग या गृहस्थवर्ग श्रद्धा, प्रतीति और रुचिपूर्वक जानता-मानता है और तदनुसार उनके अस्तित्व, वस्तुत्व एवं मूल्य का निश्चय करता है।^१

अतः वीतराग सर्वज्ञ आप्तपुरुषों, श्रुतकेवलियों, विभिन्न आचार्यों, उपाध्यायों एवं विशिष्ट श्रुतधर साधकों द्वारा इसी प्रकार कर्मसिद्धान्त का मूल्यांकन जीव आदि नौ तत्त्वों के माध्यम से किया गया है।

आशय यह है कि जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आम्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों के माध्यम से परमज्ञानी आप्तपुरुषों ने जैन कर्मविज्ञान के अन्तर्गत कर्मसिद्धान्त का यथार्थ मूल्यांकन किया है। उन्होंने कर्म की उपादेयता-अनुपादेयता, अथवा उसकी हेयता और उपादेयता को इन नौ तत्त्वों के माध्यम से प्रतिपादित करके कर्मविज्ञान की महत्ता और विशेषता प्रकट कर दी है।

१ (क) देखें, जैनतत्त्वकलिका में इसके सम्बन्ध में मन्तव्य पृ. ३०४

(ख) 'जिणपण्यसं तत्तं' - आवश्यक सूत्र।

२. जीवाजीवा य बंधो ध, पुण्यं पावासयो तह्म।

संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥

-उत्तराध्ययन, २८/१४

कर्मों का कर्ता, भोक्ता, क्षयकर्ता जीव ही है

प्रस्तुत नौ तत्त्वों में जीवतत्त्व ही प्रमुख है; क्योंकि सभी तत्त्वों को जानने-समझने वाला तथा संसार और मोक्ष की, यानी कर्मों के आप्रव और बन्ध की, तथा कर्मों के संवर, निर्जरा और मुक्ति को प्रवृत्ति करने वाला जीव ही है।

कहा भी है— कर्मों का कर्ता, कर्मफल भोक्ता, संसार में परिभ्रमण करने वाला और सदा के लिए कर्मों से मुक्त होने वाला संसारी जीव (आत्मा) ही है।^१

जीव के बिना अजीव तत्त्व, अथवा पुण्य-पाप आदि तत्त्व सम्भव ही नहीं हो सकते। अतः सर्वप्रथम जीवतत्त्व का निर्देश कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

जैसे कि पहले कहा गया था, कर्म के बन्ध-मोक्ष, आप्रव-संवर एवं निर्जरा का विवेक और तदनुसार कर्म के हेयत्व, ज्ञेयत्व एवं उपादेयत्व का निर्णय जीव ही कर सकता है। “कर्म भी चेतनाकृत होते हैं, अचेतनाकृत नहीं” यह आगमवचन है।^२

दूसरी बात यह है कि कर्मविज्ञान में जीवतत्त्व को लेकर कर्ममर्मज्ञों द्वारा यह भी कहा गया है कि एक जीव का दूसरे जीव या जीवों के साथ सम्बन्ध बन्धकारक भी हो सकता है, अबन्धकारक भी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे जीव (मानव, पशु-पक्षी या अन्य प्राणी) के प्रति मोह, ममत्व, आसक्ति, लालसा आदि करता है, अथवा द्वेष, ईर्ष्या, पक्षपात, घृणा, विद्रोह आदि करता है, तो उस जीव के लिए वह बन्धकारक होता है। यदि वह व्यक्ति दूसरे किसी जीव से कोई रागादिमय लगाव नहीं रखता है अथवा वह उनके साथ रहते हुए भी रागादि से निर्लिप्त रहता है, तो वहाँ अबन्धकारक है। परन्तु गौतम स्वामी की तरह उसका अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और सद्धर्म के प्रति प्रशस्त राग (प्रीति) है, तो वह प्रशस्तराग शुभकर्म का बन्धक है।

इसी प्रकार यदि व्यक्ति कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति स्व-परकल्याण की दृष्टि से यतनापूर्वक करता है, आत्मीय भाव रखकर लोकहितकर कार्य करता है, तो वहाँ छद्मन्ध में रागांश होने से पापकर्म बन्धक न होकर पुण्य कर्मबन्धक होता है। अथवा रागांश सर्वथा न हो तो वहाँ शुद्ध कर्म (अकर्म, अबन्धक कर्म) होता है।

अतः एक जीव के दूसरे जीव के साथ सम्बन्ध में शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध भी जीव ही करता है और वही अकर्म की स्थिति को प्राप्त करता है। इसलिए जीवतत्त्व को प्राथमिकता दी गई है।

१. “यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।

संसारं परिनिर्वाता स ह्यत्मा नान्यलक्षणः॥

२. “जीवाणं वेयकडा कम्मा कज्जति, नो अच्छेयकडा कम्मा कज्जति।” —भगवती सूत्र १६ श. ३. २.

जीव के बाद अजीव तत्त्व का निर्देश क्यों?

इसी प्रकार अजीव तत्त्व (समस्त जड़-अचेतन पदार्थ) के साथ भी जीव का सम्बन्ध हो तभी वह पूर्वोक्त प्रकार से शुभाशुभ कर्म-बन्ध करता है और वीतरागता की स्थिति में शुद्ध कर्म, अकर्म की स्थिति में पहुँच जाता है।

दूसरी बात, जीव की गति, स्थिति, अवगाहना, वर्तना आदि सब अजीव तत्त्व (अचेतन) की सहायता के बिना असम्भव है, इसलिए दूसरे क्रम में जीव के बाद अजीव तत्त्व का निर्देश किया गया है।

शेष पुण्य-पापादि तत्त्व भी एक या दूसरे प्रकार से कर्म से सम्बद्ध

इसके पश्चात् पुण्य और पाप ये दो तत्त्व बताए गए हैं। ये भी शुभाशुभ कर्म-बन्ध के प्रतीक हैं। पुण्य और पाप जीव के सांसारिक सुख और दुःख के कारणभूत हैं। ये दोनों अजीव के एक विभाग-पुद्गल (कार्मण वर्गणा के पुद्गल) के विकार हैं। अतः तीसरा और चौथा कर्ममूलक तत्त्व पुण्य और पाप हैं।

पाँचवाँ आम्रव तत्त्व है। इसके द्वारा सर्वज्ञ प्रभु ने बताया है कि आम्रव के बिना अर्थात् कर्मों के आगमन के बिना पुण्य और पाप नहीं हो सकते। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र में शुभ आम्रव को पुण्यबन्ध का और अशुभ आम्रव को पाप बन्ध का कारण बताया।

इसके पश्चात् छठा संवर तत्त्व है। जो आम्रव का प्रतिरोधी है, कर्मों के आगमन-द्वारों को रोकता है। यह नये कर्मों को आत्मा में प्रविष्ट नहीं होने देता। आम्रव-निरोध आत्मविकास में सहायक है। अहिंसादि पंच महाव्रत या अणुव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, परीषहविजय, कषायविजय, इन्द्रिय-निग्रह आदि संवर के प्रकार हैं।

संवर के बाद निर्जरा नामक तत्त्व है, जो पूर्वबद्ध प्राचीन कर्मों का आंशिक रूप से क्षय करने हेतु प्रतिपादित किया गया है।

निर्जरा का प्रतिपक्षी आठवाँ बन्ध तत्त्व है। जिस प्रकार पूर्वबद्ध प्राचीन कर्म निर्जरा से झड़ जाते हैं। उसी प्रकार नये-नये कर्मों का बन्ध भी सांसारिक जीव के द्वारा राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि के कारण होता रहता है।

अतः कर्मबन्धन से सावधान रहने हेतु वीतराग आप्त पुरुषों ने आठवाँ बन्धतत्त्व बताया। इसमें बन्धकर्ता, बन्धयोग्य कर्म, बन्ध के कारण और बन्ध के प्रकार आदि सभी समाविष्ट हैं।

इसके पश्चात् नौवाँ और अन्तिम तत्त्व मोक्ष बताया गया है। जिसका स्वरूप है—सर्वकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना—कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना। जिस प्रकार कर्मों से

१. देखें, जैनतत्त्वकलिका (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) में लिखित मन्ताव्य पृ. ७८

जीव का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार उनसे एक दिन बिलकुल छुटकारा भी हो सकता है।^१

इस प्रकार कर्मविज्ञान ने नौ ही तत्त्वों का स्वरूप बताकर प्रकारान्तर से उनकी हेयता, ज्ञेयता, उपादेयता भी ध्वनित कर दी है।

कर्मविज्ञान का नौ तत्त्वों के निर्देश का उद्देश्य

इसमें प्रथम तत्त्व जीव है, और अन्तिम तत्त्व है मोक्ष। इसका आशय भी यही है कि जीव ही कर्मों का कर्ता, धर्ता, फलभोक्ता, कर्मनिरोधकर्ता, कर्मक्षयकर्ता और कर्म-भोक्ता है। कर्मविज्ञान का उद्देश्य भी यहाँ परिलक्षित होता है कि जीव अपने अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर सके, इसीलिए बीच के तत्त्वों का मोक्ष-प्राप्ति में साधक-बाधक के रूप में निर्देश किया है।

कर्म की अपेक्षा से नौ तत्त्वों में कौन हेय, ज्ञेय, उपादेय ?

निष्कर्ष यह है कि वीतराग सर्वज्ञ-देव ने उन्हीं पदार्थों को कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में तत्त्वभूत बताया है, जो मुमुक्षु आत्मा के लिए हेय, ज्ञेय और उपादेय हैं। मुमुक्षु आत्मा इन जिनोपदिष्ट नौ तत्त्वों में से जो पदार्थ जैसा भी हेय, ज्ञेय और उपादेय बताया गया है; उनमें से हेय को हेयरूप में, उपादेय को उपादेयरूप में और ज्ञेय को ज्ञेयरूप में जो जानता है वही सम्यग्दृष्टि है^२, वही श्रावक और साधु बन सकता है। श्रमणोपासक की अर्हता के लिए शास्त्रों में बताया है कि वह जीव-अजीव, आस्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष, निर्जरा तथा पुण्य-पाप आदि तत्त्वों के रहस्य का ज्ञाता एवं निपुण होना चाहिए।

इन नौ तत्त्वों में से जीव और अजीव ज्ञेय हैं। पाप, आस्रव और बन्ध हेय हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीनों तत्त्वों को उपादेय बताया है। पुण्य को कथञ्चित् हेय और कथञ्चित् उपादेय बताया है।

इन नौ तत्त्वों में जीव तत्त्व (आत्मा) सबसे प्रमुख तत्त्व है। वही शेष तत्त्वों का केन्द्र है। शेष पदार्थ इसी जीव तत्त्व (आत्मा) के विकास-हास, शुद्धि-अशुद्धि या विकृति-अविकृति में निमित्त कारण हैं।

कर्मविज्ञान की दृष्टि से नौ तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्व

जैनकर्मविज्ञान की दृष्टि से नौ तत्त्वों में सम्यग्दृष्टि मानव के लिए ज्ञेय, हेय और उपादेय का विश्लेषण करते हुए जैनाचार्यों ने कहा—नौ तत्त्वों में जीव और अजीव, ये

१. देखें, जैनतत्त्वकलिका (आचार्य आत्माराम जी) से भावांश उद्धृत पृ. ७२-७३, ७९

२. "सुतत्त्वजिनभणिय जीवाजीवादि बहुविहं अत्वं।

हेयाहेयं च तहा, जो जाणई, सो हु सुदिट्ठी॥

—सूत्रप्रभृत गा. ५

दोनों तत्त्व ज्ञेय हैं। इनमें समस्त लोक, विश्व या जगत्-के अस्तित्व, वस्तुत्व और गुणधर्मत्व (मूल्य-निर्णयत्व) के ज्ञान का समावेश हो जाता है। पाप, आश्रव और बन्ध; वे तीनों हेय तत्त्व हैं। मनुष्य को क्या छोड़ना और क्या नहीं करना चाहिए? यह इन तीन तत्त्वों से जाना जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीनों तत्त्व उपादेय हैं। इनसे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को क्या ग्रहण करना चाहिए तथा कौन सा कार्य करना चाहिए? पुण्य तत्त्व जैसे तो सोने की बेड़ी के समान बन्धकारक होने से निश्चयदृष्टि से हेय है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मगुणों के विकास की साधना में सहायक होने से कथञ्चित् उपादेय समझना चाहिए।^१

कर्मदुःख से सम्बन्धित अध्यात्मजिज्ञासु द्वारा उठने वाले नौ प्रश्नों का नौ तत्त्वों के रूप में समाधान

कर्मदुःख को मिटाना प्रत्येक मुमुक्षु अथवा आध्यात्मिक जिज्ञासु का कर्तव्य है। कर्मों के कारण ही जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि दुःख उत्पन्न होते हैं। इसलिए तीर्थंकर-महर्षियों ने कर्मरूपी दुःखों से आक्रान्त मुमुक्षु के मन में स्वाभाविक रूप से उठने वाले नौ प्रश्नों के उत्तर के रूप में इन तत्त्वभूत नौ पदार्थों को कर्मविज्ञान के माध्यम से प्रस्तुत किया है और इनका ज्ञान तथा इनके प्रति सम्यक् श्रद्धान्त आवश्यक बताया है।

सर्वप्रथम अध्यात्म-जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उठता है—“मेरे आस-पास यह जो फैला हुआ संसार दिखाई देता है। जिसमें जन्म, जरा, मरण, रोग आदि नाना दुःख व्याप्त हैं, जिनके मूल कारण कर्म हैं, वह वास्तव में क्या है? उनके मूलभूत कारण कौन-कौन से हैं?”

इसके उत्तर में उन आप्तपुरुषों ने जीव और अजीव, इन दो तत्त्वों को प्रस्तुत किया।

सुख और दुःख के अनुभव करने (भोगने) के कारण क्या-क्या है? इस प्रश्न के समाधान के रूप में उन्होंने पुण्य और पाप नामक दो तत्त्व प्रस्तुत किये।

मनुष्यों द्वारा की जाने वाली सत्प्रवृत्तियों का उद्देश्य दुःख-निवृत्ति अथवा दुःख-विघात (दुःखनाश) और आत्यन्तिक सुख प्राप्ति है। इस अपेक्षा से फिर प्रश्न उठा—“क्या जन्म-मरणादि दुःखों से या कर्मों के कारण प्राप्त इन दुःखों से सर्वथा मुक्ति मिल सकती है?” इसके समाधान के लिए उन्होंने ‘मोक्ष’ नामक तत्त्व प्रस्तुत किया, जिससे समस्त दुःखों से सर्वथा निवृत्ति या मुक्ति तथा अनन्त आत्मिक सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

१. देखें, जैन तत्त्वकलिका (आचार्य श्री आत्मारामजी) से भावांश उद्धृत पृ. ८०

तत्प्रश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि 'यदि समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो उसके क्या-क्या उपाय हैं?' इस प्रश्न का विस्तृत समाधान देने के लिए उन्होंने उठने वाले दो निषेधात्मक और दो विधेयात्मक प्रश्न तथा उनके क्रमशः चार उत्तर प्रस्तुत किये हैं। जैसे (१-२) नये दुःखों के आने के कारण और उन्हें रोकने के उपाय क्या हैं? तथा (३-४) पुराने दुःखों के क्या कारण हैं? और उन्हें नष्ट करने के क्या उपाय हैं? इन चारों प्रश्नों के उत्तर में वीतराग महर्षियों ने क्रमशः आम्लव और संवर, तथा बन्ध और निर्जरा, ये चार तत्त्व प्रस्तुत किये हैं।^१

इस प्रकार कर्म-विज्ञान के सन्दर्भ में आप्त सर्वज्ञ मनीषियों ने इन नौ तत्त्वों को प्रस्तुत करके कर्मविज्ञान की उपयोगिता और विशेषता का प्रतिपादन किया है।

लोकोत्तर रोगी के लिए सात तथ्य जानना-मानना आवश्यक

कर्म-विज्ञानमर्मज्ञ कर्मरोग से सर्वथा मुक्ति एवं पूर्ण स्वस्थता प्राप्त करने के साधक-बाधक नौ या संक्षेप में सात तत्त्वों का उल्लेख करते हैं। कर्ममुक्ति के साधक को इन सात (या पुण्य-पाप को लेकर नौ) तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से जानना, मानना और श्रद्धा करना आवश्यक है।

एक लौकिक रोगी को रोग से सर्वथा मुक्त होने के लिए निम्नोक्त सात तथ्यों को जानकर उन पर श्रद्धा करना आवश्यक होता है—(१) नीरोग-स्वस्थ रहना मेरा मूल स्वभाव है। (२) किन्तु वर्तमान में मेरे स्वभाव एवं स्वास्थ्य के विरुद्ध कौन सा रोग आ गया है? (३) इस रोग का कारण क्या है? (४) इस रोग का निदान तथा (५) इस रोग को रोकने का उपाय अपथ्य सेवन का निषेध, एवं (६) पुराने रोग के समूल नाश के लिए उपाय औषध-सेवन तथा (७) नीरोगी अवस्था का स्वरूप क्या है?

जिस प्रकार लौकिक रोग से मुक्त होने के लिए तथा पूर्ण नीरोग अवस्था प्राप्त करने में सफलता के लिए पूर्वोक्त सात तथ्यों को जानना, मानना और श्रद्धा करना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा के अनन्तसुखरूप कार्य या अनन्त ज्ञान-दर्शन-शक्ति आदि रूप पूर्ण स्वरूपदशा, स्वस्थदशा प्राप्त करने जैसे लोकोत्तर कार्य में सफलता के लिए अर्थात् भवभ्रमण कराने वाले कर्मरोग से सर्वथा मुक्त होने के लिए निम्नोक्त सात तथ्यों को जानना, मानना और उन पर श्रद्धा करना अनिवार्य है।

(१) मैं, जिसे पूर्ण आत्मिक सुख एवं स्वास्थ्य चाहिए वह (जीव) क्या है? (२) सम्यक् में आने वाला विजातीय पदार्थ (अजीव) क्या है? (३) दुःख और अशान्ति के आगमन (कर्म आम्लव) के कारण, (४) दुःख और अशान्ति का रूप (कर्मबन्ध) क्या है?

१. देखें जैनतत्त्वकलिका में प्रस्तुत मन्त्रव्य पृ. ७७-७८

(५) नये आने वाले दुःखों को रोकने (कर्म-संवर) का उपाय, (६) पूर्व-दुःखों को नष्ट करने का उपाय (कर्म-निर्जरा) तथा (७) अनन्तसुखमय आत्म-स्वस्थदशा का स्वरूप (मोक्ष) क्या है ?

जैन कर्मविज्ञान द्वारा प्ररूपित चार तत्त्व अन्य तीन दर्शनों में भी

इस प्रकार कर्मविज्ञान केवल दुःख या रोग का नामोल्लेख करके ही नहीं रह जाता, वह इससे आगे बढ़कर उन दुःखों के आने और दुःख-फल पाने के कारण बताकर आने वाले दुःखों को रोकने, अतीत दुःखों को नष्ट करने तथा दुःखों के आत्यन्तिक रूप से अन्त करने का उपाय भी बताता है।

भारतीय दर्शनों में तीन ही दर्शन ऐसे हैं, जो जैनदर्शन प्ररूपित बन्ध, आम्लव, मोक्ष और निर्जरा तत्त्व के समकक्ष प्रकारान्तर से चार तत्त्वों का निरूपण करते हैं। उनमें एक है—योगदर्शन, जो इन चार तत्त्वों को क्रमशः हेय (अनागत दुःख) हेयहेतु (दुःख का कारण) हान (मोक्ष तत्त्व) और हानोपाय (मोक्ष=कर्मक्षय का कारण) के नाम से निरूपित करता है। दूसरा है बौद्धदर्शन^१ जिसने पूर्वोक्त चार तत्त्वों का दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग, इन चार आर्य सत्त्वों के रूप में प्ररूपण किया है।^२

सिर्फ ज्ञान से ही मुक्ति दिलाने वाले दर्शन

इन तीन दर्शनों के अतिरिक्त सांख्य, वेदान्त, नैयायिक और वैशेषिक ज्ञेयप्रधान हैं। इन्होंने अपने-अपने मान्य तत्त्वों के सिर्फ ज्ञान से (जानकारी कर लेने मात्रा से) ही मुक्ति (कर्म, संसार या वासना आदि से छुटकारा) की प्ररूपणा की है।

सांख्यदर्शन ने तो स्पष्ट कहा है—व्यक्ति जिस किसी आश्रम में हो, जटाधारी हो, मुण्डित हो या शिखाधारी हो, अगर वह (सांख्यदर्शनमान्य) पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता है, तो निःसन्देह मुक्त हो जाता है।

वेदान्त दर्शन कहता है—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। नैयायिक और वैशेषिक भी अपने-अपने दर्शन द्वारा मनोनीत तत्त्वों या गुणों का ज्ञान कर लेने से मोक्ष-प्राप्ति^३ मानते हैं।

१. जैनतत्त्वकलिका (आचार्य आत्मारामजी म.) से साभार उद्धृत, पृ. ७७

२. सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।

निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥

—अभिधम्मय कोश ६/२

३. देखें—जैनतत्त्वकलिका में प्रकाशित मन्तव्य पृ. ७९

४. देखें (क) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

—भगवद्गीता अ. ४ श्लो. ३७

(ख) पंचविंशति-तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।

जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥

—सांख्यदर्शन

(ग) 'ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः'—वेदान्तदर्शन

कोरे ज्ञान या कोरी क्रिया से कर्म-मुक्ति नहीं हो सकती

किन्तु एक बात निश्चित है कि जगत् के मूलभूत तत्त्वों के जानने मात्र से मुक्ति नहीं मिलती, आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से कर्मविज्ञान द्वारा जिन सात या नौ तत्त्वों की प्ररूपणा की गई है, उनके प्रति, तथा उनके साक्षात् उपदेष्टा देव (तीर्थंकर देव) गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति श्रद्धा भी होनी चाहिए तथा कर्मों के आम्रव और बन्ध को जानकर उनसे मुक्ति के लिए कर्मविज्ञान द्वारा बताये अनुसार संवर और निर्जारात्मक या सम्यक्दर्शनज्ञान-चारित्र्यरूप धर्म का आचरण भी करना आवश्यक है। अर्थात् सम्यक् ज्ञान के साथ सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्श्रद्धान के साथ सम्यक्आचरण (क्रिया) करना भी कर्ममुक्ति के लिए आवश्यक है।

जैन-कर्मविज्ञान का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि केवल क्रिया करने से यानी जप, तप, व्रत, नियम आदि का अनुष्ठान करने मात्र से कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता। यदि तप, व्रत, नियम या धर्मक्रिया के साथ अहंकार है, ईर्ष्या है, प्रतिस्पर्द्धा है, भय है, प्रलोभन है, स्वर्गादि या इहलौकिक सुखादि की वाञ्छा है तो उनसे कर्मों का क्षय होने के बजाय और अधिक कर्मबन्धन होता जाएगा।

अतः कर्मविज्ञान का सन्देश है कि जगत् के पूर्वोक्त मूलभूत तत्त्वों का सम्यक्ज्ञान और उन पर या उनके उपदेष्टाओं पर श्रद्धान करना भी आवश्यक है। ऐसा करने से ही व्यक्ति के साथ जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए कर्मों के रोग से छुटकारा हो सकता है।

भवभ्रमणरोग-मुक्ति के लिए भी ज्ञान-दर्शन-क्रिया, तीनों आवश्यक

जैनदर्शनिकों ने रोगी का दृष्टान्त देकर इस तथ्य को भली भांति समझाया है। एक रोगी है, वह यह जानता है कि मुझे कौन-सा रोग लगा है और किन उपायों से मिट सकता है? परन्तु रोग मिटाने के लिए वह कोई उपाय या उपचार नहीं करता है, तो भला उसका रोग कैसे मिट जाएगा? इसी प्रकार एक अन्य रोगी है, उसे रोग लगा है, इसलिए वह अनेक प्रकार के उपचार तो रोग-निवारण के लिए अहर्निश करता रहता है, लेकिन वह यह जानने का जरा भी प्रयत्न नहीं करता कि उसे कौन-सा रोग लगा है? उस रोग के क्या-क्या लक्षण हैं? दवा लेने और उपचार करने पर भी यह रोग क्यों बढ़ता जाता है? वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट किन उपायों या उपचारों से वह रोग मिट सकता है? इन और ऐसी-ही बातों की आवश्यक जानकारी के बिना अंधाधुंध या ऊटपटांग उपचार करने मात्र से या दवा लेते रहने से भी ऐसी रोगी का रोग कैसे मिट सकेगा?

तत्त्वों पर आत्मानुभवात्मक सम्यक्त्वमूलक श्रद्धा से ही कर्ममुक्ति

एक बात यह भी है कि पूर्वोक्त जिनोपदिष्ट तत्त्वभूत नौ पदार्थों को कोई प्रखुरबुद्धि

१. देखें-जैनतत्त्वकलिका (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) का मन्तव्य, पृ. ८०

का व्यक्ति शास्त्र या ग्रन्थ पढ़-सुनकर या रट-रटाकर जान ले, याद कर ले, इन तत्त्वों के भेद-प्रभेद, स्वरूप, लक्षण, अर्थ एवं परिभाषाएँ आदि घोटकर कण्ठस्थ भी कर ले, इन तत्त्वों की वह लम्बी-चौड़ी व्याख्या भी कर दे, परम्परागत संस्कारों के कारण इन तत्त्वों का स्वरूप दूसरों को समझा भी दे; परन्तु जब तक इन तत्त्वभूत पदार्थों पर उसकी दृष्टि, मति, श्रद्धा या रुचि आत्मलक्ष्यी नहीं हो, अथवा आत्मानुभूति से अनुप्राणित न हो अथवा जब तक वह उन तत्त्वभूत पदार्थों के यथार्थ स्वरूप, उनके अपने-अपने स्वभाव तथा उनकी हेयता-उपादेयता-ज्ञेयता को गहराई से भली-भांति समझकर हृदयंगम न कर ले, अथवा उनमें से मुख्य जीव तत्त्व (आत्मा) को केन्द्र मानकर शेष सभी तत्त्वों को आत्मिक विकास-हास की दृष्टि से जाँच-परखकर उनके प्रति अपनी दृष्टि स्पष्ट न कर ले, तब तक उसकी वह श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं मानी जा सकती। फलतः सम्यक्-श्रद्धा के अभाव में उसका ज्ञान भी तोतारटन जैसा ही होगा। अतः कर्म-विज्ञान कर्मरोग से मुक्त होने के लिए पूर्वोक्त नौ तत्त्वों के प्रति ज्ञानपूर्वक दृढ़श्रद्धा और तदनुसार यथायोग्य आचरण करने की बात कहता है।

आशय यह है कि जैच कर्मविज्ञान का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जब तक इन तत्त्वभूत पदार्थों में से हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक करके हेय के त्याग और उपादेय को ग्रहण करने की बुद्धि एवं दृष्टि न हो तथा कषाय-मन्दता (प्रशम), विषयों या संसार के प्रति विरक्ति (निर्वेद), मोक्ष (कर्ममुक्ति) के प्रति तीव्र उत्सुकता (संवेग), प्राणिमात्र को आत्मवत् समझकर उनके प्रति अनुकम्पा और आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, कर्म तथा धर्माचरण के प्रति दृढ़ आस्था न हो, तब तक वह श्रद्धा शब्दात्मक ही मानी जाएगी, आत्मानुभवात्मक नहीं। आत्मनुभवात्मक श्रद्धा सम्यग्ज्ञान-पूर्वक यथोक्त आचरण के सहित ही सक्रिय श्रद्धारूप होती है।

अतः कर्मविज्ञान के सन्देशानुसार मुमुक्षु के अन्तःकरण में अजीव, आस्रव और बन्ध में आकुलता तथा जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष में, अनाकुलता (अनुद्विग्नता शान्ति) देखने की वृत्ति होगी तभी तत्त्वभूत पदार्थों पर उसकी श्रद्धा आत्मानुभवात्मक तथा सम्यक्त्व-मूलक मानी जाएगी।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि इन पूर्वोक्त नौ तत्त्वों (तत्त्वभूत पदार्थों भावों) के सद्भाव (अस्तित्व या स्वभाव) के सम्बन्ध में जिनेन्द्र प्रभु द्वारा किये गये उपदेश (प्ररूपण) में जो भावपूर्वक (अन्तःकरण से) श्रद्धा होती है, उसे ही सम्यक्त्व (सत्यश्रद्धा) कहा गया है।⁹

9. "तहियाणं तु भावाणं, सन्धादे उवएसणं।

भावेण सदहंतस्स सम्मतं तं वियाहियं॥"

- उत्तराध्ययन २८/१५

कर्मसिद्धान्त का यथार्थ मूल्य-निर्णय के लिए ज्ञानादि त्रिपुटी जरूरी

जैसे रोग से मुक्त होने के लिए रोग का निदान अर्थात् उसके स्वरूप या लक्षणों का ज्ञान, रोग-निवारण के उपायों का ज्ञान तथा तदनुसार चिकित्सा या उपचार करना, ये तीनों आवश्यक हैं, वैसे ही भवभ्रमण के कारणरूप कर्मों के रोग से मुक्ति के लिए कर्म-विज्ञान के माध्यम से वीतराग, सर्वज्ञ, आप्त-पुरुषों द्वारा निर्दिष्ट नौ तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय इन तीनों प्रकार का ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और ग्रहण करने-छोड़ने की यथायोग्य क्रिया, ये तीनों आवश्यक हैं। इस प्रकार वीतराग आप्त-पुरुषों ने कर्म-सिद्धान्त का मूल्य नौ तत्त्वों के माध्यम से कर्मों से सम्बद्ध हेयता, ज्ञेयता और उपयोगिता बताकर कर दिया है।^१

मूल्य-निर्णय व्यक्ति की दृष्टि, श्रद्धा, रुचि एवं बुद्धि पर निर्भर

परन्तु सामान्य व्यक्ति या स्व-पराहित से अनभिज्ञ तथा तत्त्व-ग्रहण और तत्त्व-धारणा के प्रति अरुचिवाला व्यक्ति कर्मसिद्धान्त का यथार्थ मूल्य-निर्णय कैसे कर सकता है? किसी भी वस्तु का मूल्य निर्णय व्यक्ति की दृष्टि, श्रद्धा, रुचि एवं बुद्धि पर निर्भर है। यदि व्यक्ति की दृष्टि, श्रद्धा, रुचि एवं बुद्धि असम्यक् या विपरीत होती है, तो वह सर्वज्ञोक्त तत्त्व, वस्तु या सिद्धान्त का निर्णय या श्रद्धान भी उलटे रूप में करता है।^१

सम्यग्ज्ञानियों की दृष्टि में सम्यक् समझी जाने वाली वस्तु को या तत्त्व अथवा सिद्धान्त को भी विपरीत रूप से ग्रहण करता है, जानता-मानता है, तो वह उक्त वस्तु का मूल्य-निर्णय अयथार्थरूप से विपरीत रूप से ही करता है।

उदाहरणार्थ—आचारांगसूत्र में कहा गया है— “इस विश्व में कतिपय तथाकथित श्रमण और माहन, इस प्रकार के भिन्न (विपरीत) वाद का निरूपण करते हैं कि हमने देखा है, सुना है, मनन किया है, तथा भलीभांति जान लिया है, और लोक में ऊर्ध्व-दिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा में सर्वतोभावेन अच्छी तरह प्रतिलेखन (निरीक्षण, पर्यवेक्षण या सर्वेक्षण) कर लिया है कि सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व हनव्य (मार डालने योग्य) हैं, उन पर शासन करना (हुकूमत करके जबरन आज्ञा में चलाना) चाहिए। उन्हें गुलामों या दास-दासी के रूप में अपने अधीन रखने चाहिए। उन्हें

१. जैनतत्त्वकलिका पृ. ८०

२. “असमिचिती मन्ममाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए।”

—आचारांग शु. १ अ. ५ उ. ५

संतप्त करना, पीड़ित करना चाहिए, उन्हें डराना, धमकाना और उपद्रवित करना चाहिए। यह जान लो, इसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार के वचन (मिथ्यादृष्टि के) अनार्यों के हैं।^१

इस प्रकार घोर कर्मबन्धन की कारणभूत जीवहिंसा का मूल्य-निर्णय मिथ्यादृष्टि, मिथ्यामति लोग विपरीत रूप में करते हैं। आज भी आतंक-वादियों द्वारा इसी प्रकार का मिथ्या मूल्य-निर्णय हम देख रहे हैं।

मिथ्या धारणाओं के शिकार गलत मूल्य-निर्णय करते हैं

इसी प्रकार चोरी, छीना-झपटी, लूट-पाट, डकैती, हत्या, आतंक, उपद्रव आदि करने वाले लोग भी मिथ्या धारणा के शिकार होकर हिंसाजनित पापकर्म के विषय में गलत मूल्य-निर्णय कर लेते हैं। उनके लिए आचारांग सूत्र में कहा गया है— “जो इस नाशवान् जीवन में प्रमादी होता है। फलतः वह हत्यारा (घातक), छेदक, भेदक, लुटेरा, छीना-झपटी या अपहरण करने वाला, उपद्रवी (आतंकवादी), दूसरों को त्रास (पीड़ा) देने वाला हो जाता है और उसकी यह मान्यता बन जाती है कि जो किसी ने नहीं किया, वह (कुकृत्य) मैं करूँगा। (इन कुकर्मों को वह शुभकर्म मानता है।)”^२

विपरीत दृष्टि वाले व्यक्तियों का विपरीत दृष्टिकोण एवं आचरण

विपरीत दृष्टि वाले व्यक्ति कर्मसिद्धान्त का गलत मूल्य-निर्धारण करते हैं। हिंसा, मिथ्यात्व (अज्ञान), असत्य, माया (कपट), पैशुन्य (चुगली तथा परनिन्दा) एवं दुष्टता करने में तथा मद्य, मांस का सेवन करने में कर्मसिद्धान्त जहाँ व्यक्ति के लिए पापकर्म का बन्ध तथा उससे होने वाले नरक-तिर्यच आदि दुर्गति गमनरूप फल बताते हैं, जो आत्मा के लिए श्रेयस्कर नहीं है परन्तु हिंसा, असत्य, ठगी आदि में रत लोग इसे श्रेयस्कर मानते हैं।^३

१. “आवंती केयावंती लोयांसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति—

से दिडुं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उडुं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, उद्वेयव्वा।।” “एत्थ वि जाणह, णत्थित्थ दोसो।” “अणारियवयणमेयं।।”

— आचारांग. श्रु. १, अ. ४. उ. २

२. “जीविए इहा जे पमता, से हंता, छेत्ता, भंता, लुपित्ता, विलुपित्ता, उद्वेत्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामिति मण्णमाणे।।”

— आचारांग श्रु. १, अ २ उ. १

३. “हिंसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।

भुंजमाणे सुरं मंसं सेयमेयं ति भव्वई।।

—उत्तराध्ययन. अ. ५, गा. ९

उत्तराध्ययन सूत्र में इन तथ्यों को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि काम-भोगों में आसक्त व्यक्तियों का मिथ्या दृष्टिकोण इस प्रकार का है कि मैंने परलोक देखा नहीं है, इहलोक में काम-भोगों में जो सुख है, वह प्रत्यक्ष है। भविष्य के जो शुभफल हैं, वे तो अदृष्ट हैं, किन्तु ये कामभोग हस्तगत हैं। इन्हें छोड़कर कौन परलोक के सुख की आशा करे। कौन जानता है— परलोक है भी या नहीं है? दूसरों का जो हाल होगा, वही मेरा होगा, इस प्रकार कामभोगों में आसक्त अज्ञानी जन धृष्ट बना फिरता है। इस प्रकार वह पापकर्मा व्यक्ति एक ओर से पाप कर्मों का खुल्लमखुल्ला प्रचार करता है, लोगों को पाप कर्म करने की प्रेरणा देता है, दूसरी ओर स्वयं भी अर्थलोलुप एवं स्त्रियों में आसक्त बनकर निःशंक होकर पाप कर्म करता रहता है। इस प्रकार दोनों ओर से मन-वचन काया से पाप कर्मों का संचय करता रहता है।^१

विपरीतदृष्टि लोगों द्वारा कर्मसिद्धान्त का विपरीत प्ररूपण

आचारांग सूत्र में ऐसे लोगों की दुर्मनोवृत्ति और विपरीत दृष्टि का परिचय देते हुए कहा गया है—“ऐसा विषयार्थी और निपटस्वार्थी मनुष्य अपने मित्र, स्वजन, परिजन, पीडित तथा नाना उपकरणों—साधनों, धन-धान्य, वस्त्रादि तथा सम्पत्ति आदि सब में आसक्त रहता है; अहर्निश वह प्रमादी, चिन्तित और संतप्त रहता है।”

वह अर्थलोभ एवं विविध सुख-सुविधा के संयोगों की कामना करके काल और अकाल की परवाह न कर अहर्निश ऐसे दुष्पुरुषार्थ करता रहता है। उसका चित्त भी उन्हीं विषयों में रत रहता है, इसलिए वह निःशंक होकर दुःसाहसपूर्वक लूट-खसोट, शोषण आदि करता हुआ प्राणियों पर बार-बार (भाव) शस्त्र चलाता रहता है।”^२

१. जे गिद्धे कामभोएसु एगे कूडाय गच्छति।

न मे दिडे परे लोए, चक्खुदिड्ढा इमा रई॥

हत्यागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।

को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।

कामभोगाणुराणेण केसं संपडिवज्जई॥

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धेय इत्थिसु।

दुहओ मलं सचिणइ सिमुणाभुव्व मड्डियः।

—उत्तराध्ययन अ. ५ या. ५, ६, ७, ९, १०

२. (क) माया मे, पिया मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूआ मे, ण्हसा मे, सडि-सचण-संगंध-संथुआ मे विचिनुवगरण-भोयण-च्छायणं मे। इच्चत्थं गट्ठिए लोए वसे पमत्ते। इति से गुणद्धी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. १

(ख) अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकाल समुद्धई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुपे सहसाकारे विणिगिट्ठु चित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. १

इस प्रकार के लोग कर्मसिद्धान्त की मिथ्या प्रेरुपणा एवं विपरीत मूल्य-निर्धारण करते हैं।

दृष्टि, श्रद्धा, बुद्धि आदि के विपरीत होने के कारण

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और बुद्धि कैसे विपरीत हो जाती है, इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र कहता है—“भोगों के लिए लालायित होकर पूर्णतया बाल (अज्ञानी और अत्यागी) और मूढ़ जन केवल जीवन की कामना करता हुआ (दृष्टि और श्रद्धा से) विपर्यास भाव को प्राप्त होता है। ऐसे विषयासक्त मिथ्यादृष्टिजनों को इस लोक में तप, दम; नियम, संयम आदि कुछ भी नहीं दिखाई देता, अर्थात्—उसे धर्माचरण बिलकुल नहीं सुहाता और न ही सूझता है।”

“ऐसे लोग विविध प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्र, आभूषण, मणि, कुण्डल, स्वर्ण आदि में तथा कामिनियों के राग-रंग में अत्यन्त गृह्य हो जाते हैं। और उन्हीं में आसक्त रहते हैं।”

“जाति, कुल, बल, रूप आदि के मद से मनुष्य को तज्जन्मित हीनता प्राप्त होती है, कर्मसिद्धान्त के इस रहस्य को नहीं समझने वाला अभिमानी पुरुष (पाप कर्म-बन्धन से) हतोपहत होकर जन्म-मरण के चक्र में आवर्तन-परिभ्रमण करता है।”

कर्मविज्ञान ने आत्मिक सुख-प्राप्ति संवर और निर्जरा से बताया है, जबकि जो संसार की मोहमाया में ग्रस्त हैं, वे इस तथ्य को नहीं समझते कि धनादि से तुम्हारी आत्मा को किंचिद् भी सुख नहीं होता, इन्द्रियों को क्षणिक वैषयिक सुखानुभव हो सकता है।^१

मिथ्यादृष्टि विवेकमूढ़ मानवों का बुद्धि-विपर्यास

विषयसुखार्थी मनुष्य कामिनियों को सुख का आयतन कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन (कर्मबन्ध के फलस्वरूप) उनके लिए दुःख, मोह, मृत्यु, नरक तथा नरकतिर्यञ्च योनि का कारण होता है। वीतराग प्रभु का कथन है कि, “स्त्रियों से यह संसार प्रव्यथित है—पीड़ित है।”

१. (क) “संपुष्णं बाले जीवितकामे लालप्समाणे मूढे विपरियसमुवेई।”
(ख) “न इत्थं तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सई।”
(ग) “आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सहहिरण्णेण इत्थियाओ परिगिञ्जति तत्थेव रत्ता।”
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ३
२. (क) “से अबुञ्जमाणे हओवहए जाई-मरणं अणुपरियइमाणे...।”
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ३
३. (क) जेण सिया तेण नो सिया।
इणमेव नावदुञ्जति जे जणा मोहपाउडा।
—आ. श्रु. १ अ. २ उ. ४

“सतत मूढ़ मनुष्य (सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप) धर्म को नहीं जानता”।^१

इस प्रकार वह असम्यग्दृष्टिवान् मूर्ख दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ, उसके फलस्वरूप धननाश होने से उत्पन्न दुःख से मूढ़ बनकर विपर्यास (बुद्धिवैपरीत्य) को प्राप्त करता है।^२

आचारांग के अनुसार विषयासक्त मनुष्य अपने को अमरवत् जानकर विषयों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखता है। भगवोक्त कहते हैं— “विषयलोलुप व्यक्ति अपनी आत्मा के साथ शत्रुता (वैर) बढ़ाता है।” “विषय-सुखार्थी मनुष्य सावधकार्य (पापकर्म) करता हुआ स्वयंकृत पापकर्मरूप दुःख से मूढ़ बनकर विपर्यास (दृष्टि और बुद्धि की विपरीतता) प्राप्त करता है।” फिर वह अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्म-जन्मान्तरं प्राप्त करता है। “यह दुःख आदि स्वकर्मकृत है, कर्म-सिद्धान्त से यह जानकर सर्वशः कृत-कारित-अनुमोदित रूप से दुःखोत्पत्ति के कारणभूत कर्मों का निरोध करे”।^३

पापकर्मरत मानव शुद्धधर्म से अनभिज्ञ रहता है

“यों अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ़ मानव धर्म (शुद्ध कर्म) को यथार्थरूप से नहीं जानता, वह धर्म से अनभिज्ञ रहता है। हे मानव! प्रजा, प्राणिसमूह इसी कारण से आर्तदुःखों से पीड़ित है। जो कर्म कुशल हैं, किन्तु पापों से उपरत नहीं, और अविद्या (अज्ञान) से मोक्ष कहते हैं, वे^४ आवर्त संसार चक्र में ही बार-बार पर्यटन करते रहते हैं।

१. (क) ते भो! वयस्ति-एयाइं आयतणइं से दुक्खाए, मोहाए, माराए, नरगाए, नरग-तिरिक्खाए ॥
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ४
- (ख) यीमि लोए पव्वहिए।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ४
- (ग) सथयं मूढे धम्मं नाभिजाणई।”
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ४
२. इति से परस्स अट्ठाए कूरापि कम्माणि बाले प्रकुच्चमाणे तेण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ३
३. (क) अमरायइ महासइदी
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ५
- (ख) वैरं वइइइ अप्पणो।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ५
- (ग) सुहइी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ”
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ६
- (घ) सएण विप्पमाणेण पुढो वयं पकुच्चह।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ६
- (ङ) “इइ कम्मं परित्राय सव्वसो।
—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ६
४. (क) ‘अण्णाण-पमाय-दोसेणं समयं मूढे धम्मं नाभिजाणई।”
(ख) अट्ठा पया माणव! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जए पत्तिभोक्खमाहु, आवइं अणुपरियइंति।”
—आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. १

जिनकी बुद्धि, रुचि, श्रद्धा, प्ररूपणा, मान्यता, एवं दृष्टि पूर्वोक्त विविध कारणों से मिथ्या या विपरीत हो जाती है, "वे इग दुष्पूर कामनाओं की पूर्ति के लिए दूसरों को मारने, दूसरों को संताप (दुःख) देने, दूसरों को अपने अधीन करने तथा जनपदों का वध करने, जनपदों को परिताप देने और जनपदों तक को अपने अधीन करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं।"

मलिनबुद्धिजन यथार्थ मूल्य-निरूपण नहीं कर पाते

इस प्रकार कामभोगासक्ति, कषाय-तीव्रता, विविध मदग्रस्तता, मिथ्यात्व, अविद्या या अज्ञान आदि के कारण जिनकी बुद्धि आदि मोह-मलिन, मिथ्या या विपरीत हो जाती है, वे कर्मसिद्धान्त का न तो यथार्थ वस्तुत्व निरूपण कर सकते हैं, न ही उस पर श्रद्धा या रुचि रखते हैं, और न उसका यथार्थ मूल्यनिर्णय कर पाते हैं। बल्कि ऐसे लोग कभी तो जान-बूझकर और कभी भ्रान्ति या अविद्या या मूढ़ता के शिकार होकर कर्म-सिद्धान्त का उत्पादन करने लगते हैं।

कर्मसिद्धान्त का यथायोग्य मूल्यनिर्णय न होने का फल

कर्मसिद्धान्त के यथायोग्य मूल्यनिर्णय न होने के फलस्वरूप वे जीवों की अहिंसा, दया, करुणा, सहानुभूति, या अवध का प्रतिपादन हिंसा, निर्दयता, अकरुणा, कठोरता, क्रूरता, उपेक्षा तथा जीववध के रूप में करने लगते हैं। अथवा वे किसी वस्तु का मूल्यनिर्णय सापेक्ष या अनेकान्त या अनाग्रह दृष्टि से न करके एकान्त, निरपेक्ष, पूर्वाग्रही या स्वकीय मिथ्याभिनिवेश दृष्टि से करते हैं। कर्म सिद्धान्त का भी वे इसी प्रकार गलत मूल्यांकन करते हैं। फिर वे किसी अपेक्षा से दूसरे के सम्यक् दृष्टिकोण को न समझकर अपनी एकान्तवादी मिथ्या मान्यतानुसार कुयुक्तियों एवं कुतर्कों से मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् : मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या

लौकिक एवं लोकोत्तर नीति और अहिंसादि सद्धर्म के प्रतिपादक शास्त्रों एवं ग्रन्थों में लिखित तथ्यों एवं तत्त्वों का अर्थ एवं विवेचन भी वे अपनी ही दृष्टि से तोड़-मरोड़ कर करते हैं। नन्दासूत्र में बताया गया है कि "जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है, वह लौकिक लोकोत्तर आदि शास्त्रों ग्रन्थों आदि में लिखित बातों को सम्यक् रूप से ग्रहण करता है,

१. मे अण्णवहाए अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए, जणवयवहाए, जणवय परियावाए, जणवय-परिग्गहाए।
—आचारांग शु. १. अ. ३ उ. २

इसलिए उसके लिए सम्यक् कहे जाने वाले श्रुत (शास्त्र) तो सम्यक्श्रुत हैं ही, मिथ्या कहे जाने वाले श्रुत भी सम्यक्श्रुत हो जाते हैं, इसके विपरीत जिसकी दृष्टि मिथ्या है वह आचारांग, भगवती आदि सम्यक्शास्त्रों को भी मिथ्या (विपरीत) रूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसके लिए वे सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत हो जाते हैं। "अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये ही शास्त्र ग्रन्थ सम्यक्श्रुत हो जाते हैं क्योंकि कई मिथ्यादृष्टि उन शास्त्रों सिद्धान्तों से प्रेरित होकर अपने मिथ्यापक्ष (पकड़, पूर्वाग्रह) का त्याग कर देते हैं"।

सम्यग्दृष्टि ही नौ तत्त्वों के माध्यम ने कर्मसिद्धान्त के यथार्थ मूल्यनिर्णय में सक्षम

इसलिए किसी भी वस्तु, सिद्धान्त या व्यक्ति का सम्यक् या असम्यक् मूल्य-निर्णय व्यक्ति की सम्यक् या असम्यक् दृष्टि पर निर्भर है। दृष्टि के अनुसार ही प्रायः श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, स्पर्शना, पालना, अनुपालना, अथवा बुद्धि या मान्यता बन जाती है। जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है, वह हर पहलू से सापेक्ष रूप से सोचकर कर्मसिद्धान्त का यथार्थ मूल्य-निर्णय करता है और उसके यथायोग्य उपयोग से जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर ले जाता है। किन्तु जिसकी दृष्टि मिथ्या है, वह उसका मूल्य-निर्णय विपरीत रूप में या मिथ्यारूप में करे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

वीतराग सर्वज्ञ आप्त परमात्मा ने नौ तत्त्वों के माध्यम से कर्मों की हेयता, ज्ञेयता और उपादेयता का निर्णय करके कर्मसिद्धान्त का यथार्थ मूल्य-निर्धारण कर दिया है। अल्पज्ञ (छद्मस्थ) को सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा इन्हीं तत्त्वभूत नौ पदार्थों के माध्यम से किये गये मूल्य निर्धारण पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, एवं स्पर्शना-पालना करके कर्मसिद्धान्त का यथायोग्य प्रयोग= उपयोग करना चाहिए। तभी कर्मसिद्धान्त के अस्तित्व और वस्तुत्व (यथावस्थित स्वरूप) के साथ उसका मूल्य-निर्धारण उसकी समझ में आ जाएगा और ऐसे अभ्यास से वह एक सच्चे कर्मविज्ञानी के समान नौ तत्त्वों के माध्यम से आस्रवों का निरोध करने तथा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) करने में तथा मूल्य-निर्धारण करने में कुशल हो जाएगा। भगवद्गीता की भाषा में 'योगः कर्मसु कौशलम्' (कर्मों का उपयोग-अनुपयोग तथा निरोध-क्षय करने में कौशल ही योग है) इस उक्ति को चरितार्थ कर सकेगा।

१. (क) 'एयाइ मिच्छादिद्विस्स मिच्छत्त परिग्गहिआइ मिच्छासुयं। एयाइ चैव सम्मदिद्विस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुयं।

(ख) "अथवा मिच्छादिद्विस्स वि एयाइ चैव सम्मसुअं, कन्हा ? सम्मतहेउत्तणओ, अम्हा ते मिच्छद्विआ तेहिं चैव सम्पहिं चोइआसमाणा केइ सपक्खदिद्वीओ चयति ॥"

२. भगवद्गीता अ. २ श्लो. ५०

कर्म-विज्ञान की उपयोगिता

कर्मविज्ञान की उपयोगिता पर सर्वतोभावेन विचार करना आवश्यक

किसी भी वस्तु की उपयोगिता संसार में तभी मानी जाती है, जब उस वस्तु के बिना काम न चलता हो, अथवा उससे कोई विशेष लाभ होता हो, या वह वस्तु जीवन में पद-पद पर उपयोगी हो। कर्म मानव-जीवन ही नहीं, सांसारिक प्राणियों के जीवन के अर्थ से इति तक श्वासोच्छ्वास की तरह साथ-साथ संलग्न रहता है। श्वासोच्छ्वास तो एक जीवन के अन्त तक साथ रहता है, अर्थात्-आयुष्य की समाप्ति तक साथ चलता है; किन्तु कर्म तो सांसारिक जीवन-यात्रा में जन्म-जन्मान्तर तक कार्मण शरीर के माध्यम से साथ-साथ चलता है। संसार-यात्रा की सदा के लिए परिसमाप्ति और मोक्ष-प्राप्ति के प्रारम्भ तक कर्म प्राणिजीवन के साथ-साथ गति-प्रगति करता है। इस दृष्टि से कर्मविज्ञान की उपयोगिता पर सर्वतोभावेन विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जीवन के सर्वांगों और सर्वक्षेत्रों का विश्लेषण कर्मविज्ञान में है

दूसरी बात यह है कि कर्मविज्ञान में मात्र शुभाशुभ क्रिया या प्रवृत्ति की दृष्टि से ही कर्म का विचार किया जाता, तब तो उसकी उपयोगिता पर दीर्घदृष्टि से किसी प्रकार का विचार करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु जैन कर्मविज्ञान में कर्म से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न पर दीर्घदृष्टि से, समस्त गुणस्थानों की अपेक्षा से, कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध की अपेक्षा से, गति, इन्द्रिय, काय, योग, उपयोग, लेश्या, संज्ञा, भ्रूय, आहार आदि विविध मार्गणाद्वारों की दृष्टि से तथा कर्म के कर्तृत्व, फलभोक्तृत्व, फलप्रदातृत्व तथा कर्मों के आश्रय-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्त्वों की दृष्टि से एवं कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि सर्वांगों से सर्वांगपूर्ण विचार किया गया है, इसलिए प्रत्येक विचारक

का कर्तव्य हो जाता है कि जैनकर्मविज्ञान का गहराई से अध्ययन करे और उसकी उपयोगिता को समझे।^१

सभी दृष्टियों से कर्मविज्ञान पर विचारणा आवश्यक

साथ ही वह इस विज्ञान की केवल व्यवहारिक ही नहीं, मनोवैज्ञानिक, जीववैज्ञानिक, शरीरवैज्ञानिक, भौतिकवैज्ञानिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से उपयोगिता के बारे में भी सर्वांगीण रूप से विचार करे।

कर्म सर्वथा त्याज्य नहीं, किन्तु संसारयात्रा के अन्त तक उपादेय भी हैं, क्यों और कैसे?

इतना कह देने मात्र से काम नहीं चल सकता कि कर्म तो सर्वथा त्याज्य हैं; कर्म-परमाणु तो परभाव हैं, इसलिए स्वभाव को विकृत करने वाले, आत्मशक्ति के प्रतिबन्धक, अवरोधक एवं आवरक हैं; इसलिए इन्हें सर्वथा हेय ही समझने चाहिए। और इतना कहने मात्र से कि कर्मों! तुम हमारा पिण्ड छोड़ दो, क्यों हमारी आत्मा के साथ लगे हो?" पुराने कर्म छूट नहीं जायेंगे, तथा नये कर्म आने से भी रुक नहीं जायेंगे। कर्म आपकी संसारयात्रा और शरीरयात्रा में साथ-साथ लगे रहेंगे। आपके इस जीवन के और अगले जन्मों के प्रत्येक क्रियाकलाप पर कर्म अंकित होते रहते हैं, होते रहेंगे और समय पर अपना फल देकर छूटते जाएँगे, साथ ही नये-नये कर्मों का आवागमन भी जारी रहेगा। "आपकी शरीरयात्रा भी कर्म किये बिना सफल एवं सिद्ध नहीं हो सकेगी।" "समग्र लोक स्व-स्वकर्मसूत्र से ग्रथित है।"^२ वह प्राणियों के जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण में रमा हुआ है।

यह व्यक्ति का कर्तव्य है कि चौबीसों घंटे अपने साथ रहने वाले कर्म की गतिविधि को पहचाने कि उसकी कहाँ उपयोगिता है, कहाँ अनुपयोगिता है? वह कहाँ तक उपादेय है, कहाँ उपादेय नहीं है, कौन से कर्म शुभ हैं और कौन से कर्म अशुभ हैं, सर्वथा त्याज्य हैं? शुभ कर्म भी कहाँ तक उपादेय हैं और वे कब और किस कारण से अशुभ हो जाते हैं? कर्मों की सेना बहुसंख्यक है तो जीव (आत्मा) अकेला होते

१. देखें-

- (क) कर्मग्रन्थ भाग १ से ५ तक
- (ख) महाबंधो पुस्तक १ से ७ तक
- (ग) कर्म प्रकृति
- (घ) गोम्पटसार (कर्मकाण्ड) आदि।

२. (क) शरीरयात्राऽपि च तेन प्रसिद्धयेदकर्मणः।

-गीता

(ख) स्वकर्मसूत्र ग्रथितो हि लोकः।

-महाभारत

हुए भी उसके पास अनन्तचतुष्टय सम्पन्न चार वरिष्ठ सैन्य दल हैं, मगर हैं वे सुस्त, कुण्ठित, सुषुप्त एवं उत्साहहीन।

अतः ऐसी स्थिति में जीव को कर्मों के सैन्यदल के साथ कहाँ जूझना है, कैसे जूझना और विजय पाना है, एवं कहाँ उसके साथ समझौता करना है, कहाँ उसके साथ सन्धि एवं सुलह करनी है? इसका पूर्ण विवेक कर्मविज्ञान बताता है।

जैन कर्मविज्ञान इतना समृद्ध एवं सुव्यवस्थित है कि इसमें जीवन के हर एक क्षेत्र की प्रत्येक समस्या और प्रत्येक प्रश्न का हल ढूँढा जा सकता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक पहलू का सर्वेक्षण और अनुसन्धान करने का उपाय भी जैन कर्मविज्ञान मार्गणाद्वारों तथा गुणस्थानों के माध्यम से बताता है। इसे भलीभाँति हृदयंगम करके ही मानव अपने लक्ष्य की दिशा में उत्तरोत्तर आगे बढ़ सकता है और शुद्ध कर्म की पगडंडी पर चढ़कर वीतरागता से सम्पन्न होकर चार आत्मगुणघातक कर्मों को सर्वथा क्षय कर सकता है, तदनन्तर उस जन्म के आयुष्य कर्म के समाप्त होने के साथ ही आठों ही कर्मों को समूल विनष्ट कर सकता है।^१

इन सब तथ्यों और तत्त्वों पर से यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि कर्मविज्ञान की मानव-जीवन में कितनी उपादेयता और उपयोगिता है? कर्मविज्ञान को अपनाए बिना कर्मों से मुक्ति या कर्मक्षय की युक्ति की कला कैसे प्राप्त हो सकती है? कर्मविज्ञान को अधिगत करने पर ही मानव पुरातनबद्ध कर्मों को उसके द्वारा निर्दिष्ट उपायों से क्षीण कर सकता है और नये आते हुए कर्मों को भी रोक सकता है।

सर्वज्ञोक्त होने से कर्मविज्ञान सर्वाधिक उपयोगी एवं प्रेरक

कर्मविज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वाधिक उपयोगी इसलिए है कि कर्मविज्ञान के उपदेष्टा वीतराग सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने अपने समस्त प्रवचन जगत् के समस्त जीवों की रक्षा=आत्मरक्षारूप दया से प्रेरित होकर प्रतिपादित किये हैं।^२ वे भला जगत् के जीवों का वध हो, उनकी आत्मा पतित और चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करके दुःखी हो, ऐसा उपदेश कैसे कर सकते हैं? हाँ, उन्होंने कर्मविज्ञान के द्वारा यह अवश्य वता दिया है कि आत्मा कैसे कर्मों के आग्नवद्धार में फँसता है? कैसे कर्मों के बन्धन

१. देखें-

(क) कर्मरहस्य, कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी)

(ख) त्रिभवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक

(ग) कर्मदास (शुभाचार्य महाप्रज्ञ)

(घ) जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचंद गि. कापडिया)

२. 'सम्बन्धन जीव रक्षणा-व्यहृयाए पावयणं भगवया मुकहियं।'

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

को और सुदृढ़ करता रहता है? साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि कैसे- कैसे वह कर्मों को आने से रोक सकता है और उनके बंधन में जकड़ने से स्वयं को बचा सकता है, कैसे पूर्वकृत कर्मों को तोड़ सकता है?

भौतिक उपयोगितावादी कर्मविज्ञान से लाभ नहीं उठा पाते

यद्यपि भौतिक उपयोगितावादी कर्मविज्ञान के रहस्य का आनन्द नहीं ले सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि में सांसारिक भौतिक पदार्थों की उपलब्धि और अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि ही सर्वोपरि उपलब्धि है। कतिपय लोगों का यह भ्रान्त धारणा रही है कि भौतिकविज्ञान की तरह कर्मविज्ञान भी अपूर्व चमत्कारों से भरा है। इसमें वे विद्याएँ हैं, जिनके बल पर लोहे से सोना बनाया जा सकता है, बिना ही विमान के आकाश में उड़ा जा सकता है, किसी भी देश को जीता जा सकता है इत्यादि।

वैज्ञानिक चमत्कारों का खजाना मान कर कतिपय लोगों की कर्मविज्ञान के प्रति रुचि रही। परन्तु कर्मों के विविध आप्रव और बंध तथा संवर और निर्जरा के विवेचन का पठन-श्रवण किया तो उन्हें कर्मविज्ञान नीरस और निरर्थक बौद्धिक व्यायाम प्रतीत हुआ। ऐसे अर्थभक्त=अन्ध-स्वार्थभक्त लोगों ने कहना शुरू किया— “अपना काम करो। ऐसे कर्म के बहु-आयामी जाल में अपना बहुमूल्य समय क्यों व्यय किया जाए? क्यों इस नीरस कर्मविज्ञान में अपना सिर खपाया जाए?” वास्तव में लौकिक अर्थभक्त या अन्धस्वार्थभक्त अनर्थ की जननी एवं आत्मगुणनिधि का लोप करने वाली मोहक सामग्री को सर्वस्व मानता है।

यद्यपि कर्मविज्ञान ने जीवविज्ञान, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान आदि के नियमों और सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है। परन्तु भौतिकविज्ञान के या अर्थ के पुजारियों को इन बातों और रहस्यों को जानने की उत्सुकता नहीं होती। वे तो कर्मविज्ञान में भौतिकविज्ञान की केवल पौद्गलिक सामग्री न पाकर निराश हो जाते हैं। किन्तु कर्मविज्ञान का मर्मज्ञ तथा आत्मनिधि के वैभव को समझने और पाने के लिए उत्सुक, जिज्ञासु, मुमुक्षु व्यक्ति यह अनुभव करता है कि कर्मविज्ञान विविध वैज्ञानिक चमत्कारों से भरा पड़ा है। कर्मों के जाल में फँसाने वाली भौतिक पदार्थ की तथाकथित ज्ञान सामग्री तो बन्धन को और अधिक पुष्ट करती है। वह तो महान् अविद्या, अज्ञान या मोहजनित मिथ्यात्व है।

कर्मविज्ञान में आत्मा कर्मों की राशि से पृथक् करके अपनी अनन्त चतुष्टयी, अमर्यादित एवं स्थायी विभूतियों से सुशोभित, सुषुप्त आत्मत्व को अभिव्यक्त करने की कला, विद्या या विज्ञान का चमत्कार है।

१. महाबंधो भा. १ की प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से भावांश उद्धृत पृ. ३०-३१

अर्थभक्त रूपों के हानि-लाभ पर ही दृष्टि रखता है, जबकि कर्मविज्ञान में पारंगत आत्मवान् व्यक्ति आत्मस्वरूप को आवृत्त करने वाले आस्रव को हेय तथा बन्ध को हानिकारक एवं संवर-निर्जरा को मोक्षरूपी धन का लाभकर्ता समझता है। कर्मविज्ञान इसी आत्मिक हानि-लाभ की बात विविध पहलुओं से बताता है।

कर्मविज्ञान से आध्यात्मिक उपलब्धि

समयसार नाटक में कविवर बनारसीदास जी ने कर्मविज्ञान मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुषों की कर्मविज्ञान से आध्यात्मिक उपलब्धि की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए कहा है—

जे जे जगवासी जीव थावर-जंगमरूप,

ते ते निज बस करि राखे बल तोरि के।

महा अभिमानी ऐसो आस्रव अगाध जोधा,

रोपि रणथम्भ टाडो भयो मूँछ मोरि के॥

आयो तिहि थानक अचानक परमधाम,

ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरि के।

आस्रव पछार्यो रणथम्भ तोड़ि डार्यो,

ताहि निरखि बनारसी नमत कर जोरि के ॥^१

वस्तुतः कर्मविज्ञान अभिमानी आस्रव सुभट को पछाड़कर विजय प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानी को महान् बल प्रदान करता है! वह बताता है कि कर्मों का आत्मा के साथ जो बन्ध है, वह इतना दुर्भेद्य, सुदृढ़ और सूक्ष्म है कि भयंकर से भयंकर शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रादि के प्रहार का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु अध्यात्म-शक्तियाँ जाग्रत होते ही रागद्वेष-मोहादि कषायजनित कर्मों का गाढ़ बन्धन शिथिल होने लगता है। कर्मों के प्रपंच से छूटने का कर्मविज्ञान द्वारा प्रेरित उपाय ही सच्चे माने में सब से बड़ा लाभ और चमत्कार है।

संसार के समस्त भौतिक चमत्कार और आविष्कार को तराजू के एक पलड़े पर रखा जाए और दूसरी ओर दूसरे पलड़े पर कर्मक्षय एवं कर्मनिरोध करने की आत्मचातुरी अथवा आध्यात्मिक शक्ति के चमत्कार को रखा जाए तो वह आत्म-स्वरूपोपलब्धि का पलड़ा ही भारी रहेगा! अनन्त-अनन्त जन्मों से बंधे हुए अनन्त दुःखों के मूल कारण कर्मों का पूर्णतया उन्मूलन करके आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मिकसुख और अनन्त आत्मशक्ति (वीर्य) को अभिव्यक्त करने की कला कर्मविज्ञान से ही प्राप्त होती है।

१. समयसार नाटक (कविवर बनारसीदास जी)

भौतिकता और आध्यात्मिकता की आराधना में अन्तर

साथ ही कर्मविज्ञान यह भी बताता है कि भौतिकता की आराधना से तो आत्मशक्तियों का हास ही होता है, जबकि कर्मविज्ञान द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिकता की आराधना से उनका विकास होता है, जीव कर्मों से मुक्ति पाने का उपक्रम कर सकता है, फलतः वीतरागता का प्रकाश उसके जीवन की वृत्ति-प्रवृत्तियों को आलोकित कर पाता है। अनादिकाल से मोहमहा-विद्यालय में अभ्यास करने वाला जीव जहाँ भी जाता है, और जिस किसी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ के सम्पर्क में आता है, वह या तो राग, मोह, आसक्तिभाव धारण करता है, या फिर द्वेषभाव धारण करता है। फलतः नीब्रगति से कर्मबन्ध अधिकाधिक सुदृढ़ होता जाता है। वीतरागता का प्रकाश उसके जीवन पथ को आलोकित नहीं कर पाता।

कर्मविज्ञान मुमुक्षु आत्मा के लिए दर्पण के समान

कर्मविज्ञान का अनुशीलन-परिशीलन करने से आत्मा को यह पता चल जाता है कि इस समय कौन-कौन से कर्म मेरी आत्मा के साथ बद्ध हैं? किन-किन कर्मों का उदय है? किन कर्मों की मैं उदीरणा कर सकता हूँ? किस प्रकार मैं प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ के साथ संयोग होते समय राग-द्वेष से बचकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा रह सकता हूँ? मेरी आत्मा की भूमिका के अनुरूप कहाँ-कहाँ मुझे शुद्ध कर्म (अबन्धक कर्म=अकर्म) करने में बाधा आती है? उस बाधा को दूर करने का उपाय क्या है? कर्मों के आने के कौन-कौन से स्रोत हैं? उन्हें मैं कैसे बंद कर सकता हूँ? ऐसा कौन सा उपाय है जिससे देह, गेह, स्वजनादि पर मोह, ममत्व, भूच्छा या आसक्ति से जो कर्म आते हैं, उनसे सावधान रहकर अशुभ कर्मों से तो अवश्य ही दूर रहूँ, शुभ कर्मों से भी विवशतावश वास्ता रखूँ। इस प्रकार कर्मविज्ञान मुमुक्षु आत्मा के लिए दर्पण के समान है।

कर्मविज्ञान के अभ्यास से आत्मा में निराकुलता और शान्ति का अनुभव

इसके विशद और गहन अभ्यास से व्यक्ति का राग-द्वेष-मोह का अभ्यास मन्द-मन्दतर तथा इनके निवारण का अभ्यास तीव्र-तीव्रतर होने लगता है। फिर वह आर्त-रौद्रध्यानों से आत्मा को बचाकर धर्म-शुक्लध्यान की विमल चन्द्रिका का प्रकाश और आत्मविकास प्राप्त कर लेता है। वहाँ सुध्यान की चांदनी आनन्दामृत को प्रवाहित करती है, राग-द्वेष-मोह एवं कषाय के सन्ताप का तपन मिटा देती है। जिस प्रकार सागर के अतल तल में डुबकी लगाने वाले को बाह्य जगत् की शुभ-अशुभ बातों का पता नहीं चलता, इसी प्रकार कर्मविज्ञान के अगाध महासागर में गोता लगाने वाले

१. महाबंधो भा. १ की प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से भावांश उद्धृत पृ. ३१

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी मानव के चित्त में राग-द्वेषादि के संतापकारक भाव उत्पन्न नहीं होते, वह अतीव शान्ति और निराकुलता का अनुभव करता है।

व्यायामादि अभ्यास के समान कर्मविज्ञान के अभ्यास से महालाभ

जिस प्रकार व्यायाम, योगासन और प्राणायाम आदि का सम्यक् अभ्यासी व्यक्ति व्याधियों एवं पीड़ाओं के आक्रमण से प्रायः बचा रहता है, और तन-मन में शक्ति, स्फूर्ति एवं स्वस्थता अनुभव करता है, इसी प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्यवर्द्धक कर्मविज्ञान के पुनः पुनः अध्ययन, मनन-चिन्तन एवं इसके समस्त बाह्य की वाचना, पृच्छा, पर्यटना (आवृत्ति), अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा के अनुशीलन-परिशीलनरूप आध्यात्मिक व्यायाम-प्राणायाम करने से आत्मा बलिष्ठ होकर स्वगुणनिष्ठ एवं स्वरूप-रमणरूप चारित्र में सुदृढ़ बनती है, फिर उसमें तथा उसके अधीनस्थ मन, बुद्धि, चित्त एवं हृदय में भौतिक चमक-दमक, विकृति या उत्सुकता उत्पन्न नहीं कर सकती, और न ही मोह, काम-क्रोधादि विकार आत्मशक्ति का हास कर सकते हैं।

कर्मविज्ञान के चिन्तनरूप धर्मध्यान से रागादि की मन्दता

शास्त्रकारों ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान को कर्ममुक्ति (निर्वाण) का कारण बताया है। धर्मध्यान का एक घरण है-विपाकविचय। ज्ञानावरणीयादि कर्मों के फल का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से जो अनुभव होता है, उस ओर विवेकपूर्वक चित्तवृत्ति को टिकाना विपाकविचय धर्मध्यान है। कर्मों के विपाक आदि के विषय में मनोयोगपूर्वक चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षण आदि करने से रागादि की मन्दता होती है और कषायविजय का कार्य आसान हो जाता है।^१

कर्मविज्ञान का अध्येता धर्मध्यान ध्याता हो जाता है

कर्मविज्ञान के अध्येता को प्रारम्भिक अवस्था में मन को एकाग्र करना अत्यन्त कठिन होता है और मन को एकाग्र किये बिना धर्मध्यान हो नहीं सकता। किन्तु कर्मविज्ञान के गहन वन में प्रविष्ट होने के बाद चित्तवृत्ति स्वतः एकाग्र हो जाती है और पुनः पुनः कर्मविज्ञान के विविध पहलुओं पर मनन, चिन्तन, निदिध्यासन से प्रारम्भ में विकट एवं जटिल-सा लगने वाला कर्मविज्ञानरूपी वन रसप्रद लगने लगता है और फिर कर्मविज्ञान का अध्येता उसमें तन्मय होकर अध्येता से ध्याता बन जाता है।

१. (क) महाबन्धो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से भावांश अवतरित पृ. ३१-३२

(ख) "कर्मफलानुभवविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः।

कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-प्रत्यय-फलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः॥"

-तर्त्वार्थ राजवार्तिक ३५३

अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में जैन कर्मविज्ञान की उपयोगिता और उपादेयता, उपलब्धि और सिद्धि कम नहीं है।^१

कर्मविज्ञान आत्मशक्ति को कर्मशक्ति से प्रबल बताता है

कर्मविज्ञान यह बताता है कि आत्मा अनन्तशक्तिमान् है। परन्तु आत्मा जब अपनी शक्ति को भूलकर कर्मों से आवद्ध हो जाता है, तब कर्मों का वशवर्ती बना हुआ वह नाना गतियों और योनियों में चक्कर काटता रहता है, उन गतियों और योनियों में विविध प्रकार के सुख-दुःख भोगता रहता है। साथ ही कर्मविज्ञान में संवर, निर्जरा और मोक्ष के तत्त्वज्ञान द्वारा यह भी प्रतिपादित कर दिया है कि यदि आत्मा उग्र तप, त्याग, वैराग्य, संयम एवं सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना से अपनी शक्ति को प्रखर और प्रबल बना ले तो वह कर्मशक्ति को परास्त कर सकती है। आत्मा की प्रबल शक्ति के आगे फिर कर्मशक्ति टिक नहीं सकती।

कर्मविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का विरोधी नहीं, अपितु पृष्ठपोषक व सहायक

इस प्रकार कर्मविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का विरोधी नहीं, अपितु उसका सहायक है, उसके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक अवस्थाओं का पृष्ठपोषक बनकर वह व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा की कर्मजनित सांसारिक अवस्थाओं का, विश्ववैचित्र्य का सांगोपांग निरूपण करता है। जिससे जिज्ञासु और मुमुक्षु व्यक्ति कर्म के हेयोपादेयत्व का रहस्य समझकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सके।

कर्मविज्ञान वैभाविक और स्वाभाविक, दोनों अवस्थाओं का ज्ञान कराता है

जब तक आत्मा के वैभाविक रूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक उसके स्वाभाविक रूप को भी भलीभांति नहीं जाना जा सकता। कर्मविज्ञान संसारी आत्मा के वर्तमान वैभाविक रूप का दर्शन करा कर उसके स्वाभाविक रूप को—शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का उपाय बताता है। इस प्रकार कर्मविज्ञान अध्यात्मविज्ञान की पृष्ठभूमि के रूप में आध्यात्मिक विकास में मार्गदर्शक बनता है।^२

आत्मा की वर्तमान में दृश्यमान विविध वैभाविक अवस्थाओं और उनके कारणभूत विविध कर्मों का चित्रण प्रस्तुत किये बिना केवल उसके पारमार्थिक रूप के चिन्तन को प्रस्तुत करने मात्र से आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। इस दृष्टि से कर्मविज्ञान संसारी आत्माओं की वर्तमान में सुखी-दुःखी, सम्पन्न-विपन्न, धनी-निर्धन, बुद्धिमान्-मूर्ख आदि विविध अवस्थाओं के व्यावहारिक रूपों का चिन्तन प्रस्तुत करता

१ कर्मग्रन्थ भा. ५ की प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) से भावांश उद्धृत पृ. ३१

२ कर्मप्रकृति (शिवशर्म सूरि रचित) में प्रकाशित 'कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण' से भावांश उद्धृत पृ.

है और यह भी बताता है कि ये दृश्यमान अवस्थाएँ आत्मा का स्वभाव नहीं, ये कर्मोपाधिक हैं।^१ इस प्रकार कर्मविज्ञान दृश्यमान जगत् की समग्र अवस्थाओं और उनके कारणों को बताकर फिर आत्मा की सभी स्वाभाविक अवस्थाओं का गुणस्थान क्रम से निरूपण करता है।

कर्मविज्ञान : अध्यात्मविज्ञान को प्रकट करने की कुंजी

डिब्बे के अन्दर रखे हुए रत्नों की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब डिब्बे के बाह्य रूप को तथा उसे खोलने की कुंजी, विधि आदि की स्थिति को समझा जाए और फिर उसे खोला जाए। इसी प्रकार आत्मा में निहित ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्तिरूपी रत्न निधि प्राप्ति तभी हो सकती है, जब आत्मा के तन मन-वचन योगों से जनित कर्मकृत बाह्य रूपों, औपाधिक अवस्थाओं, आवरणों आदि को समझा जाए, फिर आभ्यन्तर ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तत्पररूपी कुंजी से मोह-कषायादिरूपी तालों को खोला जाए, आत्मभावमरण साधना से आवरणों को हटाया जाए और अन्तरात्मा में निहित सुषुप्त निर्मल ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति को जगाया जाए, प्रकट किया जाए। कहना होगा कि जैन कर्मविज्ञान अध्यात्मविज्ञान को प्रकट करने की सही कुंजी है।

कर्मविज्ञान का सर्वक्षेत्रीय विज्ञानों के साथ समन्वय और महत्त्व

इस-सन्दर्भ में हमने द्वितीय खण्ड के “कर्मशास्त्रों द्वारा कर्मवाद का अध्यात्ममूलक सर्वक्षेत्रीय विकास” नामक निबन्ध में भलीभांति स्पष्ट कर दिया है कि कर्मविज्ञान समस्त प्राणिजगत् की अथ से इति तक की अवस्थाओं का परिज्ञान कराकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देता है।^२

कर्मविज्ञान : आत्मशक्तियों के प्रकटीकरण में प्रेरक

अतः मनुष्य यदि जिज्ञासु और मुमुक्षु बनकर कर्मविज्ञान का अध्ययन-मनन-चिन्तन करे तो उसे अपनी आत्मशक्तियों का पूर्ण भान तथा उन्हें प्रकट करने का मनोरथ जाग्रत हुए बिना नहीं रहता। फिर आत्मा में यह विवेक जाग उठता है कि यह सत्स कर्मजाल मेरी अपनी अज्ञान-मोह-जनित भूलों तथा विविध प्रमाद के कारण फैला हुआ है। यदि मैं अपना आत्मबल और साहस बटोर कर कर्मों के साथ जूझ पडूँ तो इनके छिन्न-भिन्न होतें देर नहीं लगेगी। इस प्रकार कर्मविज्ञान पर-पदार्थों के प्रति अहंत्व-ममत्व को तथा आत्मा और शरीर की अभिन्नता के भ्रम को हटाकर भेद-विज्ञान की शिक्षा देता है, ताकि अन्तर्दृष्टि खुले, अध्यात्म का ज्ञान हो और परमात्मतत्त्व के दर्शन हों।

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति (५२) में कहा है—

“जावइया ओदइया, सव्यो सो बाहिरो जोगो।

२. देखें—कर्मविज्ञान के द्वितीय खण्ड में कर्मशास्त्रों द्वारा कर्मवाद का अध्यात्ममूलक सर्वक्षेत्रीय विकास निबन्ध पृ.

आत्मा चैतन्यशक्ति का धारक होते हुए भी शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव परपदार्थों का राग-द्वेष, मोह-ममत्वादि कषायों के साथ सेवन करता है, राग-द्वेष (प्रीति-अप्रीति) के कारण किसी पदार्थ को इष्ट, किसी को अनिष्ट, किसी को सुखरूप, किसी को दुःखरूप, किसी को अनुकूल एवं मनोज्ञ और किसी को प्रतिकूल और अमनोज्ञ मानता है, तब ये जड़कर्म आत्मा की विराट् शक्ति पर हावी हो जाते हैं।

कर्मविज्ञान : अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने के लिए प्रेरक

जैनकर्मविज्ञान प्रत्येक आत्मा को अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। वह अन्धकार के कारणों और रूप का भी निरूपण करता है और कर्मों से मुक्त होने और उक्त अन्धकार से निकलने का भी प्रबल उपाय बताता है।

कर्मविज्ञान बताता है कि आत्मा अनादिकाल से अनेक गतियों और योनियों में परिभ्रमण करती आ रही है। इस संसारचक्र में परिभ्रमण का मूल कारण कर्मों का आवरण है। वह कर्मावरण राग, द्वेष, मोह आदि कषायों के कारण होता है। कर्मों का बन्ध और आस्रव अन्धकार में प्रवेश है और संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रकाश की ओर ले जाने वाले हैं। कर्मविज्ञान इन दोनों पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

कर्मविज्ञान में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए तीन सोपान

कर्मविज्ञान में आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचने की प्रक्रिया में तीन सोपान बताए गए हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

जिस प्रकार एक पर्वत से निकल कर समतल मैदान में बहती-बहती सरिता जब समुद्र की ओर बढ़ती है तो उसमें बहते हुए कई पाषाण आपस में टकराते-टकराते स्वतः गोलमटोल हो जाते हैं; इसी प्रकार चतुर्गतिक संसार चक्र में परिभ्रमण करते-करते अनेकविध शारीरिक और मानसिक आघात-प्रत्याघातों के कारण या कटु-मधुर संवेदनों के कारण आत्मा के परिणाम भी कुछ कोमल, मृदु, सरल और निश्छल होने लगते हैं। भावमलों=मोहादि अशुभ भावों की तीव्रता और प्रबलता भी मन्द होती जाती है। इसके फलस्वरूप कर्मों की स्थिति तथा गाढ़ता कम हो जाती है। और तब राग-द्वेष की तीव्रता (गांठ) ग्रन्थी को भेदन करने-काटने की बहुत कुछ अंशों में योग्यता प्राप्त हो जाती है। अज्ञानपूर्वक संवेदन-जनित इस अत्यल्प आत्मशुद्धि को, अत्यल्प निर्मल परिणामों को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

१. शौण्डेयस्मृत्युच्चय के धिवेचन (डॉ. भगवानदास म. मेहता) से सारांश उद्धृत।

इस स्थिति में आत्मा अनेक बार पुनः पुनः नीचे गिर जाती और ऊपर उठती है। फिर जब कभी इससे भी अधिक आत्मशुद्धि एवं वीर्योल्लास (पुरुषार्थ) की मात्रा बढ़ जाती है, तब आत्मा राग-द्वेष-मोहादि की उस दुर्भेद्य ग्रन्थी का भेदन कर देता है, काट देता है। दूसरे शब्दों में, उसके परिणामों में राग-द्वेष की मन्दता आ जाती है, तब ग्रन्थीभेद करने के सम्मुख हुई उस आत्मशुद्धि को अर्थात्-निर्मल परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं।

इसे अपूर्वकरण इसलिए कहते हैं कि अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते रहने पर भी राग-द्वेष-भावों की इतनी मन्दता-शुद्ध-परिणामों की ऐसी स्थिति पहले कभी नहीं आई। परिणामों में ऐसी शुद्धता-निर्मलता पहली ही बार प्राप्त हुई है। यही अपूर्वकरण प्राप्ति का रहस्य है। इस स्थिति पर पहुँचने पर आत्मशुद्धि और परिणाम-निर्मलता में उत्तरोत्तर प्रगति होती है।

इस अपूर्वकरण के पश्चात् आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की गति और मात्रा कुछ अधिक बढ़ जाती है और आत्मा दर्शनमोह पर विजय प्राप्त कर लेता है, जो आत्मा की प्रधानभूत शक्ति है और सत्यज्ञान का आबरूक है। ऐसी आत्मशुद्धि अर्थात्-आत्मा की उच्च परिणाम धारा को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस आत्मशुद्धि की स्थिति पर पहुँच कर आत्मा कभी पीछे नहीं हटेगी।

अनिवृत्तिकरण पर पहुँचकर आत्मा भ्रान्ति और अविद्या (मिथ्यात्व) से मुक्त होकर स्वरूप-दर्शन कर लेता है। वह जीव और अजीव (आत्मा-अनात्मा) का, अथवा स्व-पर का भेदविज्ञान कर लेता है।'

कर्मविज्ञान का रहस्यज्ञाता ही सम्यग्दृष्टि

फिर वह समझने लग जाता है कि शुद्ध आत्मा के साथ कर्म क्यों आकर (आसन्न) चिपक (बद्ध हो) जाते हैं? नये आते हुए कर्मों को कैसे रोका (संवर) जाता है? पुराने कर्मों से कैसे छुटकारा पाया (निर्जरा) जा सकता है? कर्ममल के सर्वथा उच्छेद (मोक्ष) हो जाने से आत्मा की कैसी स्थिति हो जाती है? शुद्ध मुक्त आत्मा (परमात्मा) का स्वरूप कैसा है?

इस प्रकार उसकी तत्त्वज्ञदृष्टि आत्मस्वरूपोन्मुख हो जाने से वह आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। उसकी दृष्टि संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होती है। इसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् कर्मविज्ञानी की दृष्टि, गति, मति

सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद मनुष्य की दृष्टि एकान्त न रहकर सापेक्ष या अनेकान्त अथवा समन्वयात्मक हो जाती है। वह मत्ताग्रही न होकर निष्पक्ष दृष्टि से, अनेक

१. देखें-योगदृष्टिसमुच्चय (आ. हरिभद्रसूरि) के विवेचन से भावांश उद्धृत।

पहलुओं से सत्य का अन्वीक्षण-सर्वेक्षण करता है। वह मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्यभाव को अपनाता है। उसकी प्रवृत्तियाँ तुच्छ, स्वार्थपरायण न होकर परमार्थ दृष्टि से युक्त होती हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त होने पर आत्मविकास की गति-प्रगति में वृद्धि हो जाती है। उसके परिणाम और भी विशुद्ध हो जाते हैं। रागद्वेष के बल का भी ह्रास होने लगता है। इस कारण चारित्रमोहनीय कर्म की काल-सीमा कम होकर अल्पकालीन स्थिति रह जाती है और तब वह देशभिरत (भाव-श्रावक) हो जाता है और आत्मविकास की साधना चालू रखकर अपने परिणाम अधिकाधिक विशुद्ध करता हुआ सर्वविरत (भाव-मुनि) हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमशः कर्मभार हलका करता हुआ या तो उपशम श्रेणी प्राप्त कर लेता है, या फिर क्षपक श्रेणी (कर्मों को जड़मूल से क्षय करने) पर आरुढ़ हो जाता है। ऐसी परिधि में वह मोहनीय, ज्ञान-दर्शनान्तरण और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का उन्मूलन करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और अन्त में सर्वकर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सवकर्मों तथा समस्त दुःखों से विमुक्त हो जाता है। यह सब साधक के कर्मक्षय के पुरुषार्थ पर निर्भर है।'

उपसंहार

निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मविज्ञान प्रारम्भ से अन्त तक आत्मविकास में पुरुषार्थ का प्रेरक, उपकारक और उपादेय बनता है। इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो कर्मविज्ञान मानव को अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर एवं मर्त्यजीवन से अमृतमय जीवन की ओर ले जाता है। यही आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मविज्ञान की उपादेयता है।



१. योगदृष्टि समुच्चय के विवेचन में मनसुखलाल ताराचंद के प्रकाशित वक्तव्य के आधार पर

व्यावहारिक जीवन में—

कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता

सिद्धान्त की कसौटी और जैन कर्मसिद्धान्त

सिद्धान्त चाहे कितना ही ऊँचा हो, उत्कृष्ट हो, यदि व्यावहारिक जीवन में वा दैनन्दिन जीवन में उसका उपयोग न होता हो तो वह केवल हवाई कल्पना ही सिद्ध होता है। मात्रवादी और प्रतिवादी द्वारा तर्क-वितर्कों से अन्त में सिद्ध होने वाला सिद्धान्त केवल आकाशीय उड़ान है। सच्चा सिद्धान्त वह है जो व्यावहारिक धरातल पर पूरा-पूरा उतरता हो।

इस दृष्टि से जैन-कर्मविज्ञान द्वारा प्रस्तुत कर्मसिद्धान्त की बातें कोरे आदर्श को आकाशीय उड़ान नहीं हैं, अपितु आदर्श के साथ-साथ व्यवहार में भी, यहाँ तक कि जीवन के दैनन्दिन व्यवहार में भी वह पद-पद पर उपयोगी है। यदि कर्मसिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर चला जाए तो मनुष्य अनेक स्थलों पर अशुभ-कर्म से बच सकता है। उसके व्यावहारिक जीवन में कहीं गतिरोध नहीं आता, कर्मसिद्धान्त के अनुशासन आचरण करने से उसके जीवन में प्रमाद की मात्रा कम हो जाती है, कषाय मन्द हो मन्दतर होता जाता है, विषयासक्ति भी मन्दतर होती जाती है। वह अपनी जीवन-नैया को कर्मजल से पूर्ण मरिचा के संवर और निर्जरारूपी दो तटों के बीच से खेकर सकुशल उस पार कर्ममुक्ति के क्षेत्र में पहुँच सकता है।

यदि वह साधु-गार्ध्वीवर्ग का है तब तो अपने आध्यात्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में 'जयं चरे, जयं चिद्धे' (यत्नाचार) के अनुसार अप्रमत्त रहकर यक्षुर्वो कर्मसिद्धान्त का उपयोग कर सकता है। यदि वह गृहस्थ वर्ग का है तो भी मावधानी रखकर श्रीमद् राजचन्द्र, महात्मा गाँधी, जनकविदेही आदि की तरह आसर्

१. 'यादि प्रतिवादिप्रथामन्ने निर्गोनादर्शः सिद्धान्तः।' —सिद्धान्तकौमुदी टीका (विज्ञानपिण्ड)

२. 'जयं चरे जयं चिद्धे जयमा मे जयं सए।'

अथ भुञ्जो भामनो पायकर्म न वधेदं॥

—दशवैकालिक अ. ४।

से कर्मसिद्धान्त के अनुसार चलकर अहिंसादि का पालन यथावोग्यरूप से अपनी मर्यादा में रहते हुए कर सकता है। उसके जीवन में अनासक्ति, समता, दया, क्षमा, सहिष्णुता, कषायोपशान्ति आदि गुण सहज ही पनप सकते हैं; क्योंकि कर्मसिद्धान्त आस्रव और बंध से बचने तथा संवर और निर्जरा के अनुसार चलने का सन्देश देता है।

आशय यह है कि कर्म-जलयुक्त सरिता में एक ओर से कर्मों के आस्रवरूपी बाढ़ को आस्रवनिरोधक संवर से रोके तथा दूसरी ओर कर्म जल-परिपूर्ण सरिता में जन्म-जन्मान्तर में बद्ध पाप-कर्मरूपी कीचड़ और दलदल को पुरातन कर्मक्षयरूप निर्जरा से उलीचकर बाहर निकाले ऐसा करने से व्यक्ति कर्मसिद्धान्तरूपी दिशादर्शक के सहारे अपनी जीवन-नैया को सही मलामत उस पार ले जा सकता है। आचारंग सूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि जो व्यक्ति पापकर्मों (रूपी कीचड़) से निवृत्त है, वे निदान-रहित कहे गए हैं।^१ अर्थात्—संसार के कामभोगों के दल-दल में वे अपनी जीवन-नौका को नहीं फँसाते।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार ही जैनकर्मविज्ञान की महत्ता

वस्तुतः वर्तमान युग के अधिकांश मानव कर्म-सिद्धान्त की बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं किन्तु वे कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करके उसके अनुसार चलते नहीं हैं। कर्मविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—“अच्छे कर्मों के अच्छे फल होते हैं और बुरे कर्मों के फल बुरे।” यह सूत्र जीवन को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत बनाने का आधार बनता है।

जब मनुष्य की यह धारणा पक्की हो जाती है कि बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है, तब उसे बुराई से बचने की प्रेरणा मिलती है।

प्रश्न होता है—भारत में कर्मविज्ञान के इस सूत्र को स्वीकार करके चलने वाले कितने हैं? अधिकांश लोग तो कर्मविज्ञान के इस और ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सूत्रों को मौखिक रूप से ही स्वीकार कर लेते हैं और जहाँ आचरण का सवाल आता है, वहाँ वे दार्शनिक बनकर व्याख्यान झाड़ने लगते हैं कि—“यह तो सिद्धान्त है, आदर्श है, यह क्या व्यवहार में आ सकता है? इस सिद्धान्त पर चलने लगे तो जीना दूभर हो जाए।”

परन्तु कर्मविज्ञान के इन सिद्धान्त-सूत्रों को मौखिक रूप से मानकर भी ऐसे लोग जब पाप कर्म-बुरे कर्म करने पर उतारू हो जाते हैं और जब बुरे कर्मों का बुरा फल

१. जे णिव्वया पावेहिं कम्महिं, अणियाणा ते वियाहिया।

—आचारंग श्रु. १, अ. ८, उ. १

२. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवति,

दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला हवति।

मिलने लगता है, तब वे कर्मविज्ञान को अव्यवहार्य कहने लगते हैं। इस प्रकार अपनी दुर्बलता अथवा असदाचरण को छिपाने के लिए कर्मविज्ञान का गलत उपयोग किया जाता है, अथवा कर्मविज्ञान को कई भ्रान्तियों के साथ जोड़ दिया जाता है।

कर्मसिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन में प्रयोक्ता कैसा होता है?

परन्तु यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि कर्मसिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करने वाला व्यक्ति शान्त, सुखी, अनुद्विग्न और आशायुक्त होता है। जिस व्यक्ति ने कर्मसिद्धान्त को हृदय से स्वीकार किया है और इम तथ्य को गहराई से समझ चुका है कि बुरे कर्म का फल बुरा होता है, वह भ्रष्टाचार, अनाचार, टीका, दुराचार और अन्याय-अनीति को कदापि नहीं अपना सकता। वह अनैतिक या अप्रामाणिक व्यवहार नहीं कर सकता। वह लोभ या लोलुपता के बश होकर धी में बर्बाद मिलाने, रोज कम लाने पर बहू को जलाकर या अन्य घृणित तरीकों से सताकर मा डालने जैसा अधन्यतम अपराध नहीं कर सकता। सार्वजनिक संस्थाओं में लालच का शान करने वाला व्यक्ति ऐसे क्रूर और घृणित कार्य नहीं कर सकता, जिससे सारा कुल, वंश, जाति, धर्म और देश लाञ्छित हो, जीवन पाप कर्मों से कलंकित हो।

अतः हमें यह मानना होगा कि कर्म-सिद्धान्त को मौखिकरूप से स्वीकार कर एक बात है और उसे जीवन-व्यवहार में उतारना और दुष्कर्मों के समय तुरंत सावधान होकर उनसे दूर रहना, दूसरी बात है।^१

कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक जीवन में चलते समय पद-पद पर सावधानी रखकर चले तो मनुष्य कर्मबन्ध से, खासतौर से पापकर्म-बन्ध से बहुत-कुछ अंशों में बच सकता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त पद-पद पर संभलकर चलने की प्रेरणा देता है

आचारांग सूत्र में इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहा गया है—“देख! ऊर्ध्व (ऊपर) स्रोत (पापकर्मों के प्रवाह) हैं, अधः (नीचे) स्रोत हैं, तिर्यक् दिशा (चारों दिशाओं) में स्रोत हैं, ऐसा कहा गया है। इन पाप प्रवाहों को ही स्रोत कहा गया है, जिनसे आत्मा के कर्मों का संग-बन्ध होता है।^२

“इस स्रोत (कर्मप्रवाह) को रोकने (संवर) के लिए जो निष्क्रमण करता है अथवा पराक्रम करता है, वह महान् आत्मा अकर्मा (अबन्धक=शुद्ध कर्म करने वाला) होकर

१. कर्मवाद से भावांश उद्धृत पृ. १४९-१५०

२. उद्धे स्रोत। अहे स्रोत। तिरिय स्रोत। विवाहिया।

उद्धे स्रोत। विधक्खाया, अहे संगति पासहा ॥

—आचारांग १/५/६

सब कुछ जानने-देखने लगता है; तथा परमार्थदृष्टि से कर्मविज्ञान के रहस्य का सर्वेक्षण (पर्ववेक्षण) करके वह कामभोगों की आकांक्षा नहीं करता।^१

कर्मविज्ञान की व्यावहारिक जीवन में यही उपयोगिता है कि वह व्यक्ति को पद-पद पर संभलकर, यतना से चलने की सलाह देता है। वह ऐसा पथ प्रदर्शक है, जो यह बता देता है कि इस मार्ग पर जाने से अमुक पापकर्म का बन्ध होगा, इस मार्ग पर चलने से सत्य-अहिंसा आदि शुद्ध धर्मों (शुद्ध कर्मों) को जीवन में उतारते समय शुभशुभ कर्मबन्ध से बचने से पूर्ववद्ध कर्मक्षय का मार्ग प्रशस्त होगा।

दैनन्दिन जीवन में कर्मसिद्धान्त का उपयोग

दैनन्दिन जीवन-व्यवहार में कर्मसिद्धान्त का क्या उपयोग है ? इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त ले लीजिए—एक व्यक्ति कहीं जा रहा है। रास्ते में उसकी असावधानी से किसी पथर की टोकर लग गई। चोट लगन से वह थोड़ी देर तिलमिलाकर रह जाता है। वह यही सोचता है कि “मेरी अपनी गलती से टोकर लगी है, इसमें किसी दूसरे का क्या दोष ? किससे घृणा, विद्वेष या रोष करें ? चोट लगी है तो इसे समभाव से, शान्ति से सह लेना ही बेहतर है। आखिरकार भूल तो मेरी अपनी ही है।”

दैनन्दिन जीवन-व्यवहार में कर्मसिद्धान्त की यही उपयोगिता है। कोई रोग, दुःख, दैन्य, विपत्ति या संकट आ पड़ा, उस समय कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ यही सोचेगा—यह मेरे ही द्वारा पूर्वकृत कर्मों का फल है, इसलिए इसे शान्ति से, समभाव से भोग लेने—सह लेने में ही लाभ है। ऐसा करने से उक्त कर्मों का क्षय हो जाएगा और नये अशुभ कर्म नहीं बंधेंगे।^२ इसके विपरीत किसी भगवान् पर, देव पर या किसी काल आदि निमित्त पर दोषारोपण किया, दूसरों को दोष दिया या घृणा की, दूसरों के प्रति बदला लेने की रोषयुक्त भावना जागी, तो पूर्वकृत कर्मों का क्षय होना तो दूर रहा, आगे के लिए और अधिक नये अशुभ कर्मों का बन्ध हो जाएगा।

दुःख, विपत्ति, संकट या कष्ट के मूल कारण तो अपनी आत्मा में हैं, वे अपने द्वारा पहले किये हुए कर्म हैं। पूर्वजन्म में या इस जन्म में पहले जैसे कर्म किये हैं, उन्हीं के अनुसार ही तो इस आत्मा को दुःख संकट आदि प्राप्त होते हैं।^३

१. (क) विणएत्तु सोयं णिक्खम्, एसमहं अकम्मा जाणति पासति।

(ख) पडिलेहाए णावकंखति, इह आगतिं मतिं परिणाय ॥

२. कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेशमुनि) से भावांश अद्वैत पृ. ५५-५६

३. (क) 'जहा कडं कम्म तहासि भारे।

—मूलकृतांग ५.१२६.३.७

कर्मसिद्धान्तविज्ञ में कर्मफल को समभाव से भोगने की शक्ति

जब मनुष्य अपने दुःख और संकट का कारण स्वयं को ही मानने लगता है तब उसमें कर्म का फल शान्ति से, समभाव से भोगने की भी शक्ति आ जाती है। दैनन्दिन जीवन में कर्मसिद्धान्त के इस प्रकार के अभ्यास से आने वाले सुख-दुःख के झंझावतों में उसका मन प्रकम्पित नहीं होता। अपितु आशा और विश्वास की लहरें उसके जीवन में व्याप्त हो जाती हैं।

किसी कवि की यह सुन्दर उक्ति उसके जीवन को समभाव के महल में सुरक्षित रहने की प्रेरणा देती है—

“सुख के उजले सुन्दर वासर, संकट की काली रातें।

वर्षों कट जाते हैं दिन-दिन, आशा की करते बातें॥

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त को मानने-जानने वाले व्यक्ति का जीवन-प्रसाद आशा और विश्वास के स्तम्भों पर टिक जाता है। वह कभी कर्मसिद्धान्त के प्रति अविश्वासी और निराश नहीं होता, क्योंकि उसको यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि आत्मा को सुख-दुःख की गलियों में भटकानेवाला मनुष्य का स्वकृत कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं। यह सब दुःख और संकट, रोग या शोक उसके पूर्वकृत अशुभ कर्मों के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त को भली भाँति हृदयंगम और अभ्यस्त करके चलने वाले आश्वस्त और विश्वस्त व्यक्ति के जीवन में निराशा, तमिन्ना, किंकर्तव्यव्यमूढता, दीनता-हीनता नहीं आती।^१

कर्मसिद्धान्तविज्ञ दुःख-विपत्ति के समय व्याकुल नहीं होता

यह देखा जाता है कि इहलोक या परलोक से सम्बन्धित कोई भी कार्य जब मनुष्य प्रारम्भ करता है तो उसके मार्ग में प्रायः कई विघ्न, संकट या दुःख आ पड़ते हैं। फलतः उसे प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता नहीं मिलती। कई बार विघ्नों, बाधाओं और आपदाओं के धपेड़ों से आहत होकर वह अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़ने को उतारू हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भयंकर विघ्न या संकट आ पड़ता है कि उसके सारे मनसूवे धूल में मिल जाते हैं। उसका भावी संकल्प मूर्तरूप नहीं ले पाता।

ऐसी स्थिति में जहाँ आकुल-व्याकुल होकर कभी भगवान को, कभी दैव को, कभी किन्हीं दूसरे निमित्तों को कोसता है, उन्हें दोषी ठहराता है, उनसे द्वेषवश संघर्ष करने

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'जीवन में कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता' लेख से भावार्थ उद्धृत पृ. १४३

लगता है। जब कोई वश नहीं चलता तो वह निराश-हताश होकर आरब्ध कार्य से मुख मोड़ लेता है।

विपत्ति के समय कर्म-सिद्धान्त आत्मनिरीक्षण एवं उपादान देखने की प्रेरणा देता है

फिर वह विपत्ति के समय आत्मनिरीक्षण न करके अथवा अपना उपादान न देखकर एक ओर बाहरी दुश्मनों को वढ़ा लेता है; दूसरी ओर, बुद्धि अस्थिर हो जाने से उसे अपनी भूल नहीं दिखाई देती। फलतः धर्म एवं निष्काम या शुभकर्म करने की अपेक्षा उसे धर्म एवं भगवद्बचनों में कोई विश्वास नहीं रहता। सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप या श्रुत-चारित्ररूप धर्म से कल्याण होता है, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, धर्म से पारिवारिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक सुख-शान्ति प्राप्त होती है, इन सब बातों पर से उसकी आस्था डगमगा जाती है।^१ ईमानदारी, सत्यता, प्रामाणिकता, न्याय-नीति एवं अहिंसादि धर्म को वह ढकोसला समझने लगता है। किसी हितेषी पर भी उसका विश्वास नहीं जमता।

ऐसी विपन्न स्थिति में मनुष्य को ऐसे सत्परामर्शदाता गुरु, मार्गदर्शक या निर्देशक की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर करके उसे यह समझाने में सहायक हो सके कि उपस्थित संकट, विघ्न या दुःख का मूल कारण क्या है? कर्मसिद्धान्त ही ऐसा गुरु या मार्गदर्शक है।^२

विपन्नावस्था में कर्मसिद्धान्त की प्रेरणा

कर्मसिद्धान्त उस विपन्न एवं व्याकुल मानव से कहता है—भोले मानव! क्यों घबड़ाता है? निराश और हताश होकर किंकर्तव्ययिमुद्ध क्यों बन बैठा है? जीवन में संकटों के जो बादल उमड़-धुमड़ कर बरस रहे हैं, प्रतिकूल परिस्थितियों की जो वृष्टि हो रही है, इसका मूल कारण तू स्वयं है, तूने स्वयं ही इनके बीज बो रखे हैं। तू जो इस संकट या दुःख के लिए, विघ्न-बाधा या आपत्ति-विपत्ति के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराता है, दूसरों को दोष देता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे दुःखी कर डाला, अमुक साथी ने मुझे मुसीबत में फँसा दिया, अमुक व्यक्ति ने मेरे कार्य में बाधा पहुँचाई, अथवा अमुक सहयोगी ने मुझे हानि पहुँचाई, अमुक ने मेरा किया-कराया काम बिगाड़ दिया; तथा ऐसा सोचकर तू किसी पर रोष करता है, किसी को अपना शत्रु मान बैठता है, किसी के साथ

१. (क) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञान मुनिजी) से भावांश पृ. ३०

(ख) कर्मग्रन्थ : भाग १ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से पृ. ५

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (पं. सुखलालजी) से भावांश पृ. ५

(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेशमुनि) से भावांश, पृ. ५६

द्वेषवश लड़ाई कर बैठता है, उसका परिणाम आता है स्व-पर के लिए आकुलता, अशान्ति, उद्विग्नता, भीति और कलह-क्लेश तथा तू-तू, मैं-मैं का विषम वतावरण! अतः आकुल और अशान्त होकर तू अपने मस्तिष्क को क्यों खराब करता है?-

विश्वास रख! धैर्य धारण कर! जीवन में धर्माचरण से दुःख या संकट नहीं आते। धर्माचरण तो दुःखों और पापों को नष्ट करके जीवन का कल्याण करता है, सुख-शान्ति पहुँचाता है, भविष्य को उज्वल बनाता है। अतः धर्माचरण के प्रति अपनी आस्था को डावाँडोल मत बना।^१

कर्मसिद्धान्त द्वारा आश्वासन

इसके अतिरिक्त कर्मसिद्धान्त यह आश्वासन देता है कि केवल तेरी बात क्या है? बड़े-बड़े महापुरुषों को कर्मों का फल भोगना पड़ा है। कर्म क्रिमी को नहीं छोड़ते, निकाचित रूप से बंधे हुए कर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना पड़ना है।

धर्मवीर सेठ सुदर्शन को कर्मवश शूली पर लटकना पड़ा, मुनिवर स्कन्धक को पांच सौ शिष्यों सहित कोल्हू में पिलना पड़ा, अयोध्यानरेश मन्ववाटी हरिश्चन्द्र को रानी तारा के साथ काशी के बाजार में विकना पड़ा, देवकी के लाल मुनि गजमुकुमाल के मिर पर पूर्वकर्मों के कारण धधकते अंगारे रखे गए। भगवान महावीर के कानों में कीले ठोके गए। अन्य अनेक महापुरुषों को कर्मों के कारण नाना विपत्तियाँ सहनी पड़ीं।

अतः तू ही क्यों घबराता है। अपने से ऊपर वालों की ओर मत देख। जो तुझसे अधिक व्यथित-दुःखित हैं, उनकी ओर देख! संसार में तुझसे भी अधिक दुःखी, चिन्तित एवं व्यथित मानव हैं, उनकी अपेक्षा तो तू आनन्द में है। अतः क्यों अधीर और निराश होता है?

उपाध्याय देवचन्द्र जी के शब्दों में कर्मसिद्धान्त का मूल सन्देश पढ़िये-

“रे जीव साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन।

सुख-दुःख अपद-सम्पदा, पूरव कर्म-अधीन॥

पूर्वकर्म-उदये सही, जे वेदना धाय।

ध्यावे आत्म निण समे, ते ध्यानी-राय॥

ज्ञान-ध्याननी वानडी करणी आमान।

अन्न समे आपद् पड़्यां, विगला करे ध्यान॥

कष्ट पड़्यां समता रमे, निज आतम ध्याय।

‘देवचन्द्र’ तिन मुनितणा, नित वन्दू पाय॥^१

कर्मसिद्धान्त का स्वर्णिम सन्देश

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त का सन्देश दुःखों की ज्वालाओं से दग्ध मनुष्यों के घावों पर मरहम-पट्टी का काम करता है। उनके अशान्त हृदयों में शान्ति का झरना बहाता है। दुःख और निराशा के गर्त में पड़े हुए मानवों को कर्मसिद्धान्त वहाँ से निकाल कर आशा के विशाल भवन में पहुँचा देता है।^२

जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्मसिद्धान्त का सन्देश आशावाद का संचार करता है, जिसके कारण व्यक्ति का चिन्तन ठीक दिशा में होने लगता है। वह यही सोचता है कि ये सुख-दुःख, शूल-फूल, हंसना-रोना आदि सब अपने पूर्वकृत कर्मों के खेल हैं। जिंदगी की यात्रा में सुख-दुःख धूप-छाँह के समान हैं। जैसे-पतझड़ के बाद बसन्त आता है, तो वृक्षों में फिर हरियाली लहलहाने लगती है, वैसे ही दुःख और विपत्ति के बाद भी सुख और सम्पदा की हरियाली आती है। सुख और दुःख दोनों ही स्थायी नहीं हैं। शूल को फूल और फूल को शूल बनते क्या देर लगती है? रात के बाद दिन और दिन के बाद रात की तरह जीवनयात्रा में भी अंधेर-उजाला अथवा उतार-चढ़ाव आता रहता है। अतः सुख में फूलो मत, दुःख में तड़फो मत, घबराओ मत। दोनों जीवन विकास के लिए अनिवार्य हैं। अगर यह तथ्य जीवन में रम गया तो यहाँ भी सुख-चैन की वंशी बजाओगे और आगे भी आनन्द मंगल पाओगे। यही कर्मसिद्धान्त का स्वर्णिम सन्देश है।^३

कर्मसिद्धान्त की सबसे बड़ी उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह मानव को आत्महीनता एवं आत्मदीनता के गर्त में गिरने से बचाता है। जब मानव अपने जीवन में निराशा और हताश हो जाता है, उसे अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है, यहाँ तक कि उसका गन्तव्य पथ भी लुप्त हो जाता है। ऐसे समय में उक्त दुःखी आत्मा को कर्मसिद्धान्त ही एक मात्र ऐसा है, जो धैर्य, आश्वासन और साहस प्रदान करता है।

१. उपाध्याय देवचन्द्र जी रचित काव्य

२. (क) कर्मवाद : एक अध्यायन (सुरेशमुनि) से भावांश पृ. ५९

(ख) जैनतत्त्वकलिका क. ६ (आचार्य श्री आत्माराम जी) से पृ. १५२

३. जिनवाणी : कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित ‘जीवन में कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता’ लेख से भावांश पृ. १४३

यह सिद्धान्त उस संतप्त मानव को कहता है—‘मानव! जिस परिस्थिति को पाकर तू रोता-चिल्लाता है, हायतोबा मचाता है, वह तेरे स्वयं के द्वारा ही निर्मित है, इसलिए इसका फल तुझे ही भोगना है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं है, कर्म त स्वयं करे और उसका फल कोई और भोगे।’

कर्मसिद्धान्त मनुष्य को अपना भाग्यविधाता स्वयं कर्म का प्रेरक

जैन कर्मसिद्धान्त यह कहता है, कि मानव तेरी वर्तमान अवस्था जैसी भी, जो कुछ भी है, वह किसी दूसरे के द्वारा (ईश्वर या किसी देव या मानव आदि के द्वारा) तेरे पर नहीं लादी गई है, अपितु तू स्वयं उसका निर्माता है। तू ही अपना भाग्यविधाता है। जीवन में जो कुछ उत्थान-पतन, विकास-हास, तथा सुख-दुख आदि आते हैं, उनका दायित्व तेरे पर ही है, किसी दूसरे पर नहीं। उस दुःख या संकट को काटने की शक्ति भी तेरे में ही है। इसलिए तुझे किसी भी देव, ईश्वर या शक्ति की दया के लिए गिड़गिड़ाया या भाग्य या होनहार के भरोसे अकर्मण्य होकर बैठना नहीं है। जो भी समस्याएँ या बाधाएँ सामने अड़ी-खड़ी हैं, उनसे डरने की या घबराने की आवश्यकता नहीं; किन्तु सिंहवृत्ति से सोचने और साहस एवं धैर्य के साथ समभाव से कर्मफल भोगने की आवश्यकता है। यही सोचना है कि यह सब पूर्वकृतकर्मों का फल है, इसका सामना स्वयं अपने पुरुषार्थ से करना है।

इस आशा के साथ व्यक्ति कर्मविज्ञान का सम्बल पाकर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करता हुआ एक दिन अपनी आत्मा को कर्मजल-परिपूर्ण संसार-समुद्र से निकाल कर मोक्ष नगर में पहुँचा सकता है। कर्म-सिद्धान्त मानव के हाथों में अपने भाग्यनिर्माण की चाबी सौंपकर उसे निश्चिन्त बना देता है। वह मानव के भाग्य को ईश्वर या किसी अदृश्य शक्ति के हाथों में नहीं सौंपता। एक विदेशी विचारक के शब्दों में कर्म-सिद्धान्त का यह अमर सन्देश है—

“I am the master of my fate,
I am the captain of my soul.”

मैं ही अपने भाग्य का स्वामी हूँ और मैं ही अपनी आत्मा का अधिनायक हूँ। मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई नहीं चला सकता। मेरे जीवन का विकास या हास, अथवा मेरे भाग्य का उत्थान या पतन मेरे हाथों में है। अपने जीवन में मनुष्य जैसा, जितना और जो कुछ अच्छा या बुरा निमित्त या संयोग पाता है, वह सब उसकी अपनी बोई हुई खेती है। अतः जीवन में निराश-हताश या दीन-हीन बनने की आवश्यकता नहीं है! कर्मसिद्धान्त की यही उपयोगिता है।

कर्मविज्ञान सिंहवृत्ति से सोचने की प्रेरणा देता है

कर्मविज्ञान साधक को सिंहवृत्ति से सोचने की प्रेरणा देता है। अज्ञानी आत्मा दुःख या संकट देने वाले पर कुत्ते की तरह क्रोध पूर्वक झपटता है, उसे ही वह उपद्रव का मूल कारण समझता है। जबकि ज्ञानी साधक सिंहवृत्ति से सोचता है। वह दुःख या संकट देने वाले पर रोष-द्वेष नहीं करता। सिंह को कोई ढेला मारता है या उस पर बाण चलाता है, तो वह ढेले या बाण को नहीं, ढेला फेंकने या बाण चलाने वाले को पकड़ता है, उसी पर प्रहार करता है।^१

यह सिंहवृत्ति है, लेकिन श्वानवृत्ति इससे विपरीत है। कुत्ता ढेला या लाठी मारने वाले को नहीं, ढेले या लाठी को ही उछलकर मुंह में पकड़ लेता है।

सिंहवृत्ति वाला मानव यह समझता है कि ये बेचारे तो मेरे संकट या दुःख में निमित्त मात्र हैं। इन पर रोष या द्वेष क्यों करूँ? दुःख और संकट का मूल कारण—उपादान तो मेरे अंदर है, मेरा अपना कृतकर्म है। अतः ज्ञानी साधक सिंहवृत्ति से सोच कर अपने कर्म की ओर देखता है।

‘सूत्रकृतांग’ की भाषा में वह यही सोचता है कि “जैसा मैंने कर्म किया, वैसा ही फल दुःख के रूप में मेरे सामने आ गया।” अपने किये हुए कर्म का फल ही तो आत्मा को दुःख के रूप में मिलता है। अगर मैंने आम बोयां होता, शुभ कर्म करता, तो उसके सुंदर सुफल मिलते। आज ये कांटे मेरे पैरों में चुभते हैं, इसका कारण मेरे द्वारा बबूल का कँटीला पेड़ बोया गया ही है। उसका फल तो दुःखरूपी कांटों के रूप में ही चुभना ही था।

कर्मसिद्धान्त पर दृढ़ आस्थावान् व्यक्ति उपादान को देखता है

निष्कर्ष यह है कि कर्मसिद्धान्त पर दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति दूसरों पर रोष, द्वेष नहीं करता, न ही दूसरों को दोष देता है। यह सोचता है कि ये बाहर के व्यक्ति तो केवल निमित्त हो सकते हैं। उपादान कारण तो मेरे अन्तर में ही है। मेरे कर्म शुभ होते तो ये बाहर के निमित्त भी शुभ होते। बाहर के निमित्त अपने आप में अच्छे या बुरे नहीं हैं। उन्हें शुभ या अशुभ अथवा अमृत या विष बना लेना कर्मसिद्धान्तमर्मज्ञ के बांये हाथ का खेल है।

वह इसी प्रकार सोचता है कि ये जितने भी दुःख या संकट मेरे पर आ रहे हैं उन सबको न्यौता देने वाला मैं ही हूँ। अब ये आये हैं तो इनके आने पर इन मेहमानों पर क्यों

१. ‘उपेक्ष्य लोफ-क्षेप्तारं, लोफं दशति मण्डलः।

सिंहस्तु शरमुपेक्ष्य शरक्षेप्तारमीक्षते ॥’

—पञ्चश्वचरित्रम् (भावविजय)

रोष-द्वेष करूँ? क्यों आँसू बहाऊँ? दीन-हीन बनकर किसी के आगे गिड़गिड़ाऊँ? क्यों हायतोबा मचाऊँ? हैसता, मुस्कराता क्यों न इनका स्वागत करूँ? क्यों न अपने किये हुए कर्मों का कर्जा खुशी से चुका जाऊँ? अगर प्रसन्नतापूर्वक कर्मों का ऋण अदा कर दूँगा, तो आगे के लिए कर्जदार नहीं बनूँगा, भविष्य के लिए कर्मबन्ध नहीं कर पाऊँगा। ये विपदा-संपदाएँ, सुख-दुःख मेरे ही कर्मों के फल हैं तो मैं दीन-हीन बनकर क्यों गिड़गिड़ाऊँ? हंसते-हंसते समभाव से इन्हें भोगकर इनसे क्यों न छुटकारा प्राप्त करूँ?

कर्मसिद्धान्त पर विश्वास से निश्चिन्तता एवं दुःख-सहिष्णुता

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त पर विश्वास से व्यक्ति को ऐसी निश्चिन्तता हो जाती है कि जैसे मेरे पूर्वकृत कर्म होंगे, तदनुसार फल मिलने में कोई सन्देह नहीं है। कर्मों का ऋण तो मुझे देर-सबेर चुकाना ही पड़ेगा, फिर मन में ग्लानि न करके समभावपूर्वक ही इन्हें भोग लूँ, ताकि नये कर्मों का बन्ध न हो और पुराने कर्मों का क्षय हो जाए। कर्मसिद्धान्त पर विश्वास से कार्य में सफलता और हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त होती-है। प्रतिकूल परिस्थिति के समय निमित्तों को कोसने की अपेक्षा शान्त भाव से स्थिर रहने की अथवा केवल मेरे पर ही नहीं, बड़ों-बड़ों पर भी विपत्तियाँ आई हैं, इसलिए इनसे न घबरा कर समभाव से भोग लेना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की आश्वासनरूपी प्रेरणा कर्मसिद्धान्त से मिलती है। कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास से मनुष्य में दुःख सहने की क्षमता बढ़ती है तथा भवै जीवन को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाने की प्रेरणा भी मिलती है।

कर्मसिद्धान्त आत्मा को दुःख में घबराहट एवं सुख में संयत कर उच्छृंखल एवं उद्वण्ड होने से बचाता है। वह शिक्षक की तरह प्रतिकूल परिस्थिति में यथार्थ मार्गदर्शन करके विघ्न-बाधाओं और विपत्तियों की परवाह न करके धर्माचरण करने का षट् पढ़ाता है। वह मानव जीवन में आशा और स्फूर्ति का संचार करके उसे विकास-पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है।

दुःख का कारण स्वयं में दूँढ़कर अनुकूलता-प्रतिकूलता में दृढ

एक बात और है, जिस हृदयभूमि पर दुःख का विषवृक्ष लहलहाता है, उसका बीज भी उसी भूमि में बोया हुआ होना चाहिए। हवा, पानी आदि बाह्य निमित्तों के समान उस दुःख-वृक्ष को अंकुरित-पल्लवित होने में कदाचित कोई अन्य व्यक्ति निमित्त हो सकता है। परन्तु वह दुःख-वृक्ष का वास्तविक बीज नहीं होता। दुःखतरु का वास्तविक बीज बाहर नहीं, मेरे अपने ही अन्दर है, मेरे ही कृतकर्मों का परिणाम है। इस प्रकार के

१. (क) 'जं जा रिसं पुष्यंमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।'

(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ. ५८-५९

विश्वास को कर्मसिद्धान्त सुदृढ़ कर देता है। फलतः दुःख के कारण को वह स्वयं में ढूँढता है; उसके लिए न तो दूसरे को कोसता है और न ही घबराता है।

इस प्रकार के विश्वास से मनुष्य के हृदय में इतना बल और साहस पैदा होता है, जिससे साधारण संकट के समय व्याकुल होने वाला मानव^१ बड़ी-बड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता। जीवन में आने वाली उलझनों को कर्मसिद्धान्त के सहारे शीघ्र सुलझा लेता है। इस प्रकार कर्मसिद्धान्त अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में मानव को दीपक की लौ की तरह नहीं, अपितु ध्रुव की तरह अटल रहना सिखाता है।

कर्मसिद्धान्त साधक को आँधी और तूफान में हिमालय की तरह हर परिस्थिति में स्थिर रहना सिखाता है। वह अतीत के जीवन को स्मृति पर उभार कर अनागत जीवन को परिष्कृत करने की प्रेरणा देता है। मानव जाति में जो कुछ भी नैतिकता, पापभीरुता एवं धीरता की झलक दिखाई देती है, वह कर्मसिद्धान्त पर विश्वास का सुफल है। किसी भी सत्कार्य में सफलता के लिए जिस हार्दिक शान्ति व एकाग्रता की आवश्यकता है,^२ वह कर्मसिद्धान्त पर अटल विश्वास से ही हो सकती है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में मेक्समूलर का मत

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में जर्मन विद्वान डॉ. मेक्समूलर का मन्तव्य विचारणीय है—“यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मानव-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह ज्ञात हो जाये कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझे जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वजन्म के कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्तभाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा अपने आप ही प्राप्त होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का बल-संरक्षण-सम्बन्धी मत समान ही हैं। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य में जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिलता है।^३

१. कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) से भावांश पृ. ६

२. कर्मप्रकृति (सं. देवराज जैन) की प्रस्तावना पृ. २५

३. कर्मग्रन्थ भा. १, प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) में प्रकाशित विचार पृ. ७

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त मानव के लक्ष्यपथ को आलोकित करता है और मार्ग से भटकते हुए मानव को पुनः समार्ग पर ला सकता है। यही कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता है।

कर्मविज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष व्यवहारों की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है

कोई व्यक्ति अपने कर्मों का फल अच्छे रूप में भोगता है तो व्यवहार में यह कहा जाता है कि “अमुक व्यक्ति ने पूर्व में शुभ कर्म किये थे, उनका फल वह अच्छे रूप में प्राप्त कर रहा है।” इसके विपरीत कोई व्यक्ति पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल बुरे रूप में भोगता है तो कहा जाता है— “अमुक व्यक्ति दुष्कर्मों के फल प्राप्त कर रहा है।”

उदाहरण के तौर पर—कोई निर्धन विद्यार्थी मेहनत, मजदूरी करके अर्थोपार्जन करता है और उच्चशिक्षा प्राप्त कर लेता है। तदनुसार वह अपनी योग्यता और कर्मका के आधार पर अच्छी नौकरी पा जाता है तो व्यवहार में कहा जाता है, ‘यह उसके शुभकर्मों का फल है।’ इसी प्रकार कोई व्यक्ति शराब पीता है, जूआ खेलता है, इस कारण अपना तन, मन और धन तीनों बर्बाद करता है, फिजूल-खर्ची करके सारा धन उड़ा देता है। इस प्रकार के अशुभकर्मों के फलस्वरूप वह दर-दर का मोहताज बन जाता है, अपना स्वास्थ्य भी खराब कर लेता है, अपने पारिवारिक जीवन को भी दुःखमय बन लेता है तो व्यवहार में कहा जाता है— “यह उसके अशुभ कर्मों का फल है।”

दैनन्दिन व्यवहारों की व्याख्या भी कर्मविज्ञान प्रस्तुत करता है

इन और ऐसे ही शुभ-अशुभ परिणामों को देखकर कर्मविज्ञान के विज्ञ, विशेषज्ञ या अंशतः अनभिज्ञ अथवा पूर्णतः अनभिज्ञ, सभी व्यक्ति एक स्वर से व्यक्ति के शुभ-अशुभ व्यवहारों की व्याख्या कर्म के द्वारा करते हैं। इन्हीं व्यवहारों की व्याख्या कर्मविज्ञान भी दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत करता है— अच्छे ढंग से आचरित (सुधीर्ण) कर्मों (शुभकर्मों) का फल शुभ होता है और बुरे रूप में आचरित (दुशीर्ण) कर्मों (अशुभकर्मों) का फल अशुभ होता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कर्म-विज्ञान मानव तथा मानवेतर समस्त प्राणियों के दैनन्दिन व्यवहारों की व्याख्या कर्म के द्वारा प्रस्तुत करता है।^१

कर्मविज्ञान इस जन्म में कृतकर्मों की संगति भी वर्तमान व्यवहार के साथ बिठाता है

इतना ही नहीं, जो लोग कर्मविज्ञान पर आक्षेप करते हैं कि कर्मवाद इस जन्म में प्राप्त सुख-दुःखरूप परिणामों (फल-भोगों या विपाकों) की संगति पूर्वजन्म या पिछले

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित डॉ. शान्ता मेहता के लेख ‘कर्मसिद्धान्त : एक टिप्पणी’ के विचारों की छाया, पृ. ३०४

जन्मों में किये हुए कर्मों के साथ विठाता है, उनके इस आक्षेप का भी खण्डन हो जाता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में मानव के पूर्वजन्मकृत कर्म के फलयुक्त वर्तमान व्यवहार की व्याख्या नहीं है, अपितु इस जन्म में ही किये हुए शुभ-अशुभ कर्म के फलयुक्त व्यवहार की व्याख्या है, जो कि आबाल-वृद्ध के द्वारा भी इसी रूप में प्रस्तुत की जाती है। यह अवश्य है कि फल चाहे इस जन्म के किये हुए कर्मों का हो या पूर्वजन्मकृत कर्मों का, कहलाता वह पूर्वकृत कर्म ही है। पूर्वकृत में इस जन्म में किये हुए कर्म भी आ जाते हैं और पूर्वजन्मकृत कर्म भी।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि कर्मविज्ञान केवल आदर्श या सिद्धान्त की व्याख्या ही नहीं करता अपितु कर्म के द्वारा व्यावहारिक जीवन-व्यवहार की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। जैन इतिहास की प्राचीन कथाओं में यत्र-तत्र इहजन्मकृत या पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य के वर्तमान व्यवहार की व्याख्या की गई है। इससे जैन कर्मविज्ञान की उपयोगिता प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है।



नैतिकता के सन्दर्भ में—

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

भौतिक विज्ञान के समान कर्म-विज्ञान भी कार्य-कारण सिद्धान्त पर निर्भर

जिस प्रकार भौतिक विज्ञान कार्य-कारण के सिद्धान्त में आस्था प्रगट करके ही आगे बढ़ता है और नये-नये आविष्कार करता है, उसी प्रकार कर्म-विज्ञान भी कार्य-कारण सिद्धान्त के आधार पर वर्तमान जीवन की घटनाओं की व्याख्या करता है।

कार्यकारण भाव के परिप्रेक्ष्य में प्रोफेसर हरियन्त्रा कर्म सिद्धान्त के विषय में लिखते हैं—“कर्मसिद्धान्त का आशय यही है कि भौतिक जगत् की भाँति नैतिक जगत् में भी पर्याप्त कारण के बिना कोई भी कार्य (कर्म) घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुःख का मूल स्रोत हमारे (नैतिकता-विहीन) व्यक्तित्व में ही खोज कर ईश्वर और पड़ोसी के प्रति कटुता का निवारण करता है।”

भूतकालीन आचरण वर्तमान चरित्र में तथा वर्तमान चरित्र भावी चरित्र में प्रतिबिम्बित

इसका तात्पर्य यह है कि कर्मसिद्धान्त बताता है—भूतकाल के नैतिक या अनैतिक आचरणों के अनुसार ही वर्तमान चरित्र व सुख-दुःख का निर्माण होता है, साथ ही वर्तमान नैतिक-अनैतिक आचरणों के आधार पर प्राणी के भावी चरित्र तथा सुख-दुःखमय जीवन का निर्माण होता है। अतीतकालीन जीवन ही वर्तमान व्यक्तित्व का निर्माण है और वर्तमान जीवन (आचरण) ही भविष्यकालीन व्यक्तित्व का विधाता है।

इसका आशय यह है कि कोई भी वर्तमान शुभ या अशुभ आचरण परवर्ती शुभ या अशुभ घटना का कारण बनता है, उसी प्रकार पूर्ववर्ती किसी शुभ-अशुभ आचरण के कारण वर्तमान शुभ या अशुभ घटना घटित होती है।

अतीतकालीन शुभाशुभ आचरण के अनुसार भावी परिणाम : शास्त्रीय दृष्टि में

आचारांगसूत्र में जिस प्रकार कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में वर्तमान के शुभ-अशुभ

आचरण के भावी परिणामों का दिग्दर्शन कराया गया है, उसी प्रकार भूतकालीन शुभ-अशुभ आचरण के अनुसार वर्तमान शुभाशुभ परिणामों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अतीत या भविष्य कर्मों के अनुसार होता है, यह सोच (देख) कर पवित्र नैतिक आचरणयुक्त महर्षि कर्मों को धुन कर क्षय कर डाले।^१

जैसे कि आचारांग सूत्र में पृथ्वीकायिक आदि जीवों की अमर्यादित हिंसा (समारम्भ) के परिणामों का निर्देश किया गया है कि "ऐसा करना उसके अहित के लिए है, अबोधि का कारण है", यह निश्चय ही ग्रन्थ (कर्मों की गांठ) है, यह मोह है, यह अवश्य ही मृत्यु रूप है, यही नरक का निर्माण है।"^२

संग्रहवृत्ति के अनैतिक पूर्वकृत कर्म और उसके परिणाम का उल्लेख करते हुए कहा गया है— "इस संसार में कई संग्रह वृत्ति वाले मानव बचे हुए या अन्य द्रव्यों का अनाप-शनाप संग्रह करते हैं तथा कई असंयमी पुरुषों के उपयोग के लिए संचय करते हैं, परन्तु वे उपभोगकाल के समय यदा-कदा रोगों से ग्रस्त हो पड़ते हैं।"^३

जाति कुल गोत्र आदि के मद (अभिमान) के भावी परिणामों का निर्देश करते हुए कहा गया है— "अंधा होना, बहरा होना, गूंगा होना, काना होना, टूटा होना, कुबड़ा होना, बीना होना, कालाकलूटा होना और कौड़ी होना, ये सब जाति आदि के मद (अभिमान) के कारण होता है। जाति आदि के मद से प्राणी इस प्रकार की अंगविकलता को प्राप्त होता है, यह न समझने वाला (मदग्रस्त) व्यक्ति हतोपहत होकर जन्म-मरण के चक्र में आवर्तन-भ्रमण करता है।"^४

कामभोगों में ग्रस्त मानव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है— "यह कामकामी (कामभोगों की कामना करने वाला) पुरुष निश्चय ही शोक (चिन्ता) करता है, विलाप करता है, मर्यादाभ्रष्ट हो जाता है, तथा दुःखों और व्यथाओं से पीड़ित और संतप्त हो जाता है।"^५

१. विह्वकपे एयापुपस्सी निञ्जोसइत्ता खवगे महेसी । —आचारांग १/३/३

२. (क) 'तं से अहियाए तं से अबोधिए।'
(ख) एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए।"

—आचारांग सूत्र शु. १ अ. १, उ. २, ३, ४, ५, ६, ७

३. (क) "उवाइय-सेसेण वा सत्रिहि-सत्रिचओ कज्जइ।"
(ख) "तओ से एगया रोग-समुप्पाया समुप्पज्जति।"

—आचारांग, शु. १, अ. २, उ. १

४. (क) "तं जहा—अंधत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुट्टत्तं, खुज्जत्तं, वड्ढत्तं, सामत्तं सबलत्तं।"
(ख) "से अबुज्जमाणे हतोवहते जाइमरणं अणुपरियट्ठमाणे।"

—आचारांग शु. १ अ. २ उ. ३

“अज्ञानी (बाल) मूढ़, मोहग्रस्त और कामासक्त व्यक्ति का दुःख शान्त नहीं होता वह दुःखी व्यक्ति दुःखों के ही आवर्त (चक्र) में अनुपरिवर्तित होता (बार-बार जन्म-मरण करता) रहता है।” “फिर उसे किसी समय एक ही साथ उत्पन्न अनेक रूपों का प्रादुर्भाव होता है।”

पूर्वकालिक नैतिक आचरण करने वालों का वर्तमान व्यक्तित्व : शास्त्रीय दृष्टि में

पूर्वकालीन नैतिक आचरण करने वाले व्यक्तियों के वर्तमान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र कहता है--“जो पुरुष पारगामी अनैतिक आचरणों से तथा विषयभोगों से विरक्त है, वे लोभ संज्ञा को पार कर चुके, वे (वर्तमान में) विमुक्त (अकर्म) हैं वे अलोभवृत्ति से लोभ के प्रति घृणा (विरक्ति) करते हुए प्राप्त कामभोगों का सेवन (अभिग्रहण) नहीं करते।”

“अग्नि-मेघम के प्रति अरुचि भाव को दूर करने वाला वह मेधावी क्षणमात्र में मुक्त हो जाता है।”

“जो आयतचक्षु (दीर्घदर्शी) और लोक-द्रष्टा है, लोक की विभिन्नता को देखने वाला है, वह लोक के अधोभाग, ऊर्ध्वभाग और तिर्यग्भाग को और उनके स्वरूप एवं कारण को जानता है।”

“इस मनुष्यजन्म में संधि (उद्धार का अवसर) जान कर जो कर्मों से बद्ध आत्म प्रदेशों को मुक्त करता है वही वीर है और प्रशंसा का पात्र है।”

“यह शरीर जैसा अंदर से असार है, वैसा ही बाहर से असार है; और जैसा बाहर में असार है, वैसा ही अंदर से असार है। पंडित (ज्ञानी) पुरुष देह के अंदर की अशुद्धि

१. (क) “कामधामी खलु अयं पुंगिसे। से सोयति जूरति तिपति पिड्डति (पिष्टति) परितथति।”
(ख) “बन्ने पुण गिहे काम-समणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खणामेव आवड्ढं अणुपरियद्दं”
—आचा. १/२३

(ग) तओ मे एयाया रेभं समुपाया समुपज्जति।”

—आचारांग श्रु. १, अ. २, उ. ६, ३, ४

२. (क) विमुक्का इत्ते जणा, जे जणा पारगामिणो। लोभं अलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाह्हा।
• विपदं लोभं निस्सुखं एम अकम्मं जाणति पासति।”

—आचारांग श्रु. १, अ. २, उ. ३

(ख) “अःइ आउड्ढे मे मेहाधी खणसि मुक्के।”

—वही, १/२१

(ग) आयदचक्षु लोभदिपसी, लोगस अहोभागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं नाणइ।
—आचा. श्रु. १, अ. २, उ. २, ४, ५

३. “संधिं विदित्ता इह भच्चिपहं, एम वीरे पसंभिए जो बद्धे पडिमोयए।
—वही, १/२५

तथा बाहर झाव करते देह के विभिन्न मल-द्वारों को देखे और यह सब देखकर वह शरीर के वास्तविक स्वरूप का पर्यवेक्षण करे।^१

इसी प्रकार 'उत्तराध्ययन सूत्र' में चित्तमुनि का जीव सम्भूति के जीव-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को वर्तमान के नैतिक आचरण और उसके भावी सुफल की प्रेरणा देते हुए कहता है-"यदि तुम भोगों को छोड़ने में असमर्थ हो तो हे राजन्! कम से कम आर्य कर्म (नैतिक आचरण) तो करो। नीति-धर्म में स्थित रहकर यदि तुम अपनी प्रजा के प्रति अनुकम्पाशील बनोगे तो भी यहाँ से भरकर वैक्रियशक्तिधारक देव तो हो ही जाओगे।"^२

वर्तमान के अनैतिक आचरणों (कर्मों) का भावी दुष्परिणाम बताते हुए कहा गया है-जौ अज्ञानी मानव हिंसक है, मृषावेदी है, लुटेरा है, दूसरों का धन हड़पने वाला है, चोर है, कपटी (ठग) है, अपहरणकर्ता एवं शठ (धूर्त) है तथा स्त्री एवं इन्द्रिय-विषयों में गृह है, महारम्भी-महापरिग्रही है, माँस-मदिरा का सेवन करने वाला है, दूसरों पर अत्याचार एवं दमन करता है, ऐसा तुन्दिल वं मुस्टंडा है, वह नरकायु का आकांक्षी है।^३

इसी प्रकार मृगों के शिकार जैसे अनैतिक कर्म को करते हुए संयति राजा को महागुनि गर्दभालि ने अहिंसा और अभयदान का उपदेश देकर उससे हिंसादि पापाघ्नव (पापकर्म) छुड़ाए और उसे सर्वजीवों का अभयदाता महाव्रती उच्चराजर्षि बना दिया।

कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अनैतिक आचरणकर्ता को नैतिक बनने का उपदेश

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकरों, ज्ञानी महर्षियों तथा जैन श्रमणों द्वारा जिस किसी अनैतिक आचरणपरायण व्यक्ति को सद्उपदेश दिया गया है, और नीतिधर्म के समार्ग पर लगाया गया है, उसे कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में ही शुभ-अशुभ कर्म, उसके उपार्जन करने के कारण और उसके शुभ-अशुभ परिणामों (फलों) का दिग्दर्शन कराया गया।^४

नैतिक-अनैतिक कर्मों के कर्ता को कर्म ही फल देते हैं, ईश्वरादि नहीं

वैदिक, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों की तरह ईश्वर या किसी शक्तिविशेष का भय या उनके द्वारा समस्त प्राणियों को कर्मफल-प्रदान करने की बात नहीं बताई गई है। जैन

१. जहा अंतो तथा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो। पडिए पडिलेहाए।" --आचारांग १/२/५

२. उत्तराध्ययन अ. १३ गा. ३२ चित्तसम्भूतीय।

३. वही, अ. ७ गा. ५, ६, ७

४. देखें, उत्तराध्ययन का अठारहवाँ संयतीय अध्ययन

"अभओ पयिवा तुज्ज अभयदाया भवाहि य।

अणिच्चे जीवलोगमि किं हिंसाए पसज्जासि।।"

--उत्तरा. अ. १८/११

कर्मसिद्धान्त की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता इसी में है कि वह परोक्ष और अगम्य ईश्वर या किसी देवी-देव को प्राणियों के कर्मों का प्रेरक; कर्ता या फलदाता नहीं बताता। व आत्मा को ही अपने नैतिक-अनैतिक कर्मों का कर्ता, और कर्मों को ही स्वयं फलदाता बताकर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य-कारण की मीमांसा करता है। जैनदर्शन या जैनशास्त्रों में कहीं भी यह कथन नहीं मिलेगा कि किसी पुण्य या पाप से युक्त आचरण करने वाले को उसके उक्त कर्म का फल ईश्वर या और कोई शक्ति प्रदान करती हो।

पूर्वोक्त शास्त्रीय उद्धरणों में सर्वत्र कर्मसिद्धान्त के अनुसार ही प्रतिपादन किया गया है, कि अनैतिक या पापयुक्त आचरण करने वाले को नरक या तिर्यज्च गति अथवा इहलोक में रोग, शोक, दुःख, दुर्दशा आदि फल प्राप्त होते हैं, और जो नैतिक या धार्मिक आचरण करता है तथा पापाचरण या अनैतिक आचरण से दूर रहता है, उसे स्वर्ग या मनुष्यजन्म, उत्तम अवसर, शुभसंयोग, संयम-प्राप्ति या मुक्ति आदि फल प्राप्त होते हैं।

किसी ईश्वर या देवी-देव आदि के समक्ष गिड़गिड़ाने, उनकी खुशामद करने, तथा कृत पापों या अनैतिक आचरणों के फल से छुटकारा पाने के लिये प्रार्थना करने से वह या कोई शक्ति उसे उसके कृतकर्मों के फल से मुक्त नहीं कर सकती। कर्म के मामले में ईश्वर या किसी शक्ति का हस्तक्षेप जैन कर्मसिद्धान्त स्वीकार नहीं करता।

सप्त कुव्यसनरूप अनैतिक कर्मों का फल किसी माध्यम से नहीं, स्वतः मिलता है।

जैनाचार्यों ने जैनकर्मसिद्धान्तानुसार नैतिक और अनैतिक आचरणों (कर्मों) का फल स्वतः तथा सीधे ही मिलने की बात कही है, जैसे कि सप्त कुव्यसनरूप अनैतिक आचरण का सीधे (Direct) फल बताते हुए एक जैनाचार्य ने कहा है—“भूत, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीगमन, लोक में ये सात कुव्यसन हैं, अनैतिक (पापमय) आचरण हैं, जो व्यक्ति को घोरतिघोर नरक में डालते हैं। अथवा व्यक्ति इनसे घोरतम नरक में पड़ते हैं।” यहाँ किसी ईश्वर या किसी शक्ति को माध्यम (बिचौलिया) नहीं बताया गया है कि ईश्वर या अमुकशक्ति कुव्यसनी को घोर नरक में डालती है। अतः नैतिकता के सन्दर्भ में जैनकर्मसिद्धान्त की उपयोगिता स्पष्ट सिद्ध है।

१. "अथा कत्ता विकत्ता य दुहण य सुहाण य ।" —उत्तराध्ययन २०:३५

२. (क) 'आत्मापराधवृक्षस्य फला-यतानि देहिनाम्'—चाणक्य-नीति
(ख) स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

—अमितगति—सामायिकपाठ ३०

३. "भूतं च मांसं च सुरा च देश्या, पापद्धिं-चौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरतिघोरे नरके पतन्ति ॥"

ईसाई धर्म में पाप कर्म से बचने की चिन्ता नहीं : क्यों और कैसे ?

इसके विपरीत ईसाई धर्म के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ नैतिक-अनैतिक आचरण (कर्म) का शुभ-अशुभ फल सीधा कर्म से नहीं मिलता, ईश्वर से मिलता है। जैसा कि डॉ. ए. बी. शिवाजी लिखते हैं—'मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और पश्चात्ताप पर अधिक बल दिया गया है।' याकूब, जो प्रभु ईसामसीह का भाई था, अपनी पत्नी में लिखता है—“सो तुमने देख लिया कि मनुष्य केवल विश्वास से ही नहीं, कर्मों से भी धर्मी ठहरता है। अर्थात्—कर्मों के साथ विश्वास भी आवश्यक है।”

'पौलूस' विश्वास पर बल देता है। उसका कथन है—“मनुष्य विश्वास से धर्मी ठहरता है, कर्मों से नहीं।”

यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य के कर्म (शुभाशुभ या नैतिक-अनैतिक आचरण) उसका उद्धार नहीं कर सकते। वह अपने कर्मों पर घमण्ड नहीं कर सकता। पौलूस की विचारधारा में कर्म की अपेक्षा विश्वास का ही अधिक महत्त्व है। “यदि इब्राहीम कर्मों से धर्मी ठहराया जाता तो उसे घमण्ड करने की जगह होती, परन्तु परमेश्वर के निकट नहीं।” पौलूस की लिखी हुई कई पत्रियों में इस बात के प्रमाण हैं। “जीवन में मोक्ष का आधार कर्म नहीं, विश्वास है।” “विश्वास से धर्मीजन जीवित रहेंगे।”

ईसामसीह के अन्य शिष्यों ने भी विश्वास पर बल दिया है। इसी विश्वास को लेकर 'यूहन्ना' ईसामसीह के शब्दों को लिखता है—“यदि तुम विश्वास न करोगे कि मैं वही हूँ तो अपने पापों में मरोगे।”^२

इसके अतिरिक्त डॉ. ए. बी. शिवाजी लिखते हैं—“मसीही धर्म में कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है। यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है।” बाइबिल में लिखा है—“जो मुझ से 'हे प्रभु, हे प्रभु'

२. (क) याकूब की पत्री २ : २४

(ख) रोमियो ५ : १

(ग) रोमियो ४ : २

(घ) प्रेरितों के काम १६ : ३१

(ङ) यूहन्ना ८ : २४

(च) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित “मसीही धर्म में कर्म की मान्यता” लेख से,
पृ. २०५-२०६

कहता है: उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा; क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है और यह तुम्हारी ओर से नहीं, वरन् परमेश्वर का दान है; और न कर्मों के कारण, ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे।"

".....तो उसने (अनुग्रह करके) हमारा उद्धार किया; और यह धर्म के कार्यों के कारण नहीं, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नये जन्म के स्थान, और पवित्र आत्मा (का अनुग्रह) हमें नया बनाने के द्वारा हुआ।"

उपर्युक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट है कि ईश्वरकर्तृत्ववादी मसीही धर्म में नैतिक-अनैतिक कर्मों (आचरणों) का उतना महत्व नहीं, जितना ईसामसीह (प्रभु) पर विश्वास और उनका अनुग्रह प्राप्त करने का है। ईसामसीह का विश्वास और अनुग्रह प्राप्त करके जिन्दगीभर अशुभ (पाप) कर्म करने वाला डाकू भी पवित्र जीवन-जीवी ईसामसीह के साथ स्वर्ग लोक में स्थान पा सकता है; इसके विपरीत शुभ कर्म करने वाला अख्यूब नामक धर्मी व्यक्ति परमेश्वर या ईसामसीह (प्रभु) का विश्वास और अनुग्रह न पाकर विपत्ति और दुःख उठाता है।

विश्वास और अनुग्रह पर जोर, अनैतिकता से बचने पर नहीं

यही कारण है कि हत्या, दंगा, अन्याय, अनीति, अत्याचार, व्यभिचार, ठगी, फूट, ईर्ष्या, युद्ध, कलह आदि अनैतिक एवं पाप कर्म करने वाला व्यक्ति यह समझता कि ईश्वर या ईसामसीह पर विश्वास और उनका अनुग्रह प्राप्त करने मात्र से पाप कर्म का कोई भी कटुफल नहीं मिलेगा; वह धड़ल्ले से ये अनैतिक पापकर्म करता रहता है।

ईसाई धर्म में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मान्यता न होने से पापी मनुष्य यह भी समझता है कि पूर्वजन्म के कर्मों का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, और न ही पूर्वजन्म के कर्मों को भोगना है, साथ ही इस जन्म में किये हुए पापकर्म का फल भी अगले जन्म (पुनर्जन्म) में नहीं मिलेगा, अतः जितना जो कुछ हिंसादि पापकर्म किया जा सके, कालो और आनन्द से जीओ।

१. (क) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'मसीहीधर्म में कर्म की मान्यता' लेख में पृ. २०८
- (ख) मसी ७ : २९
- (ग) तीतुस ३ : ५
२. (क) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'मसीही धर्म में कर्म की मान्यता' से पृ. २०७
- (ख) लूका २३ : ३१-४३.
- (ग) देखें, अख्युव १ : २२.

यद्यपि बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट में ईसामसीह की दस-दस आज्ञाएँ (कमाण्डमेंट्स) अंकित हैं,^१ परन्तु उन्हें मानकर और बार-बार पढ़-सुनकर भी ईश्वरीय विश्वास और अनुग्रह प्राप्त कर लेने के चक्कर में लोग अनैतिक कर्म करने से नहीं चूकते।

परन्तु जैनकर्मविज्ञान प्रारम्भ से ही नैतिक-धार्मिक आचरण (शुभकर्म) पर जोर देता है। वह केवल ईश्वर (परमात्मा-अर्हन्त एवं सिद्ध) पर विश्वास करने मात्र से या उनके द्वारा बताया हुए नैतिकता और धार्मिकता के वम-नियमों को मानने-सुनने मात्र से अथवा उन पर लम्बी-चौड़ी व्याख्या कर देने से किसी व्यक्ति का उसके पाप कर्म से उद्धार नहीं मानता।

जब तक पापकर्मों व्यक्ति अपने पापकर्मों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा और क्षमापना द्वारा शुद्धिकरण नहीं कर लेता, तब तक वह पापकर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता। उसे इस जन्म में चाहे किन्तु जगले जन्म या जन्मों में अपने अनैतिक कुकर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार सत्कर्म करने वाले या कर्मक्षयरूप धर्माचरण करने वाले व्यक्तियों पर तो परमात्मा का अनुग्रह स्वतः ही होता है। उसे परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये उनकी खुशामद करने की या पूजा-पत्री, भेंट-चढ़ावा आदि की रिश्वत नहीं देनी पड़ती। उसे अपने किये हुए सत्कर्मों (शुद्ध कर्मों) का फल देर-सवेर अवश्य मिलता है। नैतिकता के सन्दर्भ में जैनकर्मविज्ञान इसी तथ्य को व्यक्त करता है। यही कारण है कि जैनकर्मविज्ञान को मानने वाला व्यक्ति हिंसादि पापकर्म करते हुए हिचकिचाएगा।

नरकायु और तिर्यञ्चायुकर्म बन्ध के कारण

जैन कर्मविज्ञान की स्पष्ट उद्घोषणा है कि "महारम्भ (महाहिंसा), महापरिग्रह, पंचेन्द्रियवध, और मांसाहार-नरकगमन (गति) के कारण है; माया (कपट), गूढमाया, (दम्भ) झूठा तौल नाप करे, ठगी (चंचना) करे तो प्राणी तिर्यञ्चगति प्राप्त करता है।" इसमें कोई भी ईश्वर, देवी-देव या शक्ति उसे उसके पापकर्मों (अनैतिक आचरण) के फल से नहीं बचा सकते। वह स्पष्ट कहता है कि कारण अनैतिकता का होगा, तो उसका कार्य नैतिकता के फल का कदापि नहीं होगा।

१. देखें-बाइबिल के गिरिप्रवचन ओल्ड टेस्टामेंट तथा न्यू टेस्टामेंट।

२. (क) चउहिं ठाणेहिं जीवा धेरइथाउयताए कम्मं पगरैति, तं.....महारम्भत्ताए, महापरिग्रहत्ताए; पंचिदियवधेणं, कुणिमाहारेणं।

(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजेणिय (आउय) ताए कम्मं पगरैति, तं.....माइल्लत्ताए, गियडिल्लत्ताए, अलियववणेणं,कूडतुल्ल-कूडमाणेणं।

—स्थानांम, स्था. ४, उ. ४, सू. ६२८, ६२९।

इस्लाम धर्म में नैतिक आज्ञाएँ हैं, पर अमल नहीं

यद्यपि इस्लाम धर्म में भी अनैतिक कर्मों से बचने और नैतिक कर्म (आचरण) करने का 'कुरान शरीफ' आदि धर्मग्रन्थों में विधान है। वस्तुतः इस्लाम धर्म नैतिकताप्रधान है। उसके नैतिक विधानों का उल्लेख करते हुए डॉ. निजाम उद्दीन लिखते हैं—

"जब हम सामाजिक कर्मों (मनुष्य के अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहारों) की ओर ध्यान देते हैं तो निम्न बातें सामने आती हैं—(१) अपने सम्बन्धियों, याकों, दान-निर्धनों, अनाथों को अपना हक दो; (२) मितव्ययी बनो, फिजूल खर्च करने वाले शतान के भाई हैं; (३) बलात्कार के पास भी न फटको, यह बहुत बुरा कर्म है; (४) अनाथ की माल-सम्पत्ति पर बुरी नीयत मत रखो; (५) प्रण या वचन की पाबन्दी करो, (६) पृथ्वी पर अकड़ कर मत चलो; (७) न तो अपना हाथ गर्दन से बांधकर चलो और न उसे बिलकुल खुला छोड़ो, कि भर्त्सना, निन्दा या विवशता के शिकार बनो; (८) माता-पिता के साथ सद्व्यवहार करो। यदि उनमें से कोई एक या दोनों वृद्ध होकर रहें तो उन्हें उफ तक न कहो, न उन्हें झिड़ककर उत्तर दो, वरन् उनसे आदरपूर्वक बातें करो; (९) दरिद्रता के कारण अपनी सन्तान की हत्या न करो। उनकी हत्या बहुत बड़ा अपराध है; (१०) किसी को नाहक कल्ल मत करो; (११) किसी ऐसी वस्तु का अनुकरण मत करो, जिसका तुम्हें ज्ञान न हो; (१२) मजदूर को उसका पसीना सूखने से पहले मजदूरी दे दो; (१३) अपने नौकर के साथ समानता का व्यवहार करो, जो स्वयं खाओ पहले वही उसे खिलाओ, पहनाओ; (१४) नाप कर दो तो पूरा भर कर दो, तौलकर दो तो तराजू से पूरा तौल कर दो; (१५) अमानत में खयानत (वेईमानी) मत करो।"

वास्तव में ये नैतिकता-प्रधान शुभ कर्म हैं, परन्तु इस्लाम धर्म में एक तो पुनर्जन्म को नहीं माना गया; दूसरे, जितना जोर खुदा की इयादेत, रसूलों (पैगम्बरों) के प्रति विनम्रता पर दिया गया है, जिसमें नमाज, रोजा, हज और जकात आदि कर्मकाण्ड प्रमुख हैं, उतना जोर इस पर नहीं दिया गया कि अनैतिक कर्मों (आचरणों) से न बचने में यहाँ और परलोक में उसका दुष्फल भोगना पड़ता है; बल्कि 'रोजे मशहर' में लिखा है कि कयामत (अन्तिम निर्णय) के दिन अपने कर्मों का हिसाब अल्लाह के दरवार में हाजिर होकर देना होता है;^१ इस कारण व्यक्ति देखटके जीववध, मांसाहार, शिकार,

१. देखें-जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'इस्लाम धर्म का स्वरूप' लेख से पृ. २१२, २१३

२. (क) देखें-जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'इस्लाम धर्म का स्वरूप' लेख से, पृ. २०९

(ख) 'रोजे मशहर'

मद्यपन, हत्या, आगजनी, दंगा, आतंक, पशुबलि (कुर्बानी) आदि अनैतिक कृत्यों, घोर पाप कर्मों को करता रहता है। अन्यथा, अल्लाह की इबादत एवं पूजा करने वाला, अल्लाह की आज्ञाओं को टुकराता है, उनके अनुसार नहीं चलता है, तब कैसे कहा जाए कि वह खुदा का भक्त या पूजक है ?

दूसरे धर्म सम्प्रदायों आदि से घृणा विद्वेष की प्रेरणा : पाप कर्म के बीज

दूसरे, इस्लाम धर्म में मोमिन और काफिर का भेद करके घृणा और विद्वेष का बीज पहले से ही बो रखा है जोकि अशुभ कर्मबन्ध का कारण है। शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं कर्मों से ही मिल जाता है, खुदा को इस प्रपंच में डालने की जरूरत ही नहीं, खुदा (परमात्मा) की इबादत (भक्ति) करके उससे पाप-माफी का फतवा लेने की बात भी न्यायसंगत नहीं है।

जैनकर्मविज्ञान मनुष्य मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयम्, मैत्रीभाव आदि रखने की बात कहता है। साथ ही नैतिकता से स्वर्ग तक की ही प्राप्ति होती है, मोक्ष नहीं। इसीलिए जैन कर्म-विज्ञान का स्पष्ट उद्घोष है कि शुद्धकर्म (धर्म) या अकर्म की स्थिति तक पहुँचो ताकि मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष (कर्ममुक्ति) प्राप्त कर सको, अगर वह न हो सके तो कम से कम नैतिक नियमों का पालन करो, ताकि शुभकर्म द्वारा सुगति प्राप्त कर सको।^१

जैन कर्मविज्ञान : नैतिक संतुष्टिदायक

एक पाश्चात्य विचारक हॉग महोदय ने कर्म के विषय में एक ही प्रश्न उठाया है कि "क्या कर्म नैतिक रूप से सन्तुष्टि देता है?"^२ इसके उत्तर में जैनकर्मविज्ञान स्पष्ट कहता है कि यदि कोई व्यक्ति धर्मनीति की दृष्टि से न्याय-नीति-पूर्वक शुभकर्म का आचरण करता है, अथवा अहिंसा, सत्य आदि सद्धर्म (शुद्धकर्म) का आचरण करता है तो वह निष्फल नहीं जाता। उसे देर-सबेर उसका सुफल मिलता ही है। सभी धर्मों और सम्प्रदायों में ऐसे महान् व्यक्ति हुए हैं, जो नैतिक एवं धार्मिक आचरण करके उच्च पद पर पहुँचे हैं, विश्ववन्द्य और पूजनीय बने हैं। उनके नैतिक एवं आध्यात्मिक आचरणों के सुफल प्राप्त करने में कोई भी शक्ति या देवी-देव बाधक नहीं बने। यह कर्मविज्ञान द्वारा नैतिक सन्तुष्टि नहीं तो क्या है ?

१. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र का चित्तसंभूतीय अध्ययन १३ की ३२वीं गाथा

२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित-'मसीही धर्म में कर्म की मान्यता' लेख से उद्धृत वाक्य पृ. २०४

कर्मसिद्धान्त का कार्य : नैतिकता के प्रति आस्था जगाना, प्रेरणा देना

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार—“सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान् बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि कर्मों की शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होने की धारणा में उसका विश्वास बना रहे।”^१

जैनकर्मविज्ञान जनसाधारण को नैतिकता के प्रति आस्थावान् रखने और अनैतिक (पाप) कर्मों से बचाने में सफल सिद्ध हुआ है। जैनधर्म के महान् आचार्य कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि ने गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल को और उसके आश्रय से अनेक राजाओं, मंत्रियों और जनता को कर्मविज्ञान का रहस्य समझाकर अनैतिक कृत्य करने से बचाया है और नैतिकता-धार्मिकता के मार्ग पर चढ़ाया है। आचार्य हीरविजयसूरि तथा उनके शिष्यों ने सम्राट् अकबर को कर्मविज्ञान के माध्यम से प्रतिबोध देकर, अनैतिक आचरणों से बचाकर नैतिकता के पथ पर चढ़ाया था।

इस युग में जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज, ज्योतिर्धर पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज, जैन दिवाकर श्री चौधमलजी महाराज आदि अनेक नामी-अनामी आचार्यों एवं प्रभावक मुनियरों ने अनेक राजाओं, शासकों, ठाकुरों, राजनेताओं एवं समाजनायकों तथा अपराधियों को जैनकर्मविज्ञान के माध्यम से मांसाहार, मद्यपान, शिकार, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, जूआ आदि अनैतिक कृत्य छोड़ाकर नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा दी है।^२

कई महान् सन्तों ने, जैनश्रावकों ने कर्मविज्ञान का संगोपोग अध्ययन करके, दूसरों को समझा-बुझाकर इसी बात पर जोर दिया है कि भगवान् या परमात्मा की वास्तविक सेवा-पूजा उनकी आज्ञाओं का परिपालन करना है।^३

एक ओर अपने आपको परमात्मा (खुदा या गॉड) का भक्त (इवादतगार) कहे परन्तु प्राणिमात्र के प्रति रहम (दया) करने, मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार आदि पापकर्म न करने की उनकी आज्ञाओं को टुकराता जाए; वह खुदा, परमात्मा या सत् श्री अकाल का भक्त (बंदा) नहीं है। जैनकर्मविज्ञान इस तथ्य पर बहुत जोर देता है—कि अगर अहिंसादि शुद्धकर्म (धर्माचरण) न कर सको तो, कम से कम आर्यकर्म (नैतिक आचरण) तो करो!”^४

१. जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ९

२. देखें—पूज्य श्रीलालजी महाराज का जीवन चरित्र, पूज्य श्री जवाहरलालजी म. का जीवन चरित्र अ. १ तथा जैनदिवाकर चौधमल जी महाराज आदि का जीवन चरित्र।

३. तब सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्—हेमचन्द्राचार्य

४. "जइ तसि भोगे चइड असत्तो, अज्जाइ कम्पाइ करेह रायं।" —उत्तराध्ययनसूत्र अ. १३ गा. ३२

अतः यह दावे के साथ कहा जा सकता है, कि जैनकर्म-विज्ञानानुसार कर्मसिद्धान्त की नैतिकता के सन्दर्भ में पद-पद पर उपयोगिता है।

यह बात निश्चित है कि सांसारिक-मानव सदैव निरन्तर शुद्ध उपयोग में रहकर, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर शुद्धकर्म पर या अरागद्विष्ट होकर अकर्म की स्थिति या स्वरूपरमण की स्थिति में नहीं रह सकता, इसलिए जैनकर्मविज्ञान के प्ररूपक तीर्थंकरों ने कहा—शुभ-उपयोग में रहकर अनासक्तिपूर्वक कम से कम शुभ कर्म करते रहना चाहिए। नौ प्रकार के पुण्य इसी उद्देश्य से बताए हैं। साथ ही उन्होंने अशुभकर्मरूप अनैतिक कर्मों—अठारह पापस्थानकों तथा सप्तव्यसनों आदि पापघ्रोतों से बचने का निर्देश भी दिया है।^१

जैनकर्मविज्ञान कर्मानुसार फलप्रदान की बात कहता है

"कदाचित् विवशता से कोई त्रसजीवहिंसा आदि पापाचरण हो जाए तो जैनकर्मविज्ञान उसकी शुद्धि के लिए आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, भावना, अनुप्रेक्षा, त्याग, तप, क्षमापना प्रायश्चित्त आदि तप बताता है। इसलिए 'डॉ. ए. एस. थियोडोर' के इस भ्रान्त मन्तव्य का खण्डन हो जाता है कि "कर्मसिद्धान्त के न्यायतावाद में दया, पश्चात्ताप, क्षमा, पापों का शोधन करने का स्थान नहीं है।"^२

१. देखें—(क) स्थानांगसूत्र नौवां स्थान
(ख) १८ पापस्थानक के लिए देखें समवायांग १८वां समवाय
२. (क) "आलोचनाएणं.....इत्थीयेय-नपुंसयवेयं च न बंधइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।"
(ख) "निंदणयाए णं.....पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करण-गुणसेट्ठिं पडिवज्जई, क. पडिवज्जे य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उघाएइ।"
(ग) "गरहणयाए णं.....जीवे अपसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ।"
(घ) "पडिक्कमणे णं.....वयच्छिहाणि पिहेइ। पसत्थजोग पडिवज्जे य अणगारे अणंतं घाइपज्जवे खवेइ ॥"
(ङ) "काउसग्गे णं.....तीय-पडुपत्रं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्ध-पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय्हियए.....सुहंसुहेणं विहरइ।"
(च) "पच्चक्खाणे णं इच्छानिरोहं जणयई.....सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ।"
(छ) "पायच्छित्त करणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ निरइयारे यावि भवई.....।"
(ज) खमावणयाए णं पक्कायणभावं जणयइ।.....सव्व-पाण-जीव-सत्तेसु मितीभावमुवगए भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९ सू. ५, ६, ७, ११, १२, १३, १६-३७

(अ) Religion and Society Vol. No. XIV No. 4/1967

जैनकर्मसिद्धान्त कर्म का फल ईश्वर या किसी शक्ति द्वारा प्रदान करने की बात से सर्वथा असहमत है, यही कारण है कि वह नैतिक (शुभ), अनैतिक (अशुभ) कर्मों का फल कर्मानुसार स्वतः प्राप्त होने की बात कहता है। परमात्मा को प्रसन्न करने या उनकी सेवा-भक्ति करने मात्र से अनैतिक (पाप) कर्म के फल से कोई बच नहीं सकता। जैनकर्मसिद्धान्त 'दूध का दूध और पानी का पानी' इस प्रकार शुभाशुभ कर्म का न्यायसंगत फल बताता है। कर्मसिद्धान्त के न्याय को लौकिक विधि (कानून) वेता भी कोई चुनौती नहीं दे सकता। इसलिए कर्म चाहे लौकिक (सांसारिक) हो या लोकोत्तर, शुभ हो, शुद्ध हो या अशुभ हो, सबके यथायोग्य न्यायसंगत फल मिलने का प्रतिपादन जैनकर्मविज्ञान व्यवस्थित ढंग से करता है। इसलिए 'डॉ. ए. सी. बौक्वेट' के इस मत का भी निराकरण हो जाता है कि सांसारिक न्याय के रूप में कर्मसिद्धान्त अपने आप में निन्दनीय है।^{११}

मानवता भी कर्मसिद्धान्तानुसार अशुभकर्मक्षय से मिलती है

यद्यपि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय ने आध्यात्मिकता की दिशा में सर्वभूतहित पर ध्यान दिया है, तथापि उसका प्रथम पड़ाव सर्वमानवहित है। सर्वमानवहित मानवता की परिधि में आता है, जो नैतिकता का आवश्यक अंग है। भगवान् महावीर ने नैतिकता के सन्दर्भ में दुर्लभता के चार अंगों में मानवता-मनुष्यत्व को प्रथम दुर्लभ अंग बताया है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि विविध कर्मों से कलुषित जीव देव, नरक, तिर्यग्व्य और असुरयोनिवों तथा मनुष्यगति में भी कभी चाण्डाल, शूद्र, वर्णसंकर तथा क्रूर क्षत्रिय होता है; तो कभी कीट, पतंग, चींटी, कुंठु आदि योनियों में कर्मों के वश सम्पूढ़ होकर अमानुषी योनियों में प्राणी नाना दुःख, संकट और पीड़ा पाता है। कदाचित् पुण्योदय से क्रमशः अशुभकर्मों का क्षय करके जीव तथाविध आत्म-शुद्धि प्राप्त करता है और तब मनुष्यता को ग्रहण-स्वीकार करता है।^{१२}

देवदुर्लभ मनुष्यत्व : नैतिकता का प्राण और प्रथम अंग

कितनी दुर्लभ और कठिन है, मनुष्यता! जो नैतिकता का प्रथम अंग है। भगवान् महावीर ने जैनकर्मसिद्धान्त की दृष्टि से मनुष्यता की दुर्लभता का विश्लेषण किया है। इसी से समझा जा सकता है कि नैतिकता के सन्दर्भ में जैन कर्मसिद्धान्त की कितनी उपयोगिता है?

१. Christian Faith and Non-Christian Religion by A.C. Bonquet p. 196

२. (क) "चत्वारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुईसद्ध, संजः : २ धीरियं" ॥१॥

नैतिकता का प्राण मानवता है। तथा उसके अन्य अवयव हैं—न्याय, नीति, मानवमात्र के साथ भाईचारे का व्यवहार, अपने ग्राम, नगर, राष्ट्र, पड़ोसी और परिवार आदि के साथ सुख-दुःख में सहायक बनना, अपने कर्तव्य का पालन, ले-दे की व्यावहारिक नीति आदि। नैतिकता का पालन न होने पर कैसी-कैसी कठिनाइयों और विपत्तियाँ आती हैं? कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से वर्तमान में इस का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

नैतिकता का उल्लंघन या पालन वर्तमान में ही शुभाशुभ फलदायक

नैतिकता का या नीतिनियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कर्मसिद्धान्त के अनुसार कितनी विपन्नता, उपेक्षा, अवहेलना, कर्तव्य-विमुखता, दुःख-दारिद्र्य का सामना करने का शिकार होना पड़ता है, इसके ज्वलन्त उदाहरण वर्तमान मानव-जीवन में देखे जा सकते हैं।

नैतिकता के पालन में आस्था व्यक्ति को सदाचारी तथा पारस्परिक सहानुभूति प्रदान में अग्रसर बनाती है। उससे कर्तव्य-निष्ठा का आनन्द प्राप्त होता है। नैतिकता की प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के जीवन में सुख और सन्तोष का अमृत भर देती हैं और समाज के स्तर और गठन को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित बनाती हैं।

नैतिकता के आदर्शों के प्रति आस्थाएँ लड़खड़ाने पर व्यक्ति ही नहीं, वह जाति भी अपने ही अनैतिक कर्मों से स्वयमेव चिन्तित, व्यथित और स्वार्थपरायण बन जाती है।

(ख) समावन्नाण संसारे नाणागोत्तासु जाइसु।

कम्मा नाणाविहा कङ्क पुढे विसंभिया पया ॥२॥

एगया देवलोगेसु नरएसु धि एगया।

एगया आसुरंकायं अहाकम्मेहिं गच्छई ॥३॥

एगया खत्तिओ होइ, तओ चांडाल-वुक्कसो।

तओ कीड पर्यंगो य, तओ कुंथु पिवीलिया ॥४॥

एवमावहृ जोगिसु पाणिणो कम्मकिव्विसा।

न निविज्जंति संसारे सव्वहेसु य खत्तिया ॥५॥

कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खया बहुवेयणा।

अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मंति पाणिणो ॥६॥

कम्मणं तु पहापाए आणुपुब्बी कयाइ उ।

जीवा सोहिमणुपत्ता आययंति मणुस्सयं ॥७॥

—उत्तराध्ययन अ. ३, गा. १ से ७ तक

फलतः सहयोग और उदारता की उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है, जिनमें मनुष्य को कुछ त्याग और कष्ट उठाना पड़ता है।

परिवार और समाज में नैतिकता के प्रति अनास्था का दुष्परिणाम

नैतिकता की दृष्टि से सोचा जाए तो परिवार और समाज का ऋण व्यक्ति पर कम नहीं है। माता-पिता और बुजुर्गों की सहायता से व्यक्ति का पालन-पोषण होता है, वह स्वावलम्बी बनता है; इस प्रकार पितृऋण भी है। नैतिकता का तकाजा है कि पति-पत्नी दोनों में से किसी के प्रति अरुचि हो जाने पर भी उसकी पिछली सद्भावना और सत्कार्य के लिए ऋणी रहने तथा निवाहने को तृप्तर रहना चाहिए। सन्तान के प्रति माता-पिता को और सन्तान को माता-पिता के प्रति पूर्ण वफादारी और कर्तव्यनिष्ठा रखना आवश्यक है। मनुष्यमात्र में अपने जैसी ही आत्मा समझकर न्याय, नीति, ईमानदारी, सहानुभूति और सद्भावना रखनी चाहिए। कर्मसिद्धान्त नैतिकता के इन सूत्रों के अनुसार आचरण करने, न करने का सुखद-दुःखद फल प्रायः हाथोहाथ बता देता है।

भौतिकतावादी नैतिकताविरुद्ध अतिस्वार्थी

नैतिकता के इन आदर्शों के विरुद्ध वर्तमान भौतिकता की चकाचौंध में पलने वाले लोग स्तिधा यों ही कहने लगते हैं— "हमें परिवार से, समाज से या माता-पिता से क्या मतलब ? हम क्यों दूसरों के लिए कष्ट सहें ? क्यों अपने आपको विपत्ति में डालें ? ईश्वर, धर्म, नीति, परलोक, कर्म, कर्मफल, आदि सब ढोंग हैं; पूँजीपतियों और उनके एजेंटों की बकवास है। इनको मानने न मानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन्हें मानने से कोई भौतिक या आर्थिक लाभ नहीं है।"

इस अनैतिकता का दूरगामी परिणाम

इस अनैतिकता के प्रभाव की कुछ झांकी इंग्लैण्ड के प्रख्यात पत्र 'स्पेक्टेटर' में कुछ वर्षों पूर्व एक लेख में दी गई थी। उसमें उस देश के वृद्ध व्यक्तियों की दयनीय देश का विवरण दिया था कि "इस देश के अधिकांश वृद्धजन अपनी असमर्थ स्थिति में सन्तान की रसीभर भी सेवा, सहानुभूति नहीं पाते। अतः वे इस प्रकार करुण विलाप करते हैं कि "हे भगवान्! किसी तरह मौत आ जाए तो चैन मिले।" पर उनकी पुकार कोई भी नहीं सुनता। दुःखित-पीड़ित वृद्धजनों का यह वर्ग द्रुतगति से बढ़ता जा रहा है।" वृद्धों द्वारा आत्महत्या : उनकी ही अनैतिकता उन्हें ही भारी पड़ी

'कोरोनर' (लन्दन) के 'डॉक्टर मिलन' को पिछले दिनों ७०० दुर्घटनाग्रस्त मृतशव्यों का विश्लेषण करना पड़ा। उनमें एक तिहाई आत्महत्या के कारण मरे थे। इन आत्महत्या करने वालों में अधिकांश ऐसे बूढ़े लोग थे, जिन्हें बिना किसी सहायता के

जीवन-यापन भारी पड़ रहा था और उन्होंने इस तरह रिब-रिब कर मरने की अपेक्षा, नौद की अधिक मोलियाँ खाकर मरना अधिक अच्छा समझा;क्योंकि वयस्क होने के बाद मन्तान ने उनकी ओर मुंह मोड़कर भी नहीं देखा था।¹

बूढ़े अभिभावकों की इस दुर्गति का कारण प्रायः वे स्वयं ही हैं। उन्होंने अपने उन श्लकों को अभिशाप समझकर अपनी जवानी में उनके प्रति उपेक्षा रखी। न तो स्वयं बूढ़ों ने उस समय नैतिकता रखी और न ही अपने बच्चों को नैतिकता के संस्कार दिये। उन्होंने ही नैतिक उच्छृंखलता को जन्म दिया, वही नैतिक उच्छृंखलता उनके बालकों में अवतरित हुई। जो परम्परा से पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में उनके इस अनैतिकतायुक्त कर्म का फल दुःख, विपत्ति, एकाकीपन, नीरस, असहाय जीवन-यापन, विताप आदि के रूप में उन्हें और उनकी सन्तान को देखना पड़ा। जैनकर्मविज्ञान यही तो बताता है। कर्मसिद्धान्त पर अनास्था और अविश्वास लाकर जिन्होंने अपने जीवन में नैति एवं धर्म से युक्त विचार-आचार पर ध्यान नहीं दिया और नैतिकता के सन्दर्भ में साधारण मानवीय कर्तव्य की भी उपेक्षा कर दी, उन्हें उन दुष्कर्मों का फल भोगना पड़ा और उनकी सन्तान को भी विरासत में वे ही अनैतिकता के कुसंस्कार मिले।²

निरर्क्य यह है कि शरीर के साथ ही अपने जीवन का अन्त मानकर कर्मविज्ञान के सिद्धान्त को व्यर्थ की वक्त्यास मानने वाले तथा नैतिकता से रहित, अनैतिक आचरणों से युक्त जीवन यापन करने वाले धके, हारे, बूढ़े, धिसे व्यक्तियों की आँखों में आशा की बक्क कैसे आ सकती है? ऐसी स्थिति में वे निरर्थकतावादी बन जाएँ तो कोई आश्चर्य नहीं। हिंसीवाद इसी नीरस निरर्थक जीवन की निरंकुश अभिव्यक्ति है। अभी इसका प्रारम्भ है। कर्मविज्ञान के प्रति अनास्था जितनी प्रखर होगी, उतना ही यह क्रम उग्र होता जाएगा। हो सकता है, इस नीरसता एवं निरर्थकता की आग में झुलसकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी स्वाहा हो जाए।³

"वर्तमान मानव का विश्वास कर्मविज्ञान से सम्बन्धित आत्मा, परमात्मा, बर्णनरकादि परलोक, धर्म, कर्म, कर्मफल, नैतिकता, धार्मिकता आदि पर से उखड़ता जा रहा है। आत्मा की इन जड़ों के उखड़ने से, शेष सभी अंगोपांग उखड़ जाएँगे, इसका कोई विचार नहीं है।"⁴

वर्तमान में व्यक्ति के चिन्तन को 'फ्रायड' और 'माक्स' दोनों ने अत्यधिक प्रभावित किया है। फ्रायड ने व्यक्ति की प्रवृत्तियों एवं सामाजिक नैतिकता के बीच संबंध

1. अखण्डज्योति मार्च १९७२ के 'अनास्था हमें प्रेत-पिशाच बना देगी' लेख के आधार पर पृ. १८
1. अखण्डज्योति मार्च १९७२ के 'अनास्था हमें प्रेत-पिशाच बना देगी' लेख से साभार उद्धृत, पृ. १८
1. अखण्डज्योति मार्च १९७२ के 'अनास्था हमें प्रेत-पिशाच बना देगी' लेख के आधार पर पृ. १९

एवं द्वन्द्व अभिव्यक्त किया है। उसकी दृष्टि में 'सैक्स' सर्वाधिक प्रमुख हो गया है। स्त्री एकांगी और निपट स्वार्थी दृष्टिकोण से जीवन को विश्लेषित एवं विवेचित करने का परिणाम 'कीन्से रिपोर्ट' के रूप में सामने आया। इस रिपोर्ट ने सैक्स के मामले में वर्तमान मनुष्य की मनःस्थितियों का विश्लेषण किया है।संयम की सीमाएँ टूटने लगीं। भोग का अतिरेक सामान्य व्यवहार का पर्याय बन गया। जिनके जीवन में यह अतिरेक नहीं था, उन्होंने अपने को मनोरोगी मान लिया। सैक्स-कुण्डाओं के मनोरोगियों की संख्या बढ़ती गई। वासनातृप्ति ही जिंदगी का लक्ष्य हो गया।

पाश्चात्य जीवन एवं रजनीशवाद आदि ने इस आग में ईंधन का काम किया। प्रेम का अर्थ इन्द्रिय-विषयभोगों की निर्बाध, निर्मर्याद तृप्ति को ही जीवन का सर्वस्व सुख मान लिया। भार्या के लिये 'धर्मपत्नी' शब्द ने 'भोगपत्नी' का रूप ले लिया। नैतिकता को धता बताकर पति-पत्नी प्रायः आदर्शहीनता पर उतर आये हैं। पाश्चात्य जगत् में बच्चों की भी गणना एक विपत्ति में होने लगी है। माँ-बाप उन्हें अभिशाप^१ मानने लगे हैं। पति-पत्नीमिलन जब नैतिकता को ताक में रखकर विशुद्ध कामुक प्रयोजन के लिये ही रह जाता है, तब कृत्रिम प्रजनन-निरोध, भ्रूणहत्या या गर्भपात में कोई दोष नहीं समझा जाता। इस अनैतिक कर्म के फलस्वरूप स्त्री को कई बीमारियाँ लग जाती हैं; पुरुष भी अतिभोग का शिकार होकर अनैतिक कर्म का दण्ड किसी न किसी बीमारी, विपत्ति या अर्थहानि के रूप में पाता है।

पाश्चात्य जगत् की तरह भारत में भी यह प्रचलन अधिक होता जा रहा है। बच्चे जब पेट में आते हैं या जन्म लेने लगते हैं, उनके माँ-बाप की कामुकवृत्ति की पूर्ति में बाधक बनते हैं। फलतः पेट में आए हुए बच्चों से पिण्ड छुड़ाने के लिए कृत्रिम प्रजनन-निरोध का सहारा लिया जाता है। जन्मे हुए बच्चों से भी कच, किस तरह पिण्ड छूटे, इसकी चिन्ता उनके माता-पिता को होने लगी है। सौन्दर्य को हानि न पहुँचे इसलिए बच्चों को माता का नहीं, बोटल का दूध पीना पड़ता है। कई परिवारों में तो अधिकांश बच्चों के पालन-पोषण की झंझट से बचने के लिए उन्हें पालन-गृहों में दे दिया जाता है। पैसा देकर इस जंजाल से माँ-बाप छुट्टी पा लेते हैं। फिर स्वच्छन्द घूमने-फिरने और हंसने-खेलने की सुविधा हो जाती है।

जैसे ही बालक कमाऊ हुआ, पाश्चात्य जगत् में माँ-बाप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पशु-पक्षियों में भी तो यही प्रथा है। उड़ने-चरने लायक न हो तभी तक माता उनकी सहायता करती है। बाप तो उस स्थिति में भी ध्यान नहीं देता। बच्चों को

१. जिनबाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्म का सामाजिक सन्तुलन' पत्र में भावार्थ पृ. २८९

जीवन-रक्षा के लिए यदि माता के हृदय में नैतिकता की दृष्टि से स्वाभाविक ममता न होती तो अनास्थावान माताएँ बच्चों की सार-संभाल करने में रुचि न लेतीं और माता की निगाह बदलने पर बाप तो उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखता। नैतिकता की जगह पाशविक वृत्ति ले लेती है।

जिन माता-पिताओं का दृष्टिकोण बच्चों के प्रति पाशविक वृत्तियुक्त हो जाता है, उस दुष्कर्म का प्रतिफल बुढ़ापे में उन्हें भुगतना पड़ता है। वे बच्चे भी बुढ़ापे में उन दुर्नीति अभिभावकों की कोई सहायता नहीं करते और उन्हें कुत्ते की मौत मरने देते हैं। आखिर वे जब बूढ़े होते हैं तो उन्हें भी अपने बच्चों से सेवा या सहयोग की कोई आशा नहीं रहती। 'यादृक्करणं तादृक्भरणं' इस कर्मसिद्धान्त के अनुसार उनकी अनैतिकता का फल उन्हें मिलता ही है।

पति-पत्नी के जीवन में प्रायः इस अनैतिकता ने गहरा प्रवेश पा लिया है। वैवाहिक जीवन का उद्देश्य कामुकता की तृप्ति हो गया है। वेश्या जिस प्रकार शरीर सौन्दर्य, प्रसाधन एवं साज-सज्जा से लेकर बाकूजाल तक के रस्सों-से आगन्तुक कामुक को बांधे रहती है, वैसी ही दुर्नीति औसत पत्नी को प्रायः अपने पति के साथ बरतनी पड़ती है। जब तक काम-वासनातृप्ति का प्रयोजन खूबसूरती से चलता है, तब तक वह प्रायः पत्नी को चाहता है।

आर्थिक लोभ एवं स्वार्थ का दूसरा पहलू भी विवाह के साथ जुड़ गया है। प्रायः निपट स्वार्थपूर्ण अनैतिकता की इस शतरंज का पर्याय बन गया है—दाम्पत्य जीवन! एक घर में रहते हुए भी पति-पत्नी में प्रायः अविश्वास का दीर चलता है। विवाह के पूर्व आजकल के मनचले युवक अपने भावी साथी के साथ जो लम्बे-चौड़े वायदे और श्रवभाव दिखाते हैं, वे सन्तान होने के बाद प्रायः फीके हो जाते हैं।^१ इस प्रकार दाम्पत्य जीवन की इस अनैतिकतापूर्ण विडम्बना का जब घटस्फोट होता है, तब निराशा, दुःख और संकट ही हाथ लगता है।

क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक और क्या राष्ट्रीय जीवन में परस्पर अविश्वास, निपट-स्वार्थान्धता, आत्मीयता का अभाव, नीति और धर्म से भ्रष्ट होने से वर्तमान युग का मानव प्रायः अपने आपको एकाकी, असहाय और दीन-हीन अनुभव करता है। छल और दिखावे का, चाहरी तड़क-भड़क का ताना-बाना बुनते रहने से मन कितना भारी, चिन्तित, व्यथित, क्षुब्ध और उखड़ा-उखड़ा रहता है, यह देखा जा सकता है। सारा परिवार अनैतिकता के कारण आन्तरिक उद्वेगों की आग में मरघट की चिता बनकर

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७२ में प्रकाशित 'अनास्था हमें प्रेत-पिशाच बना देगी,' लेख से पृ. १९

जलता रहता है। आन्तरिक निराशा हर घड़ी खाती रहती है। त्रशा पीकर गम गम करते रहते हैं।

नैतिकता की जगह भौतिकता ने ले ली है। स्वार्थ-त्याग का स्थान स्वार्थ-साधन ने लिया है। मांसाहार और मद्यपान के पक्ष में यह कुतर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अप स्वादिष्ट भोजन और पेय की अपनी क्षणिक लोलुपतावश पशु-पक्षियों को तथा अप परिवार को भयंकर कष्ट सहना पड़ता है, उसकी हम क्यों चिन्ता करें ? जब मनुष्य इस प्रकार का अनैतिक और स्वार्थप्रधान बन जाता है तो उसका प्रतिफल भी कर्म के अनुसार देर-सबेर मिलता है। वह दूसरों की सुविधा-असुविधा की, न्याय-अन्याय की, या सुख-दुःख की परवाह नहीं करता।

नैतिकता और धर्म-कर्म के प्रति अनास्था के कारण पारिवारिकता, कौटुम्बिकता और सामाजिकता का ढांचा लड़खड़ाने लगा है। जब नीति-नियम नहीं, धर्म नहीं, आत्मा-परमात्मा नहीं, कर्म नहीं, कर्मफल नहीं, परलोक नहीं; तो फिर कर्तव्यपालन नहीं, स्वार्थत्याग नहीं, नैतिकता के आदर्शों के पालन के लिए थोड़ी-सी असुविधा उठाने की आवश्यकता नहीं। इस 'नहीं' की नास्तिकता ने व्यक्ति में संकीर्णता, पशु और अनुदारता को बढ़ावा दिया है। नैतिकता का या ले-दे के व्यवहार का भी लोप होत जा रहा है। इस प्रबल अनास्था के फलस्वरूप उच्छृंखल आचरण, स्वच्छन्द निपटस्वर्ण एवं सिद्धान्तहीन जीवन तथा अपराधी प्रवृत्तियों को आंधी-तूफान की तरह बढ़ता देखा जा सकता है। ऐसा परिवार, समाज और राष्ट्र नरकागार नहीं बनेगा तो और क्या होगा ?

कर्मसिद्धान्त के अनुसार ऐसा अनैतिकतायुक्त परिवार, समाज और राष्ट्र कैसा होगा ? किसके लिए और कितना सुविधाजनक होगा ? इसकी कुछ झांकी जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है। वर्तमान का मानव अशान्त क्यों है ? इस पर विश्लेषण करते हुए डॉ. मंहावीर सरन जैन अपने लेख में लिखते हैं-^१ "धार्मिक चेतना एवं नैतिकताबोध से व्यक्ति में मानवीय भावना का विकास होता है। उसका जीवन सार्थक होता है।.....आज व्यक्ति का धर्मगत (नैतिक) आचरण पर से विश्वास उठ गया है। पहले के व्यक्ति की आस्था जीवन की निरन्तरता और समग्रता पर थी। वर्तमान जीवन के आचरण द्वारा अपने भविष्य (इहलौकिक और पारलौकिक जीवन) का स्वल्प निर्धारित होता है। इसलिए वह वर्तमान जीवन को साधन तथा भविष्य को साध्य मानकर चलता था।

१. अखण्डज्योति मार्च १९७२ पृ. १८-१९ से भावांश

२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक, में 'कर्म का सामाजिक सन्दर्भ' लेख से पृ. २८९

"आज के व्यक्ति की दृष्टि 'वर्तमान' को (तथा 'स्व' को) ही सुखी बनाने पर है। वह अपने वर्तमान को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है। अपनी सारी इच्छाओं को इसी जीवन में तृप्त कर लेना चाहता है। आज का मानव संशय और दुविधा के चौराहे पर खड़ा है। वह सुख की तलाश में भटक रहा है। धन (येन-केन-प्रकारेण) बटोर रहा है। भौतिक उपकरण जोड़ रहा है। वह अपना मकान बनाता है। आलीशान इमारत बनाने के स्वप्न को मूर्तिमान करता है। भ्रुकान सजाता है। सोफासेट, वातानुकूलित व्यवस्था, (फ्रीज, रेडियो, टी.वी.) महंगे पर्दे, प्रकाश और ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एवं उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव; यह सब उसको अच्छा लगता है।"

"जिन लोगों को जिंदगी जीने का न्यूनतम साधन उपलब्ध नहीं हो पाते, वे संघर्ष करते हैं। आज वे अभाव का कारण, अपने विगत (इस जन्म में या पूर्वजन्म में पूर्वकृत) कर्मों को न मानकर (न ही अपने जीवन में नीति और धर्म का आचरण करके अशुभकर्मों को काटकर, शुभकर्मों में संक्रमित करके) सामाजिक व्यवस्था को मानते हैं। (स्वयं अपने जीवन का सुधार न करके, अपने जीवन में नैतिकता और धार्मिकता का पालन एवं पुरुषार्थ न करके तथा संयम और सादगी का जीवन न अपनाकर) केवल समाज से अपेक्षा रखते हैं कि वह उन्हें जिंदगी जीने की स्थितियाँ मुहैया करावे। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो वे हाथ पर हाथ धर कर बैठने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सारी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए बेताब हैं।"

उपर्युक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मसिद्धान्त पूर्वकृत कर्मों को काटने के लिए तथा अशुभ कर्मों का निरोध करने या शुभ में परिणत करने के लिए जिस नैतिकता एवं धार्मिकता (अहिंसा, संयम, तप आदि) के आचरण की बात करता है, वह जिन्हें पसंद नहीं वे लोग केवल हिंसा, संघर्ष, तोड़फोड़, अनैतिकता एवं दुर्व्यसनों आदि का रास्ता अपनाते हैं, उसका फल तो अशान्ति, हाय-हाय, बेचैनी और नारकीय जीवन तथा दुःखद अन्त के सिवाय और क्या हो सकता है ?

इससे यह समझा जा सकता है कि कर्मसिद्धान्त परिवार, समाज या राष्ट्र आदि में नैतिकता का संवर्धन करने और अनैतिकता से व्यक्ति को दूर रखने में कितना सहायक हो सकता है ?

अतः कर्मसिद्धान्त के इन निष्कर्षों को देखते हुए डॉ. जोन मेकेंजी का यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है कि "कर्मसिद्धान्त में ऐसे अनेक कर्मों को भी शुभाशुभ फल देने वाला मान लिया गया है, जिन्हें सामान्य नैतिकदृष्टि से अच्छा या बुरा नहीं कहा जाता।"

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में 'कर्म का सामाजिक सन्दर्भ' लख से, पृ. २८९.
२. हिन्दू एथिक्स पृ. २१८

६८ कर्म-विज्ञान : भाग-२ : उपयोगिता, महत्ता और विशेषता (४)

इस आक्षेप का एक कारण यह भी सम्भव है कि डॉ. मेकेंजी पीरार्थ्य और पाश्चात्य आचार-दर्शन के अन्तर को स्पष्ट नहीं समझ पाए। भारतीय आचारदर्शन कर्मसिद्धान्त पर आधारित है, वह अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक आचरण का भेद स्पष्ट करके उनका इहलौकिक-पारलौकिक अच्छा या बुरा कर्मफल भी बताता है। साथ ही, वह अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियाओं-उपवास, ध्यान, समतायोग, साधना आदि को, तथा सप्तकुव्यसन-त्याग का एवं मानवता ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति करुणा, दया, आत्मीयता आदि को नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टि से विहित व अनिवार्य मानकर इसके विपरीत अनैतिकता तथा क्रूरता, निर्दयता, अमानवता आदि को निषिद्ध मानता है। उसका भी शुभाशुभ 'कर्मफल' बताता है, जबकि पाश्चात्य आचार-दर्शन नैतिकता को सिर्फ मानव-समाज के पारस्परिक व्यवहार तक ही सीमित करता है। वह न तो सप्तकुव्यसन-त्याग आदि नैतिक संयमों को मानता है, न ही मान्येतर प्राणियों के प्रति आत्मीयता को मानता है। यही कारण है पाश्चात्य जीवन में अनैतिकता और आध्यात्मिक विकास के प्रति उपेक्षा का!

यही है नैतिकता के सन्दर्भ में कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विविध पहलुओं का दिग्दर्शन!

सामाजिक सन्दर्भ में—

उपयोगिता के प्रति आक्षेप और समाधान

कर्मसिद्धान्त की उपादेयता पर नाना आक्षेप

कर्मसिद्धान्त विश्वव्यापक है, सार्वजनीन है। वह अत्यन्त क्षुद्र एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों, तिर्यचों, मानवों और देवों तक के जीवन को अथ से इति तक स्पर्श करता है। पिछले पृष्ठों में कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में अनेक युक्तियाँ, प्रामाणिक सूक्तियाँ और महान् धीतराग पुरुषों एवं साधकों की अनुभूतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इतने सब प्रमाणों के बावजूद भी जैनकर्मसिद्धान्त की उपादेयता एवं उपयोगिता के विषय में नाना आक्षेप हैं। उनका युक्तियुक्त समाधान जब तक नहीं हो जाता, तब तक जैनकर्मसिद्धान्त की उपयोगिता संशयास्पद बनी रहती है। अतएव यहाँ हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता के बारे में किये गए आक्षेपों को स-समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं।

जोहन मेकेंजी द्वारा एक आक्षेप और उसका समाधान

इस सन्दर्भ में एक आक्षेप पाश्चात्य आचार-दर्शन के विशिष्ट विद्वान जोहन मेकेंजी ने किया है। वे अपनी पुस्तक 'हिंदू एथिक्स' में लिखते हैं—"कर्म-सिद्धान्त में लोकहित के लिए उठाये गए कष्ट और पीड़ा की प्रशंसा निरर्थक है।"¹

इसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि 'इस आक्षेप से मेकेंजी का तात्पर्य यह है कि यदि कर्म-सिद्धान्त में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति लोकहित के कार्य करता है, तो भी प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह वस्तुतः लोकहित नहीं, स्वहित ही कर रहा है।..... कर्म-सिद्धान्त के अनुसार लोकहित में भी स्वार्थबुद्धि होती है। अतः लोकहित के कार्य प्रशंसनीय नहीं माने जा सकते।"²

1. The doctrine of Karma makes our admiration of pain and suffering endured by men for the sake of others absurd.

—Hindu Ethics (By John Makenzie M.A.) p.224

2. जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३२

इस आक्षेप का एक समाधान यह है कि आत्मीय भाव से, निष्काम बुद्धि से, यतनापूवक प्रशंसा, प्रसिद्ध आदि किसी भी इहलौकिक-पारलौकिक कामना से रहित निःस्वार्थ-भाव से किये गए लोकहित के कार्य पापबन्ध के कारण नहीं बनते।'

यदि वे कार्य छद्मस्थ या प्रमत्त साधक द्वारा किये जाएँगे तो उनमें यत्किञ्चित् प्रशस्तराग होने से वे शुभ (पुण्य) बन्ध के कारण होंगे, और यदि वे कार्य वीतराग जीवन्मुक्त व्यक्ति द्वारा किये जाएँगे तो उनमें किसी प्रकार का रागमिद या कषाय आदि का अंश न होने से वे शुद्ध कर्म (अकर्म) की कोटि के होंगे।

इसलिए पुण्य कर्म हों या शुद्ध कर्म (अकर्म) ये दोनों ही कर्म कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक दृष्टि से अवश्य ही कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा या कर्म-मुक्ति के कारण होने से प्रशंसनीय हैं। किन्तु तुच्छ स्वार्थबुद्धि या बुरे आशय से किये गए लौकिक-लोकोतर सभी कार्य पापकर्म-बन्धक हो सकते हैं।

जैन-कर्म-विज्ञान-प्ररूपक तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक लगातार वर्षादान देते हैं,^१ क्या यह लोक-हितकर कर्म प्रशंसनीय नहीं है ?

ये सभी लोकहितकर कार्य प्रशंसनीय हैं

इसके अतिरिक्त चतुर्विध संघ की स्थापना करना, एक गाँव से दूसरे गाँव विचारण करके भव्यजनों को उपदेश देना, तथा उन्हें तप, त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान आदि कराना, ये और इस प्रकार के निरवद्य निर्दोष कार्य^२ (शुद्ध अबन्धक कर्म) मानव-समाज को कर्मों से मुक्त कराने, अथवा कम से कम अशुभ कर्मों से बचकर शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से हुए हैं, होते हैं।

जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में चारित्रविधि के सन्दर्भ में कहा गया है—'साधक एक ओर से (अशुभ कर्म) से विरति (निवृत्ति) करे और एक ओर से (शुभ या शुद्ध-अबन्धक कर्म में) प्रवृत्ति करे। अर्थात्—वह असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे।' व्यवहार-चारित्र का लक्षण भी जैनाचार्य ने यही बताया है—'अशुभ कार्यों से विनिवृत्ति

१. इसके लिए देखें—दशवैकालिक सूत्र ४/९-८

२. 'दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्व प्रत्येक तीर्थंकर एक वर्ष तक वर्षादान देते हैं।'

—कल्पसूत्र

३. (क) चतुर्विधे संघे पणत्ते, तं... समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ।"

—स्थानांग सूत्र स्या. ४, उ. ४ सू. ६०५

(ख) गामाणुगाम दुइज्जइ, अपडिबद्ध विहारं विहरेई।

और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति को चारित्र सम्झो।" यह करने योग्य कार्य (कर्म) है, ऐसा ज्ञान करके अकर्तव्य का त्याग करना व्यवहारचारित्र है।^१

इन और ऐसे ही लोकहित के कार्यों की प्रेरणा तीर्थंकर, सर्वज्ञ, केवली या उनके अनुगामी आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकागण द्वारा भी की जाती है। अतः तीर्थंकरों तथा उनके अनुगामी साधु-श्रावकों द्वारा किये गए लोकहितकारी कार्य प्रशंसनीय ही माने जाते हैं; अप्रशंसनीय नहीं।

रायप्पसेणीय सुत्त में वर्णन आता है—सर्वथा नास्तिक एवं क्रूरकर्मा श्वेताम्बिकानरेश प्रदेशी नृप को आस्तिक, श्रद्धालु, अहिंसक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से रमणीय बनाने में केशी श्रमण की प्रेरणा तो थी ही, चित्त प्रधान को भी श्रेय कम नहीं है। प्रदेशी राज के आस्तिक और श्रद्धालु बन जाने से सारी जनता को सुख-शान्ति और धर्म-प्रेरणा मिली। क्या यह लोकहितकारी प्रशंसनीय कार्य (कर्म) नहीं था ?^२

इसी प्रकार ब्रह्मर्षि जयघोष मुनि, हरिकेशबल मुनि, संयतीराजर्षि के गुरु आचार्य गर्दभाली मुनिवर द्वारा एवं अनार्थी मुनि द्वारा क्रमशः जाति-कुल-श्रुतादि मशस्त ब्राह्मणों को यज्ञजनित हिंसा कार्यों, मदजनित पाप, तथा आखेटपरायण संयतीराजा को निर्दोष पशु-वध छोड़ाकर एवं बाह्यवैभव से सनाथ होने की मगध सम्राट श्रेणिक नृप की भ्रान्ति मिटाकर उन्हें सन्मार्ग पर लगाना क्या लोकहितकर प्रशंसनीय कार्य नहीं है ?

स्वयं भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में चाण्डाल कुलोत्पन्न तपोधनी मुनि हरिकेशबल की आत्मिक ऋद्धि, तपस्या तथा अन्य कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।^३

यही कारण है कि जैनशास्त्रों में ऐसे ग्राम, नगर, पट्टन, निगम एवं राजधानी आदि क्षेत्रों को धन्य एवं पुण्यशाली बताया गया है, जहाँ ऐसे लोकहितकारी, कर्तव्य-निर्देशक,

१. (क) एगओ विरइं कुन्जा, एगओ य पवत्तणं।

असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

—उत्तरा. ३१/२

(ख) "असुहादो विणिगिचित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं॥"

—द्रव्यसंग्रह सू. ४५

(ग) "कायव्मिणमकायव्वयं ति णाउण होइ परिहारो॥"

—भगवती आराधना मू. ९/४५

२. देखें—रायप्पसेणीय सुत्त में प्रदेशी राजा का वर्णन।

३. (क) देखें—उत्तराध्ययन, अध्ययन २५, १२, २० और १८

(ख) सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसइ जाइ-विसेस कोवि।

सोवागपुत्तं हरिएसंसाहुं, जस्सेरिसा इट्ठि-महाणुभागा॥

—उत्तराध्ययन अ. ०२/३७

धर्म प्रेरक धर्मगुरुओं, तीर्थकरों, श्रमण-श्रमणियों तथा आचार्य आदि धर्म धुरन्धरों के पदार्पण होता था।^१

महाव्रती अनगारों को ही नहीं, लोकहितपरायण सांसारिक गृहस्थ विरतावित श्रावकों को भी सूत्रकृतांग सूत्र में एकान्त उत्तम आर्य^२ स्थान (हेय कार्यो से दूर रखे वाले उत्तम प्रशंसनीय स्थान) कहे गए हैं।^३

सभी तीर्थकर जन्म से ही विशिष्ट अवधिज्ञानी होते हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में वर्णन है कि धर्म-कर्म से अनभिज्ञ अबोध यौगलिक जनता (प्रजा) के हित के लिए स्वयं गृहस्थावस्था में विशिष्ट अवधिज्ञानी आदि-तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि आदि आर्यकर्मों, विविध विद्याओं, कलाओं, शिल्पों आदि का उपदेश (प्रशिक्षण) दिया था।^४

क्या उनके द्वारा किये गए लोकहितकारी कार्यो (कर्मों) की प्रशंसनीयता में कोई सन्देह रह जाता है? कदापि नहीं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है—“समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचनों का सुकथन किया।^५

इसके अतिरिक्त जैन शास्त्रों में यत्र-तत्र यह वाक्य भी आता है कि भगवान् ने अमुक व्यक्ति को 'धम्मोकहिओ'—अर्थात्—उसको या उसके लिए धर्म (अबन्धक शुद्ध कर्म) का प्रतिपादन किया। यह भी लोकहित की दृष्टि से प्रशंसनीय माना जाता है। इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर ने लौकिक तथा लोकोत्तर हित की दृष्टि से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघ-धर्म तथा श्रुत-चारित्ररूप धर्म आदि दशविध धर्मों का निरूपण किया है।^६

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से ये लौकिक तथा लोकोत्तर धर्म क्रमशः पुण्य, संवर और निर्जरा के कारण होने से लोकहितकारक एवं प्रशंसनीय कार्य माने जाते हैं।

१. धन्नणं ते गामागर- नगर..... रायहाणी....

२. आरात् हेयधर्मैभ्य इति आर्यः।

३. तत्थणं जा सा सव्वतो विरताविरती, एस ठाणे आरंभाणारंभठाणं, एस ठाणे आहिए जाव सब दुक्खपहीणमणे एणंतसम्मे साहू।

—सूत्रकृतांगि श्रु.२ अ.२ सू.७१६

४. (क) "पयाहियाए उवदिसई"।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रथम वक्षस्कार

(ख) 'शसास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।'

—बृहत्सव्यम्भूस्तोत्र

५. "सव्वजगजीव-रक्खण-दयद्वयाए पाद्वयणं भगवया सुकहियं"।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

६. "दसदिहे धम्मे पणत्ते तं... गामधम्मे, नगरधम्मे रड्धम्मे... सुत्तचारित्त धम्मे"।

पुण्यकर्मबन्धक कार्य भी प्रशंसनीय माने जाते हैं

यद्यपि पंचमहाव्रतधारी, आजीवन सामायिकव्रती, स्व-परकल्याणसाधक साधुवर्ग होता तो लोकहितकर्ता ही है, परन्तु वह स्वयं अपनी साधुमर्यादा में रहकर ऐसे लोकहितकर कार्य करता-कराता है, जो निरवघ (निष्पाप-निर्दोष) हों, तथापि उन लोकहितकार्यों के पीछे छद्मस्थ के जीवन में वीतरागदशा प्राप्त न होने तक प्रशस्तराग होता है, इसलिए छद्मस्थ साधक के लिए वे पुण्यकर्मबन्धक हैं, पापकर्मबन्धक नहीं।

यदि इन कार्यों के पीछे तुच्छ स्वार्थ, प्रसिद्धि, आसक्ति, मोह आदि का पुट न हो तो ये आगे चलकर कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा के भी कारण हो सकते हैं, बशर्ते कि साधक सर्वभूतात्मभूत हो, तथा समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीय भावना से ओतप्रोत हो एवं आप्रवों (हिंसा आदि) से निवृत्त हो^१ किन्तु पुण्यबन्धक तथा संवर-निर्जराकारक, ये दोनों प्रकार के कार्य प्रशंसनीय हैं।

लोकहित के नाम पर किये गए ये कार्य प्रशंसनीय नहीं

जिन कार्यों के पीछे महारम्भ (महाहिंसा), महापरिग्रह, पंचेन्द्रियवध हो, जिनसे समग्र समाज का कल्याण न हो, जिनसे प्राणिवर्ग का अनिष्ट हो, अहित हो, जिनसे वास्तविक लोकहित न होता हो, जो केवल साम्प्रदायिक-जातीय या राष्ट्रीय द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, छल आदि दुर्भावनाओं पर आधारित हों, अथवा जो कार्य लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से निन्दनीय तथा अनैतिक (नीति-धर्म-विरुद्ध) हों, ऐसे अशुभकार्य (दुष्कर्म या अशुभ कर्म) पापकर्म-बन्धक हैं। इसलिए प्रशंसनीय नहीं हो सकते।

जैन श्रावकों के आचार के सन्दर्भ में सप्तमव्रत के अतिचारों में १५ प्रकार के कर्मों को कर्मादान-खरकर्म कहकर इन्हें श्रावक के लिए तीन करण तीन योग (कृत-कारित-अनुमोदित रूप से मन, वचन, काया) से त्याज्य तथा ये जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं, ऐसा स्पष्टरूप से कहा गया है। अतः ये व्यवसाय भले ही लोकहितार्थ हों, किन्तु अनेक जीवों के शोषण एवं उत्पीड़न के कारणभूत हैं। इसलिए ये निन्दनीय एवं त्याज्य कर्म (व्यवसाय) हैं।

और भी लोकहित के नाम पर विपरीत प्ररूपणा करना, यथा—यज्ञ या स्वर्ग के या देवी-देवों के नाम से पशुवध (पशुबलि या कुर्बानी) करना,^२ सम्प्रदायवृद्धि, राज्यवृद्धि

१. देखें—दशवैकालिक ४/९

२. (क) पनरस कम्पादाणां जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, ...तिविहं तिविहेणं पच्चक्खाइं।

अथवा किसी जाति-कौम के उत्कर्ष आदि के लोभ से लोगों को उकसाना, परस्पर कलह, संघर्ष या द्वेषभाव कराना; समाज या राष्ट्र में परस्पर फूट डालना, अलगाव पैदा करना; दूसरे धर्म-सम्प्रदाय या जाति-कौम के प्रति द्वेषवश, या ईर्ष्यावश निन्दा, अवमानना, अथवा घृणा करना-कराना; सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करना-कराना; तोड़-फोड़, आगजनी, राहजनी या दंगेफसाद करना-कराना; ये और ऐसे कुकर्म किसी भी धर्म-सम्प्रदाय या जाति-कौम अथवा राष्ट्र-प्रान्त की ओर से लोक-हित के नाम पर किये जाते हों, पापकर्मबन्धक होने से निन्दनीय हैं।

शुभकर्मबन्धक होते हुए भी ये कार्य प्रशंसनीय माने जाते हैं

परन्तु कई कार्य ऐसे हैं, जो कर्मक्षयकारक नहीं हैं, किन्तु शुभाशय से किये जाने के कारण पुण्यजनक और लोकहित की दृष्टि से वे प्रशंसनीय माने जाते हैं। जैन कर्म-विज्ञान ने उन्हें 'अन्नपुण्ये', 'पाणपुण्ये', 'लयणपुण्ये' आदि के रूप में नौ प्रकार के कार्यों को पुण्यबन्धक के कारण माने हैं।^{१३}

इसी सन्दर्भ में धर्मशाला, सार्वजनिक कूप, बावड़ी आदि बनवाना, यात्रा लगवाना, अन्नसत्र खोलना, सार्वजनिक निःशुल्क चिकित्सालय, भोजनालय, या विद्यालय या पुस्तकालय चलाना, संघ के लिए धर्मस्थान बनवाना, इत्यादि पुण्यकार्य गृहस्थ वर्ग के द्वारा शुभ भावना से किये जाने पर लोकहितकर एवं प्रशंसनीय होते हैं। किन्तु आरम्भ-परिग्रहत्यागी होने से महाव्रती साधुवर्ग के लिए ये कार्य लोकहितकर होते हुए भी अनाचरणीय होते हैं। गृहस्थवर्ग पूर्णतया आरम्भ-परिग्रह त्यागी नहीं होता, इसलिए वह अपनी शक्ति, बुद्धि तथा भावना के अनुसार इन लोक-हितकारी शुभ कार्यों (पुण्य कर्मों) को करता रहता है।

ये कार्य पुण्यबन्धक भी और कदाचित् कर्मक्षयकारक भी

यह निश्चित है कि शुभ भावना से किये गये ये कार्य पापबन्धक नहीं होते, या तो ये पुण्यबन्धक होते हैं, या फिर निष्कामभाव से किये जाने पर ये निर्जरा (आंशिक कर्मक्षय) के कारण भी बन सकते हैं।

(ख) व्रतयेत् खरकर्माऽत्र मलान् पञ्चदश त्यजेत्।

टीका—खरकर्म = खरं क्रूरं प्राणिबाधकं कर्म व्यापारम्। —सागार धर्माभूत २१-२३

(ग) यथा—'यज्ञार्थं पशवः सृष्टा.....।' वैदिकी (याज्ञिकी) हिंसा हिंसा न भवति।^{१४}

इनकी व्याख्या के लिए देखिये 'आम्रव के द्वार' नामक पंचम खण्ड

१. (क) "अन्नपुण्ये, पाणपुण्ये, लयणपुण्ये, सयणपुण्ये, वत्थपुण्ये, मणपुण्ये, वचनपुण्ये, कायपुण्ये, णमोक्कारपुण्ये।"
—स्थानांगसूत्र, स्थान ९

(ख) पुण्य की विस्तृत व्याख्या पंचम खण्ड में आम्रव के सन्दर्भ में देखिये।

जो कार्य तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा में होते हैं, वे तो अवश्य ही प्रशंसनीय एवं आराधनाजनित होने से मोक्षदायक भी होते हैं। जो कार्य पुण्यजनक होते हैं, वे भवभ्रमण के कारण होने से निश्चयदृष्टि से प्रशंसनीय नहीं होते, किन्तु व्यवहारदृष्टि से लोकव्यवहार में प्रशंसनीय होते हैं। धर्म-मार्ग पर चढ़ाने में भी वे कार्य कदाचित् उपादेय होते हैं।^१

पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि

जैन कर्मविज्ञान में यह कहा गया है कि पारमार्थिकदृष्टि (निश्चय दृष्टि) से कोई भी जीव या अजीव द्रव्य किसी दूसरे का हित या अहित नहीं कर सकता किन्तु व्यवहारदृष्टि से वह दूसरे के हित, कल्याण या उपकार में निमित्त बन सकता है।^२ इसी आधार पर उसके द्वारा किये गए लोकहितकर कार्य प्रशंसनीय माने जाते हैं।

हाँ, कर्मसिद्धान्त इतना अवश्य निर्देश करता है कि इन लोकहितकारी प्रशंसनीय कार्यों को करते-करते समय व्यक्ति प्रशंसा, प्रसिद्धि, चशकीर्ति, इहलौकिक-पारलौकिक कामनाओं, वासनाओं आदि से दूर रहे। अर्थात् दान, शील, तप, भाव आदि की सामूहिक आराधना-साधना करते समय भी उपर्युक्त दोषों से आत्मा को मलिन न करे।

जैनकर्मसिद्धान्त का समाज संरचना से सम्बन्ध अनिवार्य

जैनकर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ कुछ लोग वर्तमान राजनैतिक, समाज-वादी या साम्यवादी विचारधारा के प्रवाह में बहकर, इस पर ऐसा आक्षेप करते हैं कि— "कर्मसिद्धान्त का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है, समाज की संरचना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"^३

ऐसे लोग या तो जैन धर्म के तीर्थंकरों द्वारा स्थापित एवं सुसंगठित धर्मतीर्थ (धर्ममय समाज-संघ) की रचना या स्थापना से विलकुल अनभिज्ञ हैं, अथवा जानते हुए भी यह तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल हो चुका है। जैनधर्म के प्रत्येक तीर्थंकर स्वयं तो चार वासिकर्मों (आत्मगुणघातक कर्मों) का सर्वथा क्षय कर चुकते हैं और शेष चम्प अघातिकर्मों का क्षय करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। वे धर्मतीर्थ (धर्ममय संघ-समाज)

१. (क) "आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च।"—अयोगव्यवच्छेदिका कारिका

(ख) 'आणाए मामर्गं धम्मं।'—आचारांग १/६/२

(ग) 'एसा ते सिं आण कज्जे सच्चेण हेतव्व।'

—बृहत्कल्पभाष्य

२. (क) "परस्वरोपग्रहो जीवनाम्।"

—तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सू. २१

(ख) 'जगत्-काय-स्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्।'

वही, अ. ७ सू. ७

३. जिनवाणी कर्म-सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्मसिद्धान्त और समाज रचना' लेख सं पृ. २१५

की स्थापना करते हैं और लाखों जिज्ञासु और मुमुक्षु भव्य नर-नारियों को संघबद्ध तथा व्रतबद्ध करते हैं, ताकि वे मोक्षमार्ग (कर्ममुक्ति के पथ-साधन) रूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप की आराधना-साधना करके स्वयं कर्मों का क्षय (निर्जरा) अथवा निरोध (संवर) कर सकें। इस प्रकार भगवान् महावीर आदि प्रत्येक तीर्थंकर कर्मक्षयरूप रत्नत्रयात्मक धर्म की सामूहिक रूप से आराधना-साधना करा कर समाज का जीवन निर्माण करते हैं। क्या यह कर्मसिद्धान्त का समाज रचना से सम्बन्ध नहीं है ?

जैन शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लेख है कि भगवान् महावीर और उनके अनुगामी साधु-श्रावक वर्ग ने समस्त धर्म-सम्प्रदाय, मत-पथ, जाति, कौम, वर्ण-वर्ग, तथा लिंग और वेष के पुरुषों और महिलाओं को अपने धर्मसंघ में स्थान दिया था। और सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग (कर्ममुक्ति का पथ) बता कर अहिंसा-सत्यादि सद्धर्मों का आचरण करके पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का क्षय करने और नये अशुभ कर्मों को आने से रोकने की सामूहिक रूप से साधना करने का सुअवसर दिया था। जिसके फलस्वरूप साधु-श्रावकवर्ग के लाखों नर-नारी समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए। हजारों व्यक्ति अपने शुभकर्मों, या शुद्ध कर्मों के फलस्वरूप देवलोक में जन्म लेकर उच्च देव बने अथवा मनुष्य-लोक में जन्म लेकर उत्कृष्ट मानव अथवा साधु-श्रावक बने। कई नर-नारी नीति-धर्म का शुभाचरण करके मार्गानुसारी सद्गृहस्थ बन कर सुख सम्पन्न हुए।^१

क्या यह कर्मसिद्धान्त-प्रतिपादित कर्म-मुक्ति, कर्म-निर्जरा, कर्म-संवर, अथवा पुण्य कर्म उपार्जन करने का या अशुभ कर्म को शुभ कर्म में संक्रमित करने का समूहबद्ध-संघबद्ध प्रयोग नहीं है ? क्या इन सब तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कर्मसिद्धान्त का समाज संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं है ?

समाज के साथ सम्बन्ध से ही कर्मक्षय या निरोध की साधना होगी?

कई लोग जैन कर्मसिद्धान्त पर यह आक्षेप करते हैं कि कर्म का केवल व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध है, सामूहिक जीवन के साथ नहीं।^२ किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि समाज के साथ सम्पर्क रखे बिना न तो कर्मों को क्षय करने का अवसर आता है और न ही अहिंसा, सत्य, क्षमा, सेवा, दया, करुणा, मृदुता, ऋजुता आदि कर्म-संवररूप धर्म का

१. देखें—(क) कल्पसूत्र सुखबोधिनी टीका।

(ख) समवायांग सूत्र में तथा उत्तराध्ययन (अ.३६) में उल्लिखित १५ प्रकार के सिद्ध (मुक्त) होने का उल्लेख देखें।

२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'वैयक्तिक एवं सामूहिक कर्म' लेख से पृ. २३९

आचरण सिद्ध हो सकता है। समाजसेवा, विनय धर्म, जीवदया, आदि कर्मक्षयकारक आभ्यन्तरतरूप धर्म का आचरण क्या समाज, परिवार, राष्ट्र या समष्टि के साथ सम्पर्क हुए बिना हो सकता है ?

कर्मसिद्धान्त सामाजिक ही नहीं, सर्वभूतात्मभूत बनने का प्रेरक

महात्मा गांधी से किसी ने एक बार कहा—"बापू! अब तो स्वराज्य मिल गया है, अब आप हिमालय में चले जाइए!" इसका उत्तर उन्होंने कर्मक्षयप्ररूपक तथा कर्मनिरोध-प्रेतिपादक कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही विवेकपूर्वक दिया था—"यदि समाज हिमालय में जाएगा, तो मैं भी वहाँ चला जाऊँगा। मेरी साधना (अहिंसादि द्वारा कर्मक्षय की साधना) की कसौटी तो समाज के बीच में रहने पर ही हो सकती है?"¹

इसका अभिप्राय यह है कि समाज में किसी दुःखी, पीड़ित, पददलित, अभावग्रस्त एवं असहाय, रुग्ण, दीन-हीन को देखकर यदि मानव क्ररुणा, दया या सेवा नहीं करता, तो वह कर्मक्षय करने या शुभकर्म करने अथवा निष्काम कर्म करने के सुन्दर अवसर को चूक जाता है।

इसी प्रकार समाज सेवक या साधक की कोई निन्दा करता है, विरोध, आक्षेप, दोषारोपण या प्रहार आदि करता है, उस समय यह क्षमा, समभाव, शान्ति (उपशम), अनुद्विग्नता, अक्षोभ, अक्रोध आदि नहीं करके क्रोध, अहंकार, अशान्ति, उद्विग्नता, कलह, अहंकार, क्षोभ आदि करता है या मन में लाता है, तो वह भी कर्मक्षय करने के सुन्दर अवसर को चूक जाता है। ये दोनों ही प्रकार के शुभ अवसर समाज के सम्पर्क में रहने पर ही प्राप्त होते हैं।

यही कारण है कि कर्मसिद्धान्त व्यक्ति को सामाजिक, मानवीय या राष्ट्रीय ही नहीं, सर्वभूतात्मभूत बनने तथा समस्त जीवों को समभाव से देखने अर्थात्—आत्मोपम्यभावपूर्वक सोचने-विचारने और व्यवहार करने की प्रेरणा देता है; ताकि वह कर्मों के आस्रवद्वारों को बन्द करके कम से कम पापकर्मबन्ध से दूर रह सके अथवा कर्मनिरोध या कर्मक्षय कर सके।²

आशय यह है कि संसार के समग्र जीवों को मानव समूह या समग्र प्राणिसमूह के साथ तथा अजीव पदार्थों के साथ वास्ता पड़ता है या एक या दूसरे प्रकार से सम्पर्क होता है, उस समय यानी सचेतन (जीव) और अचेतन (जड़-अजीव) पदार्थों के साथ सम्पर्क

1. 'महादेवभाई की डायरी' से

2. देखें— दशवैकालिक सूत्र के अ. ४, गा. ९—

"सर्वभूयस्त्वभूयस्स सर्वं भूयाइं पासओ.....।"

७८ कर्म-विज्ञान : भाग-२ : उपयोगिता, महत्ता और विशेषता (४)

के समय व्यक्ति को किस प्रकार का चिन्तन-मनन, उच्चारण, विचार या व्यवहार करना चाहिए जिससे कर्मक्षय या कर्मनिरोध हो सके, अथवा कम से कम अशुभ (पाप) कर्मों के बन्ध से बचा जा सके, इसे कर्मसिद्धान्त पद-पद पर बताता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है--साधक प्रत्येक कदम फूंक-फूंक कर शंका करता हुआ चले कि ऐसी चर्या करने से पाश (पापकर्म का) बन्ध तो नहीं होगा। इसी कारण यतना (सावधानी या विवेक) के साथ प्रत्येक चर्या करने की हिदायत दी गई है ताकि पाप कर्म का बन्ध न हो।

जो जीव कर्मविज्ञान के माध्यम से इस प्रकार का विवेक-विचार नहीं करते या नहीं कर पाते; अथवा जो कर्मक्षय या कर्मनिरोध के अवसर पर विवेकमूढ़ होकर कर्मबन्ध या कर्मास्रव कर लेते हैं, वे अनेक अशुभ कर्मों से लिप्त हो जाते हैं। उनके लिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है--"उन प्रचुरकर्मों के लेप से लिप्त जीवों को सम्बोधि (सम्यक् बोध) प्राप्त होना अतीव दुर्लभ हो जाता है।"^१

समाजसेवा : आत्मसाक्षात्कार की सीढ़ी का प्रथम पाषाण

यद्यपि डॉ. दयानन्द भार्गव के अनुसार--"जीवन का परम साध्य आध्यात्मिक-आत्मसम्बन्ध है, न कि समाज-सेवा। किन्तु समाज-सेवा भी आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार की सीढ़ी का प्रथम पत्थर ही सिद्ध होती है।"^२

कर्म के निरोध-क्षयरूप धर्म की साधना की कसौटी भी समाज-संपर्क

तात्पर्य यह है कि समाजसेवा भी समाज-सम्पर्क से होती है। और समाज (यानी समाज के अन्तर्गत परिवार, जाति, धर्मसंघ, राष्ट्र आदि) के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति की काम, मद, राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार, मोह, आदि कषायो-विकारों की मन्दता, क्षीणता, समता, क्षमा, दया, मृदुता, सरलता, सत्यता, अहिंसा आदि द्वारा कर्मनिरोध (संवर) एवं कर्मक्षय- (निर्जरा) रूप धर्म की साधना का पता लगता है कि वह कितनी मात्रा में सफल हुई है? अहिंसा, सत्य आदि धर्मों की साधना और उसकी कसौटी भी समाज के सम्पर्क में आने पर ही हो सकती है।

१. (क) देखें-जयं चरे जयं चिद्धे... पापकर्म न बंधइ,

-दशवैकालिक अ. ४ गा. ८ का आशय

(ख) चरे पयाइं परिसंक्रमाणो, जे किंचि पासं ह मन्त्रमाणो।"

-उत्तराध्ययन अ. ४ गा. ७

२. "बहुकम्पलेवलितानि बोही होई सुदुल्लहा तेसिं।"

-उत्तराध्ययन अ. ८/१५

३. जैन एथिक्स, पृ. ३०

शुभ और शुद्ध कर्मों के अर्जन के लिए ही समाज आदि का निर्माण किया गया

यही कारण है कि आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में जब तक लोग अकर्मभूमिक रहे, तब तक वे यौगलिक रूप में व्यक्तिवादी ही रहे, केवल अपने ही खाने-पीने, रहने-सहने की चिन्ता तक ही वे सीमित थे। उनका न तो कोई परिवार होता था, न ही समाज, राष्ट्र, ग्राम, नगर, गण, ज्ञाति आदि कोई था, युगपत् एक बालक युगल के सिवाय और कोई सन्तान नहीं होती थी। उनके भी पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, आदि का कोई भार उन पर नहीं होता था, क्योंकि एक जोड़ा पैदा होते ही, उसे जन्म देने वाला पहला जोड़ा (युगल) मर जाता था। नवोत्पन्न युगल का प्रकृति से ही पालन-पोषण होता था। शिक्षण-संस्कार, सभ्यता, संस्कृति, धर्म-कर्म आदि का तो नामोनिशान ही न था। वन में ही निश्चिन्त होकर रहते और एक जोड़े को जन्म देकर चल बसते। न कभी संघर्ष, न ही तू-तू-मैं-मैं, न कोई व्यापार-धंधा, न ही कमाने-खाने की चिन्ता। यही कारण है कि उस समय तक धर्म, नीति, समाज रचना, सभ्यता, संस्कृति आदि का अस्तित्व नहीं था।

भगवान् ऋषभदेव ने उन्हें धर्मनीति, कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, सभ्यता-संस्कृति आदि की शिक्षा-दीक्षा दी। समाज रचना की। उन्हें स्व-स्व योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् कर्म बता कर व्यापक समाज की सेवा करने हेतु चार वर्णों में समाज को वर्गीकृत किया। धर्म-कर्म भी बताया। किन्तु यह सब बताया कर्म-सिद्धान्त को मद्देनजर रखकर ही। इस तथ्य को उन्होंने सदैव दृष्टिगत रखा कि यह नवोदित समाज शुद्ध कर्म (अबन्धक कर्म) रूप या संवर-निर्जारा रूप धर्म का पालन करे।

सहअस्तित्व एवं सहयोग का मंत्र भी कर्मक्षय या शुभकर्मार्जन के लिए

परन्तु परिवार, वर्ण (वर्ग), समाज या संघ के साथ व्यवहार में कहीं संघर्ष, कलह, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोधादि कषाय आदि से प्रेरित होकर अशुभ कर्म न कर बैठें, शुभ कर्म करें, सामूहिक रूप में सबके साथ मिल-जुलकर मैत्रीभाव से रहें, एक-दूसरे की सेवा, सहयोग सह-अस्तित्व सहानुभूति के आधार पर जीएँ।^१ इसके लिए तीन वर्णों में समाज को संगठित किया।

१. (क) देखें—कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उसहचरित्युं आदि में भ. ऋषभदेव का चरित्र। लेखक का ऋषभदेव : एक परिशीलन ग्रन्थ

(ख) 'स्व' स्व चरित्रं शिक्षरन् पृथिव्यं सर्वमानवाः।

(ग) 'मिती मे सत्त्वभूएसु वेरं मञ्ज न केणई'।

(घ) 'अपणा सच्चमेतेज्जा, मेत्ति भूयाई कप्पए'।

—आवश्यक सूत्र

—उत्तरा. ६/२

यही कारण है कि भगवान् ऋषभदेव का सह-अस्तित्व आदि के साथ सामाजिक जीवन जीने का यह स्वर उनके अनुगामी ऋषियों में प्रतिध्वनित हुआ। उन्होंने सर्वभूत-मैत्री एवं विश्वबन्धुत्व के सन्दर्भ में समाज को ये मूलमंत्र दिये थे— "हम सब एक दूसरे की रक्षा करें, समस्त साधनों का साथ-साथ (मिल-जुलकर) उपभोग करें, साथ-साथ पराक्रम (पुरुषार्थ) करें, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें।"^१

इसके अतिरिक्त धर्ममय समाज रचना के सन्दर्भ में एक साथ, शुभकर्म के साथ, जीने की प्रेरणा देते हुए उन्होंने कहा— "तुम सब मिलकर साथ-साथ चलो, साथ-साथ मिलकर एक दूसरे के साथ बोलो, तुम एक दूसरे के दिलों को जानो।"

"तुम्हारा मनन करने का तरीका—मंत्र समान हो, तुम्हारी गोष्ठी—विचारगोष्ठी या समिति (सभा) एक हो, तुम्हारी प्याऊ-जल पीने का स्थान एक हो, तुम्हारे चित्त में दूसरों के सुख-दुःख में सहयोग के साथ जीने की भावना हो।"^२

महाराष्ट्र के संत तुकाराम ने भी ऋषियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए सहयोगपूर्वक जीने की प्रेरणा देते हुए कहा— "हम लोग परस्पर एक दूसरे की सहायता करें और सभी एक सुमार्ग पर चलें।"^३

भगवद्गीता में भी सह-अस्तित्व एवं सह-सुकर्म की भावना की प्रेरणा है— "तुम लोग परस्पर सहयोग के साथ जीने की भावना रखते हुए परम श्रेय (धर्म) को प्राप्त कर सकोगे।"^४

निपट स्वार्थ आदि की संकीर्ण भावना से ही राग-द्वेष-कषायादि का प्रादुर्भाव

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि राग, द्वेष या कषाय का प्रादुर्भाव व्यक्तिगत या अपने ही निपट स्वार्थ का, अहंकार और ईर्ष्या का, अपने ही अस्तित्व का, अपने ही सुख-दुःख का, या अपने ही जीने का विचार करने से होता है, परन्तु वे ही व्यक्ति जब सामूहिक रूप से समाजबद्ध,

१. (क) "मित्रस्य चक्षुषा सर्वभूतान् समीक्षामहे।" —उपनिषद्
(ख) 'सह नाथयतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु, वा विद्विषावहै।" —उपनिषद्
२. "संगच्छध्वम् संवदध्वम् सं वो मनासि जानताम्।"
३. "समानो मंत्रः, समितिः समानी, समानी प्रया, सहचित्तमेषाम्।"
४. "एकमेका साह्य कर्तुं, अवधे धरुं सुपथ।" —संत तुकाराम भक्त
५. "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परभवाप्त्यय।" —मनः श्रुति ३/११

परिवारबद्ध, राष्ट्रबद्ध होकर शुभ या शुद्धकर्म के अनुसार चलने और पूर्वोक्त सह-अस्तित्व की प्रेरणाओं के अनुसार जीने का उपक्रम या पराक्रम करते हैं तो स्वाभाविक है कि राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि मन्द-मन्दतर होते जाएँगे। बशर्ते कि विश्व-मैत्री का मंत्र सामने रखा जाए; राग, द्वेष, मोह आदि का भाव न आने दिया जाए, क्योंकि ऐसा करने से अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध होता है।

अशुभ कर्मबन्ध से बचाने के लिए सर्वभूतमैत्री का मंत्र

यही कारण है कि जैन कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ तीर्थंकरों और ऋषि-मुनियों ने केवल एक समाज, जाति, परिवार, नगर, धर्म-सम्प्रदाय, संघ, या राष्ट्र आदि के प्रति मोह, ममत्व या रागभाव रखकर व्यक्ति या समाज अशुभ कर्मबन्ध न कर बैठे, इस दृष्टि से विश्वव्यापी सह-अस्तित्व का यानी समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता का मूलमंत्र दिया—“मेरी सर्व प्राणियों के साथ मैत्री है, किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है।” “हे परमात्मदेव! मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव, गुणिजनों के प्रति प्रमोद भाव, कष्ट पीड़ित दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव और विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वाले प्राणियों के प्रति उपेक्षाभाव रखे।”^१ ऐसा करने से राग-द्वेष, कषाय आदि स्वतः मन्द-मन्दतर होंगे, तथा पापकर्म—अशुभकर्म का बन्ध नहीं होगा।

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में इसी तथ्य की ओर इंगित किया है कि “सर्वभूतात्मभूत बनकर जो समस्त प्राणियों को समभाव से देखता है और हिंसादि आश्रय-द्वारों को बन्द कर देता है, उसके पापकर्मों का बंध नहीं होता।”^२

तीर्थंकरों द्वारा धर्ममय तीर्थ-स्थापना या संघरचना का मूल उद्देश्य या प्रयोजन भी यही था कि संघबद्ध होकर जीने से मानव शुद्धोपयोग (धर्म—शुद्धकर्म) में या कम से कम शुभोपयोग (शुभकर्म) में जीवन जीएगा। पाप (अशुभ) कर्म और उसके कटुफल से बच सकेगा।

कर्मविज्ञान-प्रेरित आत्मौपम्य सिद्धान्त व्यक्ति को समाज एवं समाष्टि से जोड़ता है

इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी लिखते हैं—“आत्म-समानता के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें या आत्माद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें, एक बात तो

१. (क) मित्ती मे सब्भूएसु वेरं मज्झ न केणई।” —आवश्यक सूत्र

(ख) सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थ्यभाव विपरीत वृत्तौ, सदा ममाऽत्मा विदधातु देव।” —अमितगति सामायिकपाठ १

२. सब्भूयषभूयस्स समं भूयाई पासओ।

पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवै. ४/९

सुनिश्चित है कि कोई व्यक्ति (भले ही साधु हो) समूह से बिलकुल अलग न तो है और न ही उससे अलग रह सकता है। एक व्यक्ति के जीवन-इतिहास के लम्बे पट पर नब्बे दौड़ाकर विचार करें तो हमें तुरंत दिखाई देगा कि उसके ऊपर पड़े हुए और पड़ने वाले संस्कारों में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से दूसरे असंख्य व्यक्तियों के संस्कारों का हाथ है और वह व्यक्ति जिन संस्कारों का निर्माण करता है, वे भी केवल उसमें ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियों में प्रत्यक्ष या परम्परा से संचरित होते रहते हैं।.....”

आगे वे लिखते हैं—“...तत्त्वज्ञान भी इसी अनुभव के आधार पर कहता है कि व्यक्ति, व्यक्ति के बीच चाहे जितना भेद दिखाई दे, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ऐसे जीवन-सूत्र से ओतप्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आस-पास एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।....”^१

जैन कर्मविज्ञान का रहस्य न समझ पाने से व्यक्तिवाद की भ्रान्ति

यहाँ तक तो पण्डितजी के विचार ठीक हैं। परन्तु इससे आगे वे स्वयं जैन कर्मविज्ञान के व्यक्तिवादी होने का कारण प्रकट करते हैं—“दुःख से मुक्त होने के विचार में से ही, उसका कारण माने गये कर्म से मुक्त होने का विचार पैदा हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहार की जिम्मेदारी स्वयं ही बन्धनरूप है, जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असम्भव है। इसी धारणा में से पैदा हुआ कर्ममात्र से निवृत्ति का विचार...। परन्तु इस विचार में जो दोष था, वह धीरे-धीरे सामूहिक जीवन की निर्वलता और लापरवाही के रास्ते से प्रकट हुआ।.... सामूहिक जीवन की कड़ियाँ टूटने और अस्त-व्यस्त होने लगीं।.....”^२

कर्मविज्ञान का रहस्य ठीक न समझ पाना भी इन वैयक्तिक विचारों के लाभालाभ का कारण है। पिछले पृष्ठों में हमने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया था कि कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ तीर्थंकरों और उनके अनुगामी साधकों ने आत्मवत् सर्वभूतेषु, विश्वमैत्री, या आत्मीपम्य के सिद्धान्त को मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य के सहोप व्यावहारिक जीवन में उतारने की बात कही है; अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता की बात कही है। मानवमात्र के साथ आत्मीपम्य तथा विश्वमैत्री—विश्ववात्सल्य की भावना को साकार करने के लिए ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघधर्म, गणधर्म, श्रुतचारित्र-धर्म आदि नैतिकताप्रधान एवं आध्यात्मिकता-प्रधान धर्मों के पालन की बात कही है। धर्मसंघों की रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है।

१. जिनयाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'वैयक्तिक और सामूहिक कर्म,' लेख से पृ.

२३८-२३९

२. यही, पृ. २३९.

जैन कर्मविज्ञान द्वारा आत्मौपम्यभाव से यत्नाचारपूर्वक चर्या करने की प्रेरणा

परन्तु भ्रान्ति यह हो गई कि कर्ममात्र को, प्रवृत्तिमात्र या क्रियामात्र को कर्मबन्धन का कारण मान लिया गया, जब कि हम 'कर्म के विराट् स्वरूप' (तृतीय खण्ड) में यह भलीभांति समझा आए हैं कि जीव जब तक संसारी है, तब तक, चाहे वह केवलज्ञानी, वीतराग या जीवन्मुक्त तीर्थंकर भी हो जाए; तब भी उसे कर्म (प्रवृत्ति या क्रिया) तो करने ही पड़ेंगे। परन्तु उनकी, या यतनापूर्वक आत्मौपम्यभाव से, अरागद्विष्ट होकर चर्या करने वाले साधक की क्रिया से साम्प्रदायिक आम्रव (कर्मागमन) नहीं होता, केवल ईर्ष्यापथिक आम्रव होता है, जो कर्मबन्ध का वास्तविक कारण नहीं है। बन्ध भी है तो नाममात्र का, पहले समय में बद्ध-स्पृष्ट होता है, दूसरे समय में वेदन करता है और तीसरे समय में निर्जीर्ण होकर झड़ जाता है।^१

गृहस्थ-जीवन में तो प्रत्येक कर्म करना ही पड़ता है, साधु-जीवन में भी आहार-पानी, भिक्षा, स्वाध्याय, विहार, निहार, गुरु या बड़ों की सेवा, रोगी या वृद्ध साधु की सेवा आदि प्रवृत्तियाँ भी करनी पड़ती हैं। यहाँ तक कि संघ की उन्नति के लिए संघबद्ध प्रत्येक व्यक्ति को धर्मध्यान, धर्माचरण, मोक्षमार्ग, तप, त्याग, नियम आदि में प्रवृत्ति की प्रेरणा भी करनी पड़ती है।

परन्तु यह सब करते हुए भी वहाँ यत्नाचार, अनासक्ति, रागद्वेष-मन्दता, वीतरागता या कषायनिवृत्ति अथवा कषायविजय, आदि सूत्रों को ध्यान में रखने की बात कही गई है, ताकि पाप कर्म का बन्ध न हो।

जब तक छद्मस्थ है, तब तक पुण्य कर्म का बन्ध सर्वथा छूट नहीं सकता। इसीलिए साधक को प्रतिक्षण अप्रमत्त एवं सावधान होकर चर्या करने की बात कही गई है। अपने धर्मसंघ, अरिहंत-सिद्ध देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति भक्ति, अनुराग एवं प्रवचन भक्ति, वात्सल्य, दया, करुणा, अनुकम्पा आदि प्रशस्तरागमूलक व्यवहार की भी प्ररूपणा की गई है।

परन्तु दूसरी ओर जहाँ, उत्कट राग, मोह, आसक्ति, व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंकार, लोभ आदि का प्रसंग हो, या दूसरे के अनुचित व्यवहार को देखकर क्रोध, रोष, ईर्ष्या, द्वेष, क्षोभ, अशान्ति या उद्विग्नता का प्रसंग हो, वहाँ इन दोनों से दूर, तटस्थ एवं सम्भाव में लीन रहने की बात भी कही गई है।

१. (क) "सकषायाऽकषाययोः साम्प्रदायिकेर्षापथयो।"

-तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सू. ५

(ख) उत्तराध्ययन अ. २९, ७१वाँ बोल

इसका मतलब है—एक ओर से व्यक्तिगत जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए समता, क्षमादि दशविध धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म, तपस्या, सामायिक आदि की साधना करनी चाहिए, वहाँ दूसरी ओर से इनके अविवेक, यशकीर्ति, इहलौकिक पारलौकिक विषयाकांक्षा-कामना, (नियाणा) अर्थलाभ, साधनलाभ, गर्व, भीति, प्रशंसा, प्रसिद्ध, वाहवाही, आदि विकृतियों (अतिचारों) से भी दूर रहने का सुझाव पद-पद पर दिया है, ताकि कर्मक्षयकारक प्रवृत्तियों में मलिनता आने से वे कर्मबन्धक न बन जाएँ।

जैसा कि सूत्रकृतांग में कहा गया है—“चाहे व्यक्ति नग्न रहे, मास-मास तक अनशन करे, और शरीर को सुखा डाले, किन्तु यदि अंदर में माया, कपट एवं दम्भ करता है तो वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता रहता है।”^१

दूसरी ओर, समाज और समष्टि के प्रति मैत्रीभाव एवं आत्मीयपम्य दृष्टि रखने के साथ-साथ उनके साथ व्यवहार या सम्पर्क में कहीं तीव्र राग, आसक्ति, उल्कट मोह, ममत्व, गृद्धि आदि भाव न आ जाएँ, तथा समाज के विभिन्न घटकों के प्रति व्यवहार या सम्पर्क में ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, दुर्भाव, अहंकार, मद, तिरस्कार आदि की भावना न आ जाए—इसका पूरा ध्यान पद-पद पर रखने का निर्देश कर्मविज्ञान करता है। ऐसी सावधानी न रखने पर कर्म से मुक्त होने या शुभकर्मयुक्त होने के बदले व्यक्ति पाप कर्मबन्ध से युक्त हो जाता है।

उच्च साधक के लिए भी समाज-समष्टि के प्रति आत्मीयता के साथ तटस्थता आवश्यक

उदाहरणार्थ— किसी जीव की रक्षा करने, उस पर अनुकम्पा करने, कोई मारता हो तो उसे बचाने तथा जीवदया करने की बात उच्च साधक की मर्यादा में है। परन्तु फिर उस जीव के प्रति मोह, आसक्ति या रागभाव लाकर उसे पपोलना, पालना-पोसना यह उसके लिए अशुभ कर्मबन्धकारक हो जाता है।

१. (क) देखें—संसय-रोस-अविणउ-ज्वहुमाण। सामायिक के १० मानसिक दोष-अविवेक-जसो-किन्ती, लाभस्त्री गव्य-भय-नियाणत्थी।

(ख) देखें— तपस्या और पंचविध आचार (धर्माचरण) में इहलोक-परलोक- सम्बन्धी आकांक्षा, विषयवासना, कामना, नामना आदि से बचने का निर्देश,

—दशवैकालिक अ.१, उ.४ में तपः समाधि और आचार-समाधि का वर्णन।

(ग) देखें— पंचमहाव्रतों तथा श्रावक के १२ व्रतों के अतिचारों (दोषों) से बचने का निर्देश आवश्यक सूत्र में।

२. “जई धि य णगिणे किसे चरे, जइ धि य भुंजे मासमंतसो।

जे इह मायाई मिःजई, आगंता गब्भयऽणंतसो ॥” —सूत्रकृतांग श्रु.१, अ.२, उ. १, पा.१

भागवत पुराण में जड़ भरत का आख्यान आता है कि गण्डकी नदी के किनारे एक मृग शिशु को उसकी माता के मर जाने से तड़फते देख, वे वैष्णव साधु की मर्यादानुसार उसे अपने आश्रम में ले आए। वहाँ उसके खाने-पीने का प्रबन्ध कर दिया। परन्तु इससे आगे बढ़कर वे आसक्तिपूर्वक बार-बार उसे पपोलते, उसे खेलाते, उसकी क्रीड़ा देखकर मन ही मन प्रसन्न होते, आसक्तिपूर्वक उसको गोद में लेते। इस प्रकार की आसक्ति के कारण उनकी ध्यान, धर्मसाधना छूट गई। फलतः वे मरकर उस आसक्ति के कारण मृग बने।

यह आख्यान बताता है कि प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता रखते समय उच्च साधक को रागद्वेषवर्द्धक या तीव्र कषायवर्द्धक प्रवृत्तियों से सदैव दूर रहना चाहिए। अर्थात् उसमें आत्मीयता और तटस्थता का पूरा विवेक होना चाहिए। कर्मविज्ञान के माध्यम से तीर्थंकरों ने इसी तथ्य को समझाया है।

गृहस्थ-जीवन में आत्मीयता और तटस्थता का विवेक

गृहस्थ-जीवन में भी आध्यात्मिकता और सामाजिकता का समन्वय करके चलने की बात कही गई है। सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता एवं मैत्री रखते हुए भी, तथा लोकव्यवहार में अपने परिवार, संघ, राष्ट्र आदि के प्रति कर्तव्य धर्म का पालन करे, किन्तु जहाँ अपने माने हुए, परिवार संघ, राष्ट्र आदि में अन्याय, अत्याचार, अधर्म, पापाचार आदि का दौर चल रहा हो, वहाँ वह उसका समर्थन न करे। हो सके तो समझा-बुझाकर अनिष्टों को दूर करने तथा पापाचरण को मिटाने का प्रयत्न करे। अगर कोई विपरीत वृत्ति का व्यक्ति या समूह उसकी बात न मानता हो तो मध्यस्थ-तटस्थ रहे।

आत्मीयता के साथ तटस्थता का विवेक भी

सूत्रकृतांग में जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति समभाव एवं आत्मौपम्यभाव रखने वाले व्यक्ति को आत्मीयता के साथ तटस्थता का निर्देश करते हुए कहा गया है—"जगत् को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय (आसक्ति पूर्ण व्यवहार) करता है, न ही किसी का अप्रिय (द्वेष पूर्ण व्यवहार) करता है।"

इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचारांग में बताया गया है कि "अज्ञानी असत्यदृष्टि जीव अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू, स्वजन सम्बन्धियों में अत्यधिक आसक्त रहता है। उनके लिए नाना पापकर्म, क्रूरकर्म करके धन कमाता है, साधन जुटाता है, परन्तु उस धन को या तो भागीदार बांट लेते हैं, या चोर उसका हरण कर लेते हैं, अथवा शासक (सरकार) उसे छीन लेता है, अथवा आग लगने से वह जल जाता है।

८६ कर्म-विज्ञान : भाग-२ : उपयोगिता, महत्ता और विशेषता (४)

इस प्रकार वह मूर्ख दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ, उस धन-नाश, आर्तघ्यान आदि से उत्पन्न दुःख से (घोर पापकर्मबन्ध से) मूढ़ बनकर विपर्यास को प्राप्त होता है।"

इसीलिए आगमों में दया आदि आत्मीयतायुक्त व्यवहार करने से पहले 'ज्ञान (विवेक) को महत्त्व दिया गया है।"

आत्मतुल्यता की भावना का विविध पहलुओं से निर्देश

जब प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझा जाएगा तो उसकी हिंसा को अपनी हिंसा, उसकी वेदना या पीड़ा को अपनी वेदना या पीड़ा समझा जाएगा। इसी तथ्य को भ. महावीर ने मार्मिक ढंग से उजागर किया है आचारांग सूत्र में— "तू वही है, जिसे तू मारना चाहता है; जिसे तू कठोर रूप से शासित करना चाहता है, वह तू ही है; जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है; जिसे तू निगृहीत करके वश में करना चाहता है, वह तू ही है; जिसको प्रताड़ित एवं भयभीत करना (डराना, धमकाना) चाहता है, वह तू ही है।"

इसका आशय यह है कि स्वरूप की दृष्टि से तेरे जैसी ही चेतना, अनुभूति एवं संज्ञा दूसरे प्राणी में भी है। इस प्रकार की आत्माद्वैत की या आत्मतुल्यता की भावना रख कर चल।

१. (क) 'सर्वं जगं तु समयानुपेही पियमपियं कस्स वि नो करेज्जा।'

—सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. १० उ. ६

(ख) '...माया मे, पिया मे, भाया मे, भङ्गी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सण्ण-संगंथसंयुया मे विवित्तुदगरण-परिवट्टण-भोगणच्छायणं मे। इच्चत्थं गट्ठिए लोए वसे पपत्ते।'

—आचारांग श्रु. १ अ. २, उ. १

(ग) '.... तं पि से एगया दायया विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरंति, रायाणो वा से विलुंप्ति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अंगार दाहेण वा से इज्झइ।'

—वही श्रु. १ अ. २, उ. ३

(घ) "इति से परस्स अट्ठाए कूराइ कम्माइ बाले पकुब्बमाणे, तेण दुक्खेण मूढे विम्परियासुवेइ।"

—वही श्रु. १ अ. २, उ. ३

२. 'पट्ठमं नाणं तओ दया।'

—दशवैकालिक अ. ४ गा. १०

३. "तुमं सि नाम तं चेव, जं हंतव्यं ति मन्नसि।

तुमं सि नाम तं चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।

तुमं सि नाम तं चेव, जं परिधावेयव्वं ति मन्नसि।

तुमं सि नाम तं चेव, जं परिधेतव्वं ति मन्नसि।

तुमं सि नाम तं चेव, जं उद्वेयव्वं ति मन्नसि।"

—आचारांग. श्रु. १ अ. ५, उ. ६

भगवान् महावीर ने हिंसाजनित पापकर्मबन्ध से बचने के लिए यह आत्मसमानता की भावना और व्यवहारदृष्टि प्रतिपादित की है। इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने कहा- "सब प्राणियों को अपना आयुष्य प्रिय है, सुख सबको साताकारी-अनुकूल है, और दुःख सबको प्रतिकूल। वध सबको अप्रिय है, जीवन सबको प्रिय। सभी प्राणी जीने की कामना करते हैं। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।"¹

"सभी प्राणियों की न तो अवहेलना करनी चाहिए और न ही निन्दा-चुगली करनी चाहिए।"

"इतना ही नहीं, न तो स्वयं अपनी आशातना (आत्मपीड़ा) करनी चाहिए और न ही दूसरों की।"

"प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख का ध्यान करो, निरीक्षण करो-क्योंकि सभी प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को असाता (दुःख) देना तथा अशान्ति पैदा करना महाभयंकर है, दुःखोत्पत्ति (घोर कर्मबन्ध) का कारण है।"

"जो अपने अन्तःस्थल को, अपनी सुख-दुःख की भावना को जानता है, वह बाहर को-दूसरे की भावना को भी जानता है। जो दूसरे की भावना को जानता है, वह अन्तःस्थल की भावना को जानता है।"

"सुख की भावना दूसरों में भी अपने समान है, इस तुला का अन्वेषण कर।"

भगवान् महावीर ने इन उपदेशों द्वारा आध्यात्मिकता के साथ समाज और समष्टि को सुख-दुःख की, विकास-अविकास की, पीड़ा-अपीड़ा की भावनाओं के साथ तादात्म्य रखने की प्रेरणा की है, ताकि पाप-कर्मा से जीव बच सके।²

1. (क) सत्त्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सत्त्वेसिं जीवियं वियं। -वही, श्रु. १ अ. २, उ. ३

(ख) पातिवाएज्ज कंचणं। -वही श्रु. १ अ. ६, उ. १

2. (क) "सत्त्वे पाणा न हीलिज्जा न निदिज्जा।" - वही १/६/१

(ख) "णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइ पाणाइ, भूयाइ, जीवाइ, सत्ताइ आसाएज्जा।" -वही १/६/५

(ग) गिज्जाइत्ता, पडिलेहिता पत्तेयं परिगिब्बाणं। सत्त्वेसिं पाणाणं, सत्त्वेसिं भूयाणं, सत्त्वेसिं जीवाणं, सत्त्वेसिं सत्ताणं अस्तायं अपरिनिब्बाणं महब्भयं दुक्खं।" -वही, १/१/६

(घ) "जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ। जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलभत्तेसिं।

-आचा. १/१/३

सामूहिक कर्म, हिंसा और पाप कर्मबन्ध की शंका

परन्तु कर्मविज्ञान के तादात्म्य और ताटस्थ्य के रहस्य को न समझने वाले व्यक्ति ऐसा भ्रान्तिमूलक प्रश्न उठाते हैं कि— "जल में भी जीव है, स्थल में भी जीव है, पर्वत पर भी जीव है, समस्त लोक जीव-जन्तुओं से व्याप्त है। ऐसी स्थिति में कोई भी साधक या मानव समूह कैसे अहिंसक तथा पाप कर्मबन्ध से मुक्त रह सकता है?"

इसी का विश्लेषण करते हुए डॉ महावीर सरन जैन लिखते हैं— हमें कर्म तो करने ही पड़ेंगे। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्मवर्गणा के परमाणु आत्म-प्रेष की ओर आकृष्ट होंगे ही। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति कैसे जीवित रह सकता है। मार्ग में चलते हुए अनजाने यदि कोई जीव आहत हो जाए तो क्या वह हिंसा हो जाएगी? तो क्या हम अकर्मण्य हो जाएं? क्रिया करना बंद कर दें? ऐसी स्थिति में सामाजिक-जीवन या समाज का कार्य कैसे चल सकता है? खेती कैसे होगी? वस्तुओं का उत्पादन कैसे होगा? क्या कर्महीन स्थिति में कोई व्यक्ति जिन्दा रह सकता है?"^१

तीन प्रकार से समाधान

भगवान् महावीर ने उपर्युक्त शंका का समाधान तीन तरह से दिया है। प्रथम समाधान आचारांग सूत्र में दिया है—कर्म (कार्य) का पहले भलीभांति परिप्रेक्षण करो कि वह कर्म उत्कट राग-द्वेष एवं कषायबद्धक तो नहीं है? क्योंकि "कर्म का मूल क्षण-हिंसा है। अर्थात् मन में किसी भी प्राणी के प्रति तीव्र राग या द्वेष, अथवा तीव्र कषाय तो नहीं है? हिंसा यानी भावहिंसा राग-द्वेषादि विकारों के तीव्र रूप से प्रादुर्भाव से होती है। यदि तीव्र रागादि का प्रादुर्भाव नहीं है तो वहाँ हिंसा नहीं होती।

यही बात धवला में कही गई है—यदि कर्म करने वाला प्रमादहीन है, तो वह अहिंसक है और प्रमादयुक्त है तो सदैव हिंसाकर्ता है।

दशवैकालिक सूत्र में 'जयं चरे' का मूल मंत्र इसी तथ्य को उजागर करता है। यदि व्यक्ति सावधान (अप्रमत्त) एवं ज्ञाता-द्रष्टा होकर एवं अलिप्त-अनासक्त होकर कोई भी कार्य करता है तो वहाँ भावहिंसा नहीं होगी, द्रव्यहिंसा कदाचित् हो सकती है, परन्तु उससे भावकर्म का बन्ध नहीं होगा।

१. (क) जले जन्तुः स्थले जन्तुः जन्तुः पर्वतपस्तके।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः?

—राजयार्तिक में उद्धृत ७/१३

(ख) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्म का सामाजिक सन्दर्भ' लेख में उठाई गई चर्चा, पृ. २८७

दूसरा समाधान यह भी सागारधर्मामृत में दिया गया है कि बन्ध (कर्मबन्ध) और मोक्ष (कर्ममुक्ति) एकमात्र भावों (परिणामों) पर आधारित है। यदि ऐसा न होता तो सर्वत्र जीवों से ठसाठस भरे लोक में व्यक्ति कैसे अपनी चर्या कर सकता और कैसे (कर्मों) से मुक्त हो पाता ?

तीसरा समाधान दशवैकालिक में इस प्रकार दिया गया है कि समस्त प्राणियों के प्रति आत्मभूत तथा सर्व जीवों के प्रति समभाव से ओतप्रोत एवं आस्रव-त्यागी होकर बबहार या कार्य करता है तो पापकर्म का बन्ध नहीं होता।^१

निष्कर्ष यह है कि कर्मविज्ञान के अनुसार पूर्वोक्त प्रकार से समाजगत एवं समाष्टित जीवन जीने में न तो कहीं पापकर्मबन्ध का भय है, न ही भावहिंसा होने अथवा अप्रमत्त साधक द्वारा साम्प्रदायिक कर्मबन्ध होने का खतरा है।

सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में कर्म से नहीं, पापकर्म से बचने का निर्देश

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है कि "जो व्यक्ति अपने तथा अपनों के लिए पापकर्म करके धन जुटाता है, किन्तु उक्त पापकर्म के फल भोगने के समय वे लोग कोई भी उसके सिसेदार नहीं बनते। उसे अकेले को ही भोगना पड़ता है।"^२

आचारांग सूत्र में बताया है कि उक्त पापकर्म के फलस्वरूप रोगादि उत्पन्न होने पर पाकारांग आदि बन्धन में पड़ने पर अथवा दुर्गति में दुःख एवं यातना पाने पर वे अपने माने हुए सम्बन्धी या दूसरे व्यक्ति, अथवा जिनके साथ वह वास करता है, वे निज के लोग न तो उसकी रक्षा करने या शरण देने में समर्थ होते हैं, न ही वह उनकी रक्षा कर सकता है, न शरण दे सकता है। या तो पहले वे निज के लोग उसे छोड़ देते हैं, या उसकी

१. (क) कर्म च पडिनेदाए, कम्ममूलं च जं छणं।" —आचारांग १/३/१
 (ख) "अप्रादुर्भावः खलु सागारीन अहिंसा।।"
 (ग) "प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः, प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः।।"
 धयला पु. १४/५-६
 (ग) विध्यजीव दित्ते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यतु,
 भावैक साधनौ बन्ध-मोक्षौ चेज्जाभविष्यत ? —सागार धर्मामृत २३
 (घ) देखें—दशवै. ४/८
 (ङ) यही. ४/९
 (च) जे एणं जाणइ, से सव्वं जाणइ।।" —आचारांग १
 २. उत्तराध्ययन अ. ४ गा. २, ४

निन्दा करते हैं, अथवा उसे दुःख देते हैं, अथवा बाद में वह अपनों को छोड़ देता है, या उनकी निन्दा करता है अथवा उन्हें दुःख देता है।^{११}

इसलिए कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ तीर्थंकर यह उपदेश देते हैं कि "न तो तू अपने जीवन के लिए प्रशंसा, सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए या जन्म-मरण से बचने के लिए तथा पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलस्वरूप आ पड़े हुए दुःख के निवारण हेतु पृथ्वीकायदि षड्जीवनिकाय के जीवों की उत्कट हिंसादि पापकर्म में पड़ और न दूसरों के लिए पापकर्म में पड़।" "साधक को इन कर्मसमारम्भों को जानना और इनका त्याग करना चाहिए।"^{१२}

इसलिए उन्होंने एक ओर से प्राणिमात्र (मानवमात्र स्वजन-परिजन आदि सब) के प्रति आत्मीयता का व्यवहार करने का कहा, तो दूसरी ओर यह भी कहा कि उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करते हुए तीव्र राग-द्वेष, आसक्ति, मूढता, मोहवश पापकर्म न करे, तटस्थ रहे। इस विवेक (संयम) को समझ कर कर्ममुक्ति के लिए उद्यत मानव न तो स्वयं के लिए पापकर्म करे और न दूसरों के लिए करे तथा न दूसरों से करावे।^{१३}

इस प्रकार क्या साधु-जीवन में, क्या गृहस्थ-जीवन में सामूहिक कर्म तो करना ही पड़ता है, किन्तु सामाजिक सन्दर्भ में कर्म करते समय आत्मीयता और तटस्थता का विवेक रखे, कर्म के साथ आ जाने वाले पाप-दोषों और उनके कारणों से दूर रहे। यही जैन कर्मविज्ञान का रहस्य है।

सामूहिक जीवन में कर्म-विवेक धर्म बन जाता है

इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सामूहिक जीवन के लिए कर्म-विवेक की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं—"पाँव में सूई लग जाने पर कोई उसे निकालकर फैंक दे तो आमतौर पर कोई उसे गलत नहीं कहता। परन्तु सूई फैंकने वाला बाद में सीने के और दूसरे काम के लिए नई सूई ढूँढ़े और उसके न मिलने पर अधीर

१. (क) "जेहि वा सद्धिं संवसति, ते वा णं एगया गियगा तं पुब्बिं परिवयति/पोसेति/परिहरति, षे वा ते गियमे पच्छा परिवएज्जा/पोसेज्जा/परिहरेज्जा।"

—आचारांग श्रु. १, अ. २, उ. १ सू. १८४, १९३, १९७

२. (क) इमस्स वेव जीवियस्स परिवदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-भोयणाए दुक्खपडिघाय हेदं।

—आचारांग श्रु. १ अ. १, उ. ५, ६, ७

(ख) एवायति सव्वायति लोभासि कम्म-समारंभा परिजाणियव्वा भवति।

—आचा. श्रु. १, अ. १, उ. १

३. (क) तम्हा पावकम्मं णेव कुज्जा, ण कारवे।

(ख) णेघनेहिं पापकम्मं कुज्जा।"

—आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ६

होकर दुःख का अनुभव करे तो समझदार आदमी उसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पाँव में से सूई निकालना ठीक था, क्योंकि वह उसकी योग्य जगह नहीं थी, परन्तु यदि उसके बिना जीवन चलता ही न हो तो उसे फेंक देने में जरूर भूल है। ठीक तरह से उपयोग करने के लिए योग्य रीति से उसका संग्रह करना ही पाँव में से सूई निकालने का सच्चा अर्थ है।

जो न्याय सूई के लिये है, वही न्याय सामूहिक कर्म के लिए भी है। केवल वैयक्तिक (निपट स्वार्थ की) दृष्टि से जीवन जीना सामूहिक जीवन की (आत्मीयता या आत्मौपम्य) दृष्टि में सूई भोंकने के बराबर है। इस सूई को निकाल कर उसका ठीक तरह से उपयोग करने का मतलब है^१—सामूहिक जीवन (के प्रति आत्मीयता या आत्मतुल्यता) की जिम्मेदारी को बुद्धिपूर्वक स्वीकार करके जीवन विताना। ऐसा जीवन ही व्यक्ति की जीवन्मुक्ति है। जैसे-जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवन (में प्रविष्ट हो जाने वाले राग-द्वेष, तुच्छ स्वार्थ, मोह, द्वेष, रोष, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि) के मूल को कम करता जाता है, वैसे-वैसे दुःख-मुक्ति (कर्मबन्ध से मुक्ति-निवृत्ति) का विशेष अनुभव करता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्म ही धर्म (शुद्ध-अबन्धक कर्म या अकर्म) बन जाता है।^२

अहिंसादि धर्मरूप रस के लिए शुद्ध कर्मरूप छिलका जरूरी

"अमुक फल का अर्थ है—रस के साथ छिलका भी। छिलका नहीं हो तो रस कैसे टिक सकता है? और रस-रहित छिलका भी फल नहीं है। उसी तरह धर्म तो कर्म का रस है और कर्म सिर्फ धर्म की छाल है। दोनों का ठीक तरह से सम्मिश्रण हो, तभी वे जीवन-फल प्रकट कर सकते हैं। कर्म के आलम्बन के बिना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन की शुद्धिरूप धर्म रहेगा ही कहाँ? और ऐसी शुद्धि (राग-द्वेष, काम, मोह, अस्मक्ति, क्रोधादि विकारों की सफाई) न हो तो क्या उस कर्म की छाल से ज्यादा कीमत भरी जायेगी?"^३

धर्मविज्ञान के अनुसार सामूहिक जीवनदृष्टि में विवेक

सामूहिक जीवन जीने में कर्मविज्ञान के अनुसार आत्मीयता के साथ तटस्थता के अभाव को ही प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुए पण्डित सुखलालजी लिखते हैं—"अब यदि सामूहिक जीवन की विशाल और अखण्ड दृष्टि का विकास किया जाए और उस दृष्टि

१. त्रिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'वैयक्तिक और सामूहिक कर्म' लेख से पृ. २४०

२. त्रिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'वैयक्तिक और सामूहिक कर्म' लेख से, पृ. २४०

३. त्रिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'वैयक्तिक और सामूहिक कर्म' लेख से पृ. २४१

के अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेवारी की मर्यादा बढ़ावे तो उसके हिताहित दूसरे के हिताहितों से टकराने न पावें और जहाँ वैयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो, वहाँ भी सामूहिक जीवन के लाभ की दृष्टि उसे सन्तुष्ट रखे, उसका कर्तव्य क्षेत्र विस्तृत बने और उसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपने में एक भूमा (व्यापकता और विशालता) को देखे।^{११}

सामूहिक चित्तशुद्धि में कर्म की शुद्धि

जैन कर्मविज्ञान भावकर्म को ही मुख्य मानता है, और उसका मूल मानता है चित्त में। अगर चित्त में राग-द्वेष और कषाय का तूफान न उठे तो कर्म भी शुद्ध और अबन्धकारक होता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर पण्डित सुखलालजी ने सामूहिक चित्तशुद्धि को वैयक्तिक चित्तशुद्धि का आदर्श या मापक मानते हुए लिखा है-
 "...चित्तशुद्धि ही शान्ति का एकमात्र मार्ग होने से यह मुक्ति अवश्य है, परन्तु वैयक्तिक चित्तशुद्धि में पूर्ण मुक्ति मान लेने का विचार अधूरा है। सामूहिक चित्त की शुद्धि को बढ़ाते जाना ही वैयक्तिक चित्तशुद्धि का आदर्श होना चाहिए। और यह हो तो (जीवन्मुक्ति या सदेहमुक्ति अथवा भाषकसिद्धि यहीं प्राप्त हो जाती है) किसी दूसरे स्थान में या लोक में मुक्तिधाम मानने की या उसकी कल्पना करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। ऐसा धाम तो सामूहिक चित्तशुद्धि में अपनी शुद्धि का हिस्सा मिलाने में है।"^{१२}

निष्कर्ष यह है कि जैन कर्मविज्ञान वैयक्तिक कर्म के साथ-साथ समाज और समष्टि के हित के लिए भी आत्मीयतापूर्वक व्यवहार करना बताता है, परन्तु शर्त है- राग-द्वेष, कषाय आदि से बचने की। यही आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ समाज संरचना का मूल मंत्र है। सामाजिक सन्दर्भ में कर्मसिद्धान्त की यही उपयोगिता है।

१. वही, पृ. २३९

२. वही, पृ. २४०

कर्मसिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता

कर्मसिद्धान्त : त्रिकाल-प्रकाशक दीपक

कर्मसिद्धान्त एक ऐसा प्रकाशमान दीपक है, जो तीनों कालों में प्रकाश करता है। वह अतीत में भी प्रकाश करता रहा, वर्तमान में भी प्रकाश करता है और भविष्य में भी प्रकाश करता रहेगा। उसकी ज्योति कभी बुझती नहीं है।

इसका रहस्यार्थ यह है कि कर्मसिद्धान्त ने भूतकाल में भी जो समस्याएँ आईं, उनका समाधान दिया है, वर्तमान में वह समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है और भविष्य की दूरगामी समस्याओं का भी समाधान करने में समर्थ है।

जो विज्ञान या दर्शन जन-मानस के वर्तमान अन्धकार को मिटाने में सक्षम नहीं है, वह विश्वसनीय एवं लोकग्राह्य नहीं हो सकता, उसकी प्रासंगिकता या प्रस्तुति नाम मात्र की होती है। उसकी जीवन्तता मृतवत् होती है। वह बुझी हुई ज्योति का प्रतिनिधि है।

जैन कर्मविज्ञान अतीत और अनागत के अन्धकार को मिटाने के साथ-साथ वर्तमान के जनमानस में व्याप्त अन्धकार को भी मिटाने में पूर्णतया सक्षम है, उपयोगी है। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरा दीपक भूतकाल में बहुत ही आलोक करता था, परन्तु आज के अंधेरे को मिटाने में वह असमर्थ है तो उसकी उपयोगिता क्या है? वह दीपक किस काम का, जो केवल अतीत के अंधेरे को मिटाने में समर्थ हो, वर्तमान में स्वयं अन्धकार का साथी बन जाता हो? जो वर्तमान के समस्याग्रस्त अन्धेरे को मिटाने में समर्थ हो, वही दीपक उपयोगी होता है। उसकी उपयोगिता और लोक-ग्राह्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि कोई विज्ञान-दीपक वर्तमान समस्याओं का स्मार्थ निराकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं कर पाता तो वह केवल मिट्टी के पिण्डवत् अनुयोगी है। कर्म-विज्ञान वर्तमान में अनेक समस्याओं से घिरे जनमानस के अन्धकार को, अविवेक और अज्ञान को मिटाने में पूरी तरह सक्षम है।^१

१. कर्मवाद से भावांश उद्धृत पृ. १५०

जैनकर्मविज्ञान का त्रिकालस्पर्शी यथार्थ मत

आचारांग सूत्र में कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालानुस्यूत दृष्टि से अनभिन्न कतिपय दार्शनिकों और विचारकों का मत प्ररूपित करते हुए कर्मसिद्धान्त का त्रिकालानुसारी सत्य तथ्य बताया गया है— “इस जीव का अतीत क्या था ? इसका भविष्य कैसा होगा ? इस प्रकार कतिपय लोग भूत और भविष्य का स्मरण-चिन्तन नहीं करते।” कितने ही लोग कहते हैं— “इस संसार में जीव का जो अतीत था, वही (वैसा ही) उसका भविष्य होगा।” किन्तु सर्वज्ञ वीतराग प्रभु अतीतार्थ को—अतीत के अनुसार भविष्य के होने की बात को अथवा भविष्यार्थ—भविष्य के अनुसार अतीत के होने की बात को स्वीकार नहीं करते। अतीत या भविष्य (अथवा वर्तमान भी) कर्मों के अनुसार ही होता है। अतः इस कर्मविज्ञान के त्रिकाल दर्शन के ज्ञाता-द्रष्टा आचरणयुक्त, महर्षि (पूर्वकृत) कर्मों को धुनकर क्षय कर डालते हैं।”

अतीत को जानो, वर्तमान में सत्पुरुषार्थ करो और भविष्य को देखो

जैन कर्मविज्ञान यह नहीं कहता कि अतीत के अनुसार ही वर्तमान बनेगा और वर्तमान के अनुसार ही सारा भविष्य बनेगा। किन्तु उसका संकेत है—अतीत को जानो, वर्तमान में उससे प्रेरणा लेकर उसमें से उपादेय तत्त्व को अपनाओ—एवं भविष्य को अवश्य देखते रहो, ताकि वर्तमान में अशुभकर्मों—पापकर्मों के जत्थे से तुम्हारा भविष्य न बिगड़ने पाए।

भगवान् महावीर ने आचारांग का पूर्वोक्त सूत्र इसीलिए दिया है कि लोग निराश होकर बैठ जाते हैं अतीत के भरोसे पर, वे वर्तमान में कोई शुभ या शुद्ध पुरुषार्थ नहीं करते। फलतः उनका वर्तमान भी बिगड़ता है और भविष्य भी; क्योंकि वे अतीत जैसा ही भविष्य होगा, ऐसा मानने लग जाते हैं, ये सब भ्रान्तियों आस्तिक वर्ग में बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही हैं।

जैन कर्मविज्ञान ने इन भ्रान्तियों का उन्मूलन करने के लिए कर्म-विज्ञान का शास्त्र रचा और बहुत बारीकी से प्रत्येक तथ्य का विश्लेषण करके बताया कि प्रत्येक प्राणी के अतीत, वर्तमान और भविष्य को केवल काल के साथ बंधा हुआ मत मान लो, वह कर्म के साथ भी निश्चितरूप से बंधा हुआ है।

१. “अवरेण पुब्बिं न सरंति एगे, किमस्सतीतं, किंवागमिस्सं ?

भासंति एगे इह माणवा उ। जमस्स तीतं तमागमिस्सं ॥

यातीतमडुं ण य आगमिस्सं, अडुं नियच्छंति तहागया उ।

विधूतरूपे (कम्मे) एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥

—आचारांग शु. १, अ. ३, उ. ३, सू. ४०१, ४०२

कर्म सार्वभौम नियम का एक घटक है। कर्म के द्वारा अतीत को पढ़ा जा सकता है और भविष्य को देखा जा सकता है।

भावकर्म और द्रव्यकर्म : अतीत और अनागत के प्रतीक

तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो यह बात स्पष्टतया समझ में आ जाएगी। जैन कर्मविज्ञान अपने पारिभाषिक शब्दों में जिन्हें भावकर्म और द्रव्यकर्म कहता है, वे क्या हैं? प्राणी का भाव जैसा होता है, उसी प्रकार का कर्म-परमाणु अर्जित हो जाता है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में चैतसिक कर्म और पारमाणविक कर्म कहा जा सकता है। अतः प्राणी के जैसे-जैसे भावकर्म (पूर्वकृत) होते हैं, वैसे ही कर्म-परमाणुओं का संग्रहण और संश्लेषण होता है।

अतीत के भावों को देखकर वर्तमान में पुरुषार्थ-प्रेरणा और भविष्य का सुधार

इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्राणी के अतीत (पूर्वकृत) भावों को देखकर यह जाना जा सकता है कि इसके द्वारा किस प्रकार का कर्म होने वाला है। इसी प्रकार उसके कर्मों को देखकर यह भी ज्ञात हो सकता है कि किस प्रकार के भाव मन में चल रहे हैं। कर्मविज्ञान की इस विशेषता के आधार पर अतीत को पढ़ा जाता है और भविष्य को देखा जाता है; तथैव अतीत के कर्मों से प्रेरणा लेकर वर्तमान को सुधारा जाता है। कर्मसिद्धान्त अतीत को जानने और भविष्य को देखने का महत्वपूर्ण उपाय है।

मुनि हरिकेशबल चाण्डाल कुल में जन्मे और उन्होंने अपने आप को जब से गहराई से समझा, तब से वे अपने क्लिष्ट संस्कारों को बदलने के लिए प्रेरित हो गए। उन्हें अत्यन्त उपकारी साधु से बोध मिला कि तुम्हें यह जो मनुष्य जन्म मिला है, वह यों ही वृथा खोने के लिए नहीं है। भूतकाल में तुमने उत्कट जातिमद किया, उसी के फलस्वरूप तुम्हें चाण्डालकुल में जन्म मिला, जहाँ कोई सुसंस्कार या धर्मध्यान की बातें कहने-सुनने को प्रायः नहीं मिलतीं। परन्तु अतीत के अशुभकर्मवश प्राप्त इस जीवन से तुम प्रेरणा लो और अब इसे यों ही न खोकर तप-संयम में लगाओ, "जिससे तुम भविष्य में या तो सर्वकर्मों से मुक्त हो सको या फिर अल्पतम कर्म वाले महर्द्धिक उच्च देव बन सको," जिनके कषाय मन्दतर, लेश्या भी शुभ, परिग्रह एवं अभिमान भी अल्पतम होते हैं।

हरिकेशबल मुनि ने अतीत को जाना वर्तमान के द्वारा, और वर्तमान में उन दुष्कर्मों को न दुहराकर तप के द्वारा पूर्वकृत उन कर्मों का क्षय कर डाला और संवर के

द्वारा आते हुए कर्मों का निरोध करने की साधना की, फलतः उनका भविष्य उज्ज्वल हो गया।

अनाथीमुनि ने भी अतीत को पढ़ा, वर्तमान को सुधार कर उज्ज्वल बनाया

हरिकेशबल मुनि की तरह अनाथी मुनि ने भी अतीत को पढ़ा अपने वर्तमान के देखकर। उन्होंने देखा कि “कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से वर्तमान जीवन में मुझे प्रबु भोग-साधन मिले हैं, परन्तु उन भोगसाधनों की आसक्ति में फंसकर मैं अनाथ हो गया अर्थ-काम को प्रधानता देकर धर्म (संवर-निर्जरा रूप) को भूल गया। इसी अनाथ अर्थात्-परपदार्थों की परवशता के फलस्वरूप मैं धर्मध्यान से विमुख हो गया। पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्रबल चक्षुवेदना हुई, जिसे मैं समभाव से नहीं सह सका आर्त्तध्यान में ग्रस्त हो गया। अगर मुझे शान्ति प्राप्त करनी है तो पूर्वकृत सत्कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त भोगों के प्राचुर्य की परवशता (अनाथता) का त्याग करके तथा दुष्कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त चक्षुवेदना को समभाव से सहन करके क्षान्त (समभाव से कष्टसहिष्णु), दांत (इन्द्रियों और मन पर संयमी) और निरारम्भ (पूर्ण अहिंसक) अनगार बन जाना चाहिए।”

बस, इसी प्रकार अतीत को पढ़कर उन्होंने वर्तमान में प्राप्त भोगों का त्याग कर दिया, संयम मार्ग अपनाकर सनाथ बने और वर्तमान को सुधार कर भविष्य को शान्त, सनाथ एवं उज्ज्वलतम बना लिया।

मगधनरेश श्रेणिक ने भी उनकी प्रशंसा में ये उद्गार निकाले— “हे महर्षि! आपने मनुष्य जन्म को सुलब्ध और सार्थक कर लिया, मनुष्य जन्म प्राप्ति का उत्तम लाभ भी आपने प्राप्त कर लिया। वास्तव में आप ही सनाथ और सबान्धव हैं।”

किसी के भी अतीत और भविष्य को इस तरह जाना-देखा जा सकता है

इसी प्रकार कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यदि कोई व्यक्ति कुशलतापूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से वर्तमान का निरीक्षण करे तो अपने अतीत को जान सकता है। इतना ही नहीं, दूसरे के

१. (क) देखें—उत्तराध्ययन सूत्र (अ. १, गा. ४८) में इस तथ्य को उजागर करने वाली गाय-स देव-गंधर्व-मणुस्स-पूइए, चइतु देहं मल-पंकपुव्वयं। सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिट्टिए॥

(ख) उत्तराध्ययन, १२वाँ अध्यायन

२. (क) देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २० में अनाथीमुनि की जीवन गायार्ण।

(ख) तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्स-जम्मं; लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी।

तुम्हें सगणहा य सबान्धवा यं, जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं॥

—वही. अ. २०, गा. ५५

वर्तमान जीवन के व्यवहार, आचरण या स्वभाव को देखकर भी वह समझ सकता है कि इसका अतीत कैसा था ? अथवा इसने क्या सोचा-विचारा था ? इसका चिन्तन कैसा था ? इसका आचरण कैसा था ? इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति के वर्तमानकालीन कर्मों की अवस्थाओं को देखकर तथा उसके आचरण एवं व्यवहार को परखकर यह भी जाना जा सकता है कि यह व्यक्ति भविष्य में किस प्रकार का चिन्तन-मनन, आचरण और व्यवहार करेगा ? इस प्रकार कर्मसिद्धान्त के माध्यम से अतीत को पढ़ा तथा भविष्य को जाना-देखा जा सकता है।^१

वर्तमान जीवनयात्रा का सम्बन्ध अतीत यात्रा से है

वास्तव में देखा जाए तो कर्म की चर्चा का अर्थ है—अतीत की चर्चा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—अतीत में प्राणी ने जो कुछ किया है, उसका सम्बन्ध उसकी आत्मा से स्थापित हो गया है। प्राणी की वर्तमान जीवनयात्रा का सम्बन्ध अतीत की यात्रा से है। यही है कर्मविज्ञान की दृष्टि से वर्तमान के माध्यम से अतीत को समझने का प्रयास।

प्राचीन जैन कथाओं में भी अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा भूत-भविष्य-कथन

प्राचीन जैन कथाओं एवं चरित्रों में हम पढ़ते हैं, कि एक व्यक्ति अत्यन्त वैभवशाली था अथवा धनाढ्य व्यक्ति का पुत्र था। वह अकस्मात् निर्धन हो गया, घर-बार बिकने लगा। दर-दर का मोहताज हो गया। इस विपद्ग्रस्त स्थिति का कारण जानने के लिए वह किसी अतीन्द्रिय ज्ञानी^२ (अधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी या केवलज्ञानी) ऋषि-मुनि के पास जाता है और विनयपूर्वक पूछता है—“भगवन्! मैं इस समय जिस विपद्ग्रस्त स्थिति में हूँ, वह किस कर्म का फल (विपाक) है ? मैंने ऐसा क्या दुकर्म किया था, जिसका यह दुःखरूप विपाक मुझे भोगना पड़ रहा है ?”

इसके उत्तर में वे कहते हैं—“तुमने अमुक जीवन में या इसी जीवन में अमुक समय ऐसा दुकर्म-अशुभकर्म किया था, जिसका यह दुष्फल है।”

इसी प्रकार मगधसम्राट श्रेणिक के पुत्र कोणिक के वर्तमान पापकर्मयुक्त जीवन को देखकर भगवान् महावीर ने उससे यह कहा था कि ‘तुम मर कर कहाँ जाओगे ?’ यह सुनते न पूछ कर अपने कृतकर्मों से ही पूछ लो। इस पर कोणिक ने कहा—“भगवन्! मैं आपके शीर्षुख से सुनना चाहता हूँ।” भगवान् महावीर ने कहा—“कोणिक! तुमने जैसे अनियत कर्म वर्तमान में किये हैं, उनके अनुसार तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल नहीं है। तुम मर

१. कर्मवाद (पृ. १६५) में प्रतिपादित भावोंश

२. देखें—शालिभद्र चरित्र, हरियेण-महायेण चरित्र आदि

कर छोटी नरक में जाओगे।' यह है वर्तमान को देखकर भविष्य का यथार्थ आकलन-कथन।

कर्मसिद्धान्त से अनुस्यूत श्रेणिकनृपपुत्र मेघकुमार का अतीत, वर्तमान और भविष्य

मगध सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार अत्यन्त वैराग्यभाव से भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ था। किन्तु दीक्षा के दिन ही रात्रि को लघुशंका-परिष्ठापनादि के निमित्त धर्मस्थान से बाहर जाते समय असावधानीवश अन्य साधुओं के चरणाघातके कारण नवदीक्षित मेघमुनि उद्विग्न एवं अधीर हो उठे। स्वयं को अपमानित एवं मर्णाहत समझकर प्रातः प्रतिक्रमण के समय भगवान् महावीर के पास पहुँचे और बोले— 'भगवन्! ये लीजिए आपके धर्मोपकरण! मैं साधुवेष को छोड़कर घर जा रहा हूँ।'

भगवान् महावीर ने कहा— 'मेघ! इतने से कष्ट से तुम घबरा गए, इतने अधीर हो गए? तुम्हें याद नहीं है, पूर्वजन्म में तुम हाथियों के यूथपति थे और उस वन में दावाग्न लग जाने पर तुम्हारे मन में एक सुन्दर पुण्यजनक विचार उत्पन्न हुआ कि मैं समर्थ हूँ तो क्यों नहीं, एक विशाल भूमण्डल साफ करके तैयार करूँ, जिसमें दावाग्न से पीड़ित भयभीत पशु-पक्षी आकर शरण लें और अग्नि शान्त हो जाने पर अपने-अपने मनेनीत स्थान में चले जाएँ। तुमने उस सुविचार को कार्यरूप में परिणत किया। इतना ही नहीं, उस मण्डल में खुजलाने के लिए उठाये हुए तुम्हारे पैर के नीचे खाली जगह देखकर एक खरगोश आकर बैठ गया। तुम्हें इसका भान होने पर तुमने २० पहर तक पैर ऊँच उठाए रखा। इस स्थिति में तथा वापस पैर रखते समय तुम्हें अपार एवं असह्य कष्ट हुआ था, किन्तु तुमने एक प्राणी पर अनुकम्पा करने एवं अभयदान देने हेतु उसे शुभभावपूर्वक सहन किया। उसी शुभकर्म के फलस्वरूप तुम्हें मगधनरेश के यहाँ जन्म मिला। उत्तम संस्कार मिले। अप्रतिलब्ध सम्यक्त्वरत्न भी प्राप्त हुआ और इस जन्म में तुमने उस पुण्यपूँजी में वृद्धि करने तथा आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर को पाने के लिए संयम ग्रहण किया। अब तुम थोड़े से कष्ट से घबराकर पीछे हट रहे हो, इसे छोड़कर भागने के लिए उद्यत हुए हो! जरा सोचो—तुम्हें अपने अतीत के उज्वल पुण्यकर्मवश वर्तमान में मानव जीवन, उत्तम कुल, उन्नत संस्कार आदि मिले। तुम्हारी वर्तमान अवस्था उसी शुभ अतीत की देन है। परन्तु यदि तुम वर्तमान जीवन को तप, त्याग, संयम और संवर से सुसज्जित नहीं करोगे तो सोच लो— 'तुम्हारा भविष्य कैसा होगा?'

मेघमुनि को इस वर्तमान बोध से अतीत की स्मृति ताजी हो गई। उसके सामने अतीत में किये हुए सत्कर्म चलचित्रवत् प्रत्यक्ष हो गए। वर्तमान में कुचिचारों के द्वारा संयम का जो अतिक्रमण हो गया था, उसे पुनः अतीत के प्रतिक्रमण द्वारा मेघमुनि ने टूट कर लिया। वे पुनः आत्मस्थ-स्वस्थ हो गए और भविष्य को उज्ज्वल बनाने हेतु उन्होंने भगवान् से प्रत्याख्यान भी ग्रहण कर लिया कि आज से केवल दो नेत्रों के सिवाय भी शरीर के सभी अंग आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। इन्हें उत्पथ में ले जाने का साग (प्रत्याख्यान) करता हूँ।^१

अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान में संवर एवं भविष्य का प्रत्याख्यान करो

एव-आवश्यक-साधना (प्रतिक्रमण) के समय यह पाठ दोहराया जाता है- “मैं भूकाल का प्रतिक्रमण करता हूँ, वर्तमान काल में संवर (संयम तथा सामायिक) करता हूँ और भविष्य (अनागत) काल का प्रत्याख्यान करता हूँ।^२ ये तीनों कर्मसिद्धान्त को ध्यान में रखकर अशुभ योग की निवृत्ति के लिए किये जाते हैं।^३ क्योंकि व्यक्ति के वर्तमान जीवन-दर्पण पर पहले उसके द्वारा किये हुए अतीत के शुभ-अशुभ कर्म ही प्रतिबिम्बित होते हैं।

कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जिसने अतीत का प्रतिक्रमण एवं भविष्य का प्रत्याख्यान कर लिया, उसके वर्तमान क्षण में स्वतः ही संवर (आम्रव-निरोध) हो जाएगा। पंचेन्द्रिय-संयम, मनःसंयम तथा प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा-संयम एवं यम-नियम-व्रत-साग, प्रत्याख्यान आदि सब चरित्रोपयोग अंग संवर के अन्तर्गत हैं।

वर्तमान अतीत से सम्बद्ध तथा भविष्य से अनुस्यूत

यह तो निश्चित है कि जीवन का सत्य अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से परस्पर अनुस्यूत है, पर यह कालत्रयी अनुस्यूत है-कर्मसिद्धान्त के माध्यम से। कोई भी

१. ज्ञानार्थकथा, अ. १

२. (क) अर्धं पडिक्कममि, पच्चुप्पत्रं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि। -आवश्यकनिवृत्ति
(ख) तिण्हमतिक्रमाणं आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिदेज्जा, गरहेज्जा, विउद्वेज्जा, विगोद्वेज्जा, अकरणयाए अम्भुद्वेज्जा, अहारिदं पायच्छित्तं तथोकम्मं पडिवज्जेज्जा, तं जहा-
णाणतिक्रमस्स, दंसणातिक्रमस्स, चरिरातिक्रमस्स। -स्यानं अ. ३ उ. ४ पृ. ४४४

३. प्रतिक्रमण शब्दों कि अत्राशुभयोग निवृत्ति मात्रार्थः समान्यतया परिगृह्यते। तथा च सत्यतीत विषय प्रतिक्रमण निन्दा (पश्चात्ताप) द्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति। प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेव। अनागतविषयमपि प्रत्याख्यान-द्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति न दोषः॥

--आचार्य हरिभद्र

मानव अतीत से विच्छिन्न होकर वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकता। जो भी वर्तमान क्षण का परिणाम है, उसके पीछे अतीत का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आज के परिणाम के पीछे अतीत की प्रवृत्ति है और आज की-वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति अनागत का परिणाम है।

इसलिए वर्तमान क्षण परिणाम भी है और भावी परिणाम का हेतु भी है। अर्थात् वह प्रवृत्ति भी है, परिणाम भी है, कार्य भी है, कारण भी है। अतीत का कारण उसके पीछे है, इसलिये वह कार्य है और अनागत के कार्य का वह हेतु है, इसलिए कारण भी है।

अतः यह निश्चित है कि हम वर्तमान की व्याख्या अतीत से विच्छिन्न होकर नहीं कर सकते और न वर्तमान से विच्छिन्न होकर भविष्य की कल्पना कर सकते हैं। केवल वर्तमान के द्वारा हम जीवन के समस्त सत्यों को नहीं पकड़ सकते।^१

अतीत की पकड़ से मुक्त होने के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है

मनोविज्ञान ने इस तथ्य को और अधिक उजागर किया है। कोई भी मानसिक रोगी जब मनोचिकित्सक के पास जाता है, तब सबसे पहले उसकी वर्तमान मन:स्थिति के कारण का पता लगाने के लिए वह उस मनोरोगी के अतीत के बारे में पूछता है। वह मनोरोगी से स्पष्ट कहता है- 'मुझे यह बताओ कि पिछले वर्षों में क्या-क्या घटनाएँ घटित हुईं? तुमने क्या-क्या किया? कैसे किया? इस समय तुम वर्तमान को भूलकर एकदम अतीत में बचपन से लेकर अब तक के भूतकाल में चले जाओ। मुझे अपना पूरा इतिहास निःसंकोच सुनाओ।'^२

जिस प्रकार एक साधक को अपने वर्तमान जीवन की शुद्धि के लिए अतीत का प्रतिक्रमण करना (आलोचना, निन्दना और गर्हणा से युक्त होकर पुनः स्वस्थान में लौटना) होता है, उसी प्रकार मनोरोगी को भी अपनी रोग-निवृत्ति और स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए मनोचिकित्सक के समक्ष अतीत का प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है। जब तक मनोरोगी अपने अतीत का प्रतिक्रमण नहीं कर लेता, तब तक मनोरोग-चिकित्सक उसकी चिकित्सा नहीं कर सकता। मनोरोग-चिकित्सक उससे अतीत की समस्त घटनाएँ सुनता है, उसकी मनोग्रन्थी को पकड़ लेता है और तब उसका सही निदान और यथार्थ चिकित्सा कर पाता है।^३

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ साधक भी कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिक्रमण करता है। प्रतिक्रमण अतीत का सिंहावलोकन है। उसमें अतीत को देखने, समझने और सम्प्रेक्षण

१. कर्मवाद पृ. २० का भावांश मात्र

२. वही पृ. १४० का भावांश मात्र

राने का अवसर मिलता है कि कहाँ-कहाँ कब-कब मूलसाधना का अतिक्रमण (आम्रव और बन्ध) हुआ है, और अब उसमें कहाँ- कहाँ कैसे-कैसे संवर और निर्जरा के माध्यम से मूल स्थिति में आना है।

अतीत का प्रतिक्रमणविशेषज्ञ वर्तमान और भविष्य को सुधार सकता है

जो व्यक्ति कर्मविज्ञान की दृष्टि से अतीत का प्रतिक्रमण करना जानता है, वह अतीत में हुए अशुभ कर्मों के आम्रव और बन्ध के कारण प्राप्त हुई वर्तमान परिस्थिति को स्वीकार करता है और वर्तमान में संवर और निर्जरा की साधना अपनाकर पूर्वोक्त परिस्थिति में सुधार कर लेता है। अपनी आत्मा को कर्मों के बन्धन से मुक्त करने एवं नये ज्ञाने हुए अशुभ कर्मों को रोकने का अभ्यास करता है, जिससे उसका भविष्य भी स्वच्छ बन जाता है।

जीवन की समस्त अवस्थाएँ अतीतकृत कर्म से अनुस्यूत

जीवन की समस्त महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, संयोग-वियोगजन्य ष्ट्याएँ आदि सारे पहलू कर्म के साथ अनुस्यूत हैं, जुड़े हुए हैं और इन सबका फलित होता है-अतीत से बद्ध वर्तमान जीवन। जीवन के समग्र पक्ष-शरीर से सम्बद्ध माता-पिता, भाई-बहन, तथा अन्य कुटुम्बीजन, स्वजन-परिजन आदि सजीव और शरीर से सम्बद्ध शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय, चित्त, अंगोपांग, संस्थान, संहनन आदि तथा क्षेत्र, मकान आदि निर्जीव जो भी पदार्थ वर्तमान में उपलब्ध होते हैं, वे सब अतीत के कर्म से जुड़े हुए हैं।

इसी कारण कर्मसिद्धान्त को मानने वाले व्यक्ति में प्रायः यह धारणा या मान्यता बद्धमूल हो जाती है कि मानव का समग्र व्यक्तित्व अथवा उसका समग्र वर्तमान जीवन अतीतकालकृत कर्म से बंधा हुआ है।

अतीत की पकड़ से मुक्त होने में समर्थ या असमर्थ?

इसके साथ ही एक भ्रान्ति और व्याप्त है-कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में कि “अतीत ही यह जो पकड़ या जकड़ है, उसे छोड़ने में मनुष्य समर्थ नहीं है”। यह धारणा इस ऋण बनी हुई है कि मनुष्य के अपने चारों आत्मिक गुण-ज्ञान, दर्शन, शक्ति और ज्ञानद वर्तमान में आवृत हैं, कर्मों से जकड़े हुए हैं, फिर शरीर आदि से सम्बद्ध अन्य शक्तियाँ आदि भी कर्मावृत हैं, अवरुद्ध हैं। अतः मनुष्य अतीत के कर्मों के अधीन है, उसका वर्तमान अतीत से बंधा हुआ है।¹

1. कर्मवाद से भावार्थ मात्र पृ. 922

अतीत से कर्म का सम्बन्ध क्यों और छूटता कैसे?

कर्म का सम्बन्ध अतीत से इस कारण भी है कि वह आत्मा के साथ चिरकाल तक बद्ध (संलग्न) रहता है। वह आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध जोड़ता है और सम्बन्ध जोड़ने के बाद लम्बे अर्से तक जुड़ा रहता है। वर्तमान जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध इस कारण है कि वह दीर्घकाल तक संयुक्त रहने के पश्चात एस दिन वियुक्त हो जाता है। कर्म आत्मा के साथ सहज नहीं होता, वह आत्मा का स्वभाव या स्वगुण नहीं है। वह आगन्तुक ही आया हुआ है। कर्म एक दिन आता है और चला जाता है वह आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और जब तक अपना पूर्णतया प्रभाव नहीं डाल देता, तब तक टिका रहता है। प्रभाव डाल देने के बाद यानी व्यक्ति के लिए उस कर्म का फल भोग लेने के बाद उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, वह चला जाता है।

कर्म से संयुक्त और वियुक्त होने का त्रैकालिक रहस्य समझो

वस्तुतः कर्म से वियुक्त होने का क्षण है, वर्तमान क्षण और कर्म से संयुक्त होने का क्षण है—अतीत का क्षण। इन दोनों क्षणों को ठीक ढंग से समझ लिया जाए वे जैनकर्मविज्ञान के माध्यम से अतीत, वर्तमान और अनागत के साथ कर्म के संयुक्त और वियुक्त होने का सारा रहस्य समझ में आ सकता है। वस्तुतः कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म की त्रैकालिक यात्रा में जो कर्म आत्मा के साथ पूर्णतया संयुक्त हैं, वे वियुक्त भी हो सकते हैं।

साधना का सूत्र है—वर्तमान में ही रहो

जहाँ तक साधना (संवर-निर्जरा रूप कर्ममुक्ति की या धर्म की साधना) का प्रश्न है, उसका प्रधान सूत्र है—“वर्तमान में रहो, वर्तमान में—केवल वर्तमान में जीना सीखो।” फलितार्थ यह है कि जिस समय जो कार्य या प्रवृत्ति कर रहे हो, उसी में उपयोगपूर्वक रहो, उसी प्रवृत्ति को यत्ना-चारपूर्वक करो। न तो अतीत की स्मृति में जाओ, और न भविष्य की कल्पना के समुद्र में गोत लगाओ।

जीवन के त्रैकालिक सत्य को जानने-समझने के लिए तीनों कालों को जानना जरूरी

परन्तु यह कहना जितना आसान है, उतना करना आसान नहीं है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार जहाँ कार्य-कारण की मीमांसा करने और त्रैकालिक सत्य को जानने-समझने का प्रश्न आता है, वहाँ केवल वर्तमान से काम नहीं चल सकता। वहाँ अतीत भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है, जितना वर्तमान है और जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है, उतना ही

महत्त्वपूर्ण भविष्य भी होता है। काल की अखण्डता को लेकर भी कर्म-मुक्ति का साधक अपने कर्म के द्वारा समुत्पन्न अतीत, वर्तमान और अनागत अवस्थाओं को यथार्थ रूप में समझ सकता है। कर्मविज्ञान के शब्दों में, वह कार्य-कारण या प्रवृत्ति और परिणाम को ठीक ढंग से जान सकता है।^१

विरोधाभास का समाधान : अतीत, अनागत के पंखों को काट डाले

इन दोनों विरोधाभास जैसे तथ्यों का निष्कर्ष यह है कि मानव अपनी वर्तमान स्थिति का ठीक तरह से जायजा लेने के लिए अतीत को भी देखे और भविष्य का भी विचार करे। किन्तु एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि इस प्रकार की त्रैकालिक स्थिति है; तब वह वर्तमान क्षण में जीने का ही अभ्यास करे। वह भूतकालीन पंखों को भी काट डाले और भविष्यकालीन पंखों को भी, केवल वर्तमान में स्थिर रहे। भूतकाल की स्मृतियों को न ढोए और न ही भविष्यकालीन मधुर सुखैषी कल्पनाओं को संजोए।

वर्तमान में स्थिर रहने के तीन महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय उपाय

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में छद्मस्थ अथवा प्रमत्त साधक के लिए एक ओर 'जयं चरे, जयं चिद्धे' आदि सूत्र देकर वर्तमान में यतनापूर्वक रहने-जीने का अभ्यास करने का संकेत है, वहाँ दूसरी ओर उसके लिए प्रतिदिन दैविक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण करने का भी विधान है, ताकि वह प्रवृत्ति-निवृत्ति (समिति-गुप्ति या महाव्रत-यम-नियम आदि) की साधना में जहाँ कहीं अतिक्रमण (अतिघार-दोष) हुआ हो, या भूल हुई हो वहाँ उसका परिमार्जन करले। इसके उपरान्त भी साधना में यदि कोई स्खलना, प्रमाद या त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए भी पूर्वरात्रि और अपररात्रि के सन्धिकाल में स्वयं आत्मसम्प्रेक्षण करे कि मेरे लिए कौन सा कार्य या प्रवृत्ति कृत्य-करणीय है, कौन सा कृत्य करने से शेष रह गया और कौन सा मेरे द्वारा ऐसा शक्य कार्य था, जिसे मैंने नहीं किया या नहीं कर रहा हूँ?"^२

१. कर्मवाद से भावांश पृ. २०-२१

२. (क) जयं चरे जयं चिद्धे जयभासे जयं सए।

जयं भुज्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधई ॥

(ख) आवश्यक सूत्र में देखें।

(ग) जो पुद्गरत्तावरत्तकाले संपिक्खए अप्यगमप्पएणं।

किं मे कडं, किं च मे किच्च सेसं, किं सक्खिण्णं न समाययामि ?"

किं मे परो पासइ, किं च अप्पा, किं वा खलिअं न विवज्जयामि।

इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

दूसरा मुझे किस दृष्टि से देखता है और मैं भी अपने आपको (वर्तमान में) किस रूप में देख रहा हूँ तथा (वर्तमान में मेरे जीवन में) कौन की स्खलना हो रही है, जिसे मैं विवर्जित नहीं कर (छोड़ नहीं) रहा हूँ। इस प्रकार सम्यक् अनुप्रेक्षा करता हुआ सद्यः वर्तमान स्खलना को भविष्य के साथ अनुबद्ध न करे।

इन तीनों की साधना यथासमय जागरूक होकर करे

परन्तु यह ध्यान रहे कि प्रतिक्रमण या सम्प्रेक्षण हेतु साधक के लिए कई समय नियत हैं, उन्हीं समयों में इन्हें करना है।

वर्तमान में जीने के उपाय और अपाय

इसके सिवाय भी अतीत की पकड़ से मुक्त होकर वर्तमान में जीने के और उपाय हैं।^१ नीतिशास्त्र उपाय के साथ अपाय का भी चिन्तन करने के लिए कहता है। अपाय अर्थात्-विघ्न या अहितकर दोष या हानि। उन्हें हटाये बिना उपाय भी सफल नहीं हो सकता।^२

जैसे दशवैकालिक सूत्र में शास्त्रकार ने पहले चारों कषायों से होने वाले अपायों को यताया कि “क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय नष्ट कर देता है, माया मित्रता का विनाश करती है और लोभ तो सर्वविनाशक है।” इसके पश्चात् उन्होंने इन चारोंके निवारण का उपाय भी बतलाया “उपशम (शान्ति) से क्रोध को नष्ट करे, मृदुता से अभिमान पर विजय प्राप्त करे, ऋजुता-सरलता से माया पर विजयी बने और संतोष से लोभ को जीते।” “क्रोध और मान का निग्रह न करने पर तथा माया और लोभ को बढ़ने देने पर ये चारों कषाय पुनर्जन्म के मूल को सींचते हैं।^३

वर्तमान को ही दृढ़ता से पकड़ो : एक उपाय

इसी प्रकार अतीतकालीन स्मृतियों से होने वाले अपायों को मिटाने के लिए अनेक उपाय ज्ञानी पुरुषों ने बताया हैं, उनमें से एक उपाय है- वर्तमान को दृढ़ता से पकड़ना।

१. दशवैकालिक विहित चरिया चूलिका २ गा. १३

२. ‘उपायं चिन्तयन् प्राज्ञ अपायमपि चिन्तयेत्।

—हितोपदेश

३. (क) “कोहो पीडं पणासेइ, माणो विणयनासणो।

माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व-विणासणो ॥”

(ख) उवसमेण हणे कोहं, माणं मदवया जिणे।

मादमज्जवभावणे, लोभं संतोसओ जिणे ॥”

— दशवैकालिक ८/३८-३९

(ग) कोहो य माणो य अणिग्गहीआ, माया लोभो य पवट्टमाणा।

चरत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंच्छीति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

—वही. अ. ८/४० गा.

अतीत की भूलों एवं गलतियों को न दोहराने और उनके परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त करके उनकी पुनः स्मृति का परित्याग करना ही वर्तमान को पकड़ने का प्रमुख उपाय है। वर्तमान में जीने का अभ्यास करना, अतीत की पकड़ से छूटने का उपाय

परन्तु देखा यह जाता है कि मनुष्य अतीत को छोड़ नहीं पाता। जैसे शरीर की छाया मानव के साथ-साथ चलती है, वैसे ही अतीत की काली छाया भी उसके साथ-साथ चलती रहती है। शरीर की छाया को तो मनुष्य देख पाता है, परन्तु अतीत की छाया अदृश्य-अव्यक्त है, फिर भी साथ में सतत बनी रहती है। अतीत की अपाययुक्त उस काली छाया से मुक्त होने का उपाय है-वर्तमान में जीने का अभ्यास करना। यही कर्मविज्ञान का सन्देश है।

आज का प्रमादी मानव वर्तमान में रहता-सहता है, वर्तमान में श्वास लेता है, सब कुछ वर्तमान में करता है, परन्तु यथार्थ रूप से वर्तमान में नहीं जीता। वर्तमान में जीने की कला उसी व्यक्ति को हस्तगत होती है, जो अप्रमत्त होता है, प्रतिपल जागरूक और सावधान होता है। जो अप्रमादी होता है, वह वर्तमान क्षण का चिन्तन-मनन-अनुभव करता है। वह प्रवृत्तियाँ करता हुआ भी, उन प्रवृत्तियों के साथ रागद्वेषादि विकारों को नहीं जोड़ता। वह केवल ज्ञाता-द्रष्टा या गीता की भाषा में “साक्षी चेता और केवल निर्गुण बना रहता है।” इस कारण वर्तमान क्षण राग-द्वेष-मुक्त क्षण अथवा कर्मबन्ध अथवा कर्मसंयोग से मुक्त क्षण बन जाता है। ऐसा ज्ञाता-द्रष्टा, अप्रमत्त जागरूक साधक कर्म से अतीत रहता है, वह अतीत की स्मृति और अनागत की कल्पना से परे हो जाता है।

प्रतिक्रमण आदि की चेतना जागृत होने पर वर्तमान में स्थिरता सुदृढ़

जिस व्यक्ति में प्रतिक्रमण, सम्प्रेक्षण, प्रायश्चित्त तथा ज्ञाता-द्रष्टा भाव में रहने की चेतना जाग जाती है, वह व्यक्ति अतीत की पकड़ से सर्वथा मुक्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों के आने पर भी निश्चल और अपने आत्मभावों में स्थिर रहता है।^१ कर्मसिद्धान्त के अनुसार ऐसा सत्पुरुषार्थशील व्यक्ति

१. (क) कर्मवाद भावांश पृ. १४४ तथा १६६
(ख) साक्षी चेता केवलौ निर्गुणश्च.....
नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेम्सुना कर्म यत्तत सात्त्विकमुच्यते।
-भगवद्गीता १८ अ.
-गीता १८/२३
२. (क) “सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए।”
(ख) लाभुत्ति न मग्गिज्जा, अलाभुत्ति न सोईजा।
(ग) सुमणे अहियासेज्जा न य कोलाहलं करे।”
-आचारांग १/३/३
-आचारांग १/१/५
-सूत्रकृतांग १/९/३१

अतीत में कृत करोड़ों जन्मों के संचित कर्मों को बहुत शीघ्र ही तपस्या से क्षय कर डालत है।^१

मुनि स्थूलभद्र : अतीत की पकड़ से मुक्त हो वर्तमान संवर साधना में दृढ़ रहे

नंदवश के प्रधानमंत्री शकडाल का पुत्र स्थूलभद्र पूर्वजन्म के संस्कार-दश बचप से ही विरक्त जीवन जी रहा था। पिता ने सोचा-मेरा पुत्र विरक्त-सा जीवन जी रहा है। यदि इसने संन्यास अंगीकार कर लिया तो मेरा आधार छूट जाएगा। अतः इसे कामशास्त्र पढ़ाकर गृहस्थाश्रम में फँसाना चाहिए। उस युग में पाटलिपुत्र में काम-कला में पारंगत थी कोशा वेश्या! शकडाल ने स्थूलभद्र को कोशा वेश्या के यहाँ रखा।

स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहाँ बारह वर्ष तक रहा। अब वह कोशा में पूर्णतया आसक्त हो गया। घर आने का नाम नहीं लेता था। अपने पिता की मृत्यु के बाद जब उसे अर्था पर लिटाकर श्मशान की ओर ले जा रहे थे। स्थूलभद्र को एकदम विरक्ति हो गयी, वेश्या से और काम-वासना से।

उसने आचार्य सम्भूतिविजय से मुनिदीक्षा ले ली। जितना अतिक्रमण हुआ था, उसका प्रतिक्रमण किया। वे जितने विषयभोगों में आकण्ठ प्रवृत्त हुए थे, अब वे पुनः भोगों से सर्वथा निवृत्त हो गए। ब्रह्मचर्य की कठोर साधना की परीक्षा देने के लिए उन्होंने गुरु से कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की अनुमति मांगी। गुरु ने योग्य समझकर स्वीकृति दे दी।

स्थूलभद्र कोशा की चित्रशाला के द्वार पर पहुँचे। चातुर्मास बिताने की आज्ञा मांगी। कोशा वेश्या तो अपने प्राचीन प्रेमी को आए देखकर बहुत ही हर्षित हुई। बारह वर्ष जिसके साथ बिताए थे, उसी कोशा वेश्या की चित्रशाला में एक पवित्र साधु के रूप में चातुर्मास बिताना कितना कठिनतम कार्य था। आग और घी का संयोग था। चित्रशाला का पूरा वातावरण कामुकता को जगाने वाला था, और ऊपर से कोशा वेश्या का प्रतिदिन षोडश शृंगार से सुसज्जित होकर मनमोहक नृत्य, गीत, वाद्य, तथा षडरसयुक्त आहार भी कामवासना को उत्तेजित करने वाला था। फिर भी स्थूलभद्र मुनि ब्रह्मचर्य में पूर्णतः स्थिर रहे, जरा भी चलायमान न हुए।

कोशा वेश्या ने कहा-“इस रसिकता को छोड़कर नीरसता में कहाँ फँस गए आप? आपने मुनिधर्म क्यों अंगीकार कर लिया? आप जीवन भर यहीं रहें। मैं आपकी हूँ।” यों कोशा ने पूरी शक्ति लगाकर मुनि स्थूलभद्र को विचलित करने का प्रयत्न किया। चार मास पूर्ण हो गए। मुनि काजल की कोठरी में रहकर भी पूर्णतः निर्लिप्त रहे।^२

१. “भवकोडिसंघियं कर्मं तवसा निज्जरिज्जई।

—उत्तराध्ययन ३०/६

२. कीचड़ और कमल : उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

यह है कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आम्रव के स्थान में संवर में दृढ़ रहने का ज्वलन्त उदाहरण तथा अतीत की पकड़ से मुक्त होकर वर्तमान में दृढ़तापूर्वक जीने और टिकने का पुरुषार्थ।

वर्तमान में दृढ़ वही, जो ज्ञाता-द्रष्टा भाव या आत्मभाव में स्थिर रहता है।

वास्तव में जो साधक स्थूलभद्र मुनि की भांति धर्म-शुक्लध्यान में या आत्म-स्वभाव में स्थिर हो जाता है, वह अतीत की स्मृतियों को उधेड़ता नहीं और न ही भविष्य की कल्पना में डुबकी लगाता है। वह अतीत की रागद्वेषयुक्त पकड़ से मुक्त होकर वर्तमानकालीन राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव करने लगता है। वह वर्तमान में जीवनयात्रा में उपयोगी अनिवार्य क्रियाएँ करता है, परन्तु रहता है—ज्ञाता-द्रष्टा बनकर। अतः वह कर्म-बन्धन से असम्बद्ध रहता है। वर्तमान में ज्ञाता-द्रष्टाभाव में रहने वाला साधक किसी भी प्रवृत्ति, परिस्थिति, क्रिया, इष्टानिष्ट संयोग आदि पर प्रीति-अप्रीति या राग-द्वेष, मोह या द्रोह, अथवा आसक्ति घृणा नहीं करता। यह शुद्ध चेतना का प्रयोग है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वह अतीत में बद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) और वर्तमान में नये आने वाले कर्मों का संवर (निरोध) कर लेता है।^१

प्राचीन और नवीन सभी समस्याओं का हल : वर्तमान में संवर निर्जरा में स्थिर रहना

कोई कह सकता है कि यह तो कर्मसिद्धान्त के द्वारा वर्तमानकालिक समस्याओं को सुलझाने के बदले उन समस्याओं से मुख मोड़ना हुआ। परन्तु कर्मसिद्धान्तमर्मज्ञ कहते हैं कि ये समस्याएँ अतीतकालिक कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुई हैं, इनमें उलझने से या इन्हीं की उधेड़-बुन में रहने से समस्याएँ सुलझने के बजाय और अधिक उलझेंगी। व्यक्ति आर्त-रौद्रध्यान में पड़कर राग-द्वेष-कषाय आदि विकारों से ग्रस्त होकर नये-नये अशुभकर्मों को और बाँध लेगा, पुराने कर्मों का क्षय होगा नहीं। ऐसी स्थिति में पुरानी समस्याएँ सुलझेंगी नहीं, नई-नई समस्याएँ अधिकाधिक पैदा होती जाएँगी।

अतः कर्म-सिद्धान्त कहता है कि आम्रव और बंध के चक्कर में न पड़कर संवर और निर्जरा को अपनाओ, जिससे पुरानी समस्याएँ हल हो जाएँगी और नई समस्याएँ पैदा नहीं होंगी।^२ सामाजिक परिस्थितिवश पैदा होंगी तो भी कर्मसिद्धान्त-मर्मज्ञ व्यक्ति उन्हें शीघ्र ही हल कर सकेगा।

१. कर्मवाद से भावांश पृ. १६६

२. आम्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।

इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।

—आ. हे

नमिराजर्षि की वर्तमान में स्थिरता की प्रशंसा

नमिराजर्षि जब दीक्षा लेने को उद्यत हुए तब ब्राह्मणवेषी इन्द्र ने उनके समस्त अनेकानेक आश्रववर्द्धक एवं कर्म-बन्धकारक समस्याएँ रखीं, जो उन्हें अतीत की पकड़ से मुक्त होने नहीं दे पातीं, परन्तु कर्मसिद्धान्त-मर्मज्ञ नमि राजर्षि ने इन सब कर्माश्रव एवं कर्मबन्ध की हेतुभूत समस्याओं का समाधान वर्तमान में संवर-निर्जारात्मक सद्धर्म में दृढ़ रहकर कर लिया और इन्द्र के सभी प्रश्नों का तदनुकूल समाधान का दिया।

अतः इन्द्र के द्वारा ली गई कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् वर्तमान में संवर-निर्जारात्मक धर्म या ज्ञाता-द्रष्टाभावरूप आत्म-स्वभाव में दृढ़तापूर्वक स्थिर हुए नमिराजर्षि की प्रशंसा में बरवस इन्द्र ने ये उद्गार निकाले -

“अहो राजर्षि! सचमुच आपने क्रोध को जीत लिया है, मान (अहंकार) को पराजित कर दिया है, माया (कपट) का निराकरण कर दिया है और लोभ को भी वश में कर लिया है। धन्य है, आपकी सच्ची ऋजुता (सरलता) को, धन्य है आपकी मृदुता को, आपकी उत्तम क्षमा प्रशंसनीय है और आपकी उत्तम निर्लोभता (मुक्ति) भी अभिनन्दनीय है। भंते! आप यहाँ (वर्तमान में) भी उत्तम हैं और (भविष्य में) भी उत्तम होंगे। आप सर्वकर्मरज से मुक्त होकर लोक में उत्तमोत्तम सिद्धि (मुक्ति) स्थान को प्राप्त करेंगे।”

यह है—नमिराजर्षि द्वारा अतीत की समस्त स्मृतियों या बंधन-ग्रस्तताओं से मुक्त होकर वर्तमान में ज्ञाता-द्रष्टा होकर संवर-निर्जारात्मक धर्म में स्थिर होने का ज्वलन उदाहरण! इसी कारण नमिराजर्षि संवर-निर्जारा-साधना की फलप्राप्ति तथा भविष्य में साधना के फलस्वरूप इहलौकिक-पारलौकिक भोगों की प्राप्ति की वांछा (निदान) आदि में नहीं फंसे, अर्थात्-भविष्य की सुखद कल्पनाओं के मोहक जाल में भी नहीं फंसे। इसीलिए इन्द्र ने उनकी वर्तमानक्षणजीवी साधना की प्रशंसा की।

१. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र के ९वें नमिपवज्जा नामक अध्यायन में इन्द्र के प्रशंसात्मक उद्गार—

(क) अहो ते निम्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।

अहो निरक्रिया माया, अहोलोभो वसीकओ ॥

(ख) अहो ते अज्जवं साहु अहो ते साहु मद्दवं।

अहो ते उत्तमा खंती अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥

(ग) इहंसि उत्तमो भंते, पच्छा होहंसि उत्तमो।

लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छंसि नीरओ।

जैनकर्मविज्ञान में कर्म के साथ-साथ धर्म का रहस्य भी

जैन कर्म-विज्ञान में जहाँ कर्मों के आगमन (आग्नव) और बन्ध का रहस्य बताया गया है, वहाँ कर्म-निरोध (संवर) और कर्म के आशिक क्षय (निर्जरा) का रहस्य भी बताया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्मविज्ञान में कर्म और धर्म दोनों की गहन चर्चा है।

कर्म का कार्य है—आस्रवों और बंधनों में आत्मा को डालना और धर्म का कार्य है—संवर और निर्जरा द्वारा क्रमशः वर्तमान में आने वाले नये कर्मों का निरोध और अतीत में बद्ध कर्मों का क्षय करना।

कर्म-विज्ञान का यह सन्देश है कि अतीत के कर्मबन्धनों को तथा वर्तमान में भी बन्धन के रूप में जकड़ने के लिए आने वाले कर्मों को जानो, समझो और फिर अतीत की उस बद्धकर्मराशि का पृथक्-पृथक् विश्लेषण और वर्गीकरण करके तब अतीत में बद्ध कर्मबन्धनों को तोड़ डालो, साथ ही नये तथा बन्धनरूप में जकड़ने के लिए आने वाले कर्मों को भी वापस मोड़ दो।

इतना ही नहीं, कर्मविज्ञान कर्म के कार्यों के साथ-साथ धर्म के कार्यों का निरूपण करते हुए कहता है कि अतीत के कर्म-कुसंस्कारों को क्षीण कर दो, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, ईर्ष्या, काम, मोह, मद, मत्सर, आदि वृत्तियों का शोधन करो; मूर्च्छा और लालसा, कामना और आसक्ति को, ममता और भ्रान्ति को तिलांजलि दे दो, आत्मचेतना पर आत्मा के निजी गुणों—ज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्दरूप गुणों पर आए हुए या छाये हुए आवरणों को हटा दो।

धर्म के नाम से प्रचलित अहिंसा, संयम, तप आदि तथा धर्म-शुक्लध्यान के साथ प्रशंसा-प्रसिद्धिलिप्सा, विषयसुखादिरूप फलाकांक्षा, प्रदर्शनकामना आदि कषाय-कालुष्यों को मिटाना भी सद्धर्म का मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रकार धर्म के नाम से प्रचलित जो भी कुरूद्धि, कुरीति या गलत परम्परा हो, सिद्धान्त-बाधक, आत्म-विकासघातक क्रियाएँ हों, उन्हें भी कर्मबन्धकारी समझ कर तोड़ डालना भी धर्म का कार्य है। जो कुरूद्धियाँ हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, दम्भ, मायाचार, व्यभिचार, शिकार, हत्याकाण्ड, बलि (प्राणिवध) के आधार पर चलती या पलती हों, उन्हें भी तिलाञ्जलि देना धर्माचरण है।

इसीलिए कर्मविज्ञानमर्मज्ञ सर्वज्ञ महावीर प्रभु ने सूत्रकृतांग में सर्वप्रथम इसी गाथा के द्वारा अतीत की कर्मबन्धनात्मक ग्रन्थी को जानने, खोजने और तोड़ने का निर्देश करते हुए कहा—

“सर्वप्रथम (अतीतकृत कर्म) बन्धन को सम्यकरूप से जानो, समझो और फिर (वर्तमान में उसे) तोड़ डालो।”

धर्म का प्रयोजन : अतीत के कर्मबन्धनों को तोड़ना एवं नये कर्मों को रोकना

अतीत के बन्धनों को तोड़ने के दो उपाय हैं— संवर और निर्जरा। यही धर्म या धर्मध्यान का प्रयोजन है, जो पूर्वोक्त गाथा में भगवान महावीर ने बताया है। अतीत के परिणामों से बचना धर्म का उद्देश्य नहीं है, किन्तु अतीत में कृतकर्मों के बन्धन को जानकर उसे तप, संयम, संवर आदि की साधना से काट डालना धर्म का उद्देश्य है। जो व्यक्ति संवर-निर्जरारूप धर्म की आराधना करता है, वह अतीत के प्रति जागरूक हो जाता है, अतीत में भरे हुए कर्म के भण्डार के प्रति सावधान एवं सजग होकर वह उनके उदय में रुकावट पैदा कर देता है, वह प्रतिरोधात्मक उपाय करता है। फिर वह अतीत के कर्म-संस्कारों से प्रभावित या पराजित नहीं होता। अन्ततः वह अतीत के संस्कारों के प्रभाव से बच जाता है, कर्मों के आक्रमण को वह विफल बना देता है। जो पूर्वकृत कर्मराशि तथा संस्कार राशि, साधक को प्रभावित करती है, उसके विरुद्ध ऐसी प्रतिरोधात्मक शक्ति या पंक्ति खड़ी कर देता है, जिसमें वह अतीत के संस्कार और कर्मों के प्रहार से बच जाता है। यही कर्मसिद्धान्त की त्रैकालिक उपयोगिता है जिसे प्रत्येक अध्यात्मसाधक को समझना आवश्यक है।

१. (क) कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. १७६

(ख) बुद्धिज्जति तिउद्दिज्जा, बंधणं परिजाणिया॥

—सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. १, अ. १ उ. १ गा. १

जैन कर्मविज्ञान की महत्ता के मापदण्ड

अन्य दार्शनिकों और विचारकों का कर्म सम्बन्धी मन्तव्य अधूरा

विश्व के प्रायः सभी दार्शनिकों और विचारकों ने कर्मसिद्धान्त पर अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने तो कर्मसिद्धान्त पर कार्यकारणभाव की दृष्टि से गहन अनुचिन्तन किया है। विश्व के विशाल मंच पर सर्वत्र प्राणियों की विविधता, विचित्रता और विषमता देखकर कुछ प्रबुद्ध विचारकों ने कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में गम्भीर गवेषणा की है।

भारत के सामान्य जन-जीवन का यह कर्मसूत्र भी रहा है—“कर्म-प्रधान विश्व विराडा, जो जस करहि सो तस फल चाखा।” प्राणिमात्र को जो कुछ सुख-दुःख की शक्तधि होती है, वह स्वकृत कर्म का ही प्रतिफल है। कर्म से बँधा हुआ जीव अनधिकाल से संसार की नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। कर्मवाद के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों और विचारकों द्वारा इतना सब कहने के बावजूद भी कई दर्शन कर्म की सर्वांगीण एवं सर्वप्राणिगत गतिविधि के विषय में अपना चिन्तन प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। कई पाश्चात्य धर्म एवं दर्शन तो मानवमात्र तक ही कर्म का विचार प्रस्तुत कर सके हैं।

कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य धर्मों एवं दर्शनों तथा मत-पंथों ने तो मनुष्यगति का ही एवं केवल स्वर्ग-नरक तक का ही विचार किया है, कर्म से सर्वथा मुक्तिरूप मोक्ष तक उनकी विचारधारा नहीं पहुँची है, वे स्वर्ग के तट पर आकर ही रुक गए हैं, और मनुष्यजाति के कामनामूलक लौकिक कर्मों, सामाजिक कर्मों तक ही दीड़ लगा सके हैं। उनकी गति-मति निष्काम कर्म तक नहीं पहुँची है; और न ही उन्होंने कर्म से सर्वथा मुक्त होने का उपाय बताया है।

जैन कर्मविज्ञान की महत्ता का मूल्यांकन

जैनकर्म-विज्ञान की महत्ता इसी पर से आँकी जा सकती है कि उसने सर्व प्राणियों बर्षात्-एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों और उनमें भी नारक, तिर्यज्य, मनुष्य

१. रामचरितमानस से।

और देव सभी प्रकार के पंचेन्द्रिय जीवों तक की आत्माओं से सम्बन्ध विविध कर्मों की व्यापक मीमांसा की है। इतना ही नहीं, जैन कर्मविज्ञान ने यह भी बताया है कि किन-किन कारणों से कौन-कौन से कर्मों का बन्ध होता है, तथा कौन-कौन से कर्मों के उदय से मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक एवं देव; नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चारों गतियों और इनकी विविध योनियों में से किस-किस गति और योनि में जन्म ले सकते हैं।

इससे भी आगे बढ़कर जैनकर्म-विज्ञान ने मनुष्यजाति के ही नहीं समस्त प्राणिमात्र तक के भावों-परिणामों की चित्र-विचित्र धारा के अनुसार बंधनेवाले कर्मों की प्रकृति (स्वभाव), उसके परिमाण (स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप में मात्रा), तथा उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम भावों से विविध रूप में बंधने तथा उदय में आने वाले कर्मों का भी तथा उन-उन कर्मों की कालसीमा (स्थिति) का भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप से विचार किया है।

जैनकर्मविज्ञान ने संसार की सभी आत्माओं को परमात्मसदृश माना है

जैनकर्मविज्ञान की महत्ता इसी से उजागर हो जाती है कि दूसरे दर्शनों, धर्मों और मत-पंथों ने संसार की सभी आत्माओं को परमात्मा के समान नहीं माना; उनका विशेषतः ईश्वरकर्तृत्ववादी दर्शनों का यह मन्तव्य रहा कि परमात्मा (ईश्वर) तो एक ही हो सकता है, वही सभी जीवों का नियन्ता, तथा कर्मफलदाता एवं कर्मप्रेरक है, सभी जीव ईश्वर बन जाएँगे तो उनमें परस्पर विचार-भेद-मतभेद होंगे और जगत् की सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। इस पर हमने इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड 'कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन' में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को प्रस्तुत करके समस्त शंकाओं का सयुक्तिक समाधान कर दिया है। यहाँ तो जैनकर्मविज्ञान की महत्ता के सन्दर्भ में इसका उल्लेख किया गया है।

जैनकर्मविज्ञान में आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध दोनों स्वरूपों का विशद वर्णन

वस्तुतः जैनकर्मविज्ञान में संसार के समस्त आत्माओं के शुद्धस्वरूप की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए निश्चयनय की दृष्टि से ऐसा कथन किया है, कि आत्मा का शुद्ध, निष्कलंक, कर्ममुक्त, निर्विकार स्वरूप परमात्मा के ही समान है। किन्तु साथ ही कर्मविज्ञान को यह बताना भी आवश्यक था कि कर्मबद्ध जीवों की आत्मा में

१. (क) प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः। —तत्त्वार्थसूत्र ८/२
- (ख) जोगा पडिय-परसं, टिइ-अणुभागं कसयजो कुणइ। —पंचम कर्मग्रन्थ गा. १६
- (ग) विस्तृत विवरण के देखें 'कर्मविज्ञान' का बन्धप्रकरण।
२. देखें-कर्मविज्ञान प्रथम भाग के द्वितीय खण्ड में 'कर्मवाद पर प्रहार और संचार' निबन्ध

परमात्मभाव होते हुए भी वह वर्तमान में कर्मों से आवृत है। इस कारण उसने कर्म-बन्ध का कारण, कर्म आगमन के स्रोत एवं कर्म से आंशिक मुक्ति एवं सर्वथा मुक्ति इत्यादि तथ्यों का साथ-साथ में प्रतिपादन भी किया है।

निष्कर्ष यह है कि जैनकर्मविज्ञान वेदान्तदर्शन की तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सारा ही दृश्यमान जगत् ब्रह्म है, कहकर केवल निश्चयनय (आदर्श) की बात ही कहता तो उसके सामने यह प्रश्न समुपस्थित होता कि संसार के विविध प्राणियों में गति, इन्द्रिय, क्लृप, योग, वेद (ऋग), कषाय आदि को लेकर प्रत्यक्ष दृश्यमान विविधताएँ, विषदृशताएँ, विषमताएँ या विचित्रताएँ क्यों हैं? प्राणियों की ये विभिन्न अवस्थाएँ, क्यों हैं और कब तक? तथा इन उपाधियों से विकृत बनी हुई एवं आत्मा के विशुद्ध-स्वभाव (परमात्मभाव) से दूर आत्माएँ कैसे और कब अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगी? इसी प्रकार प्रश्नों का समाधान किये बिना आदर्श की बात कहता तो वेदान्त आदि की तरह खाली हो जाता, अथवा मीमांसादर्शन की तरह केवल मानवजातिलक्ष्यी हो जाता।

यही कारण है कि जैनकर्मविज्ञान ने आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ उसके दृश्यमान वर्तमानकालिक व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन किया है। जैनकर्मविज्ञान ने आत्मा की इन दृश्यमान अवस्थाओं को वैभाविक या कर्मोपाधिक (वेदान्त की भाषा में मायिक) बताकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप (स्व-भाव) की पृथक्ता की सूचना की है।

अन्य दर्शनों के साहित्य में आत्मा की विकसित दशा का वर्णन तो विशदरूप से देखने को मिलता है, किन्तु अविकसित दशा में इसकी क्या स्थिति होती है? विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने से पूर्व आत्मा ने किन-किन अवस्थाओं को पार किया एवं उन अवस्थाओं में आत्मा की क्या दशा होती है? आत्मा के आध्यात्मिक विकास का मूलाधार क्या है? इन और इस प्रकार की जिज्ञासाओं का समाधान एवं निरूपण बहुत ही अल्प-प्राण में मिलता है। जबकि जैनकर्मविज्ञान ने इन सब तथ्यों एवं स्थितियों का वर्णन अतीव विशद और विपुलरूप में किया है।^१

जैनकर्मविज्ञान द्वारा जीवों की सभी अवस्थाओं का वर्णन

तात्पर्य यह है कि जैन-कर्म-विज्ञान सांसारिक जीवों के सिर्फ भेद-प्रभेद बता कर ही नहीं रह जाता, अपितु उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने के साथ ही यह भी निरूपण करता है कि अमुक-अमुक अवस्थाएँ औपाधिक, वैभाविक या कर्मकृत होने

१. (क) श्रेष्ठ-कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. मय्यनलजी) प्रस्तावना पृ. १७

(ख) पंचमंथक भा. १० का अंककर्म-विचार अंश ही मिश्रीनल जी महाराज) पृ. १७

से अस्थायी तथा हेय हैं और अमुक-अमुक अवस्थाएँ स्वाभाविक होने के कारण स्थाय तथा उपादेय हैं।' इससे स्पष्टतया यह ध्वनित हो जाता है कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, अध्यात्म-विकासशील है।

ऐसी स्थिति में वह वर्तमान में प्राप्त अथवा कृतकर्मों के कारण उपलब्ध औपाधिक या वैभाविक अवस्थाओं से कैसे मुक्त हो सकता है और किस प्रकार, किस विधि से अपनी स्वाभाविक एवं वर्तमान में सुप्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-तत्प की स्वाभाविक शक्तियों को जागृत या प्रादुर्भूत कर सकता है, तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप, शुद्ध स्व-भाव का किस प्रकार विकास कर सकता है ?

जैनकर्मविज्ञान की महत्ता को प्रमाणित करने वाले कार्य

जैनकर्म-विज्ञान की महत्ता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि उसने कर्मों का ही स्वरूप, स्रोत, बन्ध और उनके भेद-प्रभेद बताकर ही छुट्टी नहीं पा ली, अपितु इसके साथ ही कर्मों से मुक्त होने तथा आने वाले नये कर्मों को रोकने तथा पहले बांधे हुए कर्मों से छूटने एवं सर्वथा कर्ममुक्त होने का उपाय भी संवर, निर्जरा और मोक्ष के रूप में बताया है।

इतना ही नहीं, शरीर और आत्मा की अभिन्नता अथवा शरीर से सम्बन्धित शरीर, अंगोपांग, इन्द्रियाँ, मन, वाणी, बुद्धि, तथा स्व-जन परिजन, धन, मकान, जमीन आदि पर-पदार्थों-परभावों में आत्मभाव (आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति रूप स्वाभाविक निजीगुण) को अपना (मेरा) मानने की अहंत्व-ममत्व बुद्धि को जैनकर्म-विज्ञान पृथक्-पृथक् विश्लेषण करके बताता है। और स्व एवं पर के अभेद भ्रम को दूर करके भेदविज्ञान की प्रेरणा देता है। जिनकी रुचि और दृष्टि जैनकर्मविज्ञान के द्वारा खुल गई है, वे स्व-पर के अभेदभ्रम को दूर करके भेद-विज्ञान की सचाई को समझ लेते हैं, और बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनकर परमात्मभाव की ओर अपने कदम बढ़ाते हैं।

फिर जैनकर्मविज्ञान पहले कर्मों के घातिकरूप को क्षय करने की प्रेरणा देता है। अर्थात् वह अभेदभ्रम के कारण इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग से उत्पन्न होने वाले आर्त-रौद्र ध्यान से हटाकर, भेदविज्ञान की ओर झुकाता है, धर्म-ध्यान में प्रेरित करता है और फिर स्वाभाविक अभेद ध्यान (शुक्लध्यान) की ओर जिज्ञासु एवं मुमुक्षु को ले जाता है।

इस प्रकार जैनकर्मविज्ञान आत्मा को कर्मों के जाल से निकालकर सर्वकर्ममुक्त, सर्वदुःखों से प्रहीण, अनन्तज्ञानादिचतुष्टय से युक्त उस आत्मा को अध्यात्म के सर्वोच्च

शिवर पर पहुँचने की प्रेरणा करता है। अर्थात्—वह जिज्ञासु आत्मा को कर्मयुक्त न रहने का स्वकीय आध्यात्मिक पुरुषार्थ से उसमें परमात्मा बनने का भाव जागृत कर देता है।

जैनकर्मविज्ञान द्वारा प्रत्येक जीव की कर्मजन्य सभी अवस्थाओं का वर्णन

अन्य दर्शन और धर्म-पंथ जहाँ जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्राप्त होने की सामान्य बात कहते हैं, वहाँ जैनकर्म-विज्ञान ने संसारगत असंख्य प्रकार के बीजों की गति, इन्द्रिय, काय, योगत्रय, वेद, कषाय, आदि की अपेक्षा से कर्मबन्ध, कर्मों, कर्म की सत्ता, आदि का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है, इनकी पृथक्-पृथक् मार्गणा के माध्यम से।

जीवों की अनन्त भिन्नता का चौदह मार्गणाओं द्वारा वर्गीकरण

बूँकें संसार में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव का बाह्य और आन्तरिक जीवन भी एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् है। शरीर की आकृति, रचना, डील-डौल, इन्द्रियों की आवृत्ति, रंग-रूप, चाल-ढाल, कद, शरीरशक्ति, विचारशक्ति, मनोबल, कषयादि विकार-जन्य भाव और आचरण (चारित्र्य) आदि समस्त विषयों में एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है। और यह भिन्नता कर्मजनित औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा शक्ति भावों पर एवं सहज पारिणामिक भावों पर निर्भर है। इन अनन्त भिन्नताओं को जैनविज्ञानपरंगत ज्ञानी महर्षियों ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर संक्षेप में चौदह मार्गणों में विभाजित किया है। इन्हें मार्गणा शब्द से परिभाषित किया गया है, वह शक्ति कि जिस प्रकार से अथवा गति आदि जिन अवस्थाओं-पर्यायों आदि में संसारी जीवों को देखा गया है, उनकी उसी रूप में मार्गणा-गवेषणा या विचारणा करना ही 'मार्गणा' है। संसार के अनन्त-अनन्त जीवों की बाह्य एवं आन्तरिक कर्मजन्य अनन्त भिन्नताओं के उक्त बुद्धिगम्य वर्गीकरण को कर्मविज्ञानशास्त्र में 'मार्गणा' कहा गया है। ये १४ मार्गणाएँ इस प्रकार हैं—

(१) गतिमार्गणा, (२) इन्द्रियमार्गणा, (३) कायमार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) शक्ति-मार्गणा, (६) कषायमार्गणा, (७) ज्ञानमार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) सत्त्व-मार्गणा, (१०) लेश्यामार्गणा, (११) भव्य-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्वमार्गणा,

१. जैनधर्म का प्राण (पं. सुखलालजी) उद्धृत (अध्यात्म विज्ञान प्रवेशिका) से पृ. ३

२. (क) जाहिं व जासु व जीवा मग्गिज्जंते, अहा तथा दिट्ठा।

(ख) तृतीय कर्म ग्रन्थ (सरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज) प्रस्तावना (श्रीचंदजी सुराना देवकुमार जैन) से पृ. २

(१३) सङ्गिमार्गणा और (१४) आहार-मार्गणा। इन चौदह विभागों के ६२ अवान् भेद हैं।

इनके लक्षण तथा इन मार्गणा की विधि के विषय में हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में 'कर्म के अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्-वैचित्र्य' शीर्षक निबन्ध में संक्षिप्त निरूपण किया है। अतः यहाँ इस विषय में अधिक न कह कर इतना ही कहना है, जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने संसार के अनन्त जीवों की अनन्त भिन्नताओं का कर्मजन्य निरूपण बहुत ही खूबी से किया है।

जीवों का आध्यात्मिक विकास क्रम १४ गुणस्थानों में

साथ ही इन १४ प्रकार की मार्गणाओं के माध्यम से जीवों के आध्यात्मिक गुणों के विकास-क्रम की १४ अवस्थाओं का भी निरूपण जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने किया है। जीवों के आध्यात्मिक विकास-क्रम को ध्यान में रखकर ज्ञानी पुरुषों ने इस प्रकार से भी १४ सोपान निर्धारित किये हैं, जिन्हें जैनदर्शन की परिभाषा में गुणस्थान कहा जाता है।

आध्यात्मिक विद्या के प्रत्येक अध्येता की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार कषायों और त्रिविधयोगों के कारण सम्बद्ध कर्मों से क्रमशः छुटका पाकर किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है, तथा विकास के समय उसे कैसी-कैसी अवस्था की अनुभूति होती है? इस जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से भी जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों ने विभिन्न जीवों के विकास-मार्ग की इन क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं को १४ भागों में विभाजित किया है। इन १४ विकास-स्थितियों को चतुर्दश गुणस्थान कहा गया है।

इस गुणस्थान क्रम विभाग में ज्ञानीजन जीवों की मोह कर्म और अज्ञान की प्रथम गुणस्थानवर्ती प्रगाढ़तम-निम्नतम अवस्था से लेकर जीव की मोहरहित एवं योगशील

१. (क) गइ-इदि ए काए जोए-वेए-कसाय-णाणेसु।

संजम-दंसण-लेसा भव-सम्मे सन्नि-आहारे ॥- चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ९

(ख) गइ-इदि एसु काये जोगे वेदे कसाय-णाणे य।

संजम-दंसण-लेसा भविया सम्पत्त-सण्णि-आहारे ॥ गोमटसार (जीवकाण्ड) गा. १११

२. देखें-कर्मविज्ञान प्रथम खण्ड में 'कर्म के अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्-वैचित्र्य' शीर्षक निबन्ध

३. चौदह गुणस्थान ये हैं-(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) अधिरति सम्पद्दृष्टि, (५)

देशधिरति श्रावक, (६) प्रमत्तसंयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) नियदृष्टिबाध, (९) अनियदृष्टिबाध,

(१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगिकेवली, और (१४)

अयोगिकेवली गुणस्थान।

-समवायांग १४वां समवाय

कों से सर्वथा मुक्त चतुर्दश गुणस्थानवर्ती ज्ञानादि अनन्त चतुष्टययुक्त उच्चतम अवस्था-मुक्तदशा तक का निरूपण करते हैं।

कर्मविज्ञान इस गुणस्थानक्रम द्वारा यह बताता है कि गाढ़ कर्मबद्ध जीव निम्नतम स्थित्यात्वदशा से शनैःशनैः मोहकर्म के आवरणों को दूर करता हुआ तथा रत्नत्रय साधना से कर्मों का सर्वथा क्षय करता हुआ, आत्मा के निजी गुणों-ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति का किस प्रकार विकास करके चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है।¹

जैनकर्मवैज्ञानिकों ने प्रत्येक प्रकार के जीव के अथ से इति तक, अर्थात् जन्म से मृत्युपर्यन्त ही नहीं, संसार दशा (कर्मबद्धता) से लेकर मोक्षदशा (सर्वथा कर्ममुक्ति) प्राप्त होने तक की विविध अवस्थाओं का निरूपण कर्मविज्ञान द्वारा किया है।

श्लेष्क जीव की विशेषता बताने के लिए पाँच विषयों का निरूपण

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने कर्मविज्ञान में बहुत ही सूक्ष्मता से निम्नोक्त ५ विषयों का मुख्यतया निरूपण किया है—(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) औदयिक आदि पाँच भाव एवं (५) संख्या।²

जीवस्थान का १४ भेदों में वर्गीकरण

सर्वप्रथम जीवस्थान में सांसारिक अवस्था की अपेक्षा से कर्मबद्ध जीवों के १४ भेद (स्थान) बताए गए हैं—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) बादर एकेन्द्रिय, (३) द्वीन्द्रिय, (४) त्रिन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय, (६) असंज्ञि-पंचेन्द्रिय, और (७) संज्ञिपंचेन्द्रिय; इन सातों के अन्तर्गत और अपर्याप्तरूप से दो-दो प्रकार हैं। इस प्रकार जीवों को संक्षेप में कुल १४ भेदों में वर्गीकृत किया गया है।

इनमें जीवत्वरूप सामान्य धर्म की अपेक्षा से समानता होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा से जीव अनन्त हैं। इनकी कर्मजन्य अवस्थाएँ भी अनन्त हैं। छद्मस्थ के लिए श्लेष्क जीव की व्यक्तिशः अवस्था का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है, इसलिए विशेषज्ञों शास्त्रकारों एवं कर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने सूक्ष्म एकेन्द्रियत्व आदि जाति की अपेक्षा से श्लेष्क १४ वर्ग किये हैं। जिनमें सभी प्रकार के संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।³

जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान एवं भाव में कौन हेय, कौन उपादेय?

दस्तुतः जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान तथा पंचभाव, ये सांसारिक

1. गुणस्थानों के स्वरूप का विशेष वर्णन उत्तरार्द्ध के बन्ध प्रकरण में देखें।

2. कर्मग्रन्थ भाग ४ (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना पृ. ७

3. इह सुहम-बायरेगिदि - बि - ति - चउ - असनि - सनि - पचिंटी।

अपञ्जता - पञ्जता, कमेण चउदस जियड्डाणा॥ -कर्मग्रन्थ भाग ४, गा. २

जीवों की विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के निरूपण से यह जाना जा सकता है कि जीवस्थानरूप १४ अवस्थाएँ जाति-सापेक्ष हैं, अथवा शारीरिक रचना के विकास या इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। वास्तव में ये सब कर्मकृत (कर्मोपाधिक) या वैभाविक होने के कारण आत्मा से भिन्न हैं, पर हैं, अशाश्वत हैं, स्वकीय नहीं हैं, अहेय हैं।^१

मार्गणास्थान के बोध से यह ज्ञात हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव या स्वाभाविक अवस्था रूप नहीं हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्पत्त्व, क्षायिक चारित्र और अनाहारकत्व के अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएँ न्यूनाधिकरूप में स्वभाव बाह्य हैं। अतएव आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक जीवों के लिए अनन्तः हेय ही हैं।

गुणस्थान के परिज्ञान से यह विदित हो जाता है कि गुणस्थान आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाली आत्माओं की उत्तरोत्तर विकास सूचक भूमिकाएँ हैं। पूर्वपूर्व भूमिका के समय उत्तर-उत्तरवर्ती भूमिका उपादेय होने पर भी चौदहवीं परिपूर्ण विकास की भूमिका प्राप्त कर लेने के बाद सभी भूमिकाएँ स्वतः ही छूट जाती हैं। पंच भावों का परिज्ञान होने पर यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावों को छोड़कर अन्य सब भाव भले ही उत्क्रान्तिकाल में उपादेय हों, पर अन्त में हेय ही हैं।

इस प्रकार जैनकर्मविज्ञान ने आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करके कर्ममुक्त स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करने का संकेत कर दिया है।^२ इससे प्रत्येक जिज्ञासु और मुमुक्षु ही नहीं, सामान्य बोधवान् मानव को भी जैनकर्मविज्ञान की महत्ता का अनुभव हो सकता है।

गुणस्थान-निरूपण का उद्देश्य

जैनकर्मविज्ञानमर्मज्ञों का कर्म के सन्दर्भ में गुणस्थानों का निरूपण करने का उद्देश्य भी यही था कि सांसारिक जीव, पहली निकृष्ट गाढ़ मिथ्यात्व एवं अज्ञान के अवस्था से निकल कर अपनी आत्मिक स्व-भावचेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदीलत शनैः शनैः उन शक्तियों के विकासानुरूप उत्क्रान्ति करता हुआ विकास के सर्वोच्च शिखर-अन्तिम सीमा तक पहुँचे, जो कि आत्मा का परम साध्य है।

१. एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।

बहिर्भवाः सन्त्यपरे सप्तस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

—सामयिक पाठ (अभितगति) श्लोक २६

२. कर्मग्रन्थ चतुर्थ (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना पृ. ८-९

इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को उत्तरोत्तर क्रमशः अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को विकासक्रम, अथवा जैनकर्मशास्त्रीय भाषा में गुणस्थानक्रम कहते हैं। जैनकर्म-विज्ञान के द्वारा प्रत्येक मुमुक्षु या जिज्ञासु व्यक्ति आत्मा के अन्तिम साध्य को स्पष्टतः समझ सकता है कि यही विकास की पराकाष्ठा है, परमात्मभाव के साथ तादात्म्य है, साक्षात्कार है, जीव से शिव होना है, अथवा वेदान्त दर्शनसम्मत ब्रह्मभाव है। और यह भी स्पष्ट जान जाता है कि इस साध्य तक पहुँचने के लिए आत्मा को किन-किन बाधक तत्त्वों, विरोधी-संस्कारों अथवा कर्मों के कारणभूत कषायों या मोहकर्म आदि के साथ जूझना, उन्हें दबाना, रोकना और उन्हें परास्त करना पड़ता है ?^१

जीवस्थानों में गुणस्थान का, मार्गणास्थानों में दोनों का निरूपण

जैनकर्मविज्ञान इतना ही बोध कराकर नहीं रह जाता, बल्कि वह विभिन्न जीवस्थानों में गुणस्थानों का निरूपण भी करता है, तथा कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का भी प्रतिपादन करता है। तथा चौदह मार्गणास्थानों में जीवस्थान और गुणस्थान का भी निरूपण करता है। तथा चौदह गुणस्थानों में भी जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, कर्मविषयक बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्प-बहुत्व इन दस विषयों का वर्णन करता है।^२

मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर

मार्गणास्थान में किया जाने वाला विचार कर्म की अवस्थाओं के तारतम्य का सूचक नहीं है, किन्तु मार्गणाओं द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक भिन्नताओं से थिरे हुए सांसारिक जीवों का विचार किया जाता है; जबकि गुणस्थानों द्वारा जीव से सम्बद्ध कर्मपटलों के, खासकर मोहनीय कर्म के तरतमभावों और मन-वचन-काय व्यापाररूप योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का बोध प्राप्त किया जाता है।

मार्गणाएँ जीवों के विकास क्रम की बोधक नहीं हैं, किन्तु वे उनके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का विविधरूप से पृथक्करण करती हैं। इसके विपरीत, गुणस्थान जीवों के विकास क्रम को बताते हैं, तथा विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण करते हैं।

मार्गणाएँ सांसारिक जीव की सहभाविनी हैं, जबकि गुणस्थान क्रमभावी हैं। यही कारण है कि प्रत्येक जीव में किसी न किसी प्रकार से एक साथ चौदह मार्गणाएँ पाई

१. कर्मग्रन्थ द्वितीय (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना पृ. ७

२. चतुर्थ कर्मग्रन्थ (पं. सुखलालजी) प्रस्तावना पृ. ७ से।

जाती हैं, जबकि गुणस्थान एक जीव में अमुक काल तक चौदह में से एक ही हो सकता है, कर्मों के उत्तरोत्तर क्षय अथवा मोहकर्म के उत्तरोत्तर मन्दतर होने से पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़कर उत्तरोत्तर उच्च गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते हैं और आध्यात्मिक विकास को वृद्धिगत किया जा सकता है; किन्तु पूर्व-पूर्व मार्गणाओं को छोड़कर न तो उत्तरोत्तर मार्गणा प्राप्त की जा सकती है, और न ही इनसे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है।

तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त केवलज्ञानी तथा घातिकर्मचतुष्टयरहित जीव में कषाय को छोड़कर सभी मार्गणाएँ पाई जाती हैं, मगर गुणस्थान केवल एक ही तेरहवाँ पाया जाता है। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान में भी तीन-चार मार्गणाओं के सिवाय सभी मार्गणाएँ होती हैं, जो विकास में बाधक नहीं हैं, पर गुणस्थान केवल अन्तिम चौदहवाँ होता है।^१

जीवस्थान एवं मार्गणास्थान में कौन हेय, ज्ञेय, उपादेय?

जीवस्थान जीवों के शारीरिक विकास और इन्द्रियों की न्यूनधिकता का बोधक है। जीवस्थान कर्मजन्य होने से हेय ही हैं। मार्गणास्थानों में जो अस्वाभाविक हैं, वे हेय हैं, किन्तु गुणस्थान विकास की श्रेणियाँ होने से ज्ञेय एवं उपादेय हैं। कर्मविज्ञान से इनके द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि इस स्थिति में वर्तमान जीव ने विकास की किस भूमिका पर आरोहण कर लिया है और विकासोन्मुखी आत्मा आगे किस अवस्था को प्राप्त कर सकेगी।

वस्तुतः मार्गणास्थान^२ के ६२ भेदों में १४ जीवस्थानों तथा गुणस्थानों की सम्भावना का अन्वेषण करके जैनकर्मविज्ञान ने अपनी महत्ता सिद्ध कर दी है।

अन्यदर्शनों में कर्म-सम्बन्धी वर्णन नाममात्र का है

अन्य कर्मतत्त्वरूपक दर्शनों एवं धर्मों में कर्मों के विषय में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। योग दर्शन में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय^३ बताकर सामान्यरूप से कर्मों के बन्ध, मोक्ष और संवर-निर्जरा का संकैत जरूर किया गया है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन

१. तृतीय कर्मग्रन्थ (मरुधर केसरी जी महाराज) पृ. ३

२. मार्गणा के ६२ भेद—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८, संयम ७, दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, सम्पत्कत्व ६, संज्ञी २ तथा आहारमार्गणा २।

— कर्मग्रन्थ भाग ३ (मरुधर केसरी जी महाराज) पृ. ८

३. दैर्घ्य-योगदर्शन में—“हेयं दुःखमनागतम्। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। तदभावात् संयोगवशात् हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।”

—योगदर्शन साधनपाद सू. १६, १७, २५, २६

दुःख, दुःख समुदय, दुःखहान एवं दुःखहानोपाय भी इन चार तत्त्वों का सूचक है, किन्तु इन दोनों दर्शनों ने इनका विशेष विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण नहीं किया है, जबकि जैनकर्मविज्ञान ने बन्ध, आप्रव, मोक्ष, निर्जरा एवं संवर इन पाँच तत्त्वों द्वारा तथा आप्रव एवं बंध के अन्तर्गत पुण्य-पाप को समाविष्ट करने से सात तत्त्वों द्वारा सर्वांगपूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण करके जगत् के जीवों को महान प्रेरणा दी है।

इतना ही नहीं, जैनकर्मविज्ञान ने पंच संग्रह नामक बृहत्ग्रन्थ द्वारा योगोपयोग-पार्षणा, बन्धक (कर्म बाँधने वाले जीव), बन्धव्य (बाँधने योग्य अष्टविधकर्म), बन्धहेतु (बंध के कारण राग-द्वेष या कषाय और योग अथवा मिथ्यात्वादि पाँच) एवं बन्ध (कर्मपरमाणुओं का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना) तथा बन्ध विधि (बन्ध के प्रकृतिबन्धादि चार प्रकार) का सांगोपांग वर्णन करके कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादकों में सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लिया है।¹

कर्मप्रकृतियों के साथ बन्धादि का निरूपण जैन कर्म विज्ञान में ही

इसके अतिरिक्त छह कर्मग्रन्थों द्वारा जैनकर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने कर्म की मूल तथा उतर प्रकृतियों का निरूपण करने के साथ-साथ गुणस्थान-क्रम को आधार बनाकर जीवों की बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का वर्णन भी बहुत सूक्ष्मता से किया है।

गुणस्थान-क्रम के आधार पर जीव की बंधादि-योग्यता का निरूपण जैन कर्म विज्ञान में

संसारि जीव अनन्त हैं। उनमें से एक-एक व्यक्ति का निर्देश करके उसकी बन्धादि सम्बन्धी योग्यता बताना असम्भव है और एक व्यक्ति की भी बन्धादि से सम्बन्धित योग्यता सदैव एक-सी नहीं रहती; वह भी परिणामों की धारा के परिवर्तन के साथ प्रतिक्षण बदला करती है। अतः कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने देहधारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि की उक्कान्ति-अपक्रान्ति के आधार पर उनको १४ भेदों (स्थानों) में वर्गीकृत किया है, जिसे गुणस्थान-क्रम कहते हैं। १४ गुणस्थानों के माध्यम से अनन्त देहधारियों की बन्धादि सम्बन्धी योग्यता बतलाना बहुत ही आसान हो गया। और एक जीव (व्यक्ति) को बन्धादि योग्यता, जो प्रतिसमय बदला करती है, उसका प्रतिपादन भी १४ में से किसी न किसी गुणस्थान द्वारा किया जा सकता है। जैन कर्म विज्ञान मर्मज्ञों द्वारा सांसारिक जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तारतम्य का पूर्णतया वैज्ञानिक तथा अनुभवसिद्ध जौंच-पड़ताल करके गुणस्थान-क्रम के १४ विभागों के निरूपण से यह बतलाना या समझना सुगम हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या

1. देखें-पंचसंग्रह (चन्द्रार्धमहत्तर) भा. १ गा. ३

विशुद्धि वाला जीव, इतनी ही कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का, उदीरणा और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। अर्थात्-गुणस्थान-क्रम को लेकर प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता से सम्बन्धित योग्यता विशद रूप से बता दी है।

जैन कर्मविज्ञान में कर्म का क्रमबद्ध, व्यवस्थित और विस्तृत चिन्तन

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की आद्य इकाई है-कर्म का स्वरूप। कर्म के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। कोई कर्म को चेतननिष्ठ मानता है, और कोई अचेतन का परिणाम मानते हैं। इस मत-विभिन्नता के कारण कर्म के अस्तित्व का स्वीकार करने के बावजूद भी वे दार्शनिक कर्मवाद के अन्तर्-रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सके। किन्तु जैनकर्मविज्ञान ने कर्मविज्ञान पर जैसा सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्य दार्शनिकों ने नहीं किया।

वैदिक और बौद्ध-परम्परा में कर्म-विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ या शास्त्र उपलब्ध नहीं है, जबकि जैन परम्परा में कर्म का अतीव सूक्ष्म, सुव्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। कर्मविज्ञान से सम्बन्धित कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कम्मपणीस गोम्पटसार, महाबंधो, कसायपाहुड, बंधविहाणे, ठिड्बंधो, अणुभागबंधो, पयडिबंधो आदि महत्त्वपूर्ण विपुल ग्रन्थ जैन परम्परा में मिलते हैं। आगमों एवं आगमेतर ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र कर्म से सम्बन्धित चर्चाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

अथ से इति तक उठने वाले प्रश्नों का समाधान जैन कर्म विज्ञान में

कहना होगा कि जैन कर्म विज्ञान ने अथ से इति तक उठने वाले कर्म से सम्बन्धित प्रश्नों को समाहित किया है। कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं-कर्म क्या है? कर्म अचेतन पौद्गलिक है और आत्मा चेतन है, ऐसी स्थिति में आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहता है? आत्मा से सम्बद्ध कर्म कितने समय तक फल नहीं दे पाता? विपाक का नियत समय अथवा फल बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम होने चाहिए? क्या एक कर्म दूसरे कर्म रूप में परिवर्तित हो सकता है? उसकी बंधकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ कैसे बदली जा सकती हैं? बाद में विपाक (फल) देने वाला कर्म पहले कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है? आत्मा के सैकड़ों प्रयासों के बावजूद भी कर्म का विपाक बिना भोगे क्यों नहीं छूटता?, कितना ही बलवान कर्म हो, किन्तु उसका विपाक शुद्ध आत्म-परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता किस तरह है? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से

आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म कर्मरज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं? आत्मा अपनी वीर्योत्सा शक्ति से ऐसे सूक्ष्मरज के पटल को कैसे उठा फेंकता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से कैसे मलिन-सा प्रतीत होता है? सहस्रों बाह्य आवरणों के होते हुए भी आत्मा किस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त कर लेता है? वह अपनी उल्लान्तिवेला में पूर्वबद्ध तीव्रकर्मों को भी किस प्रकार क्षय कर डालता है? जब आत्मा अपने परमात्म-स्वरूप के दर्शन हेतु उत्सुक होता है, उस समय उसके और अन्तरायमूलक कर्म के बीच कैसा द्वन्द्वयुद्ध होता है? और अन्त में वीर्यवान् आत्मा किन परिणामों से बलवान् कर्मों को परास्त कर देता है? इस शरीरस्थ आत्म-मन्दिर में विराजमान परमात्म देव का साक्षात्कार कराने वाले सह्यक परिणामों (अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण) का क्या स्वरूप है? कुछ देर के लिए उपशान्त कर्म किस प्रकार गुलांट खाकर प्रगतिशील आत्मा को पछाड़ देते हैं? कौन-कौन-से कर्म बन्ध और उदय की अपेक्षा परस्पर विरोधी हैं? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है? किन कर्मों का फल देर से मिलता है? अतीन्द्रिय आत्म-सम्बद्ध कर्म किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल कर्मयोग्य पुद्गलों को खींच लेता है? और उनसे शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन, तैजस, कार्मण शरीर आदि का निर्माण करता है? ये और इसी प्रकार के अन्यान्य कर्म से सम्बन्धित संख्यातीत प्रश्नों का सपुक्तिक और विशद समाधान जैन कर्म विज्ञान के साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य में नहीं मिलता। यही जैन कर्म विज्ञान की महत्ता है।

जैन कर्म विज्ञान भी क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम पर आधारित

भौतिक विज्ञान की महत्ता जिस प्रकार उसके क्रिया और प्रतिक्रिया के अटल नियम से सिद्ध होती है उसी प्रकार जैन कर्मविज्ञान की महत्ता भी क्रिया-प्रतिक्रिया के अटल नियम से सिद्ध होती है। महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि क्रिया और प्रतिक्रिया एक साथ होती रहती हैं, अर्थात्—जीव जब कोई क्रिया (कर्म) करता है तो उसकी प्रतिक्रिया उसके द्वारा कृत कर्मानुसार उसकी आत्मा पर अवश्य अंकित होती है।

जैन कर्म विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि जब कोई जीव मन से, वचन से या काया से कोई क्रिया करता है तो उसके निकटवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन-चलन क्रिया प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न हो जाती है। विज्ञान के आधुनिक आविष्कार बेतार के तार (Wireless Telegraphy), रेडियो, टेलीविजन आदि के कार्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ये जब कार्य करते हैं तो

समीपवर्ती वायुमण्डल में हलचल उत्पन्न होकर उससे उत्पन्न लहरें दूर-दूर तक फैल जाती हैं। उन्हीं लहरों के पहुँचने से, बिना तार के वे शब्द एवं आकार रेडियो, टेलीविजन आदि में बहुत दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं और उन्हें जिस स्थान पर चाहें वहाँ पर अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार कर्मणवर्गणा के सूक्ष्म परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति आदि गुणों को आच्छादित कर देते हैं। वस्तुतः जैन कर्मविज्ञान कर्म को 'कम्प्यूटर' के समान बताता है, जो क्रिया करते ही उसके साथ राग-द्वेष की मात्रा एवं प्रकृति के अनुसार कर्म को कर्मणशरीर के रूप में आत्मा पर अंकित कर देता है।

जैन कर्म विज्ञान इन्हीं कर्म परमाणुओं को स्थूलरूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म; इन ८ मूल भागों में विभक्त करके उनकी १५८ उत्तर प्रकृतियाँ बताता है। इनका सूक्ष्म विश्लेषण, जिसमें प्रत्येक जीव के कण-कण और क्षण-क्षण में बँधने वाले, संचित (सत्ता में) रहने वाले, उदय में आने वाले, उदीरणा किये जाने तथा संक्रामित किये जाने वाले कर्मों का बारीक लेखा-जोखा है। साथ में इन आठों ही कर्मों के बन्ध के कारणों, सहकारणों, निमित्त कारणों आदि का भी वर्णन विस्तृतरूप से जैनकर्मविज्ञान में किया है। इन सबके अतिरिक्त जैन कर्म विज्ञान के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने संसार के प्राणियों विशेषतः मानवों को यह आशास्पद सन्देश दिया कि "चाहे करोड़ों भवों के कर्म संचित हो गए हों, बाह्य आभ्यन्तर तप के द्वारा उनका निर्जरण (क्षय) किया जा सकता है।"^१

संचित कर्मों का क्षय : संवर और तप से वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध है

स्वयं श्रमण भगवान् महावीर ने अपने पूर्व जन्मों के संचित कर्मों को, जो उनसे पूर्व हुए २३ तीर्थंकरों के सारे कर्मों को मिलाकर बराबर थे, अपनी उग्र तपस्या द्वारा क्षय कर दिया। तभी तो अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा भ. महावीर के तप को आवश्यकनिर्युक्ति में उग्र तप बताया है।^२ अतः कर्मविज्ञान ने वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संवर से नव्य कर्मनिरोध और तप (निर्जा) से प्राचीन कर्मक्षय करके आत्मा को अक्रिय-सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनाया जा सकता है।^३ जैन कर्म विज्ञान की महत्ता के ये सर्वतोभद्र विलक्षण मापदण्ड हैं।

१. "भवकोडि-सचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।" —उत्तराध्ययन सूत्र

२. 'उगं च तवोकम्मं विससतो वद्धमाणस्स।' —आवश्यक निर्युक्ति

३. सवणे नाणे य वित्राणे, पच्चक्खाणे य संजमे।

अणासवे तवे चेव, वोदाणे अकिरिय सिद्धि॥ —भगवती सूत्र

जैन कर्मविज्ञान की विशेषता

जैनकर्म-विज्ञान : सर्वांगीण जीवन-विज्ञान

जैनदर्शन का कर्म-विज्ञान समग्र जीवन से यानी जीवन के स्थूल-सूक्ष्म कार्यकलापों से सम्बन्धित होने के कारण जीवन-विज्ञान है। इसमें जीवन का जन्म से लेकर मृत्यु तक का, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था का, तथा इस जीवन से पहले के अनेक जीवनों के अच्छे-बुरे कर्मों का लेखाजोखा है। इतना ही नहीं, इसमें वर्तमान जीवन के आधार पर भावी जीवन का चित्रण भी है। संक्षेप में कहें तो जैन कर्म विज्ञान में, त्रैकालिक जीवन की समस्त स्थितियों का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। इसमें प्रत्येक जीव का जन्म क्यों, कब, कैसे, कहाँ और किस प्रकार के संयोगों में होता है? जन्म लेने के अनन्तर तन, मन, वचन, इन्द्रिय, आहार, श्वासोच्छ्वास तथा दशविध प्राण आदि कैसे, किन कारणों से प्राप्त होते हैं? इनसे सम्बन्धित विकार कौन-कौन-से हैं? उन विकारों की उत्पत्ति कैसे होती है? उनके कारण और निवारणोपाय क्या-क्या हैं? इत्यादि समस्त विषयों पर विशद प्रकाश डाला गया है। इसलिए जैनकर्मविज्ञान को सर्वांगीण जीवनविज्ञान कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

जैनकर्मविज्ञान : कर्मावृत्त दशा के साथ-साथ कर्ममुक्त दशा का भी प्ररूपक

जैनकर्मविज्ञान की विशेषता यह है कि यह आत्मा की केवल कर्मावृत्त दशा का ही वर्णन करके नहीं रह जाता, अपितु उसकी कर्ममुक्त दशा का भी वर्णन करता है। अर्थात् शुद्ध आत्मा कर्मों से कैसे लिप्त हो जाती है? कर्मों के बन्ध होने के बाद वह आत्मा पर क्या-क्या प्रभाव डालता है? किस-किस प्रकार की स्थिति में पहुँचा देता है? इस प्रकार की कर्मयुक्त दशा का भी वह सांगोपांग निरूपण करता है तो साथ ही यह भी निरूपण करता है कि वह शुभ-अशुभ कर्मों से कैसे बच सकता है? तथा पहले बाँधे हुए कर्मों से छुटकारा कैसे पा सकता है? कर्मों का जत्था बहुत अधिक हो और आयु स्वल्प हो, अथवा पापकर्मों का बन्धन अधिक हो, पुण्यकर्मों का कम हो तो कैसे उस विपुल संचित कर्मराशि को अल्पकाल में ही भोग कर क्षीण कर सकता है? अथवा अशुभ को शुभ में कैसे परिवर्तित कर सकता है और अन्त में कर्मों से सर्वथा मुक्त कैसे हो सकता है?

थोड़े-से शब्दों में कहें तो जीव कर्मयुक्त सामान्य आत्मा से कर्ममुक्त परमात्मा कैसे बन सकता है? इसकी सारी आधोपान्त विधि भी जैनकर्मविज्ञान स्पष्ट बताता है।

जैनकर्म-विज्ञान : एकेश्वरवाद के बदले अनन्त-परमात्मवाद का समर्थक

अन्य कतिपय दर्शन जहाँ ईश्वर को जगत् का नियन्ता तथा कर्मफल भुगताने वाला मानकर उस एक ही ईश्वर (परमात्मा) को मानते हैं, और अन्य किसी आत्मा को परमात्म-पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं देते। उस एकेश्वरवाद को—एक की मोनोपोली (एकाधिकार) को जैनकर्मविज्ञान नहीं मानता। उसका कहना है कि ईश्वर (परमात्मा) भी चेतन है, संसारी आत्मा भी चेतन है, दोनों में अन्तर यही है कि परमात्मा कर्ममुक्त है, संसारी आत्मा कर्मयुक्त है। अगर संसारी आत्मा ज्ञानादि की तथा वीतरागता आदि की साधना करके घाती एवं अधाती सभी कर्मों से रहित हो जाए, तो उसे कर्ममुक्त निरंजन निराकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनने में कौन-सी आपत्ति है? जैनकर्म-विज्ञान की यही विशेषता है कि उसने एकेश्वरवाद की मान्यता से विपरीत कर्मों से सर्वथा मुक्त अनन्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनने की मान्यता पर जोर दिया है।

जैनकर्म-विज्ञान : अनन्तज्ञानादि चतुष्टय-प्राप्ति का प्रेरक

जैनकर्मविज्ञान की इस सरल, सरस, सुगम एवं व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रीति-नीति को अपनाकर मानवमात्र राग-द्वेष, कषाय, काम, मोह आदि कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहकर जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, रति, अरति, जुगुप्सा, काम-वासना, तनाव, चिन्ता, अभाव, पराधीनता, दबाव आदि दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वह सदा के लिए इन सर्व दुःखोत्पादक कर्मों से मुक्त होकर संसार और शरीर से अतीत, अदिनाशी, शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अजर-अमर, निरंजन-निराकार, अनन्तज्ञानादि चतुष्टय का स्वामी हो सकता है।

जैनकर्मविज्ञान : आत्मा को परमात्मा बनाने की कला का शिक्षक

निष्कर्ष यह है कि जैनकर्मविज्ञान 'अप्या सो परमप्या'—आत्मा ही परमात्मा है इस सिद्धान्त को व्यवहार में क्रियान्वित करने की पद्धति बताता है, और आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करने की कला सिखाता है। कर्मविज्ञान यह भी स्पष्ट कर देता है कि यद्यपि वर्तमान में आत्मा परमात्मभाव से काफी दूर है, किन्तु परमात्मभाव का बीज

१. (क) ईश्वरकर्तृत्ववाद के निराकरण के लिए देखें—द्वितीय खण्ड का "कर्मवाद पर आक्षेप और परिहार" शीर्षक निबन्ध
- (ख) एकेश्वरवाद के खण्डन के लिए देखें—द्वितीय खण्ड का "कर्मवाद के अस्तित्वविरोधी वाद-२" शीर्षक निबन्ध

उसमें मौजूद है। कर्म का आवरण उस पर आया हुआ है। आवरण हट जाने पर चेतना अपने परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है, जिसे ही ईश्वरभाव या ईश्वरत्व-प्राप्ति कहा जाता है। अतः वर्तमान में आत्मा परमात्मा का अंश है, यह जो कहा जाता है, उसका मतलब है-आत्मा में अभी जितनी ज्ञानकला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, किन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंशमात्र है।^१

बहिरात्मा से अन्तरात्मा और परमात्मा बनने की प्रक्रिया : जैनकर्मविज्ञान में

जैनकर्मविज्ञान व्यक्त और अव्यक्त परम-आत्मा (शुद्ध आत्मा) के तीन विभाग करके आत्मा में परमात्मत्व-प्राप्ति की योग्यता का दिग्दर्शन कराता है। वे तीन विभाग ये हैं-बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीरादि आत्मबाह्य पर-भावों में जिसकी आत्मबुद्धि होती है, वह बहिरात्मा है। जिसने शरीर और आत्मा का अथवा परभाव और स्वभाव की अभिव्रता की भ्रान्ति दूर कर दी है, वह सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अन्तरात्मा है और जो अन्तरात्मा बन कर रागद्वेषादि से दूर रहता है और केवल ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, वह परमात्मभाव की ओर अपने कदम तीव्रता से बढ़ाता है और एक दिन स्वयं सिद्ध, बुद्ध, कर्म-मुक्त अशरीरी परमात्मा बन जाता है।^२

जैनकर्मविज्ञान कर्म के उभयपक्ष को समुचित स्थान देता है

जैनकर्मविज्ञान की एक विशेषता यह भी है कि वह कर्म के भौतिक (पौद्गलिक) एवं भावात्मक दोनों पक्षों को समुचित यथायोग्य स्थान देकर जड़ (द्रव्यकर्म) और चेतन (भावकर्म) के बीच एक वास्तविक सम्बन्ध बताता है। सांख्यदर्शन एवं योगदर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतः जड़ 'प्रकृति' से सम्बन्धित है, इसलिए वहाँ प्रकृति ही बन्धनमुक्त होती है और बन्धनमुक्त भी वही होती है। बौद्धदर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतः चेतना से सम्बन्धित है, इसलिए चेतना ही बन्धनबद्ध होती है, और वही बन्धनमुक्त होती है। न्यायदर्शन कर्म को चेतननिष्ठ मानता है। किन्तु जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने इन सबको एकांगी दृष्टिकोण माना। उन्होंने कहा कि कर्म का एकान्त जड़ (चेतनाहीन) पक्ष माना जाएगा तो वह आकारहीन विषयवस्तु होगा, और यदि कर्म का एकान्त चैतनिक पक्ष माना जाएगा तो वह विषयवस्तुहीन आकार होगा।^३ ये दोनों ही एकांगी और वास्तविकता से रहित हैं। इस विषय में डॉ. नथमल टांटिया के विचार जैनकर्मविज्ञान-सम्मत और मननीय हैं—“कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ और चेतन के बीच में योजक

१. देखें-कर्मग्रन्थ भाग १ प्रस्तावना (पं. सुखलालजी) पृ. १८

२. वही, प्रस्तावना पृ. १८

३. देखें-जैनकर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. १७.

कड़ी है। यह चेतन और चेतन-संयुक्त जड़ के पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगिता को अभिव्यक्त करता है।^१

जैनकर्मविज्ञान आत्मा और कर्म-परमाणुओं (भौतिक तत्त्व) के बीच तादात्म्य सम्बन्ध न मानकर दोनों का संयोग सम्बन्ध मानता है। जबकि चार्वाक आदि भौतिकवादी दार्शनिकों ने जड़द्वैतवाद यानी आत्मा और कर्म दोनों को जड़ मानकर छुड़ी पा ली। उधर शांकर वेदान्त और बौद्धदर्शन ने चैतन्याद्वैतवाद स्वीकार किया। पश्चिम जगत् में बर्कले ने भी जड़ की सत्ता को मनस् से पृथक् स्वतन्त्र न मानकर ऐसी ही एकत्ववाद की मान्यता को प्रश्रय दिया था। किन्तु एकत्ववाद में कर्मों के संवर, निर्जा और मोक्ष की समुचित व्याख्या संभव नहीं। पश्चिम में यह समस्या 'देकार्त' के सामने भी आई। उसने इस समस्या का हल प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया। लेकिन चेतन और जड़ की स्वतंत्र सत्ताओं में प्रतिक्रिया कैसे सम्भव है? स्पिनोजा ने उसके बदले 'समानान्तरवाद' का और 'लाईबनीज' ने प्रतिक्रियावाद की कठिनाइयों से बचने के लिए सृष्टि निर्माण के समय ईश्वर द्वारा पूर्व-स्थापित 'सामंजस्यवाद' का प्रतिपादन किया।^२

कर्मविज्ञान ने आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध कार्मण शरीर द्वारा माना

इस प्रकार पाश्चात्य जगत् में जो समस्या अचेतन शरीर और सचेतन आत्मा या चेतन को लेकर थी, वही भारतीय दार्शनिकों के समक्ष प्रकृति, त्रिगुण, या कर्मपरमाणु और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर थी। अगर गहराई से सोचें तो यह समस्या शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को लेकर है। समस्त देहधारियों की आत्मा के साथ अनादिकाल से पुद्गल-निर्मित शरीर है। शरीर हलन-चलन कार्य या कर्म का माध्यम है, और आत्मा चेतना, ज्ञान या अनुभूति का माध्यम। बिना आत्मा के सभी पुद्गलात्मक शरीर निष्क्रिय, निर्जीव और जड़ हैं। किसी भी शरीर में जब तक आत्मा रहती है, तभी तक वह शरीर या पुद्गल (कर्मवर्गणा के पुद्गल) काम करते हैं; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार विद्युत्-संचालित सब प्रकार की मशीनें। विद्युत्-संचालित यंत्र या तंत्र विभिन्न प्रकार की बनावटों वाले होते हैं, किन्तु बिना बिजली के कुछ भी काम नहीं कर सकते।

इसी प्रकार देहधारियों के शरीर की बनावट विभिन्न प्रकार की होती है, वे सभी आत्मा के रहने पर ही काम करते हैं। स्थूल शरीर तो विनाशशील है, वह तो एक जन्म तक ही रहता है, फिर अगले जन्म या जन्मों में कर्मों का निर्यात अथवा पूर्वजन्म या जन्मों

१. देखें—Studies in Jain Philosophy, p. 228.

२. जैनकर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. १७

के कर्मों का आयात आत्मा के बिना कैसे हो सकता है? इस समस्या के समुचित समाधान के लिए जैनकर्मविज्ञान ने तैजस और कर्मण शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) माना है जो पूर्वजन्मकृत अभुक्त कर्मों का आत्मा के साथ इस जन्म में आयात भी करता है और इस जन्म में किये हुए अभुक्त कर्मों का अगले जन्म या जन्मों में निर्यात भी करता है।^१ इस प्रकार जैनकर्मविज्ञान द्वारा आत्मा के साथ कर्मशरीरजन्म कर्मों के सम्बन्ध की विधिवत् विशद एवं वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की गई है।

कर्मों का वर्गीकरणपूर्वक विवेचन जैनकर्मविज्ञान में ही

यद्यपि अन्य दर्शनों एवं धर्मशास्त्रों में कर्मों एवं कर्मफलों का सामान्यरूप से वर्णन मिलता है, किन्तु कर्मों को उनकी विविध प्रकृतियों के अनुसार मूल ८ और उत्तर १४८ श्लोकों में वर्गीकृत करके उनके माध्यम से सांसारिक आत्माओं की अनुभवसिद्ध विभिन्न अवस्थाओं का जैसा स्पष्टीकरण जैनकर्मविज्ञान में किया गया है, वैसा किसी भी जैनैतर दर्शन एवं धर्मशास्त्र में नहीं मिलता। पातंजल योगदर्शन में कर्म के जाति, आयु और शेष-ये तीन प्रकार के विपाक बतलाये गये हैं, परन्तु जैनकर्मविज्ञान में विविध रूपों में वर्गीकरण करके जिस प्रकार विभिन्न कर्मों के तदनुरूप विपाक का निरूपण किया गया है, वैसा निरूपण अन्यत्र नहीं मिलता। यही जैनकर्मविज्ञान की विशेषता है।

ऐसा कर्मफल का सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलता

डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जैनकर्मविज्ञान के व्यवस्थित निरूपण से प्रभावित होकर अपना मन्तव्य प्रकट किया है—“कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जाता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता।”^२

जैनकर्मविज्ञान का साहित्य : व्यापक एवं विराट् वैज्ञानिक रूप में

वस्तुतः जैनकर्मविज्ञान के साहित्य में कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैनदर्शन में प्रतिपादित कर्मव्यवस्था का जो व्यापक एवं विराट् वैज्ञानिक रूप मिलता है, वैसा किसी भी भारतीय परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन-परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण एवं विचक्षण है। पूर्णतः आगमिक साहित्य से अद्यावधि प्रकाशित साहित्य में कर्मविज्ञान का विकास,

१. चिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित ‘कर्म और आधुनिक विज्ञान’ लेख से पृ. ३१२

२. देखें-अशोक के फूल (भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या) से, पृ. ६७

प्रचार, शोध, अनुसन्धान एवं विवेचन किस प्रकार हुआ है,' इसका पर्याप्त उल्लेख हम कर्मविज्ञान के द्वितीय खण्ड—'कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन' के निबन्धों में का चुके हैं।

जैन परम्परा में कर्मवाद का सुव्यवस्थित वैज्ञानिक रूप

यह सत्य है कि भारतीय दार्शनिकों ने कर्मवाद की स्थापना में योगदान दिया है, किन्तु जैन-परम्परा में कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित एवं विज्ञानसम्मत रूप उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। वैदिक और बौद्ध साहित्य में कर्म-सम्बन्धी विचार इतना स्वल्प है कि इन दोनों परम्पराओं में कर्म विषयक कोई महत्त्वपूर्ण एवं स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जबकि जैन परम्परा के साहित्य में कर्म सम्बन्धी सभी पहलुओं से लिखे हुए अनेक स्वतंत्र एवं विशाल ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कर्मविज्ञान पर अत्यन्त सुव्यवस्थित, सूक्ष्म एवं बहुत ही विस्तृत विवेचन है। अतः यह साधिकार कहा जा सकता है कि पौराण्य एवं पाश्चात्य सभी दर्शनों, धर्म-सम्प्रदायों एवं मतपन्थों के विचारों की अपेक्षा जैनकर्मविज्ञान के विचारों का महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। कर्म सम्बन्धी समग्र चर्चा-विचारणा में भी जैनकर्मविज्ञान अग्रणी है। उसके अध्ययन के बिना, समझना चाहिए कि कर्म सम्बन्धी ज्ञान सर्वांग-परिपूर्ण नहीं हुआ।^१

कर्मविज्ञान की त्रिकालदार्शिता से त्रिकाल कर्म व्यवस्था

कर्मविज्ञान अपने आप में कम्प्यूटर की तरह दीर्घदर्शी है। कोई भी कर्म चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, शुभ हो या अशुभ, मानसिक हो वाचिक हो या कायिक हो, इस जन्म में या अगले जन्म या जन्मों में अपना फल भुगवाए बिना नहीं रहता।-

प्राणी जो भी शुभ-अशुभ क्रियाएँ करता है, वही उसके फल का भोक्ता है। यदि वह इस जीवन में उन सब परिणामों को नहीं भोग पाता है, तो वे बद्धकर्म सत्ता में पड़े रहते हैं, अपना अबाधाकाल पूर्ण होते ही वे उदय में आते हैं, और उस समय जैसा भी कर्म का उदय होता है, तदनुसार उसका विपाक (फलभोग) प्राणी को करना होता है। अर्थात् एक जन्म में उन-उन परिणामों को नहीं भोग पाता है तो आगामी जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार कर्मविज्ञान पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के सिद्धान्त को मानकर प्रत्येक प्राणी के कर्मों की त्रिकालस्पर्शी व्याख्या करता है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि प्राणी का वर्तमान व्यक्तित्व (कार्य-कर्म) उसके पूर्ववर्ती व्यक्तित्व (कर्म) का परिणाम है और यही वर्तमान व्यक्तित्व (कर्म) उसके आगामी व्यक्तित्व का निर्माण करता है।^२

१. देखें—कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन (द्वितीय खण्ड) में 'कर्मवाद के समुत्पान की ऐतिहासिक समीक्षा'

२. विपाकसूत्र प्रस्तावना (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. १५

३. देखें—जैनकर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)

जैनकर्मविज्ञान की विशेषता : आत्मा के परिणामी-नित्य होने का स्वीकार

इस प्रकार कर्म के फलभोग के लिए इस स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करने वाला स्थायी एवं शाश्वत तत्त्व आत्मा को माना है। शुभाशुभ कर्मों के फलभोग के साथ कर्मविज्ञान आत्मा की अमरता-शाश्वतता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है किन्तु साथ ही प्रत्येक गति और योनि में कर्मानुसार कर्मण शरीर के माध्यम से आत्मा के गमन के तथ्य को स्वीकार करके आत्मा को उसने परिणामी-नित्य माना है। जबकि सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शन आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानते हैं। उनके इस मतानुसार आत्मा का विभिन्न गतियों और योनियों में परिभ्रमण सिद्ध नहीं होता। एक ओर आत्मा की नित्यता का स्वीकार इसलिए किया है कि ऐसा न मानने पर बौद्ध दर्शन की तरह कृतप्रणाश और अकृतभोग के दोष उपस्थित होते हैं। दूसरी ओर उसे परिणामी मानकर स्वतन्त्र गतियों और योनियों में परिभ्रमण न होने के दोष का परिहार किया है।

कर्मविज्ञान की दीर्घदर्शिता से अन्तिम ध्येयप्राप्ति का विवेक

कर्मविज्ञान की दीर्घदर्शिता के कारण एक लाभ यह है कि व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मानुसार वर्तमान जीवन की प्राप्ति से प्रेरणा लेकर भावी जीवन को अशुभ कर्मों से बचाकर शुभ कर्म करके अल्पकर्मा होकर या तो उच्च देवलोक प्राप्त करता है, अथवा संपूर्ण कर्मों को इसी जन्म में क्षय करके कर्मों से सदा-सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदुःखों से रहित हो जाता है।^१

जैन कर्म विज्ञान: मानवजाति से भी आगे प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् भाव का पुरस्कर्ता

कर्म विज्ञान-वेत्ता इस प्रकार की त्रिकालस्पर्शी दीर्घदर्शिता के कारण अशुभ कर्मों के बन्ध से बचने हेतु अपने सम्पर्क में आने वाले परिवार, समाज, जाति, नगर-ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र, अथवा विश्व के मानवों के साथ ही नहीं, प्राणिमात्र के साथ सर्वभूतात्मभूत एवं समदर्शी होकर मानसिक वाचिक कायिक प्रवृत्ति या व्यवहार करता है। इतना ही नहीं, पृथ्वीकायादि षट्कायिक जीवों के प्रति संयम से रहता है, हिंसा आदि आम्रवों से दूर रहता है,^२ ताकि नये कर्मों का आगमन एवं बन्ध न हो; वह देह, गेह, धन, धान्य तथा अन्य भौतिक निर्जीव पदार्थों के प्रति भी रागद्वेष या कषाय, मोह, कामना, आसक्ति,

१. "सिद्धे वा हवइ सासए. देवे वा अथरए महिद्विए।"—उत्तराध्ययन अ.१, गा. ४८

२. "सब्वभूयप्यभूयस्स समं भूयाइ पासओ। पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ।"

—दर्शवैकालिक अ. ४ गा. ९

अहंता-ममता आदि विकारों से दूर रहकर समता और यतना के साथ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति करता है; अपनी जीवनचर्या करता है। ऐसी स्थिति में वह अपने पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, एवं वैयक्तिक दायित्वों को समभावपूर्वक निभाता है, उनके साथ जुड़ा हुआ होने पर भी उनसे निर्लिप्त-सा रहता है।

जैनकर्मविज्ञान : भिन्नता में भी एकता का दर्शन कराता है

जैनकर्मविज्ञान बताता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़-पौधों में ही नहीं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तक में चेतना है। इनमें परस्पर असमानता, तथा एक ही जाति के प्राणियों में व्यक्तिगत भिन्नता होते हुए भी सबमें एक वस्तु समान है, और वह है चेतना। इसलिए स्वरूप की दृष्टि से चींटी और हाथी की, वनस्पति और नरपति की, आत्मा एक समान है। इसीलिए स्थानांग सूत्र में कहा गया है—'एगो आया' अर्थात् (सब में स्वरूप की दृष्टि से) आत्मा एक (समान) है। शरीर, इन्द्रिय, स्वभाव आदि में भिन्नता होने पर भी चैतन्य गुण अथवा ज्ञान-गुणात्मक जो आत्मा है, वह सब में समान है। कर्मविज्ञान की यही विशेषता है कि वह भिन्नता में भी एकता के दर्शन कराता है।

जैनकर्मविज्ञान : प्राकृतिक नियमवत् नियमबद्ध

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र आदि सब प्राकृतिक नियमों से बद्ध हैं, वे अपने-अपने नियत समय पर ही अपना कार्य करते हैं; इसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्म भी^१ अपनी-अपनी प्रकृति के नियमों और अपने-अपने कारणों से बद्ध होकर यथासमय अपना कार्य करते हैं, कर्ता को अपना फल देते हैं। जैनकर्मविज्ञान में प्रत्येक कर्म की मूल तथा उत्तर-प्रकृतियाँ नियत हैं। उनके बन्ध, बन्धहेतु, उदय, उदीरणा, सत्ता, स्थिति, संक्रमण आदि भी नियत हैं।

कर्मविज्ञानवेत्ता: प्राणि भिन्नता देखकर भी समभाव रखता है

जैनकर्म-विज्ञान के अनुसार संसारी आत्माएँ कर्मानुसार पृथक्-पृथक् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वचन, अंगोपांग, आकार, डीलडौल आदि धारण करती हैं। तथा एक ही जाति के अगणित प्राणियों में भी शरीर की रचना, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, बुद्धि, वाणी आदि प्रत्येक बातों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जैनकर्मविज्ञान इस विभिन्नता का कारण कर्मसिद्धान्त के नियम को बताता है। अर्थात् समग्र भिन्नताएँ कर्मविज्ञान के किसी न किसी नियम पर आधारित हैं। कर्मविज्ञानवेत्ता प्राणियों की इन सब विभिन्नताओं को देखकर उनसे न तो घृणा या विद्वेष करता है, और न ही उन पर मोह, आसक्ति या ममता

१. देखें—अध्यात्म विज्ञान प्रवेशिका में 'जैन धर्म का प्राण' (पं. सुखलालजी) के निबन्ध से, पृ. ७

२. वही, पृ. ७

करता है; परन्तु सबको आत्मौपम्य दृष्टि से देखता है, त्रस और स्थावर सभी जीवों पर समभाव रखता है। कर्मविज्ञान का यही ध्येय है कि व्यक्ति इस संसार में रहता हुआ भी तथा सभी कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करता हुआ भी प्राणियों के प्रति निर्लेप, निरासक्त, निरहंकार होकर रहे। तभी वह कर्म के बंध और आम्रव से बच सकता है।

कर्मविज्ञान: प्राणिमात्र के प्रति सर्वभूतात्मभूत बनने का प्रेरक

विश्व में कई धर्म-सम्प्रदाय तथा मत-पंथ एवं दर्शन प्रचलित हैं। उनमें से कई पंथ तो अपने-अपने कौटुम्बिक स्वार्थ तक की मान्यता वाले हैं। उन्हें कुटुम्ब से आगे कुछ भी हो, उससे कोई मतलब नहीं। कई मत-पंथ कौमवादी या जातिवादी हैं। उन्हें अपने-अपने कौम या जाति (जाति) से मतलब है, उससे आगे उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती। कई मत-पंथ अपने धर्म-सम्प्रदाय, संघ या समाज से ही अपना सम्बन्ध रखने की प्रेरणा करते हैं। कतिपय विचारक अपने-अपने देश या राष्ट्र की परिधि में ही रहते हैं। उससे आगे वे कुछ भी कर्तव्य नहीं समझते हैं। परन्तु कुछ उदारवादी धर्म या सम्प्रदाय सारे विश्व को—यानी विश्व के सभी मानवों को अपना समझते हैं, और उनके सुख-दुःख का विचार करते हैं। ऐसे उदारवादी व्यक्तियों के विचारों में उदारता, समन्वय, मैत्रीभाव, बन्धुत्व आदि गुण अधिक मात्र-में होते हैं। ऐसे लोग विश्व में सुख-शान्ति, पारस्परिक सद्भाव और सहृदयता की भावना से चलना चाहते हैं तो वन वर्ल्ड (एक दुनिया) का आदर्श सामने रखते हैं। यह निश्चित है, पूर्व-पूर्व संकीर्ण दृष्टि वालों की अपेक्षा उत्तरोत्तर उदार दृष्टिवालों की तन, मन, वचन की प्रवृत्ति, व्यवहार, विचारधारा और आचारधारा एवं दृष्टि में अन्तर अवश्य होगा।

जैनकर्मविज्ञान : प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् भावना का प्रेरक

परन्तु इन सबका सम्बन्ध केवल मनुष्यजाति से है, एक दुनिया (वन वर्ल्ड) का आदर्श भी मनुष्यजाति तक सीमित है।^१ जैनकर्मविज्ञान तो इससे भी आगे बढ़कर विश्व के समस्त प्राणि वर्ग (छह ही काय के जीवों)^२ के प्रति आत्मवत् व्यवहार, विचार और दृष्टि रखने की बात कहता है। जैनकर्मविज्ञान कहता है कि मनुष्य मात्र ही नहीं, प्राणि-मात्र के प्रति यदि तुम हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, असंयम, अहंत्व-ममत्व आदि का व्यवहार करोगे या वैसे व्यवहार करने का विचार, चिन्तन या ध्यान भी करोगे, वचन से भी उनके प्रति वैसा सावध (पापमय) वचन बोलोगे, तो अशुभ कर्म का आम्रव और बन्ध हो जाएगा। उस बाँधे हुए कर्म का फल तुम्हें देर सबेर अवश्य भोगना पड़ेगा।

१. देखें, अध्यात्म विज्ञान प्रदेशिका में उद्धृत 'कर्म विज्ञान' नामक लेख से, पृ. ९

२. अप्सरसं मन्त्रिज्ज छषिकाए।

आचारांगसूत्र में 'तुमसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि' (तुम वही हो, जिसे तुम मारने का विचार करते हो।) इत्यादि सूत्रों के द्वारा कर्मविज्ञान के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

जिन धर्मों, मत-पंथों या सम्प्रदायों के समक्ष मानवजाति तक का आदर्श है, वे प्रायः पशु-पक्षियों की हत्या में कोई दोष नहीं मानते। देवी-देवों के नाम पर पशु-पक्षियों की बलि देने में अथवा खुदा के नाम पर बकरोँ या दुम्नों की कुर्बानी करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। परन्तु जैनकर्मविज्ञान का स्पष्ट उद्घोष है कि पशु-पक्षियों में भी जीव है, उन निर्दोष निरपराध पशुओं की किसी भी रूप में हत्या करना, उन्हें अत्यधिक पीड़ा देना, उन पर अत्यन्त बोझ लादना, उन्हें भूखे-प्यासे रखना, उनके साथ निर्दयता का व्यवहार करना, हिंसाजन्य पापकर्म है।^१

अपने देशवासियों से भिन्न दूसरे देश के लोगों पर अन्याय, अत्याचार करना, उन्हें गुलाम बनाकर पशु से भी अधिक क्रूर व्यवहार करना, उन्हें यातनाएँ देना आदि भी अमानुषिक क्रूर कर्म हैं। जैनकर्मविज्ञान की यही विशेषता है कि वह केवल मानवजाति के प्रति ही नहीं, अशुभ (पाप) कर्म से बचने के लिए प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत्-सर्वभूतेषु की भावना, दृष्टि तथा तन-मन-वचन की प्रवृत्ति को मोड़ देता है।

जैन कर्मविज्ञान का मन्तव्य : फलदाता स्वयं कर्म ही है

जैनकर्मविज्ञान की एक विशेषता यह है कि इसने कर्म सिद्धान्त के अनेक नियमों और रहस्यों को उद्घाटन किया है। वैसे तो जैनकर्मविज्ञान फलदान के सम्बन्ध में ईश्वर को बीच में नहीं लाता। उसका कहना है कि कर्म स्वयं अपना फल कर्ता को दे देता है। उसमें ईश्वर या किसी भी शक्ति या देवी-देव को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं रहती।

वैदिक परम्परा के मूर्धन्य विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि ईश्वर भी स्वयं अपनी मर्यादा में रहता है, वह भी तो जीव के जैसे-जैसे कर्म होते हैं, तदनुसार ही फल देता है। अतः भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है—“ईश्वर न तो संसार (लोक) का कर्ता है, न ही प्राणियों को कर्म से अथवा कर्मफल संयोग से जोड़ता है, यह सब स्वभावतः प्रवृत्त होता है।”

१. आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ५ उ. ५ सू. ५७२.

२. देखें आवश्यक सूत्र में श्रावक के अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार—“बंधे, वहे, छविच्छे, अइभारे, भत्त-पाण-दुच्छेएँ।”

३. “न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।”

—भगवद्गीता ५/१४

जैन कर्मविज्ञान के अनुसार कर्म में ही ऐसी शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है कि वह तबतः समय पर उसका फल कर्ता को दे देता है।

जैन कर्मविज्ञान की विशिष्ट देन : पूर्वबद्ध संचित कर्मों के फल में परिवर्तन

सामान्यतया सभी कर्मवादी दर्शन इस सिद्धान्त को मानते हैं—“कृतकर्म को भोगे बिना वह क्षय नहीं हो सकता, कृत कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं है।” परन्तु जैन कर्मविज्ञान की यह विशेषता है कि उसके पुरस्कर्ताओं ने उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा¹ के आपवादिक सूत्र कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में जगत् के समक्ष प्रस्तुत किये। उसके पीछे उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी था, उसका प्रयोग अपने जीवन में उनके द्वारा आचरित भी था।

इनका फलितार्थ उन्होंने बताया कि कर्म करते ही आम्रव के रूप में कर्मपरमाणु आकृष्ट होते हैं, फिर राग-द्वेष या कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार बन्ध होता है। अधिकांश कर्म बन्ध होते ही प्रायः तुरन्त अपना फल नहीं दे देते हैं। वे जब तक उदय में नहीं आते, तब तक सत्ता में (संचितरूप में) पड़े रहते हैं, उदय में आने से पूर्व जो कर्म सत्ता में (संचित) पड़े रहते हैं, वे कुछ भी फल देने में असमर्थ होते हैं। अतः उन संचित कर्मों की प्रकृति (सजातीय उत्तर प्रकृति) को परम्पर एक दूसरे रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, उनकी स्थिति भी दीर्घकालीन हो तो उसे ह्रस्वकालीन और ह्रस्वकालीन हो तो दीर्घकालीन भी की जा सकती है। उनके उदय में आने की अवधि से पूर्व ही उदीरणा करके उदय में लाकर उन्हें समभाव से भोग कर क्षय किया जा सकता है। उनकी प्रकृति को बदला जा सकता है, तपस्या, परीषहजय, चारित्र-पालन, समिति-गुप्ति-पालन, महाव्रत, संयम, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि से उन कर्मों के क्षय, क्षयोपशम या उपशम आदि के द्वारा क्षीण या उपशान्त किये जा सकते हैं।

उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण का रहस्य

सर्वप्रथम हम यहाँ कर्मविज्ञान द्वारा प्ररूपित उद्वर्तनाकरण एवं अपवर्तनाकरण की कुछ झांकी देते हैं—

उद्वर्तनाकरण वह है, जिस क्रिया या प्रवृत्ति से बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस (अनुभाग) में वृद्धि होती है। कर्मों की स्थिति और रस में वृद्धि तभी होती है, जब पहले बांधी हुई कर्म प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति की जाती है, या पहले से अधिक रस लिया जाता है। जैसे—किसी व्यक्ति ने पहले डरते-डरते संकोच करते हुए साधारण

1. इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखें इसी खण्ड का नं. ९ (कर्मवाद : निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद) शीर्षक) निबन्ध।

नशेवाली मदिरा पी, उसके बाद उसको मदिरापान का चस्का लग जाने से वह बार-बार उससे भी अधिक तेज नशे वाली शराब बगैर संकोच के बेधड़क पीने लगा। फलतः उसके नशे की शक्ति और नशे की अवधि भी पहले से अधिक बढ़ जाती है।

इसी प्रकार लोभादि या राग-द्वेष के कारण पूर्व में बद्ध कर्मों को तीव्र लोभ आदि करने अथवा तीव्र राग-द्वेष पूर्वक करने से या कषाय का अधिकाधिक निमित्त मिलने से तत्सम्बन्धी कर्मों की स्थिति और फल देने की शक्ति बढ़ जाती है। इसे ही कर्मों की स्थिति और रस का उद्वर्तनाकरण कहते हैं।^१ यह तभी सम्भव है, जब सत्ता में स्थित (संचित) कर्म की स्थिति एवं रस (अनुभाग) से वर्तमान में बध्यमान (क्रियमाण) कर्म की स्थिति और रस का अधिक और तीव्रतर बन्ध हो।

फिर यह उद्वर्तन जिस प्रकार अप्रशस्त राग या कषाय की वृद्धि से आयुर्कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों की सब अशुभकर्म प्रकृतियों की स्थिति में एवं समस्त पाप प्रकृतियों के रस (अनुभाग) में वृद्धि से होता है, उसी प्रकार प्रशस्त राग अथवा कषाय में मन्दता से, शुभ भावों की विशुद्धि से पुण्य प्रकृतियों के रस (अनुभाग) में वृद्धि से भी (उद्वर्तन) होता है।

अपवर्तनाकरण में इससे विपरीत होता है। अर्थात्-पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और रस का कम हो जाना, घट जाना अपवर्तनाकरण है। जैसे-खेत में कोई प्रतिकूल या जहरीला पौधा उग आता है तथा उस पौधे को प्रतिकूल ताप, जलवायु तथा खाद मिलने से उस पौधे की आयु एवं फलदान की शक्ति घट जाती है। इसी प्रकार पहले से बद्ध (बाधे हुए) और वर्तमान में सत्ता में स्थित (संचित) अशुभ कर्म के प्रतिकूल कोई तत्सजातीय शुभ कर्म करे तो उस पूर्वबद्ध (अशुभ) कर्म की स्थिति एवं फलदान शक्ति घट जाती है, कम हो जाती है।

जैसे-श्रेणिक राजा ने अपने पूर्वजीवनकाल में क्रूर कर्म करके तीव्र रस से सातवीं नरक का आयुष्य कर्म बांध लिया था, किन्तु बाद में वह भगवान् महावीर की शरण में आया, उनकी पर्युपासना से उसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ। अपने कृतकर्मों पर उसने पश्चात्ताप किया तो शुभ (रस) भावों के प्रभाव से सप्तम नरक का आयुष्य (स्थिति) घटकर प्रथम नरक का ही रह गया।

इसी प्रकार पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् जीव यदि उसके लिए पश्चात्ताप करता है, आलोचना, निन्दना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, और

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' लेख से पृष्ठ ८२

पूर्वकृत उस दुष्कर्म के प्रति संवर तथा तपश्चरण से निर्जरा करता है तो उस पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति घट जाती है। बशर्ते कि वह पूर्वबद्ध अशुभ या शुभ कर्म अभी तक सत्ता में पड़ा (संचित अवस्था में) हो, उदय में न आया हो।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति पहले शुभ कर्म करके उच्च देवलोक का आयुष्य बांध लेता है, किन्तु बाद में (उदय में आने से पूर्व) उसके शुभभावों में गिरावट आ जाए तो उसका आयुष्य बन्ध निम्नस्तरीय देवलोक का हो जाता है। उसकी शुभफलदानशक्ति भी घट जाती है।

इस सम्बन्ध में श्रमण भगवान् महावीर ने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में अनुप्रेक्षा के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है।

भगवान् से प्रश्न किया गया है—भंते! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—“अनुप्रेक्षा से आयुष्कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल कर देता है; दीर्घकालीन स्थिति को ह्रस्व (अल्प) कालीन कर लेता है; उनके तीव्र रसानुभाव को मंदरसानुभाव कर लेता है। (कदाचित्) बहुकर्मप्रदेशों को अल्पकर्म प्रदेशवाले कर लेता है।”^{१२}

निष्कर्ष यह है कि जैन कर्मविज्ञान के अनुसार जीव अपने पूर्वबद्ध संचित (सत्ता में स्थित) कर्मों के फल में अपने स्वयं के पुरुषार्थ से, अपने स्वयं के शुभ-अशुभ भावों से तथा अपने द्वारा कृत राग-द्वेष या कषाय की तीव्रता-मन्दता से पूर्वबद्धकर्मों की स्थिति (अवधि) और रसानुभाव को न्यूनाधिक कर सकता है। उन कर्मों की फलदान की शक्ति को भी घटा-बढ़ा सकता है।

इसे ही उद्वर्तनाकरण एवं अपवर्तनाकरण कहते हैं।

जैनकर्मविज्ञान के नियमानुसार कर्म की फलदानशक्ति न्यूनाधिक भी हो सकती है

परन्तु अधिकांश व्यक्ति कर्मविज्ञान के इन नियमों और रहस्यों से अनभिज्ञ हैं, इस कारण अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिस प्रकार कर्मविज्ञान का एक नियम है

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित—“करण सिद्धान्तः भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया” —शीर्षक लेख से पृ. ८१
२. (प्र.) अणुपेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयई ?
(उ.) अणुपेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणिय-बंधण-बद्धाओ सिद्धिल-बंधण-बद्धाओ पकरेइ, दीहकालद्धिइयाओ हस्सकालद्धिइयाओ पकरेइ; तिक्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ करेइ। (बहुपएसगाओ अपपएसगाओ पकरेइ)।

—उत्तराध्ययन. अ. २९ सू. २१

कि कर्म का फल कर्ता को भुगवाने की शक्ति कर्म में स्वतः उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार कर्म की फलदान की शक्ति को न्यूनाधिक भी किया जा सकता है। यह शक्ति-परिवर्तन का सिद्धान्त जैनकर्मविज्ञान की विशिष्ट देन है। इस नियम के अनुसार फलदान की काल-सीमा को घटाया भी जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है। यह शक्ति के न्यूनीकरण और शक्ति के संवृद्धिकरण का सिद्धान्त जैन कर्मविज्ञान की ही विश्व के प्राणियों को देन है।

कर्मों की फलदानशक्ति में तारतम्य क्यों और किस कारण से?

विश्व के समस्त परमाणुओं में अपने-अपने प्रकार की शक्ति या क्षमता होती है। कर्म-परमाणुओं में भी तब एक विशेष प्रकार की शक्ति या क्षमता निर्मित होती है, जब कर्ता द्वारा वे आकृष्ट किये जाते हैं। उस फल देने की क्षमता या शक्ति को जैन पारिभाषिक शब्दों में अनुभागबन्ध (रसबन्ध) कहते हैं। सभी कर्मपरमाणुओं में एक-सी फलदान शक्ति निर्मित नहीं होती है। जैसे पदार्थों में शक्ति और मात्रा का तारतम्य होता है, वह उसकी विशिष्ट संरचना के आधार पर होता है, इसी प्रकार कर्मों की फलदान शक्ति में तारतम्य होता है, वह भी उन-उन कर्मपरमाणुओं की विशिष्ट संरचना के आधार पर होता है। अर्थात्—यह विशिष्ट संरचना कर्म कर्ता की रागद्वेष या कषाय की तीव्रता-मन्दता के आधार पर होती है। जीव जिस क्षण कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करता है, उस क्षण में यदि उसमें रागद्वेष या कषाय की मात्रा तीव्र होती है तो उन कर्म पुद्गलों की फल प्रदान शक्ति भी तीव्र हो जाती है, और यदि रागद्वेष आदि की मात्रा मन्द होती है, तो फल प्रदान शक्ति भी मन्द हो जाती है।^१

मनोविज्ञान की तरह कर्मविज्ञान में भी कर्मफल की स्व-संचालित व्यवस्था है

वैसे तो कर्म में फल प्रदान करने की शक्ति स्वाभाविक है, इसमें किसी भी अन्य नियामक या व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रहती, वह उसकी स्वयं संचालित व्यवस्था है। कर्म का फल प्रदान करने की अपने आप में क्षमता है। कर्ता उस क्षमता को समझे तो कर्म की फलदान शक्ति को स्वयं बदल सकता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सोचें तो भी कर्म की यह स्वयं संचालित व्यवस्था युक्ति-सिद्ध घटित हो जाती है। जैसे कोई व्यक्ति किसी से ईर्ष्या, द्वेष या मात्सर्य करता है, घृणा करता है, अथवा उसके प्रति अन्याय-अत्याचार या असहिष्णुता का व्यवहार

१. (क) कर्मवाद में प्रकाशित कर्म की रासायनिक प्रक्रिया-२ शीर्षक लेख से, पृ. ३६
- (ख) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित—“करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया” लेख से पृ. ८०/८१

करता है अथवा मन ही मन दूसरे का बुरा करने की घृणित बात सोचता है। उसका यह मानसिक या कायिक कर्म उसे क्या फल देता है? उसके शरीर में ईर्ष्या आदि से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

वर्तमान मनोविज्ञान भी यही बात कहता है कि किसी को नुकसान पहुँचाने, अहित करने या किसी के प्रति ईर्ष्या-घृणादि करने से अल्सर, कैंसर, खुजली आदि कष्टसाध्य बीमारियाँ हो जाती हैं। मानसिक बीमारियों का कारण वे मानसिक क्रियाएँ हैं, तथा शारीरिक बीमारियों की कारण हैं शारीरिक क्रियाएँ।

जैन कर्मविज्ञान हमें परोक्षरूप से प्रेरित करता है कि अगर हमें कर्मों में फलदान शक्ति उत्पन्न नहीं होने देनी है, अथवा पहले तीव्र रूप से बंधी हुई फलदान शक्ति को मन्द करनी है, तो हम राग-द्वेष, आसक्ति या कषाय या तो उत्पन्न न होने दें, या फिर तीव्र राग-द्वेष, कषाय आदि न करें जिससे कर्मपरमाणुओं में ऐसी संरचना न होने दें, ऐसी फलशक्ति पैदा न होने दें, जिसका फल अशुभ (बुरा) हो, जो हमें ही भोगना पड़े।'

जैन कर्मविज्ञान का विशिष्ट नियम : जाति-परिवर्तन : प्रकृति संक्रमण

कर्मविज्ञान का एक विशिष्ट नियम है—शक्तिपरिवर्तन, जिसमें कर्म की फलदानशक्ति को न्यूनाधिक किया या घटाया-बढ़ाया जा सकता है। दूसरा विशिष्ट नियम है—जाति-परिवर्तन। इसके द्वारा कर्म की जाति को बदला जा सकता है। बन्धकाल में एक प्रकार के कर्म परमाणुओं के हुए बंध को बाद में दूसरे प्रकार के कर्मपरमाणुओं में बदल देना जाति-परिवर्तन है। जैसे आजकल नस्ल-परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों की जाति में परिवर्तन हो जाता है।

वर्तमान में वनस्पति विज्ञान विशेषज्ञ कलम लगाकर खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में तथा निम्नजाति के बीजों को उन्नत जाति के बीजों में परिवर्तित कर देते हैं। इसी प्रकार पूर्व में बंधी हुई पुण्यप्रकृतियों में समग्र कर्मपरमाणुपुंज पुण्य से समन्वित है, किन्तु बाद में ऐसा पापकर्म का पुरुषार्थ हुआ कि वे पूर्वबद्ध पुण्य प्रकृतियों पापकर्म प्रकृतियों में बदल गईं। पुण्य के परमाणु—सुख देने वाले कर्म परमाणु, पाप के—दुःख देने वाले : माणु बन गए। इसी प्रकार पाप के बद्धकर्म परमाणु कालान्तर में घोरतप, परीषह सहन, उपसर्ग-विजय, चारित्रपालन आदि के कारण पुण्य के परमाणु के रूप में परिवर्तित हो गए। दुःख देने वाले समग्र परमाणु सुख देने वाले परमाणु के रूप में बदल गए।'

१. कर्मवाद से पृ. ३७

२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित: 'करणसिद्धान्त: भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया,' लेख से.

स्थानांग सूत्र में इसी आशय को स्पष्ट करने के एक चौभंगी दी गई है—“एक होता है शुभ कर्म पर उसका विपाक होता अशुभ; अर्थात्—बंधा हुआ है पुण्यकर्म परन्तु उसका विपाक (फल) होता है पाप। इसी प्रकार एक अशुभ कर्म है, पर उसका विपाक होता है, शुभ अर्थात् बंधा हुआ है—पापकर्म, किन्तु उसका फल होता है पुण्य। शुभ का फल शुभ और अशुभ का फल अशुभ ये दो विकल्प (भंग) तो स्पष्ट हैं, निर्विवाद हैं। किन्तु शेष पूर्वोक्त दो विकल्प जटिल हैं। ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और जैन कर्मविज्ञानसम्मत संक्रमण सिद्धान्त के परिचायक हैं।”

यह जाति संक्रमण है, जिसमें पूर्वबद्ध कर्म की प्रकृति का स्वजातीय अन्य प्रकृति में रूपान्तरण हो जाता है। इस प्रकार कर्म के एक भेद का अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल जाना है। अर्थात्—अवान्तर कर्म-प्रकृतियों की अदला-बदली हो जाना प्रकृति संक्रमण कहलाता है।

वैसे तो सामान्यतया संक्रमण का एक ही भेद माना जाता है—जाति संक्रमण या प्रकृति संक्रमण परन्तु स्थानांग सूत्र में दूसरी विवक्षा से इसके ४ प्रकार बताये गए हैं (१) प्रकृति-संक्रमण, (२) स्थिति संक्रमण, (३) अनुभाव-संक्रमण एवं (४) प्रदेश-संक्रमण। स्थिति संक्रमण, अनुभाव-संक्रमण एवं प्रदेश संक्रमण उद्वर्तनाकरण तथा अपवर्तनाकरण में गतार्थ हो जाते हैं।

कर्मविज्ञान द्वारा प्ररूपित संक्रमण को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरिकरण (Sublimation of mental energy) तथा उदात्तीकरण कहा गया है। मार्गान्तरिकरण या रूपान्तरण का अर्थ है—किसी भी प्रवृत्ति-या क्रिया का रास्ता बदल देना।

सेक्स साइकोलॉजी के विशेषज्ञ फ्रायड की भाषा में मनुष्य की मूल (केन्द्रीय) वृत्ति-प्रवृत्ति है—कामवृत्ति। फ्रायड के कथनानुसार उसका मार्गान्तरिकरण किया जा सकता है। जैसे—किसी सुन्दरी के प्रति कुत्सित कामवासना जागृत होती है, व्यक्ति उसके प्रति मोहित हो जाता है, किन्तु वह प्राप्त नहीं होती, ऐसी स्थिति में उस तीव्र कामेच्छा का प्रवृत्ति (वृत्ति) को मोड़कर चित्रकला, लेखनकला, काव्यकला या इष्टदेव भक्ति आदि में लगाकर मन की दिशा को बदल देता है। यह कामवृत्ति का मार्गान्तरिकरण या रूपान्तरण है।^१

१. चउच्चिहे कम्मे पण्णत्ते तं., सुभे नाममेगे असुभे विवागे, असुभे नाममेगे सुभविवागे, सुभे नाममें सुभविवागे, असुभे नाममेगे असुभविवागे।”
—स्थानांग ४/६०३

२. स्थानांग सूत्र, स्थान ४, सू. २१६

३. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित—‘करणसिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया’ लेख से पृ. ८२

संक्रमण सिद्धान्त के दो रूप : मार्गान्तरिकरण और उदात्तीकरण

जैन कर्मविज्ञानसम्मत संक्रमण का सिद्धान्त आधुनिक जीवविज्ञान (Geology) की वैज्ञानिक धारणाओं और मान्यताओं से मिलता-जुलता है। जीववैज्ञानिक इस प्रयास में हैं कि यदि 'जीन' को बदला जा सके तो पूरे वंश का कषाकल्प हो सकता है, मनचाहा व्यक्तित्व निर्माण भी सम्भव है। वस्तुतः संक्रमण के सिद्धान्त से 'जीन' मानववृत्तियों को तथा आदतों को बदला जा सकता है।

जैन कर्मविज्ञानसम्मत संक्रमण के दो रूप हैं—(१) मार्गान्तरिकरण या रूपान्तरण और (२) उदात्तीकरण। रूपान्तरण या मार्गान्तरिकरण रूप संक्रमण भी दो प्रकार का है—(१) अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में, तथा (२) शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में स्थान्तरित हो जाना।^१

संक्रमण सिद्धान्त के कतिपय नियम

धवला, कषायपाहुड, पंचसंग्रह, कर्मग्रन्थ आदि में संक्रमण के कुछ नियम बताए हैं। कर्म की मूल प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ एक सी अठावन हैं। कर्म प्रकृति के मूल भेदों में परस्पर रूपान्तरण या मार्गान्तरण रूप संक्रमण नहीं होता। अर्थात्—ज्ञानावरणीय कर्म दर्शनावरणीय आदि शेष सात कर्मों में संक्रमित या रूपान्तरित नहीं होता, इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि अपने सिवाय शेष सात कर्मों में भी संक्रमित नहीं होता। संक्रमण या रूपान्तरण किसी एक ही कर्म की सजातीय अन्य उत्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे वेदनीय कर्म दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर संक्रमण हो सकता है। सातावेदनीय असातावेदनीयरूप हो सकता है, इसी प्रकार असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है।

इस नियम में कुछ अपवाद भी हैं। दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय, ये मोहनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं, इनमें परस्पर संक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आयुर्कर्म की नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ये ४ उत्तर प्रकृतियाँ हैं, इनमें भी परस्पर संक्रमण नहीं हो सकता। नरकायु का बन्ध हो जाने पर उस जीव को नरक में बन्ध ही जाना पड़ता है, वह अन्य गतियों में नहीं जा सकता।

जिस प्रकार कर्मविज्ञान में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में माना है, इसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय वृत्ति-प्रवृत्तियों में ही माना गया है। किञ्चित् प्रकृतियों या प्रवृत्तियों में दोनों ही विज्ञान संक्रमण या रूपान्तरकरण नहीं मानते।^१

१. कर्मवाद पृ. ३८

२. (क) कर्मसिद्धान्त विशेषांक पृ. ८२

(ख) धवला १६/३४१/१, कषायपाहुड ३/३/२२

संक्रमण का उदात्तीकरण रूप

उदात्तीकरण संक्रमण का दूसरा रूप है। वर्तमान मनोविज्ञान कुत्सित एवं निम्न प्रकृति या प्रवृत्ति को उदात्त (शुद्ध) प्रकृति या प्रवृत्ति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहता है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने उदात्तीकरण-प्रक्रिया पर विशेष अनुसन्धा किया है। उन्होंने उदात्तीकरण-प्रक्रिया के प्रयोग द्वारा उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तथा दंगा-फसाद, तोड़-फोड़ करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के छात्रों एवं अन्य गुमराह व्यक्तियों को उनकी रुचि के अनुरूप किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया है। फलस्वरूप वे पर-हानिकारक एवं दुर्गुणवर्द्धक अपराधी वृत्ति-प्रवृत्ति को त्याग कर समाजोपयोगी कार्य में लग जाते हैं।^१

पूर्वबन्ध कर्मों के उदात्तीकरण का उद्देश्य : दोषों का परिशोधन करना

कर्मविज्ञान के अनुसार उदात्तीकरण की प्रक्रिया दोषों का परिमार्जन-परिशोधन करने की प्रक्रिया है। उदात्तीकरण में मनुष्य प्रवृत्ति तो करता है, किन्तु उसके पीछे अनासक्ति, समता, निरवधता, राग-द्वेषाल्पता का भाव होता है।

जैनाचार्यों ने राग के दो प्रकार बताए हैं—प्रशस्त राग और अप्रशस्तराग। जैनागमों में कुछ शब्द बार-बार प्रयुक्त होते हैं—अद्विमिज्जपेमाणुरागरत्ते (अस्थि-मज्जा में प्रेमानुराग से रक्त) धम्माणुरागरत्ते (धर्मानुराग-रक्त)। देव, गुरु और धर्म के प्रति राग को प्रशस्तराग कहा गया है। इससे राग में जो दोष थे, तीव्रता थी, उसका परिमार्जन कर दिया। यह राग आसक्ति का उदात्तीकरण है। वस्तुतः उदात्तीकरणरूप संक्रमण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है। इसमें कर्मों के कुछ दोषों का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है, और कुछ का उपशम।^२

एक व्यक्ति इन्द्रिय-विषयभोगों में सुख मानता है, किन्तु उस सुख में संघर्ष, क्लेश, अन्तर्द्वन्द्व, रोग, इन्द्रियक्षीणता आदि दुःख के बीज छिपे हुए हैं, उसके हृदय में इन्द्रिय-विषयभोगों के क्षणिक एवं अस्थायी सुख के स्थान पर स्थायी सुखप्राप्ति का भाव उदित हुआ। उसने दूसरों की निःस्वार्थ सेवा में स्वयं को लगा दिया, उससे स्थायी सुख और आनन्द की अनुभूति हुई। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता, एवं मैत्रीभावना में पल्लवित हो जाता है। यह है प्रवृत्ति का उदात्तीकरणरूप संक्रमण।

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित—“करणसिद्धान्तः भाग्यनिर्माण प्रक्रिया”, लेख सं. पृ. ८३

२. कर्मवाद

कर्मसिद्धान्त के अनुसार पाप-प्रवृत्तियों से होने वाले दुःख, संताप, रोगादिजनित कष्ट, अशान्ति आदि से छुटकारे के लिए परोपकाररूप पुण्य प्रवृत्तियों के रूप में उदात्तीकरण किया जा सकता है।^१

अनुप्रेक्षा से संक्रमण में बहुत सहायता मिलती है

जैसा कि पहले शास्त्रीय उद्धरण देकर कहा गया था—“अनुप्रेक्षा से कर्म प्रकृतियों का रूपान्तरण, उदात्तीकरण, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तना होती है। अनुप्रेक्षा से आयुष्य के अतिरिक्त प्रगाढ़ बन्धन से बद्ध कर्म प्रकृतियाँ शिथिल बन्धनबद्ध हो जाती हैं, दीर्घकाल की स्थिति वाले पूर्वबद्ध कर्म अल्पकालिक स्थिति वाले हो जाते हैं, तीव्र अनुभाव (रस) से बद्ध कर्म मन्द अनुभाव वाले हो जाते हैं, बहुप्रदेशी कर्म अल्पप्रदेशी हो जाते हैं। यह सारा संक्रमण का सिद्धान्त जैन कर्मविज्ञान द्वारा निरूपित है।

जीवों की सार्वयोनिकता का सिद्धान्त : जैन कर्मविज्ञान की देन

आगमों में जैन कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में प्राणी के अन्तर्जगत् के सूक्ष्म संस्कारों में परिवर्तन के आधार पर एक सूत्र दिया है—“सम्बजोणिया खलु जीवा”—जीव सार्वयोनिक होते हैं। ८४ लाख योनि के जीवों में से किसी भी योनि का जीव किसी भी योनि में जाकर उत्पन्न हो सकता है। यह सार्वयोनिक तथ्य जैनकर्मविज्ञान का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।^२

जीव की उत्पत्ति के विषय में अमुक योनि की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। जैसा कि ब्रह्मकुमारीमत के प्रवर्तक का कथन है कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है, गधा मरकर गधा ही बनेगा इत्यादि। किन्तु यह मत कर्मसिद्धान्त के विपरीत है। जैनकर्म सिद्धान्त का कथन है “जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जई”—अन्तिम समय में जिस लेश्या (कषायानुरञ्जित परिणाम) में प्राणी मरता है, उसी लेश्या वाले स्थान में—उसी लेश्या वाली योनि में उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से मनुष्य मर कर पशु बन सकता है, तथैव पशु मरकर मनुष्य भी बन सकता है।

आनुवंशिकी विज्ञान ने इतनी तरक्की अवश्य कर ली है, वह जीते-जी, पशु को मनुष्यरूप में तब्दील कर सकता है। आजकल खच्चर का घोड़े के रूप में, स्त्री को पुरुषरूप में तथा पुरुष को स्त्रीरूप में परिवर्तित करने का प्रयोग तो धड़ल्ले से चल रहा है।

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करणसिद्धान्तः भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' लेख से, पृ. ८३
२. कर्मवाद से, पृ. १९१

जैन कर्मविज्ञान के अनुसार प्रत्यक्ष में जीते जी तो पशु का मनुष्यरूप या मनुष्य का पशुरूप में परिवर्तन स्थूल दृष्टि से नहीं देखा जाता, किन्तु वैक्रियशक्ति या वैक्रियलब्धि से देवता तो मनचाहा रूप बना सकते हैं, वैसा मनुष्य भी बना सकता है, जैसे-स्थूलभद्र मुनि ने अपनी साध्वी बहनों को चमत्कार बताने के लिए सिंह का रूप धारण कर लिया था। अन्य योगी भी ऐसा कर सकते हैं। परन्तु जो योगी या वैक्रियलब्धि सम्पन्न नहीं हैं, क्या वह पशु या मानव जीते-जी किसी उपाय से परिवर्तित हो जाता है? इसके उत्तर में हम कर्मविज्ञान के संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सिद्धान्त को प्रस्तुत कर सकते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार आकृति से तो नहीं, परन्तु प्रकृति से मनुष्य पाशविकता या दानवता को धारण करके पशु और दानव बन जाता है, तथैव कई पशु भी मानवता को धारण करके प्रकृति से मानव बन जाते हैं। यह जैन कर्म विज्ञान की देना है।

उदीरणाकरण का सिद्धान्त भी समय से पूर्व कर्मक्षय करने का उपाय

दूसरे दर्शन जहाँ यह प्ररूपणा करते हैं कि क्रियमाण कर्म जैसा बाँधा है, उसे उसी रूप में, उसी अवधि तक भोगना पड़ता है, वहाँ जैन कर्मविज्ञान उदीरणाकरण के सिद्धान्त की प्ररूपणा करते हुए कहता है कि प्राणी द्वारा अपने पुरुषार्थ से कर्म विपाक की नियत अवधि से पहले ही फल भोग के हेतु उस कर्म की उदीरणा की जा सकती है। जो कर्म समय पाकर उदय में आने वाले हैं, यानी अपना फल देने वाले हैं, उसके प्रयत्नविशेष से किसी निमित्त से समय से पूर्व ही फल भोग कर नष्ट कर देना उदीरणा है। जैसे-देर से पकने वाले आम, केला आदि फलों को जल्दी पकाने के लिए पेड़ से कच्चे ही तोड़कर भूसे या पराल में दबा दिया जाता है अथवा दवा से जल्दी ही पका लिया जाता है, इसी प्रकार बंधे हुए कर्म तो नियतकाल पाकर ही फल देने हेतु उदय में आयेंगे, यह जानकर उन्हें नियतकाल से पहले ही उदय में लाकर फल भोग लेना और उन्हें क्षीण कर देना उदीरणाकरण है।^१

भ. महावीर ने अपने पूर्वबद्ध घोर कर्मों को उदय में आने से पहले ही, अनाई देशों में विहार के निमित्त से घोर उपसर्ग एवं परीषह समभाव से सह करके उन कर्मों को भोग लिया था, अर्थात्-उदीरणा करके उन्हें क्षय कर डाले थे।

जैन कर्मविज्ञान और आधुनिक मनोविज्ञान की उदीरणा पद्धति प्रायः समान

जैनकर्मविज्ञान के समान आधुनिक मनोविज्ञान भी उदीरणा के तथ्य को स्वीकार करता है। कर्मविज्ञान की उदीरणा पद्धति यह है कि पूर्वबद्ध पापों या दोषों का आलोचन

१. जिनवाणी, कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित : 'करणसिद्धान्तः भाग्यनिः... प्रक्रिया' लेख से

(अन्तर्निरीक्षण या स्मरण) करके गुरु या गुरुजनों के समक्ष उनकी गह्रणा (प्रकटीकरण) करना, साधारण दोषों के लिए मिथ्या दुष्कृत बोलकर आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) करना, यदि प्रगाढ़ दोष हो तो उसकी शुद्धि के लिए गुरु या गीतार्थ साधकों से प्रायश्चित्त ग्रहण करना, प्रतिक्रमण करना, क्षमायाचना और भावना करना आदि उदीरणाकरण में सहायक हैं। इस प्रकार से उदीरणा करने से कर्मों का संचय (प्रदेश) स्थिति (कालावधि) एवं रसानुभावरूप तीव्रता भी घटती जाती है।

इसी प्रकार अन्तर्मन में स्थित पूर्वबद्ध कर्म की ग्रन्थियों (गांठों) को प्रयत्न विशेष से समय से पूर्व उदय में लाकर फल भोग कर तोड़ा जा सकता है। जैसे तो प्राणी द्वारा अपनाए गए बाह्य आभ्यन्तर तप, त्याग, व्रत, नियम, अभिग्रह, कायोत्सर्ग, व्युत्सर्ग, जादि निमित्तों से अनायास ही कर्मों की उदीरणा होती रहती है, मगर अन्तस्तल की जगह गहराई में छिपे हुए अज्ञात कर्मों की उदीरणा के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ तप, त्याग, उपसर्ग-सहन, परीषहजय आदि के माध्यम से करना पड़ता है। तभी पूर्वबद्ध कर्मों की सकामनिर्जरा होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी जैन कर्मविज्ञान प्ररूपित उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान की पद्धति यह है कि अवचेतन मन में स्थित विविध मनोग्रन्थियों को मनोविज्ञान चिकित्सक के समक्ष निश्चल मन से प्रगट करके उभारा जाता है, उनका रेचन अथवा वमन कराया जाता है और कुण्ठाओं, लाघव-गौरव-प्रियियों, दबाई हुई वासनाओं, कामनाओं को ज्ञात मन में प्रकट किया जाता है। इस प्रकार वे उदय में आती हैं, और शीघ्र ही उनका फल भोग कर उन्हें समाप्त कर दिया जाता है। अर्थात्-अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रन्थियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती हैं। पाण्डित्य चिकित्सा की इस महत्वपूर्ण पद्धति से पूर्वजीवन में संचित उन-उन ग्रन्थियों के नष्ट हो जाने से तत्सम्बन्धित रोग भी नष्ट हो जाते हैं।^१

कर्मों के उदय और उदीरणा में अन्तर

कर्मों के उदय और उदीरणा में अन्तर यह है कि उदय में कषायभाव की कृपिकता की संभावना होने से कर्म क्षीण होने के बदले उनसे अनेकगुणे अधिक कर्म बंधने की संभावना है, जबकि उदीरणा में व्यक्ति जागरूक और सावधान रहता है, और कर्म समय से पहले उदय में आते हैं, तब वह स्वेच्छा से, समभाव से कर्मफल भोगने को तैयार रहता है। अतः जितने कर्म उदीरणा से उदय में आते हैं, उन्हें वह भोग कर काट देता है, अर्थात् उतने कर्मों की निर्जरा कर देता है।^२

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित-‘करणसिद्धान्त : भाष्यनिर्माण की प्रक्रिया’ लेख से, पृ. ८६

२. वही प ८६

जैन कर्मविज्ञान की सर्वोत्कृष्ट विशेषता

जैन कर्मविज्ञान की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि उसके द्वारा प्ररूपित संक्रमण आदि के माध्यम से व्यक्ति अपने पूर्वजन्म में या इस जन्म में पूर्वकृत दुष्प्रवृत्तियों (दुष्कर्मों) के कारण बंधे हुए अशुभ एवं दुःखद पाप कर्म प्रकृतियों को अपनी सजातीय पुण्यप्रकृतियों में परिवर्तित कर सकता है, उन पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों-क्रियाओं से शुभ कर्म बांध कर घटा सकता है और शुभ एवं सुखदायक पुण्यकर्मों में संक्रमित कर सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि पूर्वबद्ध कर्म उसी प्रकार उतने लम्बे समय तक भोगने पड़ें। व्यक्ति चाहे तो अपने वर्तमान कर्मों के माध्यम से पूर्वबद्ध कर्मों को बदलने, अदल-बदल करने, तथा स्थिति एवं अनुभाग (रसादि की तीव्रता) को घटाने-बढ़ाने तथा शीघ्र क्षय करने में पूर्णतः समर्थ एवं स्वतंत्र है। साधक संयम में उत्कृष्ट पुरुषार्थ करे, उत्कृष्ट भाव रसायन लाए तो गुणस्थान-क्रम से आरोहण करता हुआ कर्मों का क्षय करता हुआ, अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान को उपलब्ध कर सकता है।'

जैन कर्मविज्ञान: जीवन-परिवर्तन का विज्ञान

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और अंग में कर्म का संचार

प्राणिमात्र के जीवन के साथ केवल शरीर, शरीर के अंगोपांग, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वचन आदि ही नहीं, और भी अनेक वस्तुएँ जुड़ी हुई होती हैं। जिस तरह शरीरादि सब प्रत्यक्ष दृश्यमान अथवा अनुमेय पदार्थ कर्मोपाधिक हैं, अर्थात् पूर्वकृत कर्म-विशेष के कारण प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार जीवन के साथ जुड़े हुए अच्छे-बुरे स्वभाव, अच्छी-बुरी आदतें, शुभ-अशुभ रुचियाँ, शुभ-अशुभ मानसिक, कायिक प्रवृत्तियाँ, शुभ-अशुभ लेश्याएँ, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, शुभ-अशुभ चिन्तन या विचार, अथवा परिणाम, विभिन्न संज्ञाएँ, क्रोधादि कषायों की तीव्रता-मन्दता, कामवासना की तीव्रता-मन्दता, सम्यक्-मिथ्याज्ञान तथा ज्ञान की विभिन्नता-तरतमता, विभिन्न गतियाँ, विभिन्न योनियाँ, पर्याप्तियाँ-अपर्याप्तियाँ आदि सब कर्म से सम्बन्धित हैं, वे भी कर्मोपाधिक हैं। ये सब आत्मा की अपनी वस्तुएँ या गुण नहीं हैं, बाहर से आई हुई वस्तुएँ हैं। जो बाहर से आता है, वह चला भी जाता है; उसमें परिवर्तन भी होता है। जैसे बचपन, जवानी और बुढ़ापा बाहर से आते हैं, और अवस्था के अनुसार शरीर से संलग्न हो जाते हैं, वैसे ही ये विभिन्न उपाधियाँ (आत्मबाह्य वस्तुएँ) बाहर से आती हैं, कर्मों के कारण आत्मा से चिपक जाती हैं।^१

फिर कर्म में इन वृत्तियों, प्रवृत्तियों और रुचियों आदि के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन अच्छे भी होते हैं, बुरे भी। जैन कर्मविज्ञान उपर्युक्त वस्तुओं के परिवर्तन के साथ-साथ कर्म की गतिविधि अथवा विशिष्ट कर्म की रचना में परिवर्तन बताता है।

जैनकर्मविज्ञान : गति-प्रवृत्ति आदि में परिवर्तन बताने वाला धर्मापीटर

कर्म विशेष में यह परिवर्तन जब होता है, तब जीवन की गतिविधि में भी परिवर्तन होता है। कई बार तो यह परिवर्तन एक ही बार के कर्म-विश्लेषण को सुनने,

१. कम्पुणा उवाही जावइ।

कर्मपरिणाम को देखने-समझने एवं उपदेश-निर्देश तथा प्रेरणा को ग्रहण करने से शीघ्र ही घटित हो जाता है। कई बार कुछ देर से परिवर्तन होता है, ठोकरें खाते-खाते स्वभाव में परिवर्तन होने के साथ ही कर्म-परिवर्तन और कर्म-परिवर्तन के साथ ही जीवन-परिवर्तन होता है। कर्मविज्ञान एक धर्मामीटर (ताप-मापक यंत्र) की भाँति कर्मपरिवर्तन के साथ ही जीवन में परिवर्तन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, अनुभूति, कर्म की प्रकृति, अन्य कर्म प्रकृतियों की सहस्थिति आदि बता देता है।

कर्मविज्ञान के रहस्य श्रवण-मनन से जीवन में अचूक परिवर्तन

कर्मविज्ञान का जो रहस्य जान लेता है, उसे अनायास ही यह अनुभूति हो जाती है कि यह कर्म शुभ है या अशुभ ? इस कर्म का क्या परिणाम आ सकता है ? यह कर्म जीव की उन्नति में सहायक है या बाधक ? इस कर्म को करना चाहिये या नहीं करना चाहिए ? इस प्रकार जिस कर्म से जीवन में क्रूरता बढ़ती है, रौद्रध्यान बढ़ता है, वृत्तियाँ भी कड़ो हो जाती हैं, लेश्याएँ अशुभ हो जाती हैं, ऐसा व्यक्ति भी यदि कर्मविज्ञान के मर्मज्ञ एवं अनुभवी पुरुष के मुख से उक्त क्रूर कर्म से अधोगति या दुर्गति होने की, पीड़ा पाने की, अन्तिम समय में पश्चात्ताप-पूर्वक हायतोबा मचाने और आर्तध्यान करते हुए शरीर छोड़ने की बात सुनता है तो उसका प्रभाव कभी-कभी ऐसा अचूक पड़ता है कि सारा जीवन आमूलचूल बदल जाता है।^१

कपिलमुनि एक घोर अरण्य में से होकर जा रहे थे, तभी उन्हें वहाँ के निकल चोर पल्ली के ५०० चोरों ने घेर लिया। चोरों ने मुनि की तलाशी ली तो कुछ भी उन्हें पास नहीं निकला। यह जानकर पल्लीपति के कहने से उन्हें छोड़ दिया गया। मुनि यतनापूर्वक मस्ती से आगे जाने लगे, तभी पल्लीपति ने उनसे कहा—“मुनिवर! आप जा तो रहे ही हैं। जाते-जाते हमें एक गीत सुना दीजिए।” चोरों की प्रार्थना पर मुनि ने अपने आपबीती को उसमें समाविष्ट करते हुए ध्रुवपद राग में एक अध्ययन सुनाया। वे उत्तराध्ययन सूत्र में कपिलीय नामक अष्टम अध्ययन के रूप में अंकित है। कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही उन्होंने इस प्रथम गाथा का उच्चारण किया—

“अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्ख-पाउराए।

किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दोग्गइ न गच्छेज्जा।”

अर्थात्—“यह संसार अधुव है, अशाश्वत है और अनेक दुःखों से परिपूर्ण है। (यह भयंकर दुःख अनेक दुर्गतियों और कुयोनियों में मनुष्य को अपने द्वारा कृत क्रूर एवं

१. प्रेक्षाध्ययन सितम्बर १९८९ में प्रकाशित लेख से सार-संक्षिप्त

२. देखें—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ८/१ गाथा

झोर कर्मवश मिलता है।) अतः ऐसा कौन-सा कर्म है, जिसके करने से मैं दुर्गति में न जाऊँ?”

चोरों ने यह सुना तो वे आत्मविभोर हो गए। कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में ही उन्होंने यह गाथा ध्रुवपद में गाकर सुनाई थी। चोरों के मानस को यह गाथा झू गई। उनके अन्तर्मन को झकझोर डाला। उनकी शुद्ध आत्मा जाग उठी। फिर उन्होंने अपने जीवन में क्या रही अशान्ति, व्याकुलता, चिन्ता की तुलना कपिलमुनि की शान्ति, स्वस्थता, शान्ति और निश्चिन्तता से की तो उनका मानस जिज्ञासा और रुचि तथा उत्सुकता के क्षण में सुनने और जानने को उत्कण्ठित हो गया। उनके मन में भी वही प्रश्न प्रतिध्वनित होने लगा। वे स्वयं से मन ही मन पूछने लगे—क्या हम जो कुछ क्रूर कर्म कर रहे हैं, वह हमें दुर्गति में नहीं ले जाएगा? लक्षण तो अभी से हमारे जीवन-पट पर अंकित हो रहे हैं। क्या हम भी इन महामुनि की तरह अपना भविष्य और वर्तमान निश्चिन्त, शान्त, उज्वल नहीं बना सकते? वह कौन-सा सत्कर्म है, जिससे हम अपनी दुर्गति को सुगति में, अपनी निराशा को आशा में, अपनी अन्धकारमय जिंदगी को प्रकाशमय जिंदगी में, तथा मृत्यु के पथ को अमरत्व के पथ में परिवर्तित कर सकते हैं?

और ज्यों-ज्यों विशुद्धप्रज्ञ कपिल मुनि के मुख से उत्तरोत्तर गाथाएँ सुनते गए, त्यों-त्यों चोरों का हृदय-परिवर्तन होने लगा और वे उत्तरोत्तर वैराग्य की तरंगों में बहने लगे। जब उन्होंने यह सुना कि इन क्रूर कर्मों के फलस्वरूप “प्रभूत कर्मों से लिप्त होने वाले व्यक्तियों को बोधि-प्राप्ति भी अति दुर्लभ हो जाती है,” तब तो उन सभी चोरों ने एक साथ ही प्रतिबद्ध होकर अपने जीवन की दिशा ही बदल दी। वे चोर-जीवन को छोड़ कर इस कर्मविज्ञान की प्रेरणा पाकर साधु जीवन में संलग्न हो गए।

एक कर्मविज्ञानवेत्ता चारण जंगल के रास्ते से जा रहा था। एक शिकारी भी शत्रुओं से सुसज्जित होकर पशुओं के शिकार के लिए उसी मार्ग से जा रहा था। चारण को देखकर उसने पूछा—“क्योंजी! जहाँ शेर, बाघ आदि रहते हैं, उस जंगल का रास्ता क्यों है?” चारण ने कर्मविज्ञान की भाषा में उसे कहा—

जीव मारतां नरक है, जीव बचातां सगम।

हूँ जाणूँ दोई बाटड़ी, जिण भावे तिण लग्गं॥

यह सुनते ही शिकारी की आत्मा एकदम जागृत हो गई। वह शस्त्र-अस्त्र वहीं फेंक कर उल्टे पैरों लौट गया। कर्मविज्ञान की प्रेरणा उसके रोम-रोम में रम गई। वह शिकारी-जीवन छोड़कर सात्विक गृहस्थ जीवन यापन करने लगा।

१. बहुकम्पनेवलित्ताणं बोही होई सुदुल्लहा तेषां।

यह हुआ एक साथ ५०० चोरों का जीवन-परिवर्तन! इसी प्रकार एक व्यक्ति में भी परिवर्तन होता है। वह अशुभ कर्म को छोड़कर शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है, अथवा शुद्ध अबन्धक कर्म में। परन्तु प्रायः व्यक्ति में यह परिवर्तन होता है—अपने से प्रश्न पूछने से। अपने आप से—अपनी आत्मा से स्वयं बात करने से।

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में एकान्त में, रात्रि के प्रथम अथवा अन्तिम पहर में, साधक को स्वयं कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आत्मसम्प्रेक्षण-अपनी आत्मा से प्रश्न पूछने का निर्देश किया गया है कि मैंने क्या किया है? कौन-सा कृत्य करना श्रेष्ठ है? और कौन-सा ऐसा सत्कार्य (सुकर्म) है जिसे मैं कर सकता हूँ फिर भी नहीं कर पा रहा हूँ? भौं कर्म को (मुझे) दूसरा किस दृष्टि से देख रहा है? और मेरी अपनी आत्मा (अपने कर्म के विषय में) क्या सोचती है? कौन-सी ऐसी सखलना है, जिसे मैं छोड़ नहीं रहा हूँ? साधक इस प्रकार (कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में) स्वयं अनुशीलन-अनुवीक्षण करता हुआ, उसे भविष्य पर न छोड़े, तत्काल ही उस कृत्य या सखलना (भूल) को सुधार ले।^१

आगमों में यत्र-तत्र ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि कर्मविज्ञान द्वारा कर्म या कर्मफल पर चिन्तन करते-करते व्यक्ति का जीवन एकदम बदल गया।

शालिभद्र की माँ ने कहा था—“बेटा! ये अपने सिरताज, अपने मगधदेश के अधिपति, अपने नाथ श्रेणिकनृप पधारें हैं।” इस वाक्य पर शालिभद्र के अन्तर में मन्थ हुआ—“क्या मेरे सिर पर भी कोई अधिपति है? क्या मेरी आत्मा ऐसा कर्म (अबन्धक कर्म) करके अपनी अधिपति नहीं बन सकती? मुझे अपना नाथ, अपना सिरताज स्वयं बनना है। कैसे बनूँ?” इसी मन्थन-चिन्तन ने धनकुबेर एवं वैभव में आकण्ठ डूबे हुए शालिभद्र को विरक्तात्मा निर्ग्रन्थ अकिंचन अनगार शालिभद्र मुनि बना दिया। वे कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ एवं प्ररूपक श्रमण भगवान् के उपदेश से कर्म से अकर्म की स्थिति में पहुँच गए।

पंचेन्द्रिय विषयों में मग्न, भोगविलासों में डूबे हुए, वैभव में सराबोर समुद्रपात का भी जीवन वध्यस्थान पर ले जाते हुए एक चोर को देखकर सहसा बदल गया। उसने शोभायात्रा में वध्य-व्यक्ति की वेशभूषा में सज्जित एक चोर को देखकर अपने आपसे कहा—अहो! यह अशुभ कर्मों—पापकर्मों का ही फल है, जिसके कारण इसे मृत्युदण्ड मिल रहा है। यह इसके पापकर्मों का ही दण्ड है, जिन्हें करने, न करने में यद् स्वतन्त्र था, किन्तु इसने अपने पापकर्मों का त्याग नहीं किया, जिसके कारण इसे मृत्युदण्ड मिल रहा है। मैं भी अगर मनुष्य जन्म पाकर भोगों में फँस गया तो फिर कभी या किसी जन्म में मुझे

१. देखें—दशवैकालिक सूत्र में आत्मसम्प्रेक्षण की विधि—दशवैकालिक द्वितीय चूलिका की गाथा १२-१३

आलसबोध एवं कर्मविज्ञान का बोध नहीं मिलेगा। इस प्रकार समुद्रपाल स्वयं सम्बुद्ध हो था, परम संवेग को प्राप्त हुआ। समुद्रपाल ने माता-पिता और सभी परिवार, धन-धान्य आदि को छोड़कर वैभवशाली जीवन को संयमी जीवन में परिवर्तित कर लिया।

चित्त मुनि के जीव (संयमी मुनि) ने भी संभूति के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में प्रेरणा दी थी—“राजन्! तुमने पूर्वजन्म में भोगों की वांछारूप विद्वान् से कर्म उपाजित किये थे, उन्हीं के फलस्वरूप आज हम दोनों एक दूसरे से बिछुड़ गए। अब भी कुछ नहीं विगड़ा है। अब यदि तुम इन भोगों को छोड़कर साधु बनकर स्वयं कर्म करो तो ठीक हो सकते हो। यदि भोगों को छोड़ने में भी असमर्थ हो तो कम से कम आर्य (शुभ) कर्म तो करो, जिससे तुम्हारा भावी जीवन शुभ गति और शुभ योनि प्राप्त करने में समर्थ हो सके।” परन्तु इस पर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने आप में बिल्कुल विनत नहीं किया, अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने का कोई विचार नहीं किया। फलतः शरारत का मेहमान बना।^१

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ भगवान् महावीर ने अपने पट्टशिष्य गणधर गौतम को वर्तमान-प्रशस्तरागमय जीवन बदलने की दृष्टि से कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अप्रमत्त और साधना करने के लिए कहा था। संक्षेप में उसका भावार्थ यह है कि शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप यह जीव प्रमाद रत होकर परिभ्रमण करता है, तुम भी स्वकर्मवश ऐन्द्रिय में पृथ्वीकायिक, अक्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों में वहाँ की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करके रहे हो, फिर किसी कर्मवश क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों में भी रह आए हो, पंचेन्द्रियों में भी देवों और नारकों में भी तुम्हारा जीव रहा है। अब पूर्वकृत शुभ कर्मवश मनुष्य जन्म मिला है, आप ही आर्यत्व, परिपूर्ण पंचेन्द्रिय, उत्तम धर्मश्रवण तथा उस पर श्रद्धा और फिर धर्माचरण करना आदि दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति तुम्हें हुई है। अतः अब बिल्कुल प्रमाद किये बिना वीतरागता की दिशा में पुरुषार्थ करो।

इस प्रकार का कर्मविज्ञान गर्भित उपदेश पाकर गौतम स्वामी की अन्तरात्मा पुनः झंझड़ लेकर वीतरागता की दिशा में अधिकाधिक पुरुषार्थ करने लगी। उनका जीवन-परिवर्तन करने में पहले (गणधर पद प्राप्ति से पूर्व) भी कर्मविज्ञान के उपदेश का प्रयत्न रहा और अब भी। अन्ततोगत्वा वे भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्तराग को भी छोड़ कर मोक्षगामी हुए।^१

1. (क) देखें—शालिभद्र चरित्र (आचार्य श्री जवाहरलालजी)
- (ख) उत्तराध्ययन अ. २१, गा. ८-१० देखें।
- (ग) देखें—चित्त संभूतीय अध्ययन, उत्तराध्ययन अ. १२, गा. ८, १३, २२
1. देखें—उत्तराध्ययन का दसवाँ द्रुमपत्रक अध्ययन

अतः कर्मविज्ञान जीवन-परिवर्तन करने का विज्ञान है। कर्मविज्ञान का सन्देश है—मनुष्य अपनी जिस निम्न भूमिका में है, उससे ऊपर उठे। अगर यह मध्यम भूमिका में है, तो उससे आगे बढ़े और उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो। भगवान् महावीर ने समस्त संसारी जीवों, विशेषतः जिज्ञासु मानवों से कहा—“अगणित अशुद्ध कर्मों का क्षय करके कदाचित् क्रमशः आत्मा की शुद्धि होने से दुर्लभतर मनुष्य जन्म मिला है, किन्तु इसके पश्चात् धर्मश्रवण, श्रद्धा, और संयम में पराक्रम दुर्लभतम घटियाँ हैं। इन्हें पार कर लेने पर मनुष्य अपने कर्मों का क्षय करने का पुरुषार्थ व्रत, नियम तथा बाह्याभ्यन्तर तपश्च आचरण करके करे। कर्मों के कारणों—राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि को भलीभाँति जानकर उनको आत्मा से पृथक् करे। ऐसे कर्मक्षय का पुरुषार्थ करते रहने से श्री अल्पकर्मा व्यक्ति उच्च देवलोक प्राप्त कर लेता है। और जो मुनि बनकर संवृत है—संवाधर्म में रत है, उसकी भी दो गतियाँ हैं—या तो समस्त दुःखों (कर्मों) का अन्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाते हैं, अथवा अल्पकर्मा महर्द्धिक देव बनते हैं”।

इसके विपरीत जो व्यक्ति उद्धत, एवं स्वच्छन्द होकर प्रत्यक्षदर्शियों के प्रेरणानुसार मनमाना आचरण करता है, पापकर्मों का त्याग नहीं करता है, वह नरकगामी होता है। कोई भी बन्धु-बान्धव, माता-पिता आदि स्वजन उसे कर्मों के दुःख-फल से बचा नहीं सकते। कर्मविज्ञान के सन्देश की जो अवहेलना करता है, स्वच्छन्दाचरण करता है, वह अज्ञ मानव हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि पापों को छोड़ता नहीं। वह मन, वचन, कर्मा से मत्त और उच्छृंखल होकर कषायों और विषयासक्ति में तथा सुरा-मांससेवन में रचा-पचा रहता है, वह अन्तिम समय में घोर पश्चात्ताप करता है, सोचता है—मैंने नरक स्थानों की बात सुनी थी कि क्रूर कर्म करने वाले दुःशील व्यक्ति नरक में जाते हैं, जहाँ प्रगाढ़ वेदना होती है। अथवा अपने कर्मनुसार वह देवलोक में भी जाता है, तो नीची जाति का कित्त्विषी देव बनता है, फिर वह पश्चात्ताप करता है।

कर्मविज्ञान के शरीर, इन्द्रिय, गति, योग, वेद आदि की गतिविधि के साथ कुछ नियत नियम हैं। उन नियमों पर से प्रत्येक प्राणी के जीवन का भूत, वर्तमान और भविष्य भी जाना जा सकता है। यद्यपि भविष्य का ज्ञान तो कर्मविज्ञान में पारंगत श्रुतकेवलियों या केवलज्ञानियों अथवा यत्किंचित् रूप में अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान के धारकों को होता है। परन्तु कर्मों के कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि में होने वाले परिवर्तनों को देखकर अनुमान करके अथवा विशिष्ट ज्ञान से साधारण ज्ञानी को भी उसके

१. (क) देखें—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. ७ से ११ तक। (ख) अ. ५ गा. २५

२. (क) उत्तराध्ययन अ. ४/२, (ख) अ. ५/९, १०, १२, १३

भूतकालीन तथा वर्तमानकालीन जीवन का पता लग जाता है। जैसे कि समुद्रपाल ने मुनि बनने से पूर्व बध्यभूमि की ओर ले जाते हुए एक चोर को देखकर उसके पूर्वकृत अमुक अशुभ कर्मों का पता लगा लिया था।

प्राचीन जैन कथाओं में तो यत्र-तत्र उल्लेख है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी मुनिवरों के द्वारा जिज्ञासु एवं संकट में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने भूत भविष्य के विषय में पूछता है, और वे उसके जीवन परिवर्तन की कहानी, किन कर्मों के कारण, किन लेश्या, योग आदि की प्रवृत्तियों-वृत्तियों के कारण हुई थीं, उनकी ओर ध्यान खींचते थे। इस प्रकार कर्मविज्ञान के माध्यम से उन जिज्ञासु व्यक्तियों का जीवन सहसा उच्च भूमिका की ओर प्रस्थान करने के लिए उद्यत-उत्थित हो जाता था। कई-कई व्यक्ति तो कर्मविज्ञान का सन्देश सुनकर कर्म से अकर्म की ओर प्रस्थान करने के लिए तीव्रता से तत्पर हो जाते थे।

व्यक्तित्व में यह परिवर्तन प्रायः कर्मविज्ञान के सन्देश से होता है, किन्तु अन्तरिक इच्छा से भी होता है, और परोपदेश या शास्त्रों के उपदेश से भी होता है।

व्यक्ति के जीवन में यह जो परिवर्तन होता है, वह मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में तो अवचेतन मन में होता है, चेतन मन के स्तर पर नहीं। परिवर्तन का मूल स्रोत है—अवचेतन मन। अवचेतन मन में जब यह बात पहुँच जाती है, कि क्रोधादि के कारण भयंकर कर्मबन्धन होंगे और दुर्गति आदि दुःखदायक परिणाम भी भोगना पड़ेगा, तब अन्तर्मन में बसी हुई बात सहसा परिवर्तन को बाध्य कर देती है, चेतन मन को। तब व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है।

कर्मशास्त्र की भाषा में कहें तो प्राणी के सारे व्यवहार का निर्धारक अथवा ज्ञापक तत्त्व है—कर्मणशरीर। कर्मण शरीर को प्रभावित किया जाए तो व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन शीघ्र घटित हो जाता है, किन्तु स्थूल शरीर या तैजस शरीर को प्रभावित करने से परिवर्तन की संभावना नहीं रहती है। ये दोनों ही व्यवहार के निर्धारक नहीं हैं। व्यक्ति ध्यान, कायोत्सर्ग, मौन आदि निवृत्तिप्रधान प्रक्रियाओं द्वारा कर्मविज्ञान के माध्यम से अपने और दूसरों के जीवन में परिवर्तन ला सकता है। यद्यपि दूसरे व्यक्ति में परिवर्तन होगा, उसी की अन्तरिच्छा से, परन्तु प्रेरक या मार्गदर्शक दूसरा कर्म-मर्मज्ञ व्यक्ति बन सकता है।

निवृत्ति काल में शुद्ध चेतना का अनुभव होता है। उस समय संलग्न कर्मों को पृथक् करने की तीव्रता भी जागती है, कर्मशरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। पुरानी वृत्ति-प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे खिसकने लगती हैं। नई आने नहीं पातीं।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि, जैन कर्मविज्ञान जीवन-परिवर्तन का विज्ञान है। वह प्राणिमात्र के जीवन की हलचल को बता देता है, उसके भूत, भविष्य और वर्तमान की झाँकी भी करा सकने में वह समर्थ है।

कर्मवाद: निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद ?

कर्मवाद : संसार-समुद्र में प्रकाशस्तम्भ

समुद्र में जहाँ चट्टानें होती हैं, उनसे टकरा कर जहाजों के घूर-घूर होने का खतरा रहता है, अथवा जहाँ आमने-सामने से जहाजों के आने-जाने का रास्ता हो, या जहाँ आंधी, वर्षा, तूफान, कोहरा तथा रात्रि के समय घना अन्धकार हो जाने से जहाज को रास्ता व बंदरगाह न दिखाई पड़ता हो, वहाँ एक बहुत ऊँचा प्रकाशस्तम्भ लगा रहता है, जो दूर-दूर तक प्रकाश फैक कर मार्ग दिखाता रहता है। दूर-दूर से जहाज आते हैं और खतरे से बच कर सही-सलामत पार हो जाते हैं।

इसी प्रकार संसार-समुद्र में भी कर्मवाद का सिद्धान्त प्रकाश-स्तम्भ के समान है; जो संसार-समुद्र की यात्रा करने वाले जीवरूपी नाविकों को अपनी जीवन-नीका सही-सलामत पार करने हेतु प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के उनके जीवन यात्रा मार्ग को प्रारम्भ से अन्त तक प्रकाशित करता रहता है और यह भी बताता रहता है कि यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर, काम, भय आदि की चट्टानें हैं, इनसे टकरा जाओगे तो तुम्हारी जीवन-नीका यहीं सछिद्र होकर डूब जाएगी, आगे नहीं बढ़ पाएगी। यहाँ मोह का भँवरजाल है, इससे बचना। और यहाँ संवर और निर्जरारूप धर्म का अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का निरापद मार्ग है। इस रास्ते से तुम्हारी जीवन-नीका सकुशल संसार-समुद्र को पार कर सकेगी।

इस प्रकार कर्मवाद संसार-समुद्र की यात्रा करने वाले जीव-नाविकों के लिए आशास्पद, विश्वस्त, सहायक एवं मार्गदर्शक प्रकाशस्तम्भ है।⁹

अज्ञानी दिङ्मूढ व्यक्ति प्रकाशस्तम्भ से लाभ नहीं उठा पाते

परन्तु अज्ञानी, दिङ्मूढ और विविध भ्रान्तियों के शिकार जीव-नाविक अपने

9. तुलना करें- सरीरमाहुनावति, जीवो बुच्चइ नाविओ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरत्ति म्हेसिणो॥

-उत्तराध्ययन २३/७३

अज्ञान, मोह और भ्रम के कारण कर्मवाद रूपी प्रकाशस्तम्भ को देखते तक नहीं, इस प्रकाशस्तम्भ के प्रकाश में सही और गलत मार्ग को देखते नहीं, काम-क्रोधादि चट्टानों से टकरा जाने की परवाह नहीं करते तथा इस संसार-समुद्र को अथाह कर्म-जल से परिपूर्ण देख कर हताश, निराश और उदास हो जाते हैं और कर्मवादात्मक प्रकाशस्तम्भ के प्रकाश को भूल कर वे अन्धकारमय मार्ग में ही अपनी जीवननैया को जैसे-तैसे खेतें रहते हैं। अपने मन में वे इसी भ्रान्ति को पाले रहते हैं कि चारों ओर कर्म-जल ही कर्म-जल है। इसी के भरोसे अपनी मात्रा करनी है, ये चाहे हमारी जीवन नौका को तारे या डुबाये।

कर्मरूपी जल का प्रवाह जिधर उनकी नौका को ले चलता है, उधर ही उनकी जीवन-नौका चलती रहती है। वे कर्मवाद के आशास्पद विश्वस्त प्रकाशमय मार्ग की दिशा में अपनी जीवन-नौका को चलाने का पुरुषार्थ नहीं करते। संसार-समुद्र में लबालब भरो हुए कर्म-जल के थपेड़ों से आहत होकर उनकी जीवननौका जर्जर, शिथिल और सखिद्र भी बन जाती है, उसके डूबने का खतरा बना रहता है। फिर भी वे कर्मवाद रूप प्रकाशस्तम्भ के यथार्थ उद्देश्य को न समझकर अपने पुरुषार्थ को उतेजित नहीं करते और हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने की वृत्ति को नहीं छोड़ते। चूंकि कर्मवाद उन्हें यथार्थ मार्ग पर चलने का प्रकाश देता है, किन्तु उनके मन-मस्तिष्क उस प्रकाश को तथा प्रकाशित यथार्थ मार्ग पर जीवन-नौका को चलाने के पुरुषार्थ को बहुत ही कष्टदायक एवं पीड़ाकारक समझते हैं। यही कारण है कि अधिकांश लोगों के लिए कर्मवादात्मक प्रकाशस्तम्भ आशास्पद एवं विश्वसनीय होने के बदले निराशाजनक एवं अविश्वसनीय बन हुआ है।

कर्मवाद सिद्धान्त से कतराने वाले भ्रान्तिमय मानव

वास्तव में कर्मवाद-सिद्धान्तरूपी प्रकाशस्तम्भ अन्याय, अनीति, हिंसादि पाप कर्म, जुआ, चोरी, ठगी, मांसाहार, मद्यपान, शिकार, हत्या, व्यभिचार आदि बुराइयों की चट्टानों से बचने के लिए तथा नैतिक जीवन जीने तथा आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए था। किन्तु कर्मवाद का अर्थ और उद्देश्य समझने में मनुष्य ने बहुत बड़ी भूल की। वह सोचने लगा कि “जो बुरे कर्म करते हैं वे फलते-फूलते हैं, सुखी एवं सम्पन्न दिखाई देते हैं और जो अच्छे कर्म करने वाले हैं, वे अभावपीड़ित हैं, दुःखी हैं, फटेहाल हैं, उन्हें सुख से अपना जीवनयापन करना भी दूभर हो रहा है। इसलिए अच्छा कर्म करने से क्या लाभ? बुरे कर्मों पर सभी चल रहे हैं, सभी तो दुष्कर्मों के बल पर सुखपूर्वक जी रहे हैं, तो मैं अकेला ही पीछे क्यों रहूँ?”

इस प्रकार कर्मवाद के सिद्धान्त से निराश, हताश होकर कर्मबन्ध की परवाह न करके वह कृत्रिम एवं क्षणिक सुखसम्पन्नता के लिए येन-केन-प्रकारेण जीवन यापन

करने लगा। कुछ लोगों ने अन्याय, अनीति और अधर्म के रास्ते पर चल कर सुखी होने का दिवास्वप्न देखा, हाथ-पैर भी मारे। किन्तु न तो उनके पास पूर्वजन्मकृत पुण्यराशि संचित थी, न ही इस जन्म में उन्होंने शुभकर्म उपाजित किये, फलतः उन्हें निराशा ही हाथ लगी। कुछ लोगों ने चोरी, डकैती, तस्करी, ठगी, अनीति, अन्याय, शोषण आदि करके कुछ धन एकत्र किया। किन्तु वह अन्यायोपाजित धन उनके लिए सुख-शान्ति का कारण न बना। फलतः परिवार में फूट, कलह, वैमनस्य तथा चिन्ता, बीमारी आदि दुःख और अशान्ति का दौर चलने लगा।

कर्मवाद के सिद्धान्त से लाभ उठाने वालों का चिन्तन एवं क्षमता

“अच्छे कर्मों के अच्छे फल होते हैं और बुरे कर्मों के बुरे फल;” कर्मवाद का यह सूत्र जिसके हृदय में स्पष्टतः अंकित हो जाता है, अथवा जो कर्मवाद के प्रकाश में शुभ-अशुभ और शुद्ध मार्ग को पहचान लेता है तथा उसके प्रकाश को हृदय से स्वीकार कर लेता है, वह अपने जीवन में श्रद्धापूर्वक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि अशुभकर्म का फल अशुभ ही मिलता है चाहे वह आज मिले, महीने, वर्ष या वर्षों बाद मिले। इसलिए मुझे अशुभ एवं अनिष्ट कर्मों से सदैव बचना चाहिए।

ऐसा व्यक्ति कर्मवाद के सिद्धान्त पर अटल विश्वास रखता है, और सदैव यह चिन्तन करता रहता है—मैं कौन हूँ? मैं किस दिशा या विदिशा से यहाँ (मनुष्य लोक में) आया हूँ? यहाँ से मर कर परलोक में क्या होऊंगा? मैंने कोई न कोई शुभकर्म राशि संचित की थी, उसी के कारण मुझे मनुष्य जन्म मिला है। अब मैं ऐसा कौन-सा शुभकर्म करूँ या कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ करूँ, जिससे मुझे इस जन्म में भी सुख-शान्ति मिले और आगामी जन्म में भी या तो शुभगति प्राप्त हो अथवा कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर आत्मा से परमात्मा बनूँ।”

आचारांग सूत्र के अनुसार वह कर्मवादी व्यक्ति यह सोचता है—“पूर्वजन्म या जन्मों में मैंने अच्छे कर्म (सक्रियाएँ) किये हैं, इस जन्म में भी करूंगा और दूसरों से सक्रियाएँ कराऊँगा तथा जो सक्रियाएँ करने वाला है उसका समर्थक-अनुमोदक बनूँगा।”

ऐसे कर्मवादनिष्ठ व्यक्ति पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए, और नये अशुभ कर्मों को रोकने के लिए सतत पुरुषार्थ करते हैं। शुभकर्मों का फल शीघ्र न मिले, अथवा शुभकर्म करते हुए भी पूर्वबद्ध अशुभकर्म के उदय के कारण कभी कष्ट, विपत्ति, संकट या दुःख आ पड़े तो भी सत्पुरुषार्थ में शिथिलता नहीं लाते। ऐसे लोग कर्मवादरूपी प्रकाशस्तम्भ के प्रकाश से पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

१. ‘... के अहं आसी? के वा इओ युओ इह पेच्चा भविस्सामि? —आचारांग सूत्र १/१/२

२. ‘अकरिस्सं चहं, कारवेसुं चहं, कारओ दावि समणुणो भविस्सामि।’ —वही, १/१/६

कर्म सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति की दुर्दशा

इसके विपरीत जो व्यक्ति कर्म सिद्धान्त से अपरिज्ञात होता है, वह यहाँ भी और पलके में भी दिशाओं और अनुदिशाओं में अपने-अपने कर्मों के अनुसार भटकता रहता है। वह अनेक प्रकार की योनियों को प्राप्त होता है तथा विभिन्न प्रकार के स्पर्शों (सुख-दुःख के आघातों) का अनुभव करता है।^१

यह कर्मवाद को नौखिक रूप से स्वीकारने वाले किन्तु शुद्ध अबन्धक कर्म (संक्रिया) से अथवा सत्कर्म से पलायन करने वाले व्यक्ति की दशा का चित्रण है।

कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्तियों द्वारा पराजयवाद का आश्रय

कर्मवाद के सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति साधना और व्यवहार के क्षेत्र में प्रायः यह कह बैठते हैं कि “हम यह कार्य नहीं कर सकते क्योंकि कर्म का ऐसा ही योग है। जब शुभ कर्म का उदय होगा, तभी हम कुछ कर सकेंगे।” वे कर्मवाद के विषय में इस प्रकार की प्रान्ति के शिकार बने हुए हैं कि “कर्म ही सब कुछ कराता है।” संसार में उसी की सर्वभूमि सत्ता है। हम तो कर्म के हाथ की कठपुतली हैं, वह जैसे नचाएगा, वैसे ही नचेंगे।” कई दफा कर्मवाद के सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति किसी अच्छे कर्म को करने का पुरुषार्थ नहीं करता तब अपनी विपन्न दशा को छिपाने के लिए कहता है। “मैं क्या करता, कर्म ही ऐसा था? कर्म के कारण ही मेरे से यह कार्य हुआ।” गलत कार्य या पापकर्म किया मनुष्य ने और दोष मढ़ दिया कर्म के सिर पर। क्या ऐसा करने से व्यक्ति कर्मफल से बच सकता है? यह पराजयवाद है।

कर्म का बहाना बना कर मनुष्य अपनी कमजोरियाँ छिपाता है। वह कर्म के आगे अपनी हार मानता है। पर यह नहीं सोचता कि ऐसा करने से क्या वह कर्म से या कर्मफल से बच जाएगा? मनुष्य जब तक अष्टकर्मों से सर्वथा मुक्त-सिद्ध-बुद्ध-निराकार-अशरीरी परमात्मा नहीं बन जाता, तब तक उसे कुछ न कुछ प्रवृत्ति या क्रिया (कर्म) करनी ही पड़ती है। यह अवश्य है कि वीतराग पुरुष के द्वारा जो भी कर्म (क्रिया) किया जाता है, उससे आत्मगुणघातक कर्म बन्ध नहीं होता, न ही अन्य कर्म का बन्ध होता है। ऋषभस्य साधक जो यतनाशील एवं सर्वभूतात्मभूत समदर्शी हैं, उसके भी अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध नहीं होता। अतः जो कर्म से डर-डर कर आवश्यक या शुभ क्रिया या प्रवृत्ति करने से कतराता है, उसके लिए सूत्रकृतांग चूर्णि में कहा गया है—“कर्म से

१. ‘अपरिण्णाय कमे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अनुदिसाओ वा अणुसंचरइ!!’

—आचारसंग १/१/८

२. कर्मवाद पृ. १०२

डरकर चलने वाले (आवश्यक एवं सहज तथा शुभ कर्म न करने वाले) व्यक्ति अपने कर्मों में वृद्धि ही करते हैं। क्योंकि उनका चित्त मलिन होता है, वे शुद्ध मन से कोई कर्म नहीं करते।”^१

कर्म सिद्धान्त से अनभिज्ञ ही कर्म के विषय में भ्रान्त एवं भयभीत

कर्मवाद के रहस्य से अविज्ञात व्यक्ति कर्म से इसलिए भी डरते रहते हैं कि वे बहुत बार कर्म की शक्ति के बारे में अनेक बातें सुनते हैं। प्रायः कर्मवाद के मर्म से आने वाली व्यक्ति इस धारणा से ग्रस्त हो जाता है कि मनुष्य का सारा का सारा जीवन, व्यक्तित्व एवं वर्तमान अतीत में पूर्वकर्मों से बँधा हुआ है। भूतकाल में उसने जो कर्म बाँधे थे, उन्हीं के अनुसार उसका जीवन बना है। वर्तमान में आने वाले संकट, दुःख, विघ्न आदि सब पूर्वबद्ध कर्म के फल हैं,^२ इन्हें कोई बदल नहीं सकता, इनको आने से रोक नहीं सकता, इनका फल भोगे बिना कोई चारा नहीं है। इस प्रकार की एकपक्षीय एकांगी धारणा आम आदमी की सहज ही बन जाती है। वह अतीत की पकड़ को ढीली करने, छोड़ने और पूर्वबद्ध कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश को बदलने में स्वयं को असमर्थ समझता है। वह ऐसा सोच भी नहीं पाता कि पूर्वबद्ध कर्मों को बदला या उदय में आने से पूर्व ही फल भोग कर क्षय किया जा सकता है।

कर्म की शक्ति के विषय में भ्रान्त धारणा भी निराशावाद की जननी

इस भ्रान्त धारणा के बनने में एक कारण और भी है। वह कर्म के विषय में प्रायः यही सुनता आ रहा था कि कर्म किसी को भी छोड़ता नहीं, चाहे वह आकाश में उड़कर चला जाए, चाहे पाताल में घुस जाए, अथवा एकान्त स्थान में जाकर छिप जाए। बड़े-बड़े तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, युगपुरुषों, पहलवानों और योद्धाओं को भी कर्म छोड़ता नहीं, सामान्य आदमी तो किस बाग की मूली है? आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को बारह महीने से कुछ अधिक समय तक आहार नहीं मिला; यह उनके पूर्वकृत कर्म का ही प्रभाव था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को राज्याभिषेक के बदले चौदह वर्ष का वनवास का कष्ट भोगना पड़ा, महासती सीता जैसी पवित्र महिला का एक धोबी के कथन पर से श्रीराम द्वारा त्याग करने की घटना, कर्म के महाप्रभाव को उजागर करती हैं। सनत्कुमार जैसे अद्वितीय रूपवान् चक्रवर्ती का अकस्मात् दुःसाध्य रोगाक्रान्त होना, कर्म की शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को चाण्डाल के यहाँ बिक कर श्मशान घाट पर चौकीदारी का कार्य करना भी कर्म की प्रचण्ड शक्ति का नमूना है।

श्रीकृष्ण वासुदेव की इहलीला का जगत्कुमार के बाण से समाप्त होना, एवं बलदेव द्वारा उनके मृतदेह को छह महीने तक कंधे पर उठाये फिरना भी कर्म की ताकत का

१. “कर्मभीताः कर्मण्येव वर्द्धयन्ति, चित्तं न दूषयितव्यं।”—सूत्रकृताः पृ. १२२, तथा १/२/२

२. कर्मवाद पृ. १२२

परिचायक है। चन्दनबाला जैसी सुकुमार राजकुमारी का दासी के रूप में बिकना और गुलाम बनकर रहना तथा अनेक कष्ट उठाना भी कर्म के अटल नियम का सूचक है। सुभद्रा जैसी सती के सिर पर मिथ्या कलंक का आना, तथा मदनरेखा, अंजना, आदि सतियों पर धोर कष्ट और वन-वन में निराश्रित भटकना भी कर्म के प्रभाव को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार कर्म का प्रभाव विश्व में, समस्त प्राणियों पर सर्व-कालव्यापी एवं सार्वत्रिक है। कर्म के प्रभाव से राजा रंक और रंक राजा बन जाता है। एक व्यक्ति कर्म के प्रभाव से अभावपीडित जिंदगी व्यतीत करता है, दूसरा व्यक्ति पानी मांगता है तो उसे दूध मिलता है। कर्म के प्रभाव से मनुष्य भरकर पशु-पक्षी, नारक या देव चाहे जिस योनि में जन्म लेता है। कर्म के प्रभाव से श्रेष्ठिपुत्र होते हुए भी एक व्यक्ति सारी जिंदगी रोग, शोक, चिन्ता और व्यथा में विताता है, जबकि दूसरा बीमार एवं गरीब पिता का पुत्र होते हुए भी विद्यावान्, बुद्धिमान, स्वस्थ और सौन्दर्यमूर्ति होता है।

भगवान् महावीर जैसे महापुरुष के कानों में कीले ठोके गए, अनार्य देश में उन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा, यह भी कर्म का अद्भुत प्रभाव है। यह कर्म की ही महिमा है कि शालिभद्र को धनकुबेर गोभद्रसेठ के यहाँ जन्म मिला, सुख-वैभव के सभी साधन प्राप्त हुए।

संसार में जो कुछ विचित्रता, विभिन्नता एवं विविधता दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब कर्मजनित है। “कर्मों के झोते छहों दिशाओं में, जड़-चेतनरूप विश्व में सर्वत्र हैं।” दुनिया के प्रत्येक प्राणी का अनन्तकालीन जीवन कर्मसूत्र से ग्रथित है। कर्म के आगे किसी मनुष्य की, उसके धन की, सत्ता की सिफारिश की कुछ भी नहीं चलती।^१

कर्म की शक्ति के विषय में इस प्रकार की महिमापूर्ण बातों से प्रभावित होकर सामान्य मानव अपने आपको विवश, अशक्त, दीन-हीन, परावत्सवी एवं कर्माधीन समझने लगता है और प्रायः ऐसी धारणा बना लेता है, कि कर्म जैसा करायेगा, वैसा करना होगा। जैसा कर्म का लेख है, वैसा ही होगा। उसमें रत्तीभर भी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार कर्मवाद के विषय में भ्रान्ति का शिकार होकर वह निराश, हताश, निश्चय एवं पुरुषार्थहीन होकर बैठ जाता है।

आज मनुष्य के पुरुषार्थ ने क्षयरोग, मलेरिया, प्लेग, चेचक जैसे भयंकर रोगों पर विजय पा ली है। चेचक को दैवी प्रकोप तथा अन्य रोगों को कर्मजन्य माना जाता था। आज रोगों की बहुत ही रोकथाम हो चुकी है। यदि रोग कर्मजन्य होते तो वे नेस्तनाबूद

१. (क) जैनदृष्टि कर्म (डॉ. मोतीचंद गि. कापडिया) पृ. २१/२२

(ख) आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. ६ सू. ५८७

कैसे होते? यदि रोग या मरण केवल कर्मजन्य है तो मृत्यु दर कैसे घट गई? बच्चों का अकाल में काल-कवलित होना भी तो कर्मजन्य माना जाता था मगर आज बालकों की सुरक्षा, रोगों की रोकथाम वैज्ञानिक ढंग से की गई है। फिर कर्म का प्रकोप कहाँ गया? किन्तु जब सामान्य मानव के समक्ष यह तथ्य प्रतिपादित किया जाता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही, उसी रूप में उसे उसका फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार के एकांगी प्रतिपादन से मनुष्य के सत्पुरुषार्थ का आशामय दीपक बुझ जाता है, वह ज्ञात-अज्ञात रूप से अज्ञानान्धकार में भटक जाता है। वह यों समझने लगता है कि मैं स्वयं कर्म के आगे अशक्त हूँ, असहाय हूँ, क्या कर सकता हूँ? जैसा पूर्ववद्ध कर्म है, उसका वैसा ही फल मुझे प्राप्त होगा। ऐसी मिथ्या धारणा का शिकार बनकर मनुष्य दीनता-हीनता-निर्धनता, अशिक्षा, बीमारी एवं रुढ़िग्रस्तता व अव्यवस्था को जिंदगीभर ढोता रहता है।

कर्मवाद : सत्पुरुषार्थयुक्त आशावाद-सूचक

परन्तु कर्मवाद निराशा उत्पन्न नहीं करता, वह सत्पुरुषार्थयुक्त आशावाद का प्रेरक है। अगर कर्मवाद को सही मानने में समझें तो सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कर्मवाद का सिद्धान्त आत्मा के अन्धकारपक्ष और उज्ज्वलपक्ष दोनों को अभिव्यक्त करता है। वह आस्रव और बन्ध के अन्धकारयुक्त मार्ग को भी बताता है, तो साथ ही वह संवर, निर्जरा और मोक्ष के प्रकाशयुक्त पथ का भी प्रदर्शन करता है।

कर्मवाद के रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति : निराश, निष्क्रिय और पुरुषार्थहीन

परन्तु कर्मवाद के रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति प्रायः आस्रव और बन्ध के फल का विचार करके, कर्मवाद को भयंकर और कर्म को मनुष्य का शत्रु समझकर हताश-निराश होकर बैठ जाता है, अथवा भाग्य के भरोसे निष्क्रिय व पुरुषार्थहीन होकर बैठ जाता है। या फिर वह भगवान् के भरोसे बैठ रहता है। परन्तु अपने निजी पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं करता। पुरुषार्थ से अशुभ कर्मों को, शुभ कर्मों में बदला जा सकता है, कर्मों की स्थिति, फलदानशक्ति एवं कर्मों के जत्थे को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। यह हम पिछले निबन्ध में संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन और उदीरणा के सन्दर्भ में विस्तार से बता आए हैं। संक्रमण आदि का सिद्धान्त निराशानाशक सत्पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। वह निराशावाद या पराजयवाद का सूत्र नहीं है।

जैन कर्मवाद ही परिवर्तन सिद्धान्त का प्रेरक

अपने सत्पुरुषार्थ पर विश्वास रखकर कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार चले, अथवा उसका ठीक उपयोग करे तो व्यक्ति अपने पूरे व्यक्तित्व को बदल सकता है,

अपनी आदतों, स्वभाव, प्रकृति एवं विचार को बदल सकता है, आर्त-रौद्र ध्यान को धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में परिवर्तित कर सकता है, अशुभ लेश्या को शुभ लेश्या में परिणत कर सकता है। अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल सकता है। वैकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने ही दार्शनिक जगत् में एक नई बात कही कि कर्मों को अन्त-बदल किया जा सकता है! अशुभ को शुभ में पलटा जा सकता है। पाप को पुण्य में और पुण्य को पाप में बदला जा सकता है।^१

उदीरणा का पुरुषार्थ : कर्म को उदय में लाकर शीघ्र भोग लेने का उपाय

अन्य दार्शनिकों ने कहा कि कर्मों का जत्था इतना भारी-भरकम हो जाता है कि वृत्त काल तक उन्हें भोगते-भोगते आदमी थक जाएगा। परन्तु कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कहा-ऐसा एकान्त नहीं है। कर्म कब तक उदय में आएगा? अथवा कर्मों का इतना विशाल भण्डार कब खाली होगा? क्या अनन्तकाल तक कर्मों के क्षय की प्रतीक्षा करनी होगी? ये शंकाएँ कर्मविज्ञान ने निर्मूल कर दी हैं। यदि पूर्वबद्ध-सत्तापतित (संचित) कर्मों को उदय में आने से पहले ही भोग कर क्षीण करना हो तो उदीरणा का पुरुषार्थ करो। बंधे हुए कर्मों को शीघ्र ही किसी निमित्त से उदय में लाओ और समभावी (राग-द्वेष रहित) होकर भोगते जाओ, और तोड़ते जाओ। विपाक की प्रतीक्षा मत करो। निधत्त और निश्चायित न बंधे हों तो उन कर्मों को उदीरणा के पुरुषार्थ से शीघ्र ही क्षीण किया जा सकता है। किन्तु कर्मवाद निर्दिष्ट संवर और निर्जरा के इन विभिन्न प्रयोगात्मक उज्ज्वलण पर चलने का पुरुषार्थ न करके व्यक्ति अशुभ कर्म के स्रोत-पापास्रव और पापबन्ध के पथ पर सरपट दौड़ लगाता है।

स्वयं का दोष : कर्म के सिर पर : कर्मवाद की भ्रान्त धारणा

जीवन में जब भी कोई अघटित घटना हो जाती है तो कर्मवाद की भ्रान्ति के शिकार व्यक्ति कहने लगते हैं—“हम क्या करते, कर्म में ऐसा ही लिखा था।” ऐसे मनुष्य अपनी पुरुषार्थहीनता एवं अकर्मण्यता को दबाने-छिपाने के लिए सारे ही गुण-दोषों का टोकरा कर्म के सिर पर डाल देते हैं। भला-बुरा कुछ भी हो, ऐसी मिथ्या धारणा से ग्रस्त व्यक्ति कर्म पर ही सारा दायित्व डाल देता है। मनुष्य स्वयं बच जाता है, कर्म को दोषी ठहरा देता है।

भारत के जनमानस में कर्मवाद के साथ-साथ भाग्यवाद की इतनी भ्रान्त धारणाएँ जमा चुकी हैं कि मनुष्य इन भ्रान्त धारणाओं के चक्कर में पड़कर भयंकर रोग की भी भुगतता है, संकट और कष्टों का सामना करने की अपेक्षा उन्हें भाग्य की

१. कर्मवाद पृ. १०३

अमित लिपि समझ कर भोगता रहता है, दीनता-दरिद्रता भी चुपचाप भोगता रहता है। भयंकर रोगग्रस्त यही सोचता है कि भाग्य में यह रोग लिखा हुआ है तो इसे कौन भिय सकता है? इसी प्रकार दरिद्रता को भी भाग्य का वरदान समझकर भोगा जाता है। हर कार्य में ऐसा व्यक्ति भाग्य और कर्म की दुहाई देता है और कष्ट भोगता जाता है। भाग्य की भाषा में सोचने की उसकी आदत ही बन गई है। समस्याओं को विवेकपूर्वक सुलझाने के बजाय भाग्य भरोसे छोड़ देता है।

जैनकर्मविज्ञान स्वावलम्बी पुरुषार्थ के अनुकूल है

किन्तु जो कर्म में लिखा है, वही होगा; यह मानकर अकर्मण्य एवं पुरुषार्थहीन होकर बैठ जाना, जैन कर्मविज्ञान के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। जैनकर्मविज्ञान प्ररूपक तीर्थंकरों, ज्ञानी महापुरुषों एवं आचार्यों ने भाग्यवाद, ईश्वरकृपावाद या पराश्रयवाद आदि के भरोसे न बैठकर स्वयं सत्पुरुषार्थ-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप, क्षमा आदि दशविध उत्तम धर्म, महाव्रत एवं संवा, निर्जरा आदि मोक्ष पथ पर चलने का पुरुषार्थ करके सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त किया। जैनकर्मविज्ञान स्वावलम्बी पुरुषार्थ को अत्यधिक महत्व देता है।

भगवान् महावीर पर साधनाकाल में घोर उपसर्ग (कष्ट) आने लगे, तब इन्द्र ने करबद्ध होकर प्रार्थना की—“भगवन्! आप पर घोर कष्ट आते हैं, आने वाले हैं, मैं आपकी सेवा में रहकर इन कष्टों से आपकी रक्षा करना चाहता हूँ, आप आज्ञा दें।” इस पर प्रभु महावीर ने कहा—“इन्द्र! यह न तो कभी हुआ है, न होगा कि किसी दूसरे के सहारे से कोई साधक अपने साध्य को प्राप्त करे। जिनेन्द्र स्वकीय पुरुषार्थ-बल के आधार पर परम (परमात्म) पद को प्राप्त करते हैं।”

कर्मनिर्जरा-सिद्धान्त पुरुषार्थप्रेरक है

कर्मविज्ञान-प्ररूपित कर्मनिर्जरा (कर्म का अंशतः क्षय) का सिद्धान्त भी व्यक्ति के स्व-सत्पुरुषार्थ का प्रेरक है। कतिपय कर्म फल देकर आत्मा से छूट जाते हैं, जबकि कई कर्म सत्पुरुषार्थ द्वारा भी छुड़ाये जा सकते हैं। कर्म का फल देकर स्वयं छूट जाना अकामनिर्जरा है, जबकि व्यक्ति के स्व-पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का छुड़ाया जाना सकाम निर्जरा है। सकाम निर्जरा उद्देश्यपूर्वक, स्वेच्छा से, किसी भी कामना-वासना आदि दोषों से रहित होकर बाह्य-आभ्यन्तर तप, परीषह-जय, चारित्र-पालन, सम्यग्दर्शन-ज्ञान की साधना, क्षमादि धर्मों के पालन द्वारा आत्मशुद्धि के हेतु की जाती है।^१

१. (क) इंदा न एवं भूयं, न भव्वं, न भविस्सइ, जं अरिहंता परासएण अरहत्तं पावति।

—महावीरचरितं

(ख) स्वदीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्॥

२. अस्मिन् विज्ञान प्रवेशिक (गोपीचंद धाडीवाल) से पृ. ११

कर्मवाद सिद्धान्त निराशाबोधक नहीं, जीवन-परिवर्तन बोधक है

सब पूछें तो—कर्मवाद-सिद्धान्त निराशा का बोधक नहीं, अपितु स्व-जीवन-परिवर्तन का बोधक है। जिस प्रकार एक जगह पड़ा हुआ पानी गंदा हो जाता है, वह हटा रहता है, उसमें कीड़े कुलबुलाने लगते हैं, इसी प्रकार समाज में, परिवार में, या संश्लिष्ट जीवन में स्थिति-स्थापकता, रूढ़िवादिता या विकासघातक परम्पराओं से विपटे रहना भी कर्मवाद के रहस्य को नहीं समझना है। कर्मवाद का प्रेरणासूत्र यह है कि देव, मृतभोज, धर्म को प्रतिष्ठा न देकर धन को प्रतिष्ठा देना, संयमशीलता को प्रतिष्ठा न देकर सत्ता को प्रतिष्ठा देना, इत्यादि कुरुद्वियों एवं कुप्रथाओं के पालन से ज्ञान में विषमता, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, अन्याय-अनीति एवं पापाचरण से धनवृद्धि, अश्लोभन के आधार पर सत्ता-प्राप्ति, ठगी, वंचना, बेईमानी आदि पापकर्मों का बन्ध होता है। अतः इन कुप्रथाओं एवं कुरुद्वियों को इस ढंग से बदलना चाहिए जिससे समाज में सभ्यता, मानवता, सत्यता, निर्भयता, न्याय-नीति आदि बढ़ें, जिससे व्यक्ति के जीवन में संसार-निर्जरा प्रचलित हो, अथवा कम से कम पुण्य (शुभ कर्म) का भी संचय हो। जिससे पापाचरण के बदले पुण्याचरण या संयमाचरण या तपश्चरण की ओर मानवजाति बढ़े। सच्चा कर्मवादी कुरुद्विवादी नहीं होगा।

सच्चा कर्मवादी : प्रत्येक प्राणी में शुद्ध चेतना के दर्शन करता है

वह प्रत्येक व्यक्ति में शुद्ध आत्मा को देखता है, कर्म-प्रभावित आत्मा के दर्शन करने के बदले उसमें प्रत्येक प्राणी में शुद्ध आत्मा के दर्शन की चेतना-ज्ञानचेतना जग जाती है, ऐसी स्थिति में वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से दूर हट जाता है। यही कर्मवाद के सार्थक होने की कसौटी है। इस कसौटी में खरा उतरने पर व्यक्ति कपाय, रागद्वेष, मोह, क्रोध आदि विकारों (विभावों) से शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है, या ये अत्यन्त मन्द हो जाते हैं। फिर वह अनेक पाप कर्मबन्धन बुराइयों—सावध प्रवृत्तियों से स्वयं को बचा लेता है।

जीव के साथ अनादिकाल से लगा कर्मचक्र

कर्मवाद के विषय में एक एकांगी धारणा यह भी बनी हुई है कि जीव अनादिकाल से कर्मों की शृंखला में जकड़ा हुआ है। पुराने कुछ कर्मों को भोग कर वह नये अनेक कर्मों को बांध लेता है। यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है। जिस प्रकार रेंहट की शीशा में पानी भरकर आता है, खाली होता है और फिर भर जाता है, इसी प्रकार प्रत्येक जीव के साथ कर्मों की घटमाल चलती रहती है। पुराने कर्मों का भण्डार खाली नहीं होता, इतने में तो नये कर्मों की भरती होती जाती है।

जैसा कि “पंचास्तिकाय” में जीव के साथ संलग्न अनादि-अनन्त या अनादि-सत्त कर्मचक्र की परम्परा का निर्देश करते हुए कहा गया है—“जो जीव संसार में स्थित है, अर्थात्-जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उससे उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बँधते हैं। कर्मों के कारण एक गति से दूसरी और दूसरी से तीसरी गति में जन्म लेना पड़ता है। उस-उस गति में जन्म लेने पर शरीर प्राप्त होता है, शरीर के साथ इन्द्रियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों से जीव विषयों का ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण के साथ ही उन पर राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसारचक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्मों से भाव होते रहते हैं। जिनेश्वरों ने इस प्रवाह को अभव्य जीव की अपेक्षा अनादि-अनन्त और भव्यजीव की अपेक्षा अनादि-सत्त कहा है।”

आत्मा कर्माधीन या इच्छास्वतंत्र?

इसके कारण आम आदमी की यह एकांगी धारणा बन गई कि कर्मचक्र से कभी छुटकारा सम्भव नहीं है। यह आम धारणा भी बन गई कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों से भोगता जाएगा, और नवीन कर्मों को अर्जित करता जाएगा। इस कर्मपरम्परा का अन्त आना अत्यन्त दुष्कर होगा। कर्मचक्र का प्रवाह भी इसी प्रकार आगे से आगे चला रहेगा। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप में प्रकट होता है, इस प्रकार कर्म से फल और फल से पुनः कर्म, यानी राग-द्वेष, कषायादि के परिणामों से कर्म और कर्म के परिणामस्वरूप शरीरादि से पुनः रागादि परिणाम, इस प्रकार कर्म और परिणाम का चक्र चलता रहेगा। इन कर्मों को भोगते-भोगते जीव नये कर्म और अर्जित करता जाएगा, जो कालान्तर में या आगामी जन्म या जन्मों में फल देते रहेंगे। ऐसी स्थिति में प्राणी के प्राचीन कर्म स्वतः अपना फल देते रहेंगे, एवं उसकी निश्चित कर्माधीन स्थिति के अनुसार नवीन कर्म बंधते रहेंगे, जो भविष्य में समय पर अपना फल प्रकट करते हुए कर्मपरम्परा को स्वचालित यंत्रवत् आगे से आगे बढ़ाते रहेंगे।

यदि प्रत्येक क्रिया को कर्ममूलक माना जाए तो जीव का अपने पर या दूसरों पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। उसकी समस्त क्रियाएँ सर्वथा कर्माधीन मानने पर वे

१. जो खलु संसारस्यो जीवो ततो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगादस्स देहो, देहादो इदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं, ततो रागो य दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेव भावो संसार चक्रवालमि।
इदिजिणवरोहिं भणियो अणादिणिघणो सणिधणो वा ॥१३०॥

—पंचास्तिकाय १२८, १२९, १३०

स्वयं-संचालित यंत्र की भांति स्वतः संचालित होती रहेंगी। ऐसी स्थिति में प्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन मानना होगा। ऐसा कर्मवाद एक प्रकार का नियतिवाद या अनिवार्यतावाद बन जाएगा। फिर आत्मस्वातंत्र्य को, या आत्मशक्ति को, स्वेच्छापूर्वक उपयोग को अथवा आत्मा के इच्छा-स्वातंत्र्य को जीवन में कोई स्थान नहीं रहेगा।^१

प्राणी कर्म करने में भी स्वतंत्र, फल भोगने में भी कथंचित् स्वतंत्र

किन्तु जैनकर्म विज्ञान इस तथ्य से सर्वथा इन्कार करता है। यह सामान्य नियम है कि प्राणी कर्म करने यानी कर्मबन्ध करने में स्वतंत्र है, किन्तु उसका फल भोगने में परतंत्र है। समस्त कर्मवादियों की यह मान्यता है कि प्राणी को अपने कृतकर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है, किन्तु नवीन कर्म का उपार्जन करने में वह किसी हद तक स्वतंत्र है।

वह पूर्वकृत कर्म का फल भोगने में परतंत्र है, इसका यह अर्थ नहीं कि जिस प्रकार जिस (कृषाय) रसानुभाग की तीव्रता या मन्दता से कर्म बांधा है, उसे उसका फल उसी रूप में भोगना पड़े। वह चाहे तो पूर्वकृत कर्म की सजातीय उत्तरप्रकृतियों में परिवर्तन या अक्षतबदल भी कर सकता है, चाहे तो अमुक सीमा तक स्थिति (पूर्वकृत कर्मों के फल भोगने की कालसीमा) को अल्पकालीन या दीर्घकालीन कर सकता है, रसानुभाग में भी तीव्रता या मन्दता कर सकता है। वह चाहे तो अमुक नियमानुसार संचित कर्म के उदय में अपने समय से पूर्व ही उदीरणा करके उसका फल भोग कर शीघ्र ही क्षीण कर सकता है। आत्मा की आन्तरिक शक्ति एवं बाह्य परिस्थिति के अनुरूप प्राणी नये कर्मों का उपार्जन भी रोक (संवर कर) सकता है। पुराने बंधे हुए कर्मों को आत्मा अपने तप, त्याग, मत्सर आदि द्वारा शीघ्र ही क्षय (निर्जरा) कर सकता है।^२ इसका विशेष विस्तृत निरूपण हम कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड में 'कर्म का परतंत्रीकारक रूप' नामक निबन्ध में कर चुके हैं।

कर्मवाद आत्मशक्तियों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करने का अवसर देता है

निष्कर्ष यह है कि कर्मचक्र के अखण्ड प्रवाह से यह नहीं मानना चाहिए कि प्रत्येक ज्ञाता के यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। आत्मा अनन्त शक्तिमान है, अनन्तज्ञान-दर्शन और ज्ञानन्द से परिपूर्ण है। परन्तु वर्तमान में उसकी अनन्तशक्ति, अनन्त ज्ञानादि सुषुप्त हैं, कर्मों से आवृत हैं। इसलिए आज आत्मा निर्बल और कर्म सबल प्रतीत होता है। मगर वास्तव में आत्मा को ज्ञानादि चतुष्टय की साधना से उर्जस्वी, वर्धस्वी और तेजस्वी

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४ (डॉ. मोहनलाल मेहता) से पृ. ६-७

२. देखें-कर्म विज्ञान प्रथम भाग तृतीय खण्ड में 'कर्म का परतंत्रीकारक स्वरूप' पृ. ४०६ से ४३१

बनाया जाय तो कर्म उस पर हावी नहीं हो सकते। वह कर्म पर नियंत्रण कर सकता है, वह चाहे तो आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त रख सकता है। वह यह भान कर ले कि राग-द्वेष, कषाय आदि आवेगों या विकारों से आत्मा को बचाए तो अवश्य ही वह कर्मों को क्रमशः क्षय करता हुआ एक दिन अवश्य ही कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। संयम और तप ये दोनों साधन उसे कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाने में सहायक हो सकते हैं। इसलिए कर्मवाद में आत्मशक्ति के स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग का या सीमित इच्छास्वातंत्र्य का स्थान अवश्य है।^१

इच्छा-स्वातंत्र्य का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं

इच्छा-स्वातंत्र्य का कोई यह अर्थ न करे कि 'जो चाहें सो करें।' ऐसी स्वतंत्रता अथवा स्वच्छन्दता को कर्मवाद में कोई स्थान नहीं है। प्राणी अपनी शक्ति एवं मर्यादा तथा बाह्य परिस्थिति की या अपने बलाबल के विचार की उपेक्षा करके कोई कार्य नहीं कर सकता। वह परिस्थितियों का दास नहीं, किन्तु अपनी आत्मशक्ति को प्रकट करे तो स्वामी भी बन सकता है।^२

कर्म कितना ही शक्तिशाली हो, अन्त में आत्मा ही विजयी होता है

वस्तुतः कर्म कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह सार्वभौम शक्ति सम्पन्न नहीं है। लोगों में यह भ्रान्ति है कि कर्म सर्वशक्तिसम्पन्न है, सब कुछ कर्म से ही होता है, यापे सकता है। परन्तु यह मूढतापूर्ण भ्रान्ति है। यदि सब कुछ कर्म से ही होता तो मनुष्य संवार और निर्जरा की साधना क्यों करता ? उसका मोक्ष कदापि न होता। कर्मवाद यह स्पष्ट सिद्धान्त प्रतिध्वनित करता है कि एक ओर कर्म की सेना है—आम्रव और बन्ध की बटालियन तो दूसरी ओर धर्म की सेना है—संवर, निर्जरा और मोक्ष की बटालियन। इन दोनों का संघर्ष, युद्ध और प्रतिद्वन्द्विता है। इसमें तुम्हें आत्मा को जिताना है, उसका गौरव बढ़ाना है तो संवर, निर्जरा और मोक्षरूप धर्म को विजयी बनाओ।

कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता

कर्मविज्ञान इसी तथ्य की प्रेरणा करता है कि यह निश्चित समझ लो कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। कर्म के पास भौतिक शक्ति है तो आत्मा के पास अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तचारित्र, असीम आनन्द, असीम बलवीर्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। अगर सोया हुआ आत्मकेसरी जाग जाए और अपनी शक्तियों को भलीभाँति जानकर पराक्रम करे तो कर्म उसके आगे एक क्षण भी टिक नहीं सकते। कितना ही प्रगाढ़ घना

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४ (डॉ. मोहनलाल मेहता) से

२. वही, भा. ४ से

अन्धकार हो, प्रकाश की एक किरण पड़ते ही वह समाप्त हो जाता है। जब आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को उदबुद्ध कर लेता है, तब कर्म की सत्ता डगमगा जाती है। चैतन्य की जागृति नहीं होती, तभी तक कर्म टिक पाता है। चैतन्य का जागरण होते ही कर्म का एकछत्र-सा शासन समाप्त हो जाता है। इसलिए कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता।

ज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्षमार्ग की साधना से कर्मों के संचित विशाल पुंज को तोड़ सकता है

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की शुद्ध साधना करने वाला साधक चाहे गृहस्थ हो या साधु, कर्मविज्ञान के इन गूढतम रहस्यों को जाने और उससे मिलने वाले आध्यात्मिक बोध के प्रकाश को ग्रहण करे और अपनी आध्यात्मिक चेतना पूर्णतया जागृत करे तो करोड़ों जन्मों के संचित कर्मों को तप, संयम के द्वारा बहुत शीघ्र ही क्षय कर डालता है।^१ और आत्मा को परिशुद्ध परमात्मा बना लेता है। व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना सशक्त हो तो कर्मों का चाहे जितना विशाल पुंज हो, टूटने लग जाता है।

अपने आन्तरिक वैभव को जानो, देखो

वर्तमान युग का मानव बाहर के वैभव को देखता है, इसलिए बाहर की शरीरादि सब कर्मोपाधिक वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण दिखती हैं, अगर वह अपने अन्दर झाँके तो उसे अपने असीम ज्ञानादि आध्यात्मिक वैभव का पता लगे। पर आज वह इसी कहावत को वीरितार्थ कर रहा है—

कस्तूरी मृग नाभि बसत है, वन वन फिरत उदासी।

आज वह बाहर में आनन्द, शान्ति, शक्ति, ज्ञान आदि को दूढ़ता है।

कर्मविज्ञान कर्म की शक्ति-अशक्ति की सीमा का स्पष्ट निर्देशक

जैन कर्मविज्ञान कर्म की शक्ति-अशक्ति की सीमा भी बताता है। चौदह गुणस्थानक्रम के द्वारा वह कर्म की प्रबल शक्ति से लेकर शक्तिक्षीणता तक की सीमा बताता है। अतः यह निश्चित समझ लो कि कर्म आते हैं, बंधते हैं, पर कब, किसको, कब तक ? इसकी चर्चा भी कर्मविज्ञान में है। कर्म चाहे कितना ही प्रबल हो, अपनी सीमा में ही फल देता है, उस पर भी प्रतिबन्ध हैं। मुक्तभाव से वह भी फल नहीं देता। प्रत्येक कर्म का विपाक (फल भोग) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा में होता है। कर्म का उदय विद्यमान होते हुए

१. भवकोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।”

भी यह विपाक देता है—द्रव्य(कर्मबन्धकर्तापात्र), क्षेत्र, काल, भाव, भव (जन्म) इत्यादि परिस्थितियों के अनुरूप।^१

बद्ध कर्मों की बन्ध से लेकर मोक्ष तक की ग्यारह अवस्थाएँ

कर्मविज्ञान की प्ररूपणा है कि यदि व्यक्ति जागृत और अप्रमत्त हो तो कर्म की कालमर्यादा एवं फलदानशक्ति की सीमा को समझकर एक झटके में कई-कई जन्मों के कर्मों तो तोड़ देता है। इसी तथ्य को अनावृत करने के लिए जैन-कर्मविज्ञान ने बन्ध से लेकर मोक्ष (सर्वकर्मक्षय) तक की दस या ग्यारह अवस्थाएँ बताई हैं, जिन्हें कारण भी कहा गया है, उन्हें समझना बहुत आवश्यक है। वे ये हैं—(१) बन्धन या बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन-उत्कर्ष, (४) अपवर्तन-अपकर्ष, (५) संक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति या निधत्तकरण, (१०) निकाचित या निकाचन, और (११) अबाधाकाल या अबाधा।^२

(१) बन्धन-बन्ध-आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बद्ध होना, अर्थात् नीर-क्षीर-वत् एकरूप हो जाना बन्धन या बंध है। यह चार प्रकार का है—(१) प्रकृति बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाग (रस) बन्ध और (४) प्रदेशबन्ध।^३

जैनकर्मवाद का बन्ध से बचने का शुभ सन्देश

जैनकर्म-विज्ञान ने बन्ध-करण का सर्वप्रथम उल्लेख करके उसके साथ ही बन्ध के कारण, बंध के प्रकार, बन्धकर्ता, तथा बन्ध-मार्गणा द्वारा बन्ध के नानाविध पहलुओं पर विस्तार से विवेचन किया है। इससे कर्मविज्ञान ने यह भी ध्वनित कर दिया है कि बन्ध के समय, बन्ध के कारणों तथा उससे सम्बन्धित तमाम विषयों पर विचार कठके सावधान रहे। वह मन-वचन-काया की प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया के समय सिर्फ उसका ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे, उसके प्रति न प्रीति हो, न अप्रीति, न राग हो, न द्वेष। अर्थात्-मन, वचन, काया, इन्द्रिय, बुद्धि, चित्त आदि द्वारा कोई व्यक्ति, वस्तु, विषय, घटना, परिस्थिति आदि मनोज्ञ या अनुकूल हो तो उसके प्रति रागरूप और प्रतिकूल या अमनोज्ञ हो तो द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से बन्ध होता है।

जैनकर्मविज्ञान का सिद्धान्त है कि जैसी और जितनी मात्रा में राग-द्वेषमय प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं। तथा राग-द्वेष की जितनी न्यूनता-अधिकता होती है,

१. कर्मवाद पृ. १२८

२. (क) गोम्यतसार गा. ४३८-४०

(ख) जैनधर्मदर्शन पृ. ४८५-

३. इनका विस्तृत विवेचन बन्ध खण्ड में देखें।

उतनी ही उक्त बन्ध के टिकने की प्रबलता-निर्बलता एवं उसके फल की न्यूनाधिकता होती है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि राग-द्वेष न करे या कम से कम करे, ताकि कर्मबन्ध कम से कम हो। जो आत्मीय दृष्टि वाला समदृष्टि समभावी या यतनाशील रहता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता। अतः व्यक्ति को कर्मबन्ध से बचने हेतु राग-द्वेष से दूर रहना चाहिए। यही कर्मवाद का सन्देश है।¹

(२) सत्ता—यह कर्म की दूसरी अवस्था है। सत्ता का सामान्य अर्थ होता है—अस्तित्व। यहाँ यह पारिभाषिक शब्द है। वरुद्ध कर्म अपना फल प्रदान करके जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते, अर्थात्—क्षय (निर्जरा) होने तक आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं, इसी अवस्था का नाम सत्ता है। दूसरे शब्दों में—बंध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं, वही सत्ता है। अर्थात्—फलप्राप्ति से पहले की अवस्था सत्ता-अवस्था है।

‘पंचसंग्रह’ में इसका लक्षण किया गया है—“पूर्वसंचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना सत्ता है।”² इस अवस्था में कर्मों का अस्तित्व आत्मा में रहता है, पर वे फल प्रदान नहीं करते। इसे दिग्म्बर परम्परा में सत्व भी कहते हैं। प्रत्येक कर्म अपने सत्ताकाल के समाप्त होने पर ही फल दे पाता है। जब तक कर्म की कालमर्यादा परिपक्व नहीं होती, तब तक उस कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है, उस अवस्था का नाम ही सत्ता है।

(३) उदय—कर्मों के स्वफल देने की अवस्था का नाम उदय है। यदि उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाएँ तो वह फलोदय कहलाता है, और फल दिये बिना ही कर्म नष्ट हो जाए तो प्रदेशोदय कहलाता है। सत्ता में स्थित इन प्रसुप्त संस्कारों का जागृत या फलोन्मुख होना ‘उदय’ कहलाता है। वस्तुतः जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं, उस अवस्था को उदय कहते हैं।

वास्तव में, किसी एक कार्य द्वारा किसी एक समय में बन्ध को प्राप्त संस्कार उत्तरक्षण में उदित होकर अथवा अपना फल देकर समाप्त हो जाए, ऐसा प्रायः नहीं होता। जितनी स्थिति लेकर वह कर्म बंधा है, अर्थात्—जितने काल तक स्थित रहने की शक्ति को लेकर वह उत्पन्न हुआ है, उतने काल तक व्यक्ति को बराबर उसका फल प्राप्त होता रहता है। उतने काल तक उसे उसकी प्रेरणाएँ बराबर प्राप्त होती रहती हैं, अनिच्छा से भी उतने काल तक व्यक्ति को उसका अनुसरण करना पड़ता है। इस प्रकार

१. त्रिनवाणी कर्मसिद्धान्त विश्लेषांक में प्रकाशित ‘करण सिद्धान्त : भाग्य निर्माण की प्रक्रिया’ से पृ. ७८

२. पंचसंग्रह (प्राकृत) ३/३

पूर्वबद्ध कर्म-संस्कार की यह जागृति उसका उदय होना कहलाता है, कार्य के प्रति प्रीति करना उसकी फलाभिमुखता है और उसकी प्रेरणा से अमुक कार्य करना उसका फल है।

प्रदेशोदय और विपाकोदय का रहस्य

जैनकर्मविज्ञान की यह मान्यता है कि जितने भी कर्म बंधे हैं, वे अपना फल (विपाक) प्रदान करते हैं।

किन्तु कतिपय कर्म ऐसे भी होते हैं, जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नहीं कराते, और निर्जीर्ण हो जाते हैं। जो कर्म फल की अनुभूति कराये बिना ही निर्जीर्ण हो जाता है, उसका उदय प्रदेशोदय कहलाता है। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रियाके कारण जो बंध होता है, उसका सिर्फ प्रदेशोदय होता है। जैसे-ऑपरेशन करते समय रोगी को क्लोरोफार्म या गैस सुंघाकर अचेतावस्था में जो शस्त्र-क्रिया की जाती है, उसमें वेदना की अनुभूति नहीं होती, वैसे ही प्रदेशोदय में फल की अनुभूति नहीं होती। इसके अतिरिक्त जो कर्मपरमाणु अपनी फलानुभूति करवा कर आत्मा से निर्जीर्ण हो जाते हैं, उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। प्रदेशोदय काल में विपाकोदय का होना अनिवार्य नहीं है,^१ किन्तु विपाकोदय की अवस्था में प्रदेशोदय अवश्य होता है।

आस्रव, बन्ध, सत्ता और उदय में घनिष्ठ सम्बन्ध

मन-वचन-काय द्वारा नये शुभाशुभ कर्म करना, अथवा उस कर्म (कार्य) द्वारा कार्मण शरीर पर आद्य संस्कार अंकित हो जाना आस्रव है।

रागद्वेषादिवश कर्म-संस्कारों का आत्मप्रदेशों के साथ एकरूप हो जाना ही उसका बन्ध है।

इस जन्म के या पिछले जन्म या जन्मों के अनन्त कर्मसंस्कारों का कार्मण शरीर के या उपचेतना के कोश में प्रसुप्त एवं कुछ करे-धरे बिना पड़े रहना उसकी सत्ता (सत्त्व) है।

सत्ता में स्थित इन प्रसुप्त कर्मसंस्कारों का यथासमय यथानिमित्त जागृत अथवा फलोन्मुख होकर जीव को नया कार्य (कर्म) करने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करते रहना उसका उदय कहलाता है।

वास्तव में, बन्ध को प्राप्त कर्मसंस्कार जब तक प्रसुप्त रहते हैं, तब तक वे सत्तास्थित कहलाते हैं और जब वे ही सत्तास्थित कर्म-संस्कार जागृत होकर प्रेरक बन

१. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. ९७

(ख) कर्म रहस्य (जिनेन्द्र वर्णी)

(ग) जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. २६

जाते हैं, तब उदयगत कहलाते हैं। इस प्रकार बन्ध, उदय और सत्ता, इन तीनों कार्मिक अवस्थाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।^१

उदीरणा : उदय में आने से पूर्व ही कर्मफल भोग का उपाय

(४) उदीरणा—पूर्वबद्ध कर्म का नियत काल में फल देना 'उदय' है, जबकि नियतकाल से पूर्व ही कर्म का उदय में आना और फल दे देना उदीरणा कहलाती है। अर्थात्—कर्म की उदयावस्था और उदीरणावस्था में अन्तर यह है कि पहली में परिपाक को प्राप्त कर्म स्वयं अपना फल दे देते हैं, जबकि दूसरी में अपाक (अपक्व) कर्मों को समय से पूर्व ही किसी प्रयत्न-विशेष से या अनुष्ठान आदि किसी निमित्त से पकाकर फल प्राप्त किया जाता है।

आशय यह है कि जिस प्रकार पकने के समय से पूर्व ही कृत्रिम रूप से फलों को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार उदीरणा में अपक्व का प्रयत्न-विशेष या साधना-विशेष से पाचन किया (पकाया) जा सकता है। जिन पूर्व-संचित कर्मों का अभी तक उदय नहीं हुआ है, उनको बलपूर्वक नियत समय से पूर्व उदय में लाकर फल भोग लेना या भोगने के लिए पका कर फल देने के योग्य कर देना उदीरणावस्था है।

उदीरणा का सामान्य नियम यह है कि जिस कर्म-प्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसी की सजातीय कर्मप्रकृति की उदीरणा हो सकती है। जैन कर्मविज्ञान की यह विशेषता है कि वह कर्म का फल भोग एकान्ततः नियतकाल में ही हो, इसमें विश्वास नहीं करता, साधना द्वारा आत्मा की शक्ति का वीर्योत्सास प्रगट हो तो विपाक के नियतकाल से पूर्व भी उसका फल भोगा जा सकता है।^२

उद्वर्तन द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि

(५) उद्वर्तन=उत्कर्षण—सामान्य नियम यह है कि बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-रस का निश्चय कर्म-बंध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। किन्तु जैन कर्मविज्ञान बताता है—एकान्तरूप से यह नियम नहीं है। कोई सत्त्वशाली आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति (कालमर्यादा) और अनुभाग (काषायिक रस की तीव्रता) में वृद्धि भी कर सकता है। इस विधान के अनुसार पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति विशेष और अनुभाग (भावविशेष) का बाद में किसी अध्ववसाय-विशेष के द्वारा बढ़ जाना उत्कर्षण या उद्वर्तना है।

१. कर्मरहस्य (ब. जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १७२/२४

२. (क) धवला पु. ६ खं. १ भा. १-८ सू. ४.

(ख) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. १९६

स्पष्ट शब्दों में कहें तो, जिस क्रिया या प्रवृत्ति-विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि हो जाए, उसे उद्वर्तनाकरण कहते हैं। पूर्वबद्ध कर्मप्रकृति के अनुरूप पहले से अधिकाधिक प्रवृत्ति करने तथा उसमें अधिकाधिक रस लेने से ही ऐसा होता है। जैसे—कोई व्यक्ति खेत में उगे हुए किसी पौधे को पहले पर्याप्त खाद पानी नहीं देता था, किन्तु बाद में उसका ध्यान उसकी ओर गया, उसने उस पौधे को अनुकूल खाद व प्रचुर पानी दिया, जिससे पौधे की आयु एवं फलदान शक्ति बढ़ गई। इसी प्रकार कोई व्यक्ति पहले मन्द कषाय के कारण बंधी हुई स्थिति और अनुभाग को अब उससे अधिक तीव्र कषाय-व्यथ बार-बार उसी कर्म को करता है, वह अपने तीव्र कषाय और अधिकाधिक प्रवृत्ति के कारण उस कर्म का उत्कर्षण-उद्वर्तन करता है, फलतः उस कर्म की स्थिति और अनुभाग (फलदानशक्ति) बढ़ जाती है।^१

उत्कर्षण की अवस्था बताकर कर्मविज्ञान सूचित करता है कि विषय सुख आदि में राग की तथा दुःख आदि में द्वेष की वृद्धि होने से तत्सम्बन्धी कर्म प्रकृति की स्थिति और (कषाय) रस में अधिक वृद्धि हो जाती है। अतः कषायों की वृद्धि करके पापकर्मों की स्थिति एवं रस (अनुभाग) को अधिक न बढ़ाओ, न ही पुण्य-कर्म को घटाओ।^२

अपवर्तना से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में न्यूनीकरण

(६) अपकर्षण=अपवर्तना—कर्मों की यह अवस्था उत्कर्षण या उद्वर्तना से विपरीत है। पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति (कालमर्यादा) एवं अनुभाग (रस) को कालान्तर में नवीन कर्मबन्ध करते समय कम कर देना, अपकर्षण या अपवर्तनाकरण है।

गोम्पटसार में इसका लक्षण यों दिया गया है—पूर्व संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को सम्यग्दर्शन आदि से क्षीण करना अपकर्षण है। जैसे—किसी व्यक्ति ने पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध कर लिया, किन्तु बाद में पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, आलोचना-गर्हणा, क्षमापना आदि से शुभ कार्य में प्रवृत्त हो गया। उसका प्रभाव पूर्वबद्ध कर्मों पर पड़ा। फलतः उस पूर्वबद्ध कर्म की लम्बी कालमर्यादा (स्थिति) और विपाक (फलदान) शक्ति में न्यूनता हो जाती है। इसी प्रकार पहले श्रेष्ठ कार्य करके बाद में निम्न निकृष्ट कार्य करने से पूर्वबद्ध पुण्यकर्म की स्थिति एवं अनुभाग में मन्दता आ जाती है।^३

जैनकर्मविज्ञानसम्मत उद्वर्तन और अपवर्तन के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचारधारा स्पष्टतया उद्घोषित करती है कि पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग एकान्तः

१. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि)
(ख) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक पृ. ८०
२. यही, पृ. ८०
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४ पृ. २४

नियत नहीं है। उनमें अध्यवसायों-भावों या परिणामों की धारा की प्रबलता से परिवर्तन भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, किसी पूर्ववद्ध कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, ऐसी बात एकान्ततः नहीं है। अपने पुरुषार्थ-विशेष से, अध्यवसाय-विशेष की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें समय-समय पर परिवर्तन भी हो सकता है। इसी प्रकार मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति रूप शुभ कार्य करने से बांधे गए कर्मों की स्थिति अनुभाग आदि में बाद में अशुभ कार्य करने से परिवर्तन भी हो सकता है।^१

इससे यह सिद्ध होता है कि जैन कर्मवाद निराशावाद, स्थिति-स्थापकतावाद या पलायनवाद नहीं है, अपितु आशा और आश्वासन का उद्घोषक, पुरुषार्थवाद एवं परिवर्तनवाद का प्रेरक एवं प्रबोधक है। कर्मवाद की स्पष्ट प्रेरणा है कि जिस प्रकार ज्वर का अत्यधिक ताप बर्फ रखने से घट जाता है। पित्त प्रकोप नीबू का रस पीने से शान्त हो जाता है। इसी प्रकार किये गए दुष्कर्मों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप (निन्दना), आलोचना, निन्दना, प्रायश्चित्त, गर्हणा, संवर-निर्जरा के कार्य करने से उन कर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति और स्थिति बढ़-घट जाती है। अर्थात्-पूर्ववद्ध कर्म-फल अन्य रूप में, उससे न्यूनाधिक काल में, तथा उससे तीव्र या मन्द रूप में नियत समय से पूर्व भी भोगा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में भगवतीसूत्र में एक प्रश्नोत्तर है—गीतम ने भगवान् से पूछा—भंते! क्या अन्ययूथिकों का यह अभिमत सत्य है कि सभी जीव एवंभूत वेदना (जिस प्रकार कर्म बांधा है, उसी प्रकार) भोगते हैं? भगवान् ने कहा—“गीतम! अन्ययूथिकों का प्रस्तुत एकान्त कथन मिथ्या है। मेरा यह अभिमत है कि कितने ही जीव एवंभूत वेदना भोगते हैं और कितने ही जीव अनेवभूत-वेदना भी भोगते हैं।”

गीतम! “भगवन्! यह कैसे?”

भगवान्—“गीतम! जो जीव स्वकृत कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव स्वकृत कर्मों से अन्यथा वेदना भोगते हैं, वे अनेवम्भूत वेदना भोगते हैं।”^२

उत्कर्षण एवं अपकर्षण द्वारा जितने कर्मों की स्थिति में अन्तर पड़ता है, उन्हीं के उदयकाल में अन्तर पड़ता है, उनके अतिरिक्त अन्य जो कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यह अन्तर भी कोई छोटा-मोटा नहीं है, एक क्षण में करोड़ों-अरबों

१. वही पृ. २९,

२. भगवती १/३/३५

वर्षों की स्थिति की घटा-बढ़ी का होता है। स्थिति के उत्कर्षण-अपकर्षण के समान अनुभाग का भी होता है। विशेषता यह है कि स्थिति के उत्कर्षण-अपकर्षण द्वारा कर्मों के उदयकाल में अन्तर पड़ता है, जबकि अनुभाग के उत्कर्षण-अपकर्षण द्वारा उनकी फलदान शक्ति में अन्तर पड़ता है।

संक्रमण : कर्मों की स्थिति आदि में परिवर्तन का सूचक

(७) संक्रमण—एक प्रकार के कर्म-पुद्गलों की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म-पुद्गलों की स्थिति आदि में परिवर्तन या परिणाम होना ‘संक्रमण’ कहलाता है। संक्रमण किसी एक कर्म की मूल प्रकृति का उसी की उत्तर-प्रकृतियों में होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित मर्यादाएँ हैं, जिनका उल्लेख पूर्वनिबन्ध में हम कर चुके हैं।

यह ध्यान रहे कि उत्कर्षण और अपकर्षण द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग में अन्तर पड़ जाना, तथा संक्रमण के द्वारा कर्मों की जाति में परिवर्तन हो जाना, ये तीनों कार्य सत्ता में स्थित उन्हीं कर्मों में होने सम्भव हैं, जो उदय की प्रतीक्षा में प्रसुप्त पड़े हुए हैं। उदय की सीमा में प्रविष्ट हो जाने पर उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। फिर तो जैसा जो कुछ भी कर्म उदय की सीमा में प्रवेश पा चुका है, उसका नियत फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। यह चेतावनी भी कर्मविज्ञान प्रत्येक मुमुक्षु साधक को देता है।^१

उपशमन : कर्मों के फल देने की शक्ति को अमुक काल तक दबा देना है

(८) उपशमन—कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना उपशमन है। अर्थात्—कर्म की वह अवस्था, जिसमें उदय अथवा उदीरणा सम्भव नहीं; किन्तु उद्वर्तन (उत्कर्षण), अपवर्तन (अपकर्षण) और संक्रमण सम्भव हो, वह उपशमन कहलाता है।

जैसे-अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर दिया जाता है, जिससे वह अपना कार्य-विशेष (जलाने का कार्य) नहीं कर पाता, उसी प्रकार उपशमन क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना, जिससे वह अपना फल न दे सके। किन्तु जैसे आवरण हटते ही अंगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशमभाव के दूर होते ही उदय में आकर कर्म

१. (क) संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के विषय में विस्तृत विवेचन देखें इसी खण्ड के पूर्व निबन्ध में।

(ख) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. ९७

(ग) कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) पृ. १७३-१७४

अपना फल देना प्रारम्भ कर देता है। उपशमन से कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, सिर्फ उसे कालविशेष तक के लिए फल देने में असमर्थ बना दिया जाता है। यद्यपि कर्म की उपशमावस्था में अल्पकालावधि में कर्म-संस्कारों का प्रभाव हट जाने से जीव स्वयं को सम्युक्त या शमयुक्त महसूस करता है, इस अवधि के पूर्ण होने पर उसका चित्त पुनः पूर्ववत् चिन्ताग्रस्त एवं क्षुब्ध हो उठता है। किन्तु उपशमकालिक क्षणिक समता या शमता के रस-पान की मधुर स्मृति अमिट होकर रह जाती ही।^१

निधत : उदीरणा और संक्रमण से रहित, केवल स्थिति और रस की न्यूनाधिक का सूचक

(९) निधति या निधत्त—कर्म की वह अवस्था निधति या निधत्त कहलाती है; जिसमें उदीरणा और संक्रमण नहीं हो सकता, किन्तु उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है। अर्थात्—निधत्त-अवस्था में कर्म न अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकते हैं और न ही अपना फल प्रदान कर सकते हैं। लेकिन इसमें बद्ध कर्मों की काल-मर्यादा और रस (विपाक) की तीव्रता को न्यूनाधिक किया जा सकता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप में निधत्त चार प्रकार का होता है।

निकाचन दशा : जिस रूप में कर्म बंधा है, उसी रूप में भोगने की अनिवार्यता

(१०) निकाचित या निकाचन—बद्ध कर्म की वह अवस्था, जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा, ये चारों अवस्थाएँ सम्भव न हों, वह निकाचनावस्था है। निकाचनावस्था में कर्मों का बन्ध इतना प्रगाढ़ होता है कि उनकी कालमर्यादा और तीव्रता (मात्रा) में कोई भी परिवर्तन या समय से पूर्व उनका फल भोग नहीं किया जा सकता। इस अवस्था में कर्म जिस रूप में बन्धा हुआ होता है, उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। प्रायः उसी रूप में भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। कर्म की इस अवस्था का नाम नियति है। इसमें इच्छास्वातंत्र्य का सर्वथा अभाव रहता है। बद्ध कर्म की यह निकाचित अवस्था चार प्रकार की है, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप में।^२

अबाधाकाल : कर्मों का फल दिये बिना अमुक्त अवधि तक पड़े रहने की दशा

(११) अबाधाकाल या अबाध—कर्म बंधने के पश्चात् अमुक्त समय तक किसी प्रकार का फल न देने की अवस्था का नाम उसका अबाधाकाल या अबाध अवस्था है।

१. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. ९७-९८

(ख) कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) पृ. १७५

२. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. ९८

(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा. ४ पृ. २५

अबाधाकाल को जानने का उपाय यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है, उसका अबाधाकाल उतने ही सौ वर्ष का होता है। जैसे-ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है तो उसका अबाधाकाल तीस सौ (तीन हजार) वर्ष का हुआ।'

जैन कर्म विज्ञानोक्त दस अवस्थाओं की अन्य परम्पराओं से तुलना

जैनकर्मविज्ञान से सम्बन्धित साहित्य में कर्मों की प्रकृतियों, इनकी स्थितियों, (काल-मर्यादाओं), इनकी काषायिक तीव्रता-मन्दता की अवस्थाओं तथा इनके प्रदेशों का, तथा इनमें जातिगत, स्थिति (कालमर्यादा) गत, अनुभागगत और प्रदेशगत परिवर्तनों-न्यूनाधिकताओं की अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं पर जितना विशद रूप से प्रकाश डाला गया है, उतना अन्य परम्पराओं के दार्शनिक साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्य परम्परा में 'उदय' के लिए 'प्रारब्ध' शब्द, सत्ता के लिए संचित और बन्ध (या बन्धन) के लिए आगामी या क्रियमाण शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

योगदर्शन में नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवापगमन के रूप में कर्म की त्रिविध दशा का उल्लेख मिलता है। नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाने वाले नियतविपाकी कर्म की तुलना कर्म की निकाचित अवस्था से, तथा फल दिये बिना ही आत्मा से पृथक् हो जाने वाले (अनियतविपाकी) कर्म की प्रदेशोदय से, एवं एक कर्म के दूसरे में मिल जाने वाले 'आवापगमन कर्म' की तुलना कर्म की संक्रमण अवस्था से की जा सकती है।'

बौद्ध परम्परा में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित मुख्य ७ कर्म माने गए हैं—(१) जनक, (२) उपस्थम्भक, (३) उपपीलक, (४) उपघातक, (५) सातिक्रमण, (६) अनियत (वेदनीय) कर्म एवं (७) नियत (वेदनीय) कर्म। अनियत वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—नियतविपाक और अनियतविपाक। नियतविपाक की तुलना निकाचित कर्म से की जा सकती है। जिनका विपाक काल अनियत हो, किन्तु विपाक नियत हो, उन्हें नियतविपाक कहते हैं। किन्तु जो कर्म अपना फल देगा ही, यह नियत नहीं है, वह अनियतविपाक है। नियत वेदनीय कर्म के तीन भेद हैं—दृष्टधर्म-वेदनीय, उपपद्यवेदनीय (आनन्तर्यकर्म) और अपरपर्यायवेदनीय। सातिक्रमण को ही जैन कर्मविज्ञान संक्रमण कहता है। यह विपच्यमान कर्मों का ही हो सकता है, किन्तु फलभोग अनिवार्य है।

१. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) पृ. ९८

(ख) भगवती २/३

२. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. ९९

दूसरा जन्म ग्रहण करने तक जो कर्म रहते हैं, वे जनक कर्म सत्तावस्थित कर्म के तुल्य हैं, दूसरे कर्म का फल देने में सहायक उपस्थम्भक कर्म की तुलना उत्कर्षण से, दूसरे कर्मों की शक्ति को क्षीण करने में सहायक उपपीलक कर्म की तुलना अपकर्षण से की जा सकती है। दूसरे कर्म का विपाक रोक कर अपना फल देने वाले उपघातक कर्म की तुलना 'उपशमन' से की जा सकती है।'

इसके अतिरिक्त विभिन्न पहलुओं से कर्म विज्ञान सम्बन्धी विस्तृत चर्चा कर्मग्रन्थ, षट्खण्डागम (महाकर्म प्रकृति प्राभृत), लब्धिसार, पंचसंग्रह (संस्कृत, प्राकृत), कर्मप्रकृति, गोम्मटसार, महाबंधो, कसायपाहुड, धवला, बंध विहाणे आदि विभिन्न ग्रन्थों तथा आगमों में यत्र तत्र की गई है।'

इस पर से निःसन्देह कहा जा सकता है कि जैन कर्मवाद आत्मवाद, परमात्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद तथा सत्पुरुषार्थ-वाद आदि कर्म से सम्बद्ध सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला आशावादी सिद्धान्त है। वह अन्य शक्तियों से वरदान मांग कर अपने आपको परमुखापेक्षी एवं स्वपुरुषार्थविघात करने वाली विद्या नहीं है। वह अपने में सोयी हुई अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सम्पदा को स्व-पुरुषार्थ द्वारा अभिव्यक्त करने की कला सिखाने वाला मंगलमय सिद्धान्त है।

१. (क) बौद्ध दर्शन (नरेन्द्रदेव) पृ. २५०, २६७, २७५

(ख) अभिधर्मकोश भाष्य पृ. १२०, ४.५०

(ग) जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. २७

२. कर्म की पूर्वोक्त १० या ११ अवस्थाओं के विस्तृत वर्णन के जिज्ञासु पाठक कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह (प्राकृत) गोम्मटसार आदि ग्रन्थ देखें।

कर्मवाद और समाजवाद में कहाँ विसंगति, कहाँ संगति ?

कर्मवाद भारतीय जन-जीवन में घुला-मिला

कर्मवाद भारतीय जनता का परिचायक शब्द है। किसी भी भारतीय से पूछ कर देख लें; उसकी निजी हालत, उसके परिवार की व्यवस्था और दशा; वह तपाक से यह कहता हुआ मिलेगा कि मैंने कोई ऐसा ही कर्म किया था, जिससे मुझे यह बीमारी हुई, अथवा निर्धनता और अभावपीड़ा प्राप्त हुई। अथवा यह कहता हुआ मिलेगा—“मेरे किसी पाप कर्म के कारण ही मुझे ऐसा निकृष्ट परिवार मिला।”

अगर किसी कार्य में सफलता मिलती है तो वह उसके लिए भी कर्म की दुहाई देता हुआ कहेगा—मेरे किसी पूर्वजन्म के पुण्य कर्म से मुझे इस कार्य में सफलता मिली। असफल होने वाला व्यक्ति भी अपनी असफलता का कारण दुष्कर्म को या दुर्भाग्य को ही बताएगा।

कहना होगा कि भारतीय जन-जीवन में कर्मवाद श्वासोच्छ्वास की तरह घुल-भिल गया है। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्मवाद पर कुछ न कुछ प्रकाश डाला है। कर्म की अच्छाइयों और बुराइयों पर अथवा कर्म की अजेय शक्ति और कर्म-विहीनता पर पर्याप्त चिन्तन भी दिया है। किन्तु कर्मवाद के सभी पहलुओं और इसके सभी अंगोपंगों पर जितनी गहनता से जैन-दर्शन ने प्रकाश डाला है, उतना किसी अन्य दर्शन ने नहीं डाला।

कर्मवाद : आत्मवाद रूपी मूल पर स्थित त्रिलोकव्यापी वृक्ष

जैन-दर्शन के कर्मवाद की मुख्य आधारशिला आत्मवाद है। आत्मा को छोड़कर वह टिक नहीं सकता; क्योंकि कर्म अपने आप से (कर्म से) सम्बद्ध (संलग्न) नहीं होता, वह सम्बद्ध होता है—आत्मा से। इसलिए आत्मवाद की जड़ पर कर्मवादरूपी विशाल वृक्ष टिका हुआ है। आत्मा केवल एक ही नहीं, सारे विश्व की; नहीं नहीं-समग्र लोक की-तीनों ही लोक की समस्त आत्माएँ कर्म से सम्बद्ध होती हैं। इसमें ऊर्ध्वलोक की,

अधोलोक की एवं मध्यलोक की समस्त आत्माएँ आ जाती हैं। ये समग्र देहधारी आत्माएँ कर्म से सम्बद्ध हैं।

उर्ध्वलोक में चारों ही जाति के देवों की, अधोलोक में नारकों की, मध्यलोक में मनुष्यों और तिर्यचों की समस्त आत्माएँ कर्म से लिप्त हैं। यहाँ तक कि जीवन्मुक्त सयोगी केवली, तीर्थंकर आदि की आत्माएँ भी चार अघाती कर्मों से युक्त हैं। इसलिए कर्मवाद स्त्री वृक्ष की शाखाएँ तीनों लोक में हैं, जिनमें देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति के सभी जीवों का समावेश हो जाता है क्योंकि ये सभी कर्मावृत्त हैं।

कर्मवाद का आत्मवाद, लोकवाद एवं क्रियावाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

कर्मों के आप्रव (आगमन) की मूल स्रोत मानसिक, कायिक एवं वाचिक क्रियाएँ हैं। क्रियाओं के द्वार से कर्मों का आप्रव (आगमन या प्रवेश) होता है। यद्यपि कर्मबन्ध का कारण साम्प्रायिक क्रियाएँ होती हैं, ऐर्यापथिक क्रिया नहीं; तथापि कर्मों का आगमन (आप्रव) तो एक बार ऐर्यापथिक से भी होता है, वह कर्म शुद्ध (अबन्धक) कर्म कहलाता है।

आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने इन चारों वादों का स्पष्ट उल्लेख किया है^१— जो आत्मवादी होता है, वह क्रियावादी, कर्मवादी और लोकवादी अवश्य होता है। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं होगा कि कर्मवाद का आत्मवाद, लोकवाद एवं क्रियावाद से घनिष्ठ सम्बन्ध उसी प्रकार का है, जिस प्रकार वृक्ष का उसकी शाखाओं एवं फलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

कर्मवाद का सम्बन्ध : तीनों कालों, और तीनों लोकों से

फिर जैन-दर्शन सम्मत कर्मवाद का सम्बन्ध भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों से भी है।^२ जैन-कर्मवाद केवल वर्तमान से ही कर्म का सम्बन्ध न मानकर अतीत और अनागत काल से भी मानता है; क्योंकि यह पूर्वजन्म को भी मानता है और पुनर्जन्म को भी। आत्मा की अमरता-शाश्वतता, परिणामी-नित्यता पर जैन कर्मवाद का अटल विश्वास है। इसके अतिरिक्त कर्मवाद का प्राणिजीवन और विशेषतः मानवजीवन के सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी निवास एवं प्रवास है। साथ ही कर्मवाद कर्म और धर्म अर्थात्—आप्रव और बन्ध,

१. देखें—से आयावाई, लोयावाई, कम्पावाई, किरियावाई।—आचारांग श्रु.१ उ.१ सू.५

२. इसके समर्थन के लिए देखें—जीवाणं विद्वानं विवसिते पोगले पावकम्पत्ताए चिणिसु वा चिणति वा चिणिससति वा, त. । एवं चिण-उचचिण-वध-उदीर-वेय तह णिञ्जरा चेव ।—स्थानांगमृत्त वाणा, ३ उ. ४ सू. ५४०

तथा संवर और निर्जरा इन विविध तत्वों को साथ-साथ लेकर प्रत्येक प्राणी के जीवन की अच्छाई-बुराई का विश्लेषण करता है।

कर्मवाद में प्ररूपित कर्म का सम्बन्ध अर्थ-काम से, धर्म का धर्म-मोक्ष से

इसके अतिरिक्त कर्मवाद में विवेचित कर्म का मुख्य सम्बन्ध अर्थ और काम पुरुषार्थ से तथा धर्म का मुख्य सम्बन्ध धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ से है। कर्मवाद प्रथम पुरुषार्थ युगल का कर्म संयुक्ति के रूप में द्वितीय पुरुषार्थ युगल का कर्ममुक्ति के रूप में विश्लेषण करता है।

यह हुआ कर्मवाद का संक्षेप में सर्वांगीण चित्र !

प्राचीनकाल का भारतीय समाज धर्म

प्रश्न होता है—प्रस्तुत कर्मवाद का वर्तमान समाजवाद के साथ कहीं तक तालमेल है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समाजवाद नाम का कोई वाद प्राचीन काल में नहीं था। आधुनिक समाजवाद भारत में विदेश से आयातित है। भारतवर्ष में समाज, संघ, गण, आश्रम, वर्ण, जाति आदि अवश्य बने हुए थे। इनकी सुव्यवस्था के लिए भी वेदों से लेकर गीता और उपनिषदों में यज्ञ-तंत्र कुछ सूत्र मिलते हैं। बाद में स्मृतियों में इनकी सुव्यवस्था के लिए विशद निरूपण किया गया है।

जैनागमों एवं जैन ग्रन्थों में ग्राम, नगर, राष्ट्र, गण, संघ आदि समाज के विविध घटकों की सुव्यवस्था के लिए इन सबके आगे 'धर्म' शब्द जोड़ा गया है। जैसे—ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्र-धर्म, गणधर्म, संघधर्म आदि। यहाँ धर्म शब्द का आशय है—ग्राम और की परम्परा, मर्यादा, शिष्ट-आचार, व्यवस्था या कर्तव्यों का पालन करना ग्रामधर्म, नगरधर्म आदि हैं। ग्राम, नगर, राष्ट्र, गण, संघ आदि का मिलकर 'समाज' बनता है। यों तो भारतीय समाजशास्त्रियों ने समाज के सभी अंगों के धारण-पोषण करने एवं समाज को सुखमय बनाने हेतु मात्र 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने धर्म का लक्षण भी यही किया है—“धर्मो धारयति प्रजाः, “धत्ते चैव शुभे स्थाने, “दुर्गती प्रपतन्तमात्मानं धारयति धर्म” ; तथा 'जो धारण-पोषण करे, समाज को सुखमय करे।”

समाजवाद के बदले समाज-धर्म का प्रयोग

धर्म के इन व्यावहारिक लक्षणों से समझा जा सकता है कि समाजवाद के बदले भारतीय मनीषियों ने “समाज-धर्म” को ही सामूहिक रूप से सुखमय जीवनदायक करने

१. देखें—दसविधे धम्मे पण्णते, तं जहा—गायधम्मे, नगरधम्मे, रड्ढधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे।—स्यानांग-(विवेचन) स्थान, १० सू. १३५ पृ. ७३२ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

के लिए उपयुक्त समझा था। 'समाजधर्म' में 'सह-अस्तित्व', सहयोग पूर्ण जीवन, समान व्यवहार, कर्तव्यों का पालन, समाज में अहिंसादि धर्म-मर्यादा का, सदाचार का पालन, द्वेष, घृणा, हिंसा, पक्षपात, अन्याय, अनीति आदि अधर्ममूलक एवं पापवर्द्धक व्यवहारों से दूर रहना, इत्यादि अर्थ प्रतिफलित होते हैं।

कर्मवाद द्वारा निरूपित कर्मविश्लेषण धर्म और कर्म दोनों दृष्टियों से

मूल बात यह है कि जहाँ धर्म शब्द आया, वहाँ जैन-दर्शन के मर्मज्ञ 'कर्मवाद' की दृष्टि से सोचते हैं। क्योंकि जैन कर्मवाद धर्म और कर्म दोनों दृष्टियों से कर्म की व्याख्या करता है। आम्रव और संवर, बंध और मोक्ष तथा निर्जरा, दोनों प्रतिद्वन्दी शब्दों का कर्मवाद में समावेश होता है। इस दृष्टि से भारतीय पैटर्न का 'समाजधर्म' ही धर्मप्रधान समाजवाद का उत्कृष्टरूप था।

प्रागैतिहासिक काल में भ. ऋषभदेव ने जो समाज रचना की, वह पहले नैतिकता और धार्मिकता दोनों ही पृष्ठभूमि पर आधारित थी। बाद में उन्होंने जो धर्मप्रधान संघ रचना की, उसमें धार्मिकता और आध्यात्मिकता का समावेश था। दोनों प्रकार के समाज-निर्माण को हम क्रमशः 'जनशासन' और 'जिनशासन' कह सकते हैं। परन्तु दोनों ही प्रकार की समाज रचना के पीछे आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद के सूत्र पृष्ठभूमि में अव्यक्तरूप से रहे हैं।

प्रत्येक वाद के पीछे कर्मवाद का पुट

उन्होंने कर्मवाद का पुट प्रत्येक वाद के पीछे दिया है। आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता, भोक्ता है, अपने सुख-दुःख के, हानि लाभ के तथा हित-अहित के लिए उत्तरदायी है। हिंसा आदि अशुभ प्रवृत्तियों से अशुभ कर्मों का आम्रव और बन्ध होता है। तथा अहिंसा आदि के पालन से पाप कर्मों का निरोध रूप संवर होता है, तथा तप और क्षमादि धर्मों के पालन से कर्मों का क्षय (निर्जरा) होता है। इस दृष्टि से कर्मवाद का धर्मप्रधान समाजवाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ही दृष्टिगोचर होता है।

प्राचीन कालिक समाज व्यवस्था में अर्थ-काम-प्रधानता

प्राचीन काल की भारतीय समाज व्यवस्था में अर्थ और काम को मुख्यता दी गई। सभी कारण हैं कि मीमांसा दर्शन ने विविध कामनामूलक यज्ञों का विधान करके अमुक कर्म (पदार्थ) की कामना की; देवों से याचना भी की। साथ ही उसके बाद वेदानुगामिनी स्तुतियों में काम-पुरुषार्थ की मुख्यता का स्वर ही गूँजता रहा। गृहस्थाश्रम की व्यवस्था के हेतु चार वर्ण और विवाह, यज्ञोपवीत, यज्ञादि कर्म, षोडश संस्कार आदि ही फल्लित होते रहे। महाभारत युग में निरंकुश अर्थ और काम पर अंकुश लगाने के लिए धर्म

पुरुषार्थ का स्वर तेज हुआ। वेदव्यास जी को कहना पड़ा—“मैं बाहें ऊपर करके चिल्ला रहा हूँ, किन्तु मेरी कोई नहीं सुनता। तथ्य यह है कि—धर्मपुरुषार्थ से अर्थ और काम दोनों प्राप्त होते हैं, फिर उस धर्म का सेवन (आचरण) क्यों नहीं करते?”

एकांगी अर्थ-काम-प्रधान समाज रचना के दोष

जब अर्थ और काम प्रधान समाज व्यवस्था थी, तब व्यक्ति निरंकुश होकर अर्थ का संग्रह करता, इसी प्रकार व्यक्ति अपनी ही सुख-सुविधाओं, ऐश-आराम, आवश्यकताओं, तथा इन्द्रियविषयोपभोग को अधिक महत्त्व देने लगा। फलतः समाज में स्वार्थ-अन्धस्वार्थ की अपेक्षा और परार्थ की उपेक्षा; ये दो स्थितियाँ निर्मित हुईं। इससे व्यक्तिवाद बढ़ा, समूहवाद या समाजवाद का मूल्य घटने लगा।

उपनिषद्कालीन ऋषियों द्वारा परस्पर सहयोगी मानव समाज की प्रेरणा

उपनिषद्काल के ऋषियों का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने सह-अस्तित्व एवं सहजीवन की, परस्पर सहयोग की, कर्तव्य और उपभोग में समता की शिक्षाएँ दीं। उन्होंने कहा—“हम दोनों (व्यक्ति और समूह) परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, साथ-साथ भोजनादि का उपभोग करें, हम दोनों साथ-साथ मिलकर अपनी शक्ति का उपयोग करें। हमारा अध्ययन विचार और स्मृति तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें। हमारी पानीयशाला, हमारी विचारगोष्ठी समिति या परिषद् समान हो, हमारे विचार एक हों, हमारा आचरण भी एक विचार से अनुप्राणित हो। इस प्रकार के सामूहिक नीतिमय जीवन पर ऋषियों ने जोर दिया। गीता में भी देवों और मनुष्यों के परस्पर सहयोग के विधान का उल्लेख है।

भ. महावीर ने अध्यात्ममूलक समाज-व्यवस्था के सूत्र दिये

भगवान् महावीर ने न तो इस प्रकार की अर्थ-काम प्रधान समाज व्यवस्था दी, और न ही इस प्रकार की समाज व्यवस्था का विधि-विधान दिया। उन्होंने मुख्यतया अध्यात्ममूलक समाजव्यवस्था के सूत्र दिये। उन्होंने समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री अथवा कामशास्त्री की मर्यादा का कार्य नहीं किया, अपितु एक धर्माचार्य की सीमा का कार्य किया। उस दायित्व के तहत उन्होंने मुख्यतया धर्म का (धर्माजित) व्यवहार^१ बताया।

१. ऊर्ध्वबाहुर्विरोधेष न च कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते॥— महाभारत

२. (क) सह नौ वेवतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजसिवायवधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥”
(ख) सभानो मंत्रः समितिः समानी, समानी प्रपा सहचित्तमेषाम्।’

३. धम्मिज्जयं च ववहारं बुद्धे हापरियं सया ।— उत्तराध्ययन १/४२

गृह्यों का धर्म भी बताया और साधुओं का भी। उसी धर्म के प्रकाश में उन्होंने अर्थ-काम पुरुषार्थ पर नियंत्रण बताया। यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थ (श्रावक) धर्म का प्रतिपादन करते समय अर्थ और काम को धर्म के-नैतिकता के अंकुश में लाने के लिए ही ग्रामधर्म, नगरधर्म आदि दस धर्मों का निर्देश किया। और गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विधान किया।

उन्होंने अर्थपुरुषार्थ पर धर्म का अंकुश लाने के लिए तीसरे(अचैर्य अणुव्रत) और पांचवें अणुव्रत (परिग्रह परिमाण व्रतों) के सन्दर्भ में बताया कि चोरी व चोर को स्थापना करना, चोर के द्वारा लाया हुआ माल लेना, स्वयं तस्करी करना, राज्य के नियमों के विरुद्ध आचरण करना, ठगी करना, तैल नाप में धोखा-धड़ी करना, तथा धन, धान्य, द्विपद (आश्रित दास-दासी) चतुष्पद (आश्रित पशु) सोना-चाँदी, सिक्के आदि के संग्रह का अतिक्रमण करना, तथा भयंकर कर्मों का उपार्जन हो, ऐसे १५ प्रकार के व्यवसाय (कर्मादान) करना गृहस्थ धर्म के विरुद्ध है, त्याज्य दोष है।^१ इसी प्रकार बहिर्सादि, धर्ममर्यादा का अतिक्रमण गृहस्थ समाज में न हो, इसके लिए उन्होंने अपने आश्रित पशुओं, मनुष्यों या कर्मकरों की रोटी-रोजी का विच्छेद करने, पशुओं और आश्रित मनुष्यों पर अतिभार लादना, जानबूझ कर संकल्प पूर्वक किसी मनुष्य, पशु आदि की हिंसा (हत्या, मारपीट, सताना आदि) कराना, अपने उपभोग और परिभोग के साधनों (वस्त्र, पानी, वनस्पति जन्म आहार आदि) की सीमा (मर्यादा) का अतिक्रमण करना, कन्या, गोवंश, भूमि, आदि के लिए झूठ बोलना, किसी की धरोहर को हड़पना, धरोहर के विषय में झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना, झूठे लेख, दस्तावेज या बहीखाते तैयार करना, षड्यंत्र रचना, शस्त्रास्त्र का संग्रह करना, दूसरों को जीवहिंसा या शिकार के लिए शस्त्रास्त्र देना, व्यभिचार या वेश्यागमन करना, स्वयं की विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य किसी भी (नर, देव या तिर्यञ्च) स्त्री के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन करना, स्वकीय विवाहित स्त्री के साथ भी ब्रह्मचर्य की मर्यादा न रखना, कामभोग की कृत्रिमता, सीमा से अतिरिक्त धन-धान्यादि का संग्रह करना, अतिथि के लिए या समाज के पीड़ित या अभावग्रस्त के लिए अपने उलब्ध साधनों में से संविभाग न करना। ये और इस प्रकार के दोषों (अतिचारों) का निवारण गृहस्थवर्ग के लिए अनिवार्य बताकर अर्थ और काम पर नियंत्रण किया।^२

उन्होंने गृहस्थ समाज को विवाहविधि या व्यापारविधि, अथवा युद्धविधि या प्रित्तिविधि नहीं बताई, परन्तु समाज व्यवस्था में अर्थ और काम धर्म मर्यादा का

१. देखें-आवश्यक सूत्र : श्रावक प्रतिक्रमण

२. देखें-आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत श्रावक प्रतिक्रमण।

अतिक्रमण न कर सकें, इसके लिए व्रत, नियम आदि अवश्य बताये। भ. महावीर ने मानवों के प्रति ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, गुणिजनों के प्रति प्रमोद, दुखितों के प्रति करुणा एवं विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वालों के लिए माध्यस्थ्यभाव का सन्देश दिया।

मनुष्यों में वर्णविभाग के कारण उच्चता-नीचता, छुआछूत, या स्पृश्य-अस्पृश्य के भेद को उन्होंने हिंसाजनक बताया, विषमता का उत्पादक भी। इसके लिए उन्होंने समस्त प्राणियों के प्रति समभाव (समता), आत्मौपम्यभाव का उपदेश दिया। इतना ही नहीं, साधुवर्ग के लिए आजीवन और गृहस्थवर्ग के लिए अल्पकालिक समता-साधना (सामायिक व्रत) का विधान किया। उन्होंने बताया कि कोई भी प्राणी आत्मा की दृष्टि से न तो हीन है, न अतिरिक्त (उच्च) है। हीनता और उच्चता की गौरवग्रन्थि अभिमान-वर्द्धक है, जातिमद आदि ८ मद सम्यक्त्व के घातक हैं, महामोह कर्म में वृद्धि करने वाले हैं। ये सब विधान या समाज व्यवस्था के नियम- व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान की प्रेरण कर्मवाद के सन्दर्भ में भगवान् महावीर ने की।

भगवद् गीता में जिस प्रकार बताया है—“एक दूसरे के लिए परस्पर शुभ भावना करने वालों को परम श्रेय प्राप्त होगा।” तत्त्वार्थसूत्र में जीवों का मुख्य गुण “परसा उपग्रह (उपकार) करना, बताया है।”^१

भगवान् महावीर ने गृहस्थों को सामाजिक जीवन अच्छी तरह जीने के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत के पालन की प्रेरणा दी है। साधुवर्ग के लिए पाँच महाव्रत, पाँच सम्मिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म आदि के पालन का उपदेश दिया है। व्रत, महाव्रत, नियम, धर्म आदि की प्रेरणा भी भगवान् महावीर ने कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में दी है। प्रश्न-व्याकरणसूत्र इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ कर्मों के आग्न की अपेक्षा से हिंसा आदि पाँच आग्नव द्वार तथा कर्मों के संवर (निरोध) की अपेक्षा से अहिंसा, सत्य आदि पाँच संवरद्वार बताए हैं। आगमों में यत्र-तत्र साधकों की साधना के द्वारा साध्य हो जाने की स्थिति में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—खचित्ता पुव्वकम्माइं संजोम तवेण य^२ (संयम और तप से पूर्व कर्मों का क्षय करके) तवसा धुय कम्मसे, सिद्धे इह

१. (क) मित्ती मे सच्चभूएसु ।
(ख) सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव! -अभितगति सामायिकपाठ
२. “नो हीने नो अइरित्ते।” —आचारांश कु. १
३. (क) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाच्यय। —गीता ३/११
(ख) “परस्रोपग्रहो जीवनाम्” —तत्त्वार्थसूत्र ५/२१
४. देखें—प्रश्न-व्याकरण सूत्र में पाँच आग्नवद्वार एवं पाँच संवरद्वार
५. उत्तराध्ययन २५/४५, तथा २८/३६

सासए (तपस्या से अवशिष्ट कर्मों का क्षय करके शाश्वत सिद्ध (परमात्मा) हो जाता है। जो मनुष्य पाप कर्म करते हैं, वे घोर नरक में पड़ते हैं, किन्तु जो आर्य धर्म का आचरण करते हैं वे देवगति में जाते हैं। समुद्रपाल मुनि पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय करके संयम में निश्चल अथवा कर्म संग रहित तथा सब प्रकार से विमुक्त होकर विशाल संसार प्रवाह को तैर कर मोक्ष (अपुनरागमन स्थान) को गए। ये सब कर्मवाद के सन्दर्भ में उल्लेख हैं।^१

इसके अतिरिक्त भगवान् ने अठारह पापस्थान, पन्द्रह कर्मादान, विविध प्रकार से कर्मों के आने के स्रोतों (आस्रवों) के तथा बन्ध के कारणों का निर्देश संसार के समस्त प्राणियों की अपेक्षा से बताया है और मानवसमाज की चेतना विकसित और कर्मक्षय करने में सक्षम होने से मनुष्यों के लिए समस्त धर्मशास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में विशेषरूप से निर्दिष्ट है। भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों द्वारा चतुर्विध संघ भी धर्मदृष्टि से स्थापित एवं रचित किया गया है। यही कारण है कि जैन-कर्मवाद से इस धर्मतीर्थ या आधुनिक भाषा में कहें धर्ममय संघ या धर्मप्रधान समाज का अत्यधिक सम्बन्ध एवं संगति है।

भारतीय पेटर्न के समाजवाद (समाजव्यवस्था) का कर्मवाद से सम्बन्ध तो रखा है परन्तु उपनिषदों में जहाँ सह-अस्तित्व या सहयोग पूर्वक जीवन जीने का सूत्र है, वहाँ कर्मवाद पर कर्म के साथ उसका कोई भी वास्ता नहीं रखा है। गीता में जहाँ निष्काम कर्म की या महाभारत में जहाँ पुण्य-पाप की चर्चा है, वहाँ अवश्य ही कर्मवाद के साथ उसका सम्बन्ध व्यक्त किया है। व्यासजी ने अठारह पुराणों का निचोड़ दो वाक्यों में देते हुए कह दिया है—“अठारह पुराणों में व्यास के दो ही वचन सारभूत हैं—“पुण्य के लिए परोपकार और पाप के लिए परपीड़न।”^२

इस प्रकार भारतीय पेटर्न का समाजवाद परस्पर सहयोग प्रधान था।

वर्तमान समाजवाद : एक समीक्षा

. आधुनिक समाजवाद के साथ कर्मवाद का कहाँ मेल है, कहाँ बेमेल है ? इसे समझने के लिए पहले इस समाजवाद का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। वर्तमान में भारत सरकार ने भारतीय लोकतंत्र के साथ समाजवादी समाज रचना का नारा कई वर्षों से

१. देखें—क) उत्तराध्ययन ३/२०,

(ख) वही, १८/२५,

(ग) वही २१/२४

२. “अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचन-द्वयम्।

परोपकारः पुण्याय, पापाय पर-पीडनम्॥”—व्यास

दोहराया है। ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि वर्तमान समाजवाद केवल राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को ठीक करने के लिए आया है। किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि वर्तमान समाजवाद केवल राजनैतिक और आर्थिक सुधार का आन्दोलन ही नहीं है। इसके पीछे भी एक दर्शन है—एक दृष्टि है, व्यवस्थित विचारधारा है। समाजवाद की दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर टिकी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस विश्व को जड़ (अचेतन) पर आधारित मानता है। उसका कथन है—“विश्व का आधार कोई सचेतन नहीं है।”

इस विषय में कर्मवाद और समाजवाद में मतैक्य या सुसंवादिता नहीं है। कर्मवाद आत्मवाद पर आधारित है, वह विश्व को जड़ और चेतन दोनों पर आधारित मानता है। कर्मवाद केवल भौतिक पदार्थों के सहारे कर्म-सिद्धान्त का विश्लेषण नहीं करता। वह मुख्यतया चेतन (आत्मा) को लेकर ही कर्म का विश्लेषण करता है। जिन दार्शनिकों ने कर्म का अस्तित्व माना है, उनमें से एक भी दर्शन ऐसा नहीं है, जो कर्म को तो स्वीकार करता हो, किन्तु चेतन (आत्म) तत्त्व को न मानता हो। आत्मा (चेतन) को माने बिना केवल कर्म का क्या मूल्य है, उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, क्योंकि कर्म जड़तत्त्व को तो लगते नहीं, बंधते नहीं, न ही जड़तत्त्व कर्म से मुक्त होना या कर्म का निरोध करना जान सकता है।

जो द्वैतवादी दार्शनिक हैं, उन्होंने कर्म का स्वीकार करने के साथ चेतन-अचेतन इस तत्त्वद्वय को माना, जबकि अद्वैतवादी दार्शनिकों ने कर्म के स्वीकार के साथ केवल चेतन तत्त्व को माना है। केवल अचेतन (जड़द्वैतवाद) को जगत् का आधार मानने वाला चार्वाक आदि दर्शन कर्म-सिद्धान्त को नहीं मानता।

अतः जैन कर्मवाद के दार्शनिक पक्ष के साथ वर्तमान समाजवाद का बिलकुल मेल नहीं खाता। अचेतन को जगत् का आधार मानने वाला तथाकथित समाजवाद केवल वर्तमान को ही मानता है। जड़ के सम्बन्ध में न तो पूर्वजीवन का विचार किया जाता है और न ही भावी जीवन का। उसका केवल वर्तमान ही होता है। न तो भूतकाल और न ही भविष्य। जबकि जैन कर्मवाद, वर्तमान के साथ भूत और भविष्य दोनों को भी जीवों के पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की अपेक्षा से मानता है। कर्मवाद तो कर्म की अनादिकालीन शृंखला को मानता है, अतः उसके साथ भूतकाल तो अनिवार्यतः जुड़ा रहता है। यदि कोई अतीत नहीं है तो कर्म को मानने की जरूरत भी नहीं है। और यदि कोई भविष्य भी नहीं है तो शुभ कर्म में या कर्मनिरोध व कर्म के आंशिक क्षय (निर्जरा) में कोई प्रवृत्त होगा भी क्यों? परन्तु कर्मवाद के साथ तो तीनों काल परस्पर अनुस्यूत हैं।

भारतीय दर्शनों में चार्वाक ही ऐसा दर्शन था, जो वर्तमान को ही स्वीकारता था। वह पुनर्जन्म और कर्मवाद को नहीं मानता था। वह केवल वर्तमान जीवन को वैषयिक सुख

से जीने के उद्देश्य से प्रचलित हुआ था; जबकि तथाकथित समाजवाद आया था—विषमतायुक्त समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से। दोनों के उद्देश्य में काफ़ी अन्तर है। दोनों में इतनी-सी समानता अवश्य है कि चार्वाक दर्शन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मूलक आधुनिक समाजवाद, इन दोनों का दर्शन अनात्मवादी है। जबकि कर्मवाद पूर्णतया आत्मवादी है।^१

वस्तुतः जो दर्शन केवल वर्तमान सम्मत होता है वह भूत और भविष्य की—अदृश्य वी बातों के विषय में कतई नहीं सोचता और न ही कोई चर्चा उठाता है। उसे लम्बी विन्ता या चर्चा में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती; वह केवल वर्तमान दृष्टि पर ही नज़र रखता है। उसे बहुत बारीकी में जाने या अदृश्य जगत् में जाने या उसके विषय में कुछ सोचने की कोई अपेक्षा ही नहीं होती। जो प्रत्यक्ष है, दृष्ट है या जो उपलब्ध है, उसी को वह अपनाता है। वह केवल प्रत्यक्षवादी है। उसे अन्तरंग में सूक्ष्मतम अवगाहन की आवश्यकता नहीं होती।

समाजवाद का द्वितीय सिद्धान्त, व्यक्ति का निर्माण : परिस्थिति पर निर्भर

इस दृष्टि से केवल वर्तमान में परिस्थितिवाद पनपता है। उसका सिद्धान्त यही बन जाता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व परिस्थिति के अनुसार बनता है। जैसी परिस्थिति, वैसा ही व्यक्ति निर्मित होगा। अतः समाजवाद का द्वितीय सिद्धान्त हुआ—परिस्थितिवाद।

कर्मवाद समाजवाद के इस द्वितीय सिद्धान्त—परिस्थितिवाद से सहमत नहीं है। वह परिस्थितिवाद को मान्य नहीं करता। एकान्त परिस्थितिवाद को वही मान सकता है, जो केवल वर्तमान को स्वीकार करता हो। कर्मवाद तो तीनों काल से जुड़ा हुआ है, इसलिए वह एकान्ततः परिस्थितिवाद को स्वीकार नहीं कर सकता। वह परिस्थिति को एक निमित्त या हेतु मान सकता है। किन्तु परिस्थितिवाद की एकाधिकारिता उसे स्वीकार नहीं हो सकती; क्योंकि कर्मवाद की स्वीकृति के साथ आत्मवाद (चेतन) की स्वीकृति है और आत्मा की त्रैकालिक अवस्थिति (परिणामी-नित्यता) मानी जाने से पूर्वजन्म और आगामी (पुनः) जन्म की स्वीकृति है^२ इसलिए वहाँ एकान्त परिस्थितिवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता।

समाजवाद का तृतीय सिद्धान्त: समाज व्यवस्था का परिवर्तन

केवल वर्तमान की तथा एकान्ततः परिस्थिति की स्वीकृति के आधार पर समाजवाद का तीसरा सिद्धान्त प्रतिफलित होता है—वर्तमान समाज व्यवस्था का

१. घट घट दीप जले पृ. २९, ३१

२. वही, पृ. २९

परिवर्तन। समाजवाद का मानना है, समाज की वर्तमान कुव्यवस्था को बदलने के लिए अर्थव्यवस्था बदलनी अनिवार्य है। समाजवाद का पूर्व रूप है-मार्क्सवाद (कम्युनिज्म)। इसके जन्मदाता कार्लमार्क्स का मत था-समाज अर्थ के आधार पर ही अच्छा-बुरा बनता है। आर्थिक समानता समाज की रीढ़ है। अर्थव्यवस्था के आधार पर ही समाज का निर्माण होता है।

कतिपय भारतीय नीतिशास्त्री भी इस सिद्धान्त को मानते थे। उनमें एक थे- भारतीय राजनीति में वरिष्ठ महामात्य कौटिल्य, जिन्होंने “कौटिल्य अर्थशास्त्र” रचा था। कौटिल्य के मतानुसार धर्म, अर्थ, और काम इन तीनों वर्गों (पुरुषार्थों) में अर्थ ही मुख्य है। अर्थ है तो धर्म (पुण्यकार्य) भी होगा और काम सेवन (भोगोपभोग) भी अर्थ होने पर ही सम्भव है।^१

हम इस सन्दर्भ में पूर्व पृष्ठों में भारतीय समाज-व्यवस्था का चित्रण कर आए हैं कि कई दार्शनिक अर्थ और काम को, कोई केवल अर्थ को, और कोई केवल काम पुरुषार्थ को प्रधानता देते थे। कतिपय दार्शनिक धर्म पुरुषार्थ को प्रधानता देते थे। अर्थ-काम को धर्म के अंकुश में मानते थे। परन्तु उनकी धर्म की व्याख्या नैतिकतामूलक थी, नीति-न्याय को ही धर्म माना जाता था। राजनीति, अर्थनीति और धर्मनीति, सभी नैतिकता के नियमों के अनुरूप थी, जिसे धर्म का रूप दिया गया था।

अतः आधुनिक समाजवाद का दूसरा पक्ष है-आर्थिक। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाना भी उसका एक उद्देश्य हो गया। समाज में परिवर्तन अथवा समाज का नैतिक विकास अर्थव्यवस्था में परिवर्तन पर निर्भर है, ऐसा वर्तमान समाजवाद के उन्नायकों ने माना। समाज में अभाव-पीड़ित व्यक्ति रोटी-रोजी के अभाव में अनैतिकता पर उतार होता है। चोरी, लूट, तस्करी, धोखेबाजी, मुनाफाखोरी, बेईमानी आदि अर्थदूषण तभी पनपते हैं, जब मनुष्य गरीबी की चक्की में पिसता है। गरीब और अमीर का भेदभाव ही अमीर के प्रति गरीब के मन में ईर्ष्या पैदा करता है, और वह भी वेन-केन-प्रकारेण धनोपार्जन करने में जुट जाता है। अर्थव्यवस्था में सुधार न होने से गरीबों एवं श्रमजीवियों का शोषण भी होता है, वर्ग संघर्ष भी।

आधुनिक समाजवाद ने आर्थिक समानता लाने अथवा गरीबी-अमीरी का भेद मिटाने के लिए यह नारा दिया कि “सम्पत्ति समाज की है।” उस पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं रहना चाहिए। जितना भी उत्पादन, वितरण और विनिमय हो, उस पर स्वामित्व समग्र समाज का होना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक समाजवाद (जिसे मार्क्सवाद,

क्युनिज्म या साम्यवाद कहते हैं) की नीति-सम्पत्ति पर समाज के स्वामित्व की बनी। इस प्रकार वर्तमान समाजवाद का ध्येय बन गया—आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन। और यह परिवर्तन वह सत्ता के जरिये करना चाहता है, कर रहा है।^१

कर्मवाद आर्थिक व्यवस्था में सीधे परिवर्तन का या राज्यसत्ता द्वारा परिवर्तन का कोई सूत्र प्रस्तुत नहीं करता। वह आर्थिक-व्यवस्था में स्वैच्छिक परिवर्तन, यथा-सर्वभागव्रत एवं विषमता का अन्त लाने के लिए स्वेच्छया समता-साधना का प्रयोग प्रस्तुत करता है। भगवान् महावीर ने इच्छापरिमाणव्रत, परिग्रह परिमाण (मर्यादा) तथा अर्थशोषण रोकने के लिए अस्तेय व्रत का विधान किया।

उस समय के शासक प्रायः सत्तालोलुप, विषयभोगविलास में रत एवं वैभव वृद्धि में तृप्ति लेने वाले होते थे। एकतंत्र अथवा राजतंत्र का युग था। यथाराजा तथाप्रजा की कहावत चरितार्थ थी। भगवान् महावीर स्वेच्छा से परिवर्तन में विश्वास करते थे, बलात् परिवर्तन में उनका विश्वास नहीं था। जहासुहं देवानुष्पिया, मा पडिबंध करेह, यही उनका मूलमंत्र था।

आर्थिक पक्ष के दर्शन में समाजवाद और कर्मवाद की मान्यता में काफी अन्तर आ गया। यद्यपि आर्थिक पक्ष के विषय में समाजवाद और कर्मवाद में कोई मेल नहीं है, दोनों के विचारों में अन्तर है, फिर भी दोनों के बीच इतना संघर्ष भी नहीं है। कर्मवाद के प्ररूपक भगवान् महावीर एवं गणधर तथा उनके प्रतिपादक-समर्थक श्रमणगण ने महारम्भ और महापरिग्रह को एवं पन्द्रह प्रकार के कर्मादानरूप व्यवसायों (खरकर्मों) को समाज में विषमता, शोषण, उत्पीड़न, मोह-ममत्व एवं अहंत्व में वृद्धि का कारण तथा महारम्भी, महापरिग्रही को नरकगतिगामी बताकर^२ एवं गृही श्रावक वर्ग के लिए ज्ञारम्भी-अल्पपरिग्रही होने की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया।

आज समाज में पूँजीवाद विकसित हुआ है, वह इच्छाओं पर नियंत्रण के अभाव में हुआ है। भ. महावीर ने इच्छापरिमाणव्रत गृहस्थों के लिए बताया, उसका आशय यही था कि अपनी इच्छाओं को इतना तूल मत दो, जिससे हजारों व्यक्तियों को तुम्हारे अमर्यादित संग्रह (परिग्रह) से अभाव-पीड़ित होना पड़े।

महावीर ने यह नहीं कहा कि व्यापार मत करो, परन्तु उन्होंने कहा कि उसकी सीमा करो, अर्थोपार्जन के साधन अशुद्ध न हों, साथ ही वे साधन दूसरे जीवों के लिए घातक

१. कर्मवाद पृ. २२०

२. (क) देखें—उपासकदशा अ. १ आनन्दश्रावकाधिकार

(ख) स्थानांग सूत्र ठाणा-४—चउहिं ठाणेहिं नेरइयाउत्ताए कम्मं पणरेंति तं जहा— महारभेण, महापरिग्राहेण, पंचिदिय-वहेण, कुणिमाहारेणं चेव॥

एवं शोषणकर्ता न हों।^१ व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर कड़ा नियंत्रण रखो। इच्छाओं और आवश्यकताओं पर संयम होने से स्वतः ही इस व्रत का पालन हो जाएगा। इस प्रकार भ. महावीर ने कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में संयम, नियम, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, संवर आदि की प्ररूपणा की। यह समाजवाद के साथ कर्मवाद का सामंजस्य था।

परन्तु मध्ययुग में कर्मवाद के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ समाज में घर कर गईं। धनवान् होना भाग्यशालिता का और निर्धन होना भाग्यहीनता का लक्षण माना जाने लगा। अमुक व्यक्ति निर्धन है तो लोग कहने लगे—यह अभागा है, इसने पूर्वजन्म में शुभकर्म नहीं किये, इसलिए दुःख भोग रहा है। कोई व्यक्ति धनाढ्य है तो उसे भाग्यशाली बताकर कहा जाने लगा—इसने महान् पुण्य किया था, इसलिए इतना धन मिल गया।

भ. महावीर ने तो महापरिग्रह को बुरा माना है, नरक गमन का कारण माना है, जबकि समाज की प्रचलित गलत धारणा ने अधिकाधिक धन-संग्रह को बुरा न मानकर पुण्यवानी का कारण मान लिया।^२

कोई व्यक्ति अल्पसंग्रही हो, सादगी से रहता हो, अथवा अभाव में भी प्रसन्न रहता हो, उसके विषय में भी इस प्रकार की गलत धारणा के अनुसार यों कह दिया जाता है—“बेचारा क्या करे? पूर्वजन्म में अशुभकर्म किये हैं, जिससे इस प्रकार की अभावपीड़ा में पिसना पड़ रहा है।”

इस प्रकार कर्मवाद के सन्दर्भ में अर्थसम्पन्न और अर्थविपन्न दोनों को अच्छे-बुरे भाग्य के साथ जोड़ दिया जाता है। यही समाजवाद के साथ कर्मवाद का संघर्ष शुरू हो जाता है। यद्यपि दोनों के अर्थसम्बन्धी दार्शनिक पक्ष भिन्न-भिन्न हैं। वहाँ इनमें मेल भी नहीं है, तो संघर्ष भी नहीं है। कर्मवाद के व्याख्याकारों ने व्यक्तिगत स्वामित्व को उचित और न्याय-सम्पन्न माना है, किन्तु उस पर कुछ नैतिक नियंत्रण भी लगाये हैं।

वास्तव में यह भ्रान्ति तब पनपती है, जब कर्म और नोकर्म (कर्म की सहायक सामग्री) को एक मान लिया जाता है। अर्थ सम्बन्धी व्यवस्था हो, राजनैतिक व्यवस्था हो या सामाजिक व्यवस्था हो, किसी भी व्यवस्था के परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध कर्म के साथ स्थापित नहीं किया जाना चाहिए। व्यवस्था-परिवर्तन को कर्मविपाक के निमित्त के रूप में या कर्मफल भुगवाने में सहायक के रूप में समझा जाना चाहिए।

इस तथ्य-सत्य को भली-भाँति समझ लेने पर वृद्धावस्था, बीमारी, अकाल मृत्यु इन सबमें परिवर्तन लाना आसान हो जाएगा। आर्थिक व्यवस्था, चिकित्सा-सुविधा एवं

१. देखें आवश्यकसूत्र में श्रावक का सप्तम उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत

२. कर्मवाद पृ. २९९

जीवनयापन की सहूलियतें नोकर्म से सम्बन्धित हैं,^१ जिनसे सारी स्थितियों में तब्दीली हो सकती है। कर्मवाद इन परिवर्तनों में बाधक नहीं है, परन्तु इनका सीधा सम्बन्ध नोकर्म से है। कर्मवाद का सम्बन्ध इन बाह्य व्यवस्थाओं से नहीं, किन्तु व्यक्ति की आन्तरिक संवेदनाओं एवं भावनाओं से है। जहाँ कर्मवाद को व्यवस्थाओं तथा समाज की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के साथ जोड़ दिया जाता है, वहाँ पूर्वोक्त प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हैं। कर्मवाद को व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ जोड़ने से ये भ्रान्तियाँ शीघ्र ही मिट जाएगी।

फिर यह भ्रान्ति मिट जाती है कि अधिक धन प्राप्त होना पुण्यकर्म का और निर्धन होना पापकर्म का फल है। किन्तु धन हो या न हो, मन में शान्ति, सन्तोष, समता (राग-द्वेष तथा कषाय की उपशान्ति या विरति) हो तो वह व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च स्तर पर पहुँच जाता है, उसे आत्मिक सुख प्राप्त हो जाता है।

आन्तरिक वैभव ही वास्तविक वैभव है

जैन-साधु-साधिव्यों के पास धन नहीं, अपने स्वामित्व का कोई स्थान, मठ, मन्दिर या धर्मस्थान नहीं, तो क्या जैन साधु वर्ग को दरिद्र कहा जाता है? बाह्य वैभव से रहित होने पर भी जैन साधु वर्ग के पास संतोष, क्षमा, शान्ति, तितिक्षा, पवित्रता, सत्यता, संयम आदि आध्यात्मिक गुणों का अपार आन्तरिक वैभव है। बाह्य वैभव सम्पन्न लोगों के दिलों में प्रायः असन्तोष, चिन्ता, व्यग्रता, अशान्ति, विषमता, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों की आग लगी रहती है। इसलिए कर्मवाद का सीधा सम्बन्ध आन्तरिक वैभव से है; बाह्य वैभव से नहीं। बाह्य वैभव तो एक चोर, डाकू, वेश्या, सिनेमा एक्टर-एक्ट्रेस के पास प्रचुर मात्रा में मिलता है, परन्तु उससे क्या वे सच्चे वैभवशाली कहलाएँगे? धर्म और अध्यात्मरूपी वैभव का ऐसे लोगों के पास दिवाला है।

जैनकर्मवाद सत्पुरुषार्थ को रोकता नहीं

जैनकर्मवाद निराश होकर आलसी बनकर, हाथ पर हाथ धरे रहकर बैठने का इशारा नहीं देता। वह एकान्त रूप से यह निरूपण भी नहीं करता कि पूर्वजन्मकृत कर्म के फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त हो गया, वही सब कुछ है; इस जन्म में किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल इस जन्म में या तत्काल नहीं मिलता।

कर्मवाद निर्धन को भी विकसित होने का मौका देता है

आज भी हम देखते हैं, कई व्यक्ति पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप निर्धन तथा भ्रम में उत्पन्न हुए थे। किन्तु वे उसी स्थिति में सन्तुष्ट, अकर्मण्य व हताश-निराश होकर

१. कर्मवाद पृ. २२०

२. कर्मवाद पृ. २२१

नहीं बैठे रहे। वे अहिंसा-सत्यादि के पालन द्वारा या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप के आराधना द्वारा अथवा नीतिन्याय के परिपालन द्वारा अशुभ कर्मों का या तो क्षय कर डालते हैं, अथवा उन्हें शुभरूप में परिणत कर डालते हैं। कर्मवाद इस प्रकार के धर्मानुरूप अभ्युदय में उनका हाथ नहीं रोकता।

समाजवाद में भी इस प्रकार के सत्कर्म करने वाले लोगों को प्रोत्साहन एवं पारितोषिक मिलता है। समाजवाद के साथ कर्मवाद की इस विषय में कोई असंगति नहीं है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द आदि गरीब माता-पिता की सन्तान थे, किन्तु उन्होंने अपने शुभ अध्यवसाय से, दृढ़ निश्चय से, बौद्धिक कौशल से, अथवा सच्चरित्रता से तथा विद्या की उपासना से नैतिक, आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर ली थी। कर्मवाद का कथन है कि जीव अपने कर्मों को स्वयं भोगकर क्षय कर सकता है, स्वयं ही नये कर्म बांध सकता है। आत्मकर्तृत्व एवं आत्मभोक्तृत्व की बात से समाजवाद का भी कोई विरोध नहीं है।

समाजवाद का तीसरा पक्ष : राजनैतिक क्रान्ति

समाजवाद ने यह सिद्धान्त तो स्थापित कर दिया कि सम्पत्ति समाज की है, उस पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता। मगर इस सिद्धान्त को क्रियाब्धि करने के लिए समाजवाद के सूत्रधारों को समाज को अथवा समाज की पुराल्ल अर्थव्यवस्था को बदलना आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समाजवाद का तीसरा राजनैतिक पक्ष चुना। उन्होंने इस सन्दर्भ में 'सत्ता द्वारा समाज परिवर्तन' की नीति अपनाई। उन्होंने पूर्वोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह विचारधारा प्रचलित की कि जब तक राज्यसत्ता हाथ में नहीं आ जाती, तब तक समाज को या आर्थिक व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। राज्यसत्ता सर्वहारा (शोषित) वर्ग के हाथ में आने पर ही धनिक और गरीब का, मालिक और मजदूर का वर्ग संघर्ष मिट सकता है। तभी गरीब और अमीर का भेद मिट सकता है और आर्थिक समानता स्थापित हो सकती है। साम्यवादी देशों ने समाजवाद की इस नीति का प्रयोग किया। सत्ता साम्यवादी राजनेताओं के हाथों में आ गई। गरीब-अमीर का भेद समाप्त करने हेतु वहाँ सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व इतना सीमित कर दिया कि सम्पत्ति के आधार पर कोई छोटा या बड़ा, अथवा ऊँचा या नीचा नहीं कहला सकता। दीन, भिखारी और भूखा आदमी साम्यवादी देशों में नहीं मिलेगा।^१

१. कर्मवाद पृष्ठ २१८

२. कर्मवाद पृष्ठ २१८

क्या साम्यवाद आने से कर्मवाद समाप्त हो जाएगा ?

इस साम्यवादी पद्धति की आर्थिक समानता को देखकर कर्मवाद के सिद्धान्त से अनभिन्न कई लोग कहने लगते हैं, जब गरीब-अमीर का भेद मिट जाएगा, तब कर्मवाद कैसे टिकेगा ? कर्मवाद की बुनियाद तो इसी भेद पर टिकी है ? परन्तु कर्मवाद की नींव इतनी कमजोर नहीं है कि कृत्रिम आर्थिक समानता हो जाने से वह ध्वस्त हो जाएगा। इस प्रकार की भ्रान्तियों के कारण कर्मवाद के विषय में काफी गलतफहमी हो गई।

आर्थिक व्यवस्था बदल जाने मात्र से कर्मवाद समाप्त नहीं हो जाता

क्या आर्थिक व्यवस्था बदल जाने से यह मान लिया जाए कि रूस, चीन या अन्य साम्यवादी देशों में कर्मवाद समाप्त हो गया ? क्या हाथी, घोड़े, गाय आदि के पास अर्थ एवं बाह्य परिग्रह न होने से वहाँ समानता स्थापित हो गई ? जब तक कोई भी त्याग खेवख से समझ-बूझपूर्वक धर्मदृष्टि से न हो, तब तक कोई भी व्यक्ति कर्मनिर्जरा (कर्म का अंशतः क्षय) नहीं कर पाता। क्या रूस और चीन आदि देशों में सत्ता द्वारा अर्थव्यवस्था परिवर्तन कर्मवादसंगत है ? क्या वहाँ के लोगों की प्रकृति या मनःस्थिति बदल गई ? आन्तरिक विकारों की उपशान्ति हो गई ? क्या उन देशों के लोगों में क्रोधादि कषाय उपशान्त हो गए ? क्या वहाँ कोई राग-द्वेष, मोह नहीं करता ? किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति प्रियता या अप्रियता का संवेदन नहीं करता ?

यह ठीक है कि वहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध लग जाने से बेईमानी और भ्रष्टाचार अवश्य कम हुए हैं, परन्तु क्या वहाँ के लोगों की मनोभावना, कषायादि की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन आया है ? उन देशों की राष्ट्रीय रिपोर्टों से पता लगता है कि वहाँ भी बड़े-बड़े अधिकारी आर्थिक गड़बड़ करते हैं। वहाँ भी परस्पर क्लेश और कलह होते हैं। कर्म को वे लोग मानें या न मानें, कर्म अपना कार्य तो व्यवस्थित ढंग से करता ही है। साम्यवादी देशों में भी व्यक्ति क्रोधादि कषाय करता है, आर्थिक भ्रष्टाचार कुछ अंशों में है, मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं आया, न ही उनके चरित्र में आध्यात्मिक परिवर्तन आया। इसका कारण यह है कि उनके भीतर कर्म-अशुभ कर्म मौजूद हैं। क्रोधादि विकार आन्तरिक कर्म के परिणाम हैं। समूचा आन्तरिक परिवर्तन कर्मकृत होता है।

कर्म की मुख्यतया दो प्रकृतियाँ : जीवविपाकी और कर्मविपाकी

कर्म की मुख्यतया दो प्रकृतियाँ हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। प्रथम प्रकृति का जीव में परिपाक होता है। अर्थात् जीव के कषायादि विकार वैसे ही बन जाते हैं, जैसी

१. वही, पृ. २२०

२. वही, पृ. २२१

उसके कषायों या रागादि की तीव्रता-मन्दता थी। दूसरी प्रकृति है—पुद्गलविपाकी। इस प्रकृति के परिणाम स्वरूप जीव को शरीर, मन, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, शरीरादि बल, प्राण डीलडौल, कद, मन, बुद्धि, वचन आदि से सम्बन्धित शुभ-अशुभ परिणति आदि सब पौद्गलिक उपलब्धियाँ पुद्गलविपाकी कर्म प्रकृति के परिणाम हैं।^१

जहाँ शरीरादिगत समानता नहीं, वहाँ कर्म का साम्राज्य है

क्या रूस या चीन आदि देशों में सभी मनुष्यों की आकृति, शरीर, शरीर का ढाँचा डीलडौल, याणी, बुद्धि, आयुष्य, स्वस्थता-अस्वस्थता, योग्यता-अयोग्यता, बाल-बाल, बौद्धिक या शारीरिक क्षमता एक-सरीखी है? उनमें कोई अन्तर नहीं है? साम्यवादी देशों में आर्थिक समानता भले ही कुछ अंशों में हो गई हो, परन्तु उनमें स्वाभाविक समानता, आन्तरिक समानता तथा शरीरादिगत समानता नहीं आई है, इसलिए कि वहाँ कर्म का साम्राज्य है।

कहना होगा कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना हो जाने पर भी कर्मवाद के सिद्धान्त को या उसके अस्तित्व को कोई आँच नहीं आती। कृत्रिम आर्थिक समानता होने पर भी अभी वहाँ आन्तरिक समानता या शरीरादिकृत समानता नहीं आ पाई है, इसलिए विविध कर्म वहाँ भी अपनी जड़ें जमाए हुए हैं। और अर्थव्यवस्था में परिवर्तन का तो कर्म से सीधा सम्बन्ध नहीं है।

समाजवाद द्वारा कृत परिवर्तन : आन्तरिक और सर्वांगीण नहीं

दूसरी बात यह है कि अर्थव्यवस्था आदि बाह्य परिवर्तन भी सत्ता (दण्डशक्ति)के द्वारा किया हुआ, वह भयाधारित है। कर्मवाद में संवर और निर्जरा रूप धर्म के द्वारा किया जाने वाला आन्तरिक और पुण्यकर्म प्रबलतावश बाह्य परिवर्तन व्यक्ति के द्वारा स्वेच्छकृत होता है। स्वेच्छकृत परिवर्तन स्थायी होता है, यही आध्यात्मिक समता (साम्ययोग) का उत्पादक है। समाजवाद द्वारा किया गया आर्थिक समानता का बाह्य एवं कृत्रिम प्रयत्न न तो स्थायी है, और न व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण परिवर्तन है।

कर्म का सम्बन्ध आन्तरिक परिवर्तन एवं शरीरादि पौद्गलिक परिवर्तन से है; इस दोनों बातों में समानता लाना, समाजवाद या साम्यवाद के वश की बात नहीं। अगर वह परिवर्तन राज्यसत्ता के द्वारा होता तो भगवान् महावीर का परमभक्त मगधसम्राट् श्रृणिकनृप अवश्य ही ऐसा कर देता। बल्कि वह स्वयं भी आध्यात्मिक समता (सामायिक) को प्राप्त करने के लिए सामायिक (समतायोग) के निष्ठावान् साथ

१. (क) देखें—कर्मग्रन्थ भा. ५ (चं. सुखलालजी)

(ख) कर्मवाद पृ. २२१

पूणिया श्रावक के पास गया था। अतः कर्मवाद स्वेच्छकृत व आत्मकृत आन्तरिक एवं आध्यात्मिक समता में मानता है, जबकि समाजवाद सत्ता द्वारा कृत बाह्य अर्थ-समानता में विश्वास करता है। इन दोनों की यही विसंगति है।

आन्तरिक व्यवस्था एवं शरीरादि बाह्य एवं नोकर्मकृत सामाजिक व्यवस्था में कर्मकृत समानता का उत्कृष्ट विधान आगमों में मिलता है, नौ ग्रैवेयक एवं पाँच अनुत्तर वैमानिक देवों का। जैसी समानता वहाँ है, वैसी समानता तो साम्यवादी और समाजवादी देशों के लिए भी कर पाना असम्भव है।

राज्यसत्ता रहित राज्य का लक्ष्य : दूरातिदूर

मार्क्सवादी समाजवाद (साम्यवाद) का अन्तिम लक्ष्य है—राज्यसत्ता रहित राज्य (Stateless state) की स्थापना करना। वह लक्ष्य तो अभी बहुत दूर है। साम्यवादी राज्यों में अभी तो डिक्टेटोरशिप (अधिनायकवाद) है। कठोर शासनतंत्र है, कि व्यक्ति स्वेच्छा से, बिना किसी के दमन एवं दबाव के स्वेच्छा से इतना त्याग कर सकेगा, और वैतम्य तथा उतना आत्मानुशासन रख सकेगा, यह अभी तो साम्यवादी देशों के लिए दिवास्वप्न-सी बात है। व्यक्ति स्वेच्छा से संवर-निर्जरारूप धर्म का आचरण कर ले, स्वेच्छा से अपने आप पर अनुशासन रख ले, तभी शासनतंत्र की आवश्यकता महसूस नहीं होगी। यही शासनविहीन समाज रचना का विशुद्ध चित्र है।

ऐसा उच्चकोटि का आत्मानुशासन आने पर तो व्यक्ति स्वयं उच्चकोटि का दिव्यपुरुष बन जाएगा। वह साधारण मनुष्य नहीं रह सकता। और ऐसी समता की स्थिति (नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर वैमानिक) कल्पातीत देवों में होती है। वहाँ कोई लाम्बी और भृत्य नहीं होता, कोई इन्द्र या अधिपति नहीं होता, सभी अपने आप में इन्द्र से सम्पन्न आत्मानुशासित अहमिन्द्र होते हैं। इतना ही नहीं, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति, ऋद्धि, द्युति तथा आत्मबल में भी वे समान होते हैं। उनके लिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—“आयु, प्रभाव, सुख, द्युति (कान्ति), लेश्या की विशुद्धि तथा इन्द्रियों का एवं अवधिज्ञान का विषय, ये सब उपर-ऊपर के देवों में अधिक है। किन्तु गति, शरीर का परिमाण, परिग्रह और अभिमान, इन विषयों में ऊपर-ऊपर के देव हीन (न्यून) हैं। लान्तक से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों तक में शुक्ललेश्या होती है।”

१. (क) स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धि-निर्वाध-विषयतोऽधिका : ॥२१॥

(ख) गति-शरीर-परिग्रहऽभिमानतो हीनाः ॥२२॥

(ग) पीत-पद्म शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२३॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ.४ सू. २५-२७-२८

समाजवादी व्यवस्था और कल्पातीत व्यवस्था में अन्तर

समाजवादी व्यवस्था में तो सबके पास एक-सरीखी ऋद्धि, सम्पत्ति और लेश्या (वृत्ति), प्रकृति, कान्ति एवं प्रभाव समान नहीं होता; जबकि कल्पातीत दिव्य आत्माओं में ये सब सम्पदाएँ समान होती हैं। शरीरबल और चिन्तन भी समाजवादी व्यवस्था में समान नहीं होता; जबकि कल्पातीत देवों में समान होता है। ऐसी कल्पातीत समता शताधिक या सहस्राधिक वर्षों की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् प्राप्त होती है। बाह्य परिवर्तन के साथ-साथ उनका आन्तरिक परिवर्तन भी अत्यधिक हो जाता है। कर्मवाद सिद्धान्त के अनुसार सर्वांग परिवर्तन का यह शुभ परिणाम आता है; जबकि समाजवाद सिद्धान्त द्वारा कृत परिवर्तन इसके सामने कुछ नहीं है।

आर्थिक समानता का प्रयोग : कर्मवाद-सिद्धान्त का पूरक

निष्कर्ष यह है कि कर्मवाद का सर्वाधिक विशद निरूपण करने वाले आगमों में कल्पातीत समानता के इस उल्लेख पर से हम कह सकते हैं कि आर्थिक समानता और कर्मवाद-सिद्धान्त में संघर्ष नहीं है, बल्कि आर्थिक समानता का यह प्रयोग कर्मवाद-सिद्धान्त को क्रियान्वित करने में किसी अपेक्षा से पूरक ही सिद्ध होगा।



कर्म-विज्ञान
(पंचम खण्ड)

कर्मफल के विविध आयाम

१. कर्म का कर्ता कौन, फलभोक्ता कौन ?
२. कर्मों का फलदाता कौन ?
३. कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?
४. कर्मफल वैयक्तिक अथवा सामूहिक ?
५. क्या कर्मफल-भोग में विनिमय या सविभाग है ?
६. कर्मफल यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में ?
७. कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल
८. विविध कर्मफल : विभिन्न नियमों से बंधे हुए
९. पुण्य-पापकर्म का फल : एक अनुचिन्तन
१०. हार और जीत के रूप में : पुण्य-पाप के फल
११. पुण्य और पाप के फल : धर्मशास्त्रों के आलोक में
१२. कर्मों के विपाक यहाँ भी, आगे भी
१३. आत्मा का उत्थान-पतन : पुण्य-पाप के निमित्त

कर्म का कर्ता कौन, फलभोक्ता कौन ?

कर्म का कर्ता-भोक्ता कौन? : एक प्रश्न

जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों में नान्यदर्शी चिन्तन-मनन किया है। उन्होंने कर्म सिद्धान्त के विषय में कर्तृ भी कौन अछूता नहीं छोड़ा है। उनके सामने जब यह प्रश्न आया कि कर्म तो अजीव-जड़ पुद्गल हैं, जीव चेतनायुक्त है, फिर सचेतन जीव अचेतन कर्म को कैसे शिल्पित या बद्ध कर सकता है ?

स्पष्ट शब्दों में कहें तो—“कर्म का कर्ता कौन ठहरता है? तथा उसका भोक्ता (फल भोगने वाला) भी कौन है?” अर्थात्—कर्मपुद्गलरूपी अजीव द्रव्य के साथ चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है? जैनकर्म-विज्ञान-विशेषज्ञों ने इन और ऐसे प्रश्नों का गहराई से विभिन्न दृष्टियों से समाधान किया है।

जैन दर्शन में कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का दोनों दृष्टियों से समाधान

जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह किसी भी वस्तु तत्त्व का निरूपण सर्वांगी दृष्टि से करता है। वह एकांगी दृष्टि से निरूपण नहीं करता, न ही एक दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहता है।

कर्म के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के सम्बन्ध में भी जैनदर्शनियों ने निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों (नयों) का अवलम्बन लिया है। आचार्य अभयदेव ने स्पष्ट उद्घोष किया है—“यदि तुम जिन-धर्म को स्वीकार करना चाहते हो, उसके रहस्य को समझना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों (दृष्टियों) को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ (शासन=संघ) का उच्छेद हो जाता है और निश्चय के बिना तथ्य-सत्य का अपलाप होता है।”^१

निश्चयदृष्टि (नय) वह है, जो पर-निमित्त के बिना वस्तु के वास्तविक (यथार्थ) स्वरूप का कथन करती है और व्यवहार दृष्टि वह है, जो पर-निमित्त की अपेक्षा से वस्तु

१. जड़ निगमयं पवज्जह, ता मा व्यवहार-निच्छए मुयह।

इहेण विणा तित्थं छिज्जइ, अत्रेण उ तत्त्वं॥

—भगवतीसूत्र-टीका

का कथन करती है।^{११} 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' में भी दोनों नयों का आश्रय लेने की प्रेरणा की गई है—“जैसे दोनों नयनों के बिना वस्तु का सम्यक् प्रकार से अवलोकन नहीं होता है, उसी प्रकार दोनों नयों के बिना भी वस्तु का यथार्थरूप से ग्रहण नहीं हो सकता।^{१२} तत्त्वानुशासन में दोनों नयों का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—निश्चयनय में कर्ता, कर्म, करण आदि भिन्न नहीं होते। अतः वह अभिन्नकर्तृकर्मादि-विषयक है—अभेदग्राही है। व्यवहारनय कर्ता, कर्म आदि भेद का ग्राही है; भेद दृष्टि युक्त है।^{१३}

कर्म का कर्ता-भोक्ता कौन है ? इस प्रश्न पर भी जैन दार्शनिकों ने दोनों दृष्टियों से गहन विचार-मन्थन किया है।

'कर्म का विराट् स्वरूप' नामक तृतीय खण्ड में द्रव्यकर्म और भावकर्म की व्याख्या के प्रसंग में हम बता आए हैं कि जैनदर्शन में कर्म केवल जीव के द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का नाम ही नहीं है किन्तु जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है—“जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल का कर्मरूप में परिणमन होता है, अर्थात्—जीव द्वारा मन-वचन-काया से की जाने वाली क्रिया (प्रवृत्ति) के साथ रागादि रूप परिणामों के निमित्त से पुद्गल-परमाणु कर्मरूप में आकृष्ट होते हैं; यानी जीव के साथ वच्य को प्राप्त होते हैं। वे पुद्गल-परमाणु कर्म कहलाते हैं। तथा उन पुद्गल-परमाणुओं के फलोन्मुख होने पर उनके (पौद्गलिक कर्मों के) निमित्त से जीव में जो काम, क्रोध आदि भाव (परिणाम) होते हैं, वे भी कर्म कहलाते हैं।^{१४} अर्थात्—पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव में रागादि भावों का परिणमन भी कर्म कहलाता है। पहले प्रकार के कर्मों को द्रव्यकर्म और दूसरे प्रकार के कर्मों को भावकर्म कहते हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकारण नहीं हो सकता

तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो जीव न तो कर्म में गुण (विशेषता) पैदा करता है, और न ही कर्म जीव में कोई गुण उत्पन्न करता है। किन्तु जीव और पुद्गल का एक दूसरे के निमित्त से विशिष्ट परिणमन स्वतः ही हुआ करता है।^{१५} अतः निश्चयनय

१. पंचम कर्म ग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तःश्री) पृ. ११

२. द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यार्थवलोकनम्।

यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं च स्याद्वादिभिः॥

—तत्त्वज्ञानतरंगिणी

३. अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः।

व्यवहारनयो भिन्न-कर्तृ-कर्मादि-गोचरः॥

—तत्त्वानुशासन २१

४. जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।

—समयसार गा. ८६

५. ण वि कुब्बदि कम्मगुणं जीवो, कम्मं तहेव जीवगुणे।

अण्णोणणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोणं पि॥

—वही गा. ८७

की दृष्टि से जीव (आत्मा) न तो द्रव्यकर्मों का कर्ता ही प्रमाणित होता है और न भोक्ता ही; क्योंकि द्रव्य-कर्म पीद्गलिक (जड़रूप) हैं, पुद्गल द्रव्य के विकार हैं, अतएव वे 'पर' हैं, उनका कर्ता चैतन्यस्वरूप आत्मा कैसे हो सकता है ?

सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्व-भाव में स्थित है। उसके परिणमन में अन्य द्रव्य उपादान कारण नहीं बन सकता। इसी प्रकार जीव (आत्मा) भी न तो पुद्गल का उपादान कारण है और न पुद्गल जीव का उपादान कारण हो सकता है। अतः चेतन का कर्म तो चैतन्य रूप होता है और अचेतन का अचेतनरूप। यदि चेतन का कर्म अचेतन रूप होने लगे, तब तो चेतन और अचेतन में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। दोनों का भेद नष्ट होने से सांकर्य-दोष उपस्थित हो जाएगा।

प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है, पर-भाव का नहीं

अतः प्रत्येक द्रव्य स्व (निज) भाव का कर्ता है, जैसे पानी का स्वभाव शीतल होता है, मगर अग्नि का संयोग होने से वह उष्ण हो जाता है। इससे उष्णता पानी का धर्म (स्वभाव) नहीं है, वह अग्नि का स्वभाव है। अतः जल में उष्णता का कर्ता जल को नहीं माना जाता। उसका कर्ता अग्नि है। जल में उष्णता अग्नि के संयोग से आई है, वह नैमित्तिक है, निमित्त (अग्नि) का सम्बन्ध पृथक् होते ही वह चली जाती है।

निश्चय दृष्टि से आत्मा पुद्गल (कर्म) समूह का कर्ता नहीं हो सकता

इस पर से आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि से कहा—“अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर जो पुद्गल-द्रव्य कर्मरूप में परिणत होते हैं, निश्चय दृष्टि से उस पुद्गल समूह का कर्ता आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा तो अपने स्वभाव के अनुसार अपने ही भावों का कर्ता है। वह पुद्गल कर्म-समूह का कर्ता नहीं हो सकता, यह जिनेन्द्र भगवान् का वचन जानना चाहिए।”

अतः शुद्ध निश्चय दृष्टि से तो आत्मा (जीव) कर्म का कर्ता नहीं है।^{१९} वह केवल अपने निजी गुणों (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आत्मिक सुख)

१. (क) कुब्ज सभावमादा हवदि कत्ता सग्सस भावस्स।
पोण्णल दक्खमाणु ण दु सव्व भावाणं॥ —द्रव्यसंग्रह १८४
- (ख) कुब्जं सगं सहावं अत्ता कत्ता सग्सस भावस्स।
नहि पोण्णलकम्माणं, इदि जिणवयणं मुणेषव्वं॥
कम्मं पि सगं कुब्बदि सएण सहावेणं सम्मपथाणं॥ —समयसार
२. (क) परमपाणमकुब्जं अप्पाणं पि य परं अकुब्जतो।
सो णायमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि॥ —समयसार २३
- (ख) आत्मभावान् करोत्यात्मा, परभावान् परः सदा।
आत्मैव ह्यात्मनोभावाः परस्य पर एव ते॥ —समयसार वृत्ति

का ही कर्ता है। इसीलिए 'समयसार तात्पर्यवृत्ति' में कहा गया है—आत्मा सदैव अपने भावों का कर्ता है, और पर अर्थात्—पुद्गल अपने पौद्गलिक भावों का ही सदैव कर्ता है। आत्मा के भाव आत्मरूप ही हैं, इसी प्रकार पुद्गल के भाव भी पुद्गल रूप हैं। श्री जयसेनाचार्य अपनी टीका में स्पष्ट करते हैं—“निर्मल आत्मानुभूति स्वरूप भेदज्ञानी जीव कर्मों का अकर्ता होता है।”

इसे दूसरे शब्दों में कहें तो शुद्धनिश्चय दृष्टि से आत्मा के साथ परद्रव्य का (पुद्गल रूप कर्म का) किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता।^१ इसलिए निज गुणों में रमण करता हुआ आत्मा कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है ?

इसी तथ्य को 'अध्यात्मबिन्दु' में स्पष्ट किया गया है—स्वयं को स्वरूप में और पर-वस्तु को पर-रूप में जानता हुआ आत्मा समस्त परद्रव्यों से विरत हो जाता है। इस कारण वह चैतन्य स्वरूप प्राप्त आत्मा अपने आप में ही रमण करता है। अपने आप का अनुशीलन करता हुआ तथा अपने आपका निरीक्षण करता हुआ आत्मा किसी भी प्रकार से कर्म का कर्ता नहीं हो सकता।^२

कर्म ही कर्म का कर्ता : कैसे ?

दूसरे शब्दों में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—शुद्ध निश्चय दृष्टि से जीव (आत्मा) कर्म का कर्ता नहीं है, कर्म ही कर्म का कर्ता होता है। क्योंकि जीव में कर्म सत्ता में पड़े हैं, वे कर्म ही अपने परिस्पन्द (कम्पन) के कारण अन्य कर्मों को खींचते हैं। अतः कर्म ही कर्म से कर्म के साथ बंधता है। आत्मा सचेतन है, और कर्म है—अचेतन (जड़); तथा कर्म जिससे आते हैं, वह मन-वचन-काय का योग भी जड़ है। जड़ के द्वारा निष्पन्न प्रवृत्ति जड़कर्मों को ग्रहण करती है। जिस प्रकार कुत्ते के गले में रस्सी डालने पर उस रस्सी का गठबंधन रस्सी से ही होता है, कुत्ते के गले में नहीं, इसी प्रकार जड़ कर्म, जड़ कर्मों के साथ ही बँधते हैं, सचेतन आत्मा के साथ नहीं।^३

१. स निर्मलात्मानुभूतिलक्षण-भेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति। —जयसेनाचार्य टीका
२. नास्ति सर्वोपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः॥ —समयसार गा. ३२३
३. स्वत्वेन स्वं परमपि परत्वेन जानन्, समस्तान्यद्रव्येभ्यो विरमणमिति यच्चिन्मयात्वं प्रपन्नः।
स्वात्मन्येवाभिरतिमुपनयन् स्वात्मशीली स्वदर्शीत्येवं कर्ता कथमपि भवेत् कर्मणो वैव जीवः॥
—अध्यात्मबिन्दु
४. (क) हुं आत्मा छुं, भा. २ (प्रवक्ता डा. तरुलता बाई स्वामी) पृ. १२२
(ख) जह सयमेव हि परिणमदि कम्म भावेण पुण्णलं दच्चं।
जीवा परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥ —समयसार १११

कर्म का स्वभाव आत्मा में आने का मानें तो सदा आत्मा में आता रहेगा

यदि यह कहें कि कर्म का आगमन अनायास ही आत्मा में होता रहता है, तब तो कर्म का यह स्वभाव मानना पड़ेगा कि वह आत्मा के किसी प्रयास के बिना अनायास ही आत्मा में आता रहेगा। ऐसी स्थिति में आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

जीव का कर्म करने का स्वभाव मानें तो कभी कर्ममुक्ति नहीं

इसके विपरीत यदि यह मानें कि जीव (आत्मा) का ही ऐसा स्वभाव होगा कि वह कर्म करता रहे। किन्तु इस बात के मानने पर जीव अनन्तकाल तक सदैव कर्म करता रहेगा, कर्मों से मुक्ति रूप मोक्ष की फिर संभावना नहीं होगी; क्योंकि स्वभाव कभी उस द्रव्य से पृथक् नहीं होता। फिर जीव का स्वभाव कर्मों से मुक्त होने का न होकर सदैव कर्म करने का हो जाएगा।

पुरुष अकर्ता है, प्रकृति ही कर्त्री है, यह सांख्य सिद्धान्त भी ठीक नहीं

सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार यदि ऐसा कहें कि 'पुरुष (आत्मा) सर्वथा असंग है। वह शुद्ध, बुद्ध, निर्मल एवं त्रिगुणातीत है, ऐसा शुद्ध स्वरूपी पुरुष कर्म का सर्वथा अकर्ता है। प्रकृति सत्व-रजस्-तमस् रूप त्रिगुणात्मिका है। पुरुष (आत्मा) के संयोग से प्रकृति ही समस्त कर्म करती है।

'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में भी सांख्यदर्शन के प्रकृतिकर्तृत्ववाद का निरूपण इसी प्रकार किया गया है— अतः कोई भी पुरुष (आत्मा) न तो बँधता है और न ही मुक्त होता है; और न संसार-परिभ्रमण करता है। अनेक-आश्रय-ग्राहिणी प्रकृति ही संसरण करती है। वही बद्ध और मुक्त होती है।'

इस प्रकार जीव (आत्मा) को कर्म का अकर्ता माना जाए तो क्या हानि है? पुद्गल द्रव्य (कर्म-पुद्गल) जीव के राग-द्वेषादि अशुद्ध भावों का सहारा पाकर स्वतः उसकी ओर आकृष्ट होता है। इसमें जीव (आत्मा) का कर्तृत्व ही क्या है? जैसे— कोई सुन्दर पुरुष कार्यवश बाजार से जा रहा हो और कोई सुन्दरी उस पर मोहित होकर उसके पीछे-पीछे चल पड़े तो उसमें उस सुन्दर युवक का क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह महिला है, पुरुष उसमें केवल निमित्त मात्र है। इस सिद्धान्तानुसार तो आत्मा

१. (क) हुं आत्मा धुं, भा. २ (प्रवक्ता डा. तरुलता बाई स्वामी) पृ. १२२

(ख) यतस्तु स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।

नित्या स्यात् कर्तृता धेतिन्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७६॥

—पंचाध्यायी, उत्तरार्ध

कर्ता नहीं है, अतः वह फलभोक्ता भी नहीं हो सकेगा, यह दोषापत्ति आणी, जो जैनदर्शन को इष्ट नहीं है।

सब कुछ कर्ता-धर्ता, फलदाता ईश्वर है : यह मन्तव्य भी दोषयुक्त

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का कहना है कि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई कर्ता होता है। कर्ता के बिना कोई भी क्रिया नहीं होती। कायिक प्रवृत्ति हो, या मानसिक अथवा वाचिक; हर प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई कर्ता अवश्य रहता है। सृष्टि रचना भी एक क्रिया एवं प्रवृत्ति है। अतः इसका भी कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। संसार में होने वाले प्रत्येक कार्य, कर्म या प्रवृत्ति का कर्ता कोई न कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं समर्थ कर्ता है, और वह ईश्वर है। जब सृष्टि का कर्ता-धर्ता और संहर्ता ईश्वर है, तब सृष्टि के अन्तर्गत जितने भी जीव हैं, वे भले ही स्वयं कर्म करते दिखाई देते हों, परन्तु उन्हें कर्म करने की प्रेरणा ईश्वर से ही मिलती है। अतः परोक्ष रूप से ईश्वर ही जगत् के जीवों के कर्मों का कर्ता-धर्ता है।

भगवद्गीता के अनुसार—“हे अर्जुन! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय-प्रदेश में रहता है। वही समस्त प्राणियों को (शरीररूपी) यंत्रारूढ़ की तरह अपनी माया से (स्व-स्वकर्मानुसार) भ्रमण कराता है।”^१

अतएव ईश्वर ही समस्त जीवों को कर्मों के फल के रूप में स्वर्ग या नरक में भेजता है। सुख या दुःख भी वही देता है। जीव में स्वयं कुछ भी कार्य करने की क्षमता नहीं है और न ही स्वयं कर्मफल भोग लेने की शक्ति है। निष्कर्ष यह है कि ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानने वाले तो इस विषय में युक्तिपूर्वक कोई चिन्तन-मनन नहीं करते कि कर्म का कर्ता-धर्ता अथवा फलदाता कौन है? वे एकमात्र ईश्वर के ही भरोसे निश्चिन्त होकर बैठ जाते हैं।

आत्मा सर्वथा अकर्ता है, जड़ कर्म ही सब कुछ करता है : यह एकान्त कर्मकर्तृत्व-वाद है

इसी प्रकार कुछ दार्शनिक कर्म के मर्म को यथार्थरूप से न समझ कर शुद्ध निश्चयनय को ही यथार्थ मानकर एकान्ततः उसी का आश्रय लेते हैं और कहते हैं—

१. (क) असंगो ह्ययं पुरुषः —सांख्यदर्शन
- (ख) तस्मात्र बध्यतेऽसौ न मुच्यते, नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ —सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ६२
- (ग) देखें—पंचम कर्मग्रन्थ-प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री) पृ. १२
२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ —गीता १८/६२

आत्मा सर्वथा अकर्ता है। क्रिया जड़ की होती है। अतः जो कुछ भी परिणमन होता है, उसका कर्तृत्व जड़ कर्म पर है। ऐसे लोग एकान्त कर्म-कर्तृत्ववादी हैं। वे ईश्वरकर्तृत्व-वादियों की तरह कहते हैं—“कर्मों के द्वारा ही जीव अज्ञानी और उन्हीं के द्वारा ज्ञानी कर दिया जाता है। कर्म ही जीव को सुलाते हैं, कर्म ही उसे जगाते हैं। कर्म के कारण ही जीव ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में भ्रमण करता है। जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे भी कर्म के द्वारा ही किये जाते हैं।”

यदि कर्मवादी भी इसी तरह मानने लगे कि कर्म के बिना कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, वह सब कर्म से ही होता है। वह एकांगी धारणा है। वस्तुतः कर्मवाद ईश्वरवाद का स्थानापन्न नहीं हो सकता। कर्म के बिना कुछ नहीं होता, यह सिद्धान्त मान लेने पर ईश्वरवाद और कर्मवाद में कोई अन्तर नहीं रहेगा। ईश्वर के स्थान पर कर्मवाद बैठ जाएगा।

जैनकर्मविज्ञान के अनुसार यह मन्तव्य यथार्थ नहीं है। यदि सब कुछ करने की क्षमता कर्म में मान ली जाएगी तो ईश्वर और कर्म में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकेगी। कर्म का स्थान है, पर वह सीमित है। वही सब कुछ नहीं है। यदि वही सब कुछ होता तो मनुष्य कर्मक्षय एवं कर्मनिरोध की साधना करके सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं कर सकता था।

एकान्त कर्मकर्तृत्ववाद के अनुसार आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानने में दोष

एकान्त कर्मकर्तृत्ववादियों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—जब कर्म ही (आपके मतानुसार) सब कुछ करता है, हर्ता है, (फल) दाता है, तब तो समस्त जीवों (आत्माओं) में अकारकत्व आ गया। अर्थात्—संसार में समस्त जीव सदा के लिए अकर्ता कहलाएँगे। इस एकान्त कर्मकर्तृत्ववाद में दोषापत्ति बताते हुए आचार्य कहते हैं—

“पुरुषवेद नामक कर्म के उदय से स्त्री की अभिलाषा और स्त्रीवेद नामक कर्म के उदय से पुरुष की वांछा होती है, किन्तु आत्मा को किसी भी कर्म का कर्ता न मानने पर

१. (क) कम्महेँ दु अण्णाणी किज्जइ णाणी, तहेव कम्महेँ।
कम्महेँ, सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्महेँ॥३३२॥
- (ख) कम्महेँ, भमाविज्जइ उड्ढमहो वाधि तिरियमलोयं च।
कम्महेँ चव विज्जइ सुहासुहं निच्छियं किंचि॥३३४॥
२. (क) जह कम्मं कुब्बइ, कम्मं देह हरति जं किंचि।
तम्हा दु सुब्बेजीवा अकारगाहति आवज्जइ॥३३५॥

—समयसार गा. ३३२ से ३३५ तक

(ख) जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. १०९

वेदभाव (कामभाव) से दूषित आत्माएँ भी उक्त कर्म की कर्ता न माने जाने पर ब्रह्मचारी ही कहलाएँगी, अब्रह्मचारी नहीं क्योंकि कर्म ही वेद नामक कर्म की अभिलाषा करता है।”

“इसी प्रकार कोई जीव किसी दूसरे को मारता है, या दूसरे से मारा जाता है, इसका कारण कर्मशास्त्रों में क्रमशः उपघात एवं पराघात नामक कर्मप्रकृतियाँ हैं। परन्तु एकान्त कर्म-कर्तृत्ववाद के मतानुसार कोई भी जीव (आत्मा) किसी का वध करने वाला नहीं माना जाएगा, फिर तो यही कहा जाएगा कि उक्त कर्म ही कर्म का घात करने वाला है। इस प्रकार सांख्यमत के अनुसार जैसे प्रकृति ही कर्त्री है, पुरुष कर्ता नहीं, वैसे ही कर्म ही कर्ता होंगे, सभी जीव (आत्मा) अकारक (अकर्ता) हो जाएँगे।”

सर्वथा अकर्ता होने की स्थिति में आत्मा मोक्ष का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकेगा

ऐसी स्थिति में यदि जीव (आत्मा) अकर्ता है, वह कर्म नहीं करता, तो उसको किसी प्रकार का बन्ध भी नहीं होना चाहिए। बद्ध तो वह होता है, जो कर्म का कर्ता हो। और मुक्त होने की इच्छा भी उसे होती है, जो बंधा हुआ हो। जिसके बंधन ही नहीं, उसे मुक्ति की परवाह क्यों होगी? और वह मोक्ष का पुरुषार्थ भी क्यों करेगा? साथ ही जो कुछ नहीं कर सकता, वह मोक्ष का पुरुषार्थ भी कैसे करेगा? क्योंकि उसमें कुछ भी करने की क्षमता नहीं है।^१

कर्म को कर्ता मानने से व्यक्ति कृत के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा

यह सत्य है कि कर्म स्वयं अपना कर्ता नहीं होता। कर्म किसी न किसी आत्मा (जीव) द्वारा किया जाता है, इसलिए वह आत्मा की कृति है। उसका कर्तृत्व आत्मा का है; कर्म का स्वयं का नहीं। यदि व्यक्ति द्वारा किया गया कर्म ही सब कुछ कर्ता-धर्ता बन जाए, तो कर्म-कर्ता आत्मा (जीव) गौण बन जाएगा। जबकि कर्म में अपने-आप में कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व है—व्यक्ति के अन्तर् में निहित संकल्प में। कृति और कर्ता का यह अन्तर स्पष्ट है। यदि कर्म को कर्ता माना जाएगा तो व्यक्ति अपने कृत के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा, ऐसी स्थिति में बन्ध भी कर्म का ही होगा, व्यक्ति का नहीं।

जैन दर्शन व्यक्ति को कर्म करने (संकल्प करने) में स्वतन्त्र मानता है;^२ इसलिए व्यक्ति अपने कृत के प्रति उत्तरदायी होता है। कर्म को उतना ही महत्त्व दिया जाता है, जितना उसका भूल्य है।

१. देखें, समयसार की गाथा ३३६ से ३४० तक

२. देखें—पंचम कर्मग्रन्थ पर प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. १३

३. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावदांश ग्रहण

आत्मा भेदविज्ञान होने से पूर्व तक कर्मों का कर्ता है, सर्वथा अकर्ता नहीं

इस जटिल समस्या को सुलझाते हुए कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—अर्हद्भक्तों के लिए यही उचित है कि वे सांख्यों के समान जीव (आत्मा) को सर्वथा अकर्ता न मानें। किन्तु भेदविज्ञान होने से पूर्व आत्मा को (अशुद्ध निश्चयनयानुसार) रागादिरूप भावकर्मों का कर्ता मानें। भेदविज्ञान की ज्योति की उपलब्धि हो जाने के बाद आत्मा को कर्मभावरहित, अविनाशी, प्रबुद्ध ज्ञान का पुंज, प्रत्यक्षरूप एकमात्र ज्ञाता-द्रष्टारूप में देखें।

श्री जयसेनाचार्य समयसार टीका में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—
“अतः यह बात निश्चित है कि आत्मा सांख्यमत के समान सर्वथा अकर्ता नहीं है। वह रागादि विकल्प-रहित समाधिरूप भेदविज्ञान के काल में कर्मों का कर्ता नहीं है, किन्तु शेष काल में कर्ता होता है।”

यहाँ भेदविज्ञान अविरत-सम्यग्दृष्टि का ज्ञापक नहीं, अपितु रागादि विकल्प-रहित, निर्विकल्प समाधि-रूप अवस्था का द्योतक है, जो मुनिपद धारण करने के पश्चात् ही प्राप्त होता है। विकल्पजालपूर्ण गृहस्थावस्था में उसकी सम्भावना कम है। अतः जब तक आत्मा निर्विकल्प समाधि रूप भेदज्ञानयुक्त नहीं होता तब तक उसके रागादि के कारण कर्मबन्ध हुआ करता है। अर्थात्—तब तक वह कर्मों का कर्ता रहता है।

जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् कर्ता कथंचित् अकर्ता मानता है

अतः नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्त, एवं मीमांसा-दार्शनिकों की तरह जैनदर्शन ने भी आत्मा को शुभ-अशुभ, द्रव्य-भावकर्मों का कर्ता माना है। किन्तु अन्य भारतीय दर्शनों की अपेक्षा, जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह अपने अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को कथंचित् कर्ता और कथंचित् अकर्ता मानता है। जैनदर्शन न तो नैयायिक आदि के मतानुसार आत्मा को एकान्त कर्ता मानता है और न ही सांख्यदर्शन की तरह पुरुष (आत्मा-जीव) को सर्वथा अकर्ता मानता है।

१. (क) या कर्तारमयी सृशन्तु पुरुषं, सांख्या इयाऽप्यर्हताः।

कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधोदधः॥

ऊर्ध्वं तद्धतः बोधवाननियतं, प्रत्यक्षमेव स्वयं।

पश्यन्तुं द्युतकर्मभावममलं ज्ञातारभेकं परम्॥

(ख) ततः स्थितमेतत् एकान्तेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति, किं तर्हि ?
रागादि-विकल्प-रहित-समाधिलक्षण भेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति, शेषकाले कर्तैति।
—समयसार टीका या. ३४४

आत्मा को शुद्ध निश्चयदृष्टि से कर्म-पुद्गलों का कर्ता मानना मिथ्या

समयसार में कहा गया है—आत्मा को शुद्ध निश्चय (पारमार्थिक) दृष्टि से कर्म-पुद्गलों (पर-पदार्थों) का कर्ता मानना मिथ्या है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पारमार्थिक (निश्चय) दृष्टि से आत्मा को पर-पदार्थों का कर्ता मानने वालों को मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, व्यवहारमोही जीव कहा है। उन्होंने समयसार में इस तथ्य को अनावृत करते हुए कहा है—जो (निश्चयदृष्टि) से यह मानता है कि मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं। वह मूढ़ है, अज्ञ है। जो यह मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत ज्ञानी है; क्योंकि सभी जीव स्व-स्वकर्मोदय के द्वारा ही सुखी-दुःखी होते हैं।”

समयसार की आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्रसूरि ने भी यही कहा है—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करता है? “अतः आत्मा (पर-पदार्थों या कर्म-पुद्गलों का) कर्ता है, (निश्चय दृष्टि से) ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है। अज्ञानान्धकार से मुक्त आत्मा को जो (शुद्ध निश्चयनयदृष्ट्या) कर्ता मानते हैं, वे मुमुक्षु भले ही हों, सामान्य लोगों के समान उनकी भी मुक्ति नहीं हो सकती।”

शुद्धनिश्चयनय (पारमार्थिक) दृष्टि से आत्मा निज भावों का कर्ता है

जैनदर्शन सांख्यदर्शन की तरह पुरुष (आत्मा=जीव) को सर्वथा अकर्ता नहीं मानता। वह शुद्ध निश्चयनयानुसार अपनी आत्मा के ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखरूप निजगुणों (स्व-भावों तथा उनकी पर्यायों) का कर्ता मानता है। कषाय पाहुंड में कहा गया है—शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कोई भी द्रव्य दूसरे के परिणामों को नहीं कर सकता। इसलिए आत्मा पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं, अपितु अपने स्व-भावों का ही कर्ता है। पंचास्तिकाय में भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—“अपने भावों को करता हुआ आत्मा अपने (स्व) भाव का कर्ता है।” प्रवचनसार टीका में कहा गया है—“आत्मा अपने परिणाम से अभिन्न होने के कारण वस्तुतः स्व-परिणामस्वरूप भावकर्मों का ही कर्ता है, पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं।”^{११} समयसार टीका में उपर्युक्त कथन को

१. (क) समयसार २४७-२५८,
(ख) वही, आत्मख्याति टीका ७९ क. ५०
(ग) वही, टीका गा. १७ क. ६२
(घ) वही, गा. ३२० कलश ११९
२. कुब्जं सर्गं सहायं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
नहि पोग्गलकम्भाणं, इदि जिणवयणं मुण्येयव्वं॥
कम्मं पि सर्गं कुब्बदि, सेण सहायेण सगमपाणं॥”

—आचार्य कुन्दकुन्द

उदाहरण देकर समझाया है—“जिस प्रकार कुम्भकार घट बनाते हुए घट रूप से परिणमित न होने के कारण पारमार्थिकरूप से उसका कर्ता नहीं कहलाता; उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानावरणादि कर्मरूप में परिणमित न होने के कारण (अर्थात्—अपना स्वभाव=द्रव्य और गुण छोड़कर ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलद्रव्य वाला न होने के कारण) परमार्थरूप से उनका कर्ता नहीं हो सकता।” उपर्युक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट है कि आत्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अपने परिणामों (स्व-भावों) का कर्ता है पुद्गलरूप कर्मों का नहीं।

अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्मों का कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं; क्यों और कैसे?

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है—अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से शुभ-अशुभ परिणामों का परिणामन होना ही आत्मा का कर्तृत्व है। समयसार आत्मख्याति टीका में कहा गया है—“जो परिणामनशील होता है, वह कर्ता है।” अतः अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा राग-द्वेषादि भावकर्मों का, तथा शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञानदर्शन रूप शुद्ध भावों का कर्ता है। अर्थात्—अशुद्ध निश्चयनयानुसार अशुद्ध स्थिति में आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि वैभाविक भावों का कर्ता है, अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय चतुष्टय और योगत्रय आदि पंचविध भावकर्मों का कर्ता है। वस्तुतः कर्म तो जड़ हैं।

किन्तु उन जड़ कर्मों के निमित्त से आत्मा में रागादि भावों का आविर्भाव होता है। आत्मा उन रागादि भावों में प्रवृत्त होती है। इस कारण वे जड़रूप भावकर्म भी चेतनवत् प्रे जाते हैं। वे आत्मा के वैभाविक भाव कहलाते हैं, स्वाभाविक भाव नहीं। इस दृष्टि से अशुद्ध स्थिति में आत्मा उन वैभाविक भावों का कर्ता कहलाता है। इस अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्म का (चेतनवत् कर्मसमूह का) कर्ता कहा जाता है, परन्तु उन भावकर्मों के निमित्त से पुद्गलों में जो द्रव्यकर्म रूप परिणामन होता है (अशुद्ध निश्चयदृष्टि से) उसका वह कर्ता नहीं है।

१. (क) कषायपाहुड १, पृ. ३१८

(ख) पंचास्तिकाय ६१

(ग) प्रवचनसार टीका ३०

(घ) समयसार आ. टीका क. ७५/८३

२. (क) यः परिणमति स कर्ता

—समयसार आ. टीका भा. ८६, क. ५१

(ख) पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, चूलिका भा. ५७

(ग) हुं. आत्मा धुं. भा. २ (डाँ. तरुलताबाई स्वामी) में

पंचास्तिकाय में कहा गया है—वस्तुतः बन्ध में भाव निमित्त है। अतः राग-द्वेष-मोहादि से युक्त भाव आत्मा के लिए बन्ध के कारण हैं। इस दृष्टि से अशुद्ध स्थिति में आत्मा स्वयं भावकर्मबन्ध का कर्ता बन जाता है।^१

व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है

इतने विश्लेषण के पश्चात् भी यह शंका बनी रहती है कि आखिर पुद्गल कर्म का (द्रव्य-कर्म का) कर्ता कौन है? अर्थात्—लोक व्यवहार में तथा शास्त्रों में यत्र-तत्र ऐसा कहा जाता है कि अमुक जीव ने ऐसा (यह) कार्य किया, जिसका उसने अमुक फल भोगा।

इसका समाधान यह है कि वस्तुतः उपादान कारण ही कर्म का वास्तविक कर्ता होता है। आत्मा का उपादान कारण कर्म नहीं है। इसलिए शुद्ध निश्चय दृष्टि से तो आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है। निमित्त कारण में जो कर्ता होने का व्यवहार किया जाता है, वह औपचारिक है, व्यावहारिक है। जैसे कि समयसार में कहा गया है—कर्मबन्ध का निमित्त होने के कारण उपचार से कहा जाता है कि इस जीव ने कर्म (कर्मबन्ध) किया जैसे लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि योद्धागण युद्ध करते हैं, किन्तु उपचार से (व्यवहारदृष्टि से) कहा जाता है—राजा युद्ध करता है। इसी प्रकार व्यवहारनय से अपेक्षा से कहा जाता है—आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध किया। इसलिए अज्ञान व्यवहार दृष्टि से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता कहलाता है।^२

आत्मा का स्वाभाविक और वैभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व

अतः जैनकर्मविज्ञान ने आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को चार भागों में विभक्त कर दिया—(१) वैभाविक कर्तृत्व, (२) स्वाभाविक कर्तृत्व, (३) वैभाविक भोक्तृत्व और (४) स्वाभाविक भोक्तृत्व। आत्मा अपने स्वभाव (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) को

१. भावनिमित्तो बंधो, भावो राग-दोष-मोहादो।

—पंचास्तिकाय

२. (क) समयसार १०५-७

जीवाम्पि हेदुभूदे बंधस्सइ, पस्सिदूण परिणामं।

जीवेण कडं कम्मं भणदि उचयार मत्तेण॥१०५॥

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदति अप्पदे लोगो।

तह ववहरेण कदं णाणावरणादि जीवेण॥१०६॥

(ख) समयसार (आ.) ३७२

(ग) समयसार (आ.) ८२

(घ) पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना पृ. १३

कर्ता है, वह अपने ही भावों का कर्ता है। किन्तु रागद्वेषादि वैभाविक भावों का कर्ता होने से वह विभावों का कर्ता है, भावकर्मों का कर्ता है। आत्मा मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देवगति में जाती है; नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव बनती है। यह उसका वैभाविक कर्तृत्व है। वैभाविक कर्तृत्व के कारण उसे चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। भावकर्मों का कर्ता होने के कारण उपचार से आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता भी माना जाता है।

प्रवचनसार की टीका में कहा गया है—“आत्मा अपने भावकर्मों का कर्ता होने के कारण उपचार से द्रव्यकर्म का कर्ता कहलाता है।”^१ आत्मा (शुद्धरूप में) चैतन्यस्वरूप है और कर्म (शुद्धरूप में) पौद्गलिक एवं जड़रूप हैं। इस कारण शुद्ध निश्चयनय या अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा कर्मपुद्गल का उपादान कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो वास्तविक कर्ता (उपादान) होता है, वह स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है। जैसे-घड़े का वास्तविक कर्ता (उपादान) कुम्भकार नहीं है, मिट्टी है; किन्तु व्यवहार में कुम्भकार को घड़े को बनाते-पकाते देखकर लोकरूढ़ि से कहा जाता है—कुम्भकार घड़े का कर्ता तथा भोक्ता है। यद्यपि कुम्भकार घड़े का उपादान कारण नहीं है, तथापि निमित्त कारण होते हुए भी वह घड़े का कर्ता माना जाता है। आशय यह है कि घटपर्याय में नैमित्त कर्ता कुम्भकार है।”

समयसार में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है^२—“जैसे-व्यवहार नय की प्रोक्षा से लोकव्यवहार में आत्मा (जीव) घट, पट, रथ आदि वस्तुओं को बनाता-करता (देखा जाता) है, इसी प्रकार वह इन्द्रियों को, तथा क्रोधादि अनेक प्रकार के द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों को भी करता है।”^३

द्रव्यसंग्रह की टीका में भी कहा गया है—“व्यवहारनय से जीव ज्ञानावरणीयादि कर्मों, औदारिक आदि शरीर, आहारादि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलरूप नोकर्मों तथा घट-पटादि पदार्थों का कर्ता है।”

१. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. ८९

२. प्रवचनसार तत्त्वदीपिका टीका २९

३. समयसार आसख्याति टीका २१४

४. व्यवहारण दु एवं करेदि षड-षड-रथाणि दव्याणि।

करणणि य कम्पाणि य णोकम्पाणीह विविहाणि ॥”

—समयसार ९८

५. द्रव्यसंग्रह टीका ८ : “कुम्भकाराणां कर्ता व्यवहारदो दु निच्छयदो।

ये च । । शुद्धनया सुद्ध भावणां।”

कार्तिकियानुप्रेक्षा में भी कहा गया है—“जीव (आत्मा) कर्ता है क्योंकि वह कर्म, नोकर्म तथा समस्त कार्यों को करता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप सामग्री के अनुसार जीव संसार एवं मोक्ष स्वयं उपार्जित करता है।”

निष्कर्ष यह है कि “जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण ही जीव (व्यवहारतय की दृष्टि से) ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता उसी प्रकार माना जाता है, जिस प्रकार से कुम्भकार घट का कर्ता कहलाता है।”

आत्मा के साथ कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रश्न जुड़ा हुआ है। जैनदर्शन का तर्क है कि आत्मा अपना संकोच और विस्तार इसलिए करती है कि उसमें कर्तृत्व की शक्ति है। यदि उसका अपना कर्तृत्व न होता तो वह संकोच और विस्तार करने में असमर्थ रहती। अतः आत्मा कर्ता है, और वह यह सब करता है—कर्मशरीर के कारण। जो कर्ता हो, वह भोक्ता है, क्योंकि आत्मा में करने और भोगने, दोनों की स्वतन्त्रता है। इसलिए आत्मा का एक लक्षण बन गया—“जो कर्मभेदों का कर्ता है, और कर्मफल का भोक्ता है, वही आत्मा है।”

नयचक्र बृहद्वृत्ति में भी इस तथ्य को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है—“देहघाती जीव (विविध पदार्थों का) भोक्ता होता है। जो भोक्ता होता है, वह कर्ता भी होता है। जो कर्ता होता है, वह कर्म संयुक्त होता है।^१ कर्मसंयुक्त जीव संसारी होता है। वह कर्म के प्रकार का है—द्रव्यकर्म और भावकर्म। फलितार्थ यह है कि निश्चय (नय) से वह भावकर्म का और व्यवहार (नय) से द्रव्यकर्म का कर्ता होता है।

वस्तुतः मिथ्यादर्शन आदि भावकर्मों का उदय होने से जीव ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जिससे आत्मा में द्रव्यकर्म (कर्मपुद्गल) का आस्रव (आगमन) होता है। उससे आत्मा कर्मबन्ध करता है। अर्थात् वह द्रव्यकर्म का कर्ता होता है। फिर बद्धकर्म के पुद्गल के फलस्वरूप आत्मा सुख-दुःखादि का अनुभव करता (भोगता-वेदन करता)।

१. कार्तिकियानुप्रेक्षा १८८

२. (क) जैनदर्शन और अनेकान्त, से भावांश ग्रहण पृ. ८८

(ख) यः कर्ता कर्म भेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च, स ह्यात्मानान्यलक्षणः।

३. नयचक्र बृहद्वृत्ति : १२४-१२५-

देहजुदो सो भुत्ता, भुत्ता सो चेव होई इह कत्ता।

कत्ता पुण कायजुदो जीवो संसारिओ भणिओ।

कम्मं दुयिह-विवाप्यं भावे अ दब्बाणं।

भावे सो णिच्छयदो कत्ता, व्यवहारदो दब्बे॥

इसलिए पंचास्तिकाय वृत्ति में कहा गया है—“व्यवहार से जीव आत्मपरिणामों के निमित्त से होने वाले पौद्गलिक कर्मों का करने वाला होने से कर्मकर्ता है। जो कर्म का कर्ता है, वही कर्मफल का भोक्ता है।” समयसार टीका में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—“अतः निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा से आत्मा में कर्म के कर्तृत्व, भोक्तृत्व और भोग्यत्व का व्यवहार होता है।”

सांख्यदर्शन का पुरुष को अकर्ता और प्रकृति को भोक्ता मानना युक्तिविरुद्ध है

सांख्यदर्शन के आत्मा को अकर्ता और भोक्ता मानने का सिद्धान्त भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि यदि पुरुष (आत्मा) अकर्ता है और प्रकृति द्वारा किये गए कर्मों का भोक्ता है, तब तो पुरुष निष्क्रिय एवं असत् सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अचेतन घट-पटादि पदार्थ पुण्य-पाप के कर्ता नहीं हो सकते, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुण्य-पाप की कर्त्री नहीं हो सकती। यदि अचेतन प्रकृति को कर्ता माना जाएगा तो घट-पटादि अचेतन पदार्थों को भी कर्ता मानना पड़ेगा। तीसरी बात यह है कि “आत्मा प्रकृति के द्वारा किये गए कार्यों का उपभोग करता है, यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। व्यवहार में यह देखा जाता है कि जो कार्य करता है, वही उसके फल का उपभोग करता है। इस दृष्टि से यदि प्रकृति कर्त्री है तो उसे ही फलभोक्त्री मानना चाहिए।” यदि एक के द्वारा किये गए (भोजनादि) कर्मों का फलभोग दूसरा कर लेता है, ऐसा माना जाएगा तो एक के किये हुए भोजन से दूसरे को तृप्त होना चाहिए; जो लोकव्यवहार के विरुद्ध है।

न्याय कुमुदचन्द्र में भी कहा है—जो पुरुष भोग क्रिया करता है, वह भोक्ता कहलाता है। तब अन्य क्रियाएं क्यों नहीं कर सकता? नयचक्रवृत्ति में कहा गया—“देहधारी जीव भोक्ता होता है और जो भोक्ता होता है, वह कर्ता भी होता है।” षड्दर्शन-समुच्चय में कहा है—जो कर्मफल भोगता है, वह कर्ता होता है; जैसे—किसान कृषि कर्म करता है, तो अपनी खेती का भोक्ता भी होता है। इसलिए वही फसल को काटता है। कर्त्तार्य राजवार्तिक में स्पष्ट कहा है कि “यदि आत्मा (पुरुष) अकर्ता होकर किये गए कर्मों का फल भोगता है तो किये गए कर्मों के फल का विनाश और न किये हुए कर्मों के फल की प्राप्ति होने का दोष आएगा, जो युक्तिविरुद्ध एवं अनुचित है।”^१

१. (क) “व्यवहारेणात्म-परिणाम-निमित्त पौद्गलिककर्मणा कर्तृत्वात् कर्ता।

—पंचास्तिकाय ता. प्र. २७/५८

(ख) ततो निमित्त-नैमित्तिक-भावमात्रेणैव तत्र कर्तृ-कर्म-भोक्तृ-भोग्यत्व-व्यवहारः॥

—समयसार पृ. ४५५

२. (क) अमितगति श्रावकाचार ४/३५

(ख) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ११९

सांख्यदर्शन द्वारा कृत आक्षेप का निराकरण

सांख्यदर्शन का आक्षेप है कि “यदि द्रष्टा-भोक्ता आत्मा को जैनदार्शनिक कर्ता मानते हैं तो भुक्तात्मा को भी कर्ता मानना पड़ेगा। अतः आत्मा को कर्ता मानना लक्ष्य है।” जैनदार्शनिकों ने इसका समाधान किया है कि हम मुक्त आत्मा को भी अकर्ता मानते ही नहीं हैं। उसमें भी सुख, चैतन्य, सत्ता, वीर्य और क्षाधिक दर्शनरूप अर्थ क्रिया होने से वह अपने निजी आत्मगुणों का कर्ता-भोक्ता है। सांख्य-मान्य तथाकथित पुरुष अकर्ता होने से आकाशपुष्यवत् असत् बन जाएगा।

जो भोक्ता हो, वह कर्ता भी है, इस सिद्धान्त का मण्डन

सांख्य दार्शनिक कहते हैं—सांसारिक जीव सुख-दुःखादि के भोक्ता तो हैं, पर कर्ता नहीं। सांसारिक जीवों को सुख-दुःखादि की अनुभूति होती है। जैनदार्शनिकों का कथन है कि जिस प्रकार आत्मा को भोक्तृत्व की अनुभूति होती है, उसी प्रकार ‘मैं शब्द सुने वाला हूँ,’ ‘मैं गन्ध सूंघने वाला हूँ’ इत्यादि वाक्यों से सभी को आत्मा के कर्तृत्व की अनुभूति भी होती है। इसलिए भोक्ता की तरह पुरुष (आत्मा) कर्ता भी है। अतः सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी आत्मा को कर्मों का कर्ता और फलभोक्ता ही मानता है।

जैनदर्शन सांख्य की तरह उपचार से नहीं, वास्तविक रूप से आत्मा को मोक्ष मानता है।

जैनकर्मविज्ञान की यह विशेषता है कि सांख्य दार्शनिकों की तरह केवल उपचार से कर्मफलों का भोक्ता न मानकर यह वास्तविक रूप से भोक्ता मानता है। “जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता माना गया है, उसी प्रकार व्यवहारिक की दृष्टि से वह पौद्गलिक कर्मजन्य फल सुख-दुःख एवं बाह्य पदार्थों का भोक्ता है। इसके

(ग) अचेतनस्य पुण्य-पापकर्तृताऽनुपपत्तेर्यदादिवत्। —तत्त्वार्थवार्तिक २/१०/१

(घ) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक २४६

(ङ) प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षभागी न चेतनः।

परेण विहिते भोगे तृप्ति भागो कुतः परः।

उक्त्वा स्वयमकर्तारं भोक्तारं चेतनं पुनः,

भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम्॥—श्रावकाचार (अभितगाते) ४/३४-३८

(च) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ८१८

(छ) षड्दर्शनसमुच्चय टीका (गुणरत्नाचार्य) पृ. २३६

(ज) तत्त्वार्थ राजवार्तिक २/१०/१

अतिरिक्त अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा के वैभाविक (वैकारिक) भावों (रागद्वेषादि) का भोक्ता है, तथैव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध चेतनभावों का भोक्ता है।”

आदिपुराण में कहा गया है—“(व्यवहार दृष्टि से) आत्मा परलोक सम्बन्धी पुण्य-पापजन्य फलों का भोक्ता है।” कार्तिकियानुप्रेक्षा में विविध कर्मविपाकजन्य सुख-दुःख का भोक्ता बताया है।

उपचार से भोक्ता मानने का खण्डन

सांख्यदर्शन का कहना है—पुरुष (आत्मा) को भोक्ता कहने का तात्पर्य है—“विषयों का साक्षात् भोक्ता नहीं, बल्कि उपचार से भोक्ता—अनुभवकर्ता है। उपचार से भोक्ता कहने का आशय यह है कि पुरुष साक्षात् भोग कर्ता नहीं है, किन्तु बुद्धि में झलकने वाले सुख-दुःख की छाया ‘पुरुष’ में पड़ने लगती है, यही उसका भोक्तृत्व है। इसी पुरुष भोगकर्तृत्व के कारण पुरुष भोक्ता कहलाता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि लाल (जपा) पुष्प के संसर्ग के कारण लाल हो जाता है, तथैव निर्मल स्वच्छ पुरुष प्रकृति के संसर्ग से सुख-दुःखादि का भोक्ता बन जाता है। अतः बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थों का द्वितीय दर्पण पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोक्तृत्व है। इस भोक्तृत्व के अतिरिक्त पुरुष में अन्य किसी प्रकार का भोक्तृत्व नहीं है।”

शास्त्रवार्तासमुच्चय में इस कथन का खण्डन करते हुए कहा गया है कि पुरुष (आत्मा) अमूर्त है, उस पर किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। सांख्यों का पुरुष को उपचार से भोक्ता मानना ठीक नहीं है। दूसरी बात—उपचार से भोक्ता मानने पर सुख-दुःख का अनुभव आधारहीन हो जाएगा। अतः आत्मा वास्तविक रूप से भोक्ता है, औपचारिक रूप से नहीं।”

१. (क) जैनदर्शन में आत्म विचार (डा. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. १२० से १२२ तक
(ख) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक २४६
(ग) एतेन विशेषणाद्-उपचरितवृत्त्यां भोक्तारं चालानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः॥

—षड्दर्शनसमुच्चय टीका, कारिका ४९

- (घ) तथा स्वकृतस्य कर्मणोयत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षात् भोक्ता च। —वही
(ङ) जीवोवि हवइ भुक्ता, कम्मफलं सो वि भुंजते जन्हा॥
कम्मविवायां विविहं सो चिय भुंजेदि संसारे। —कार्तिकियानुप्रेक्षा १/८९

२. (क) स्याद्वाद मंजरी पृ. १३५
(ख) प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य नामूर्तत्वेन युज्यते।
भुक्तेरतिप्रसंगाच्च, न वै भोगः कदाचन॥
(ग) स्याद्वाद मंजरी का. १५

—शास्त्रवार्ता-समुच्चय, स्तबक ३

कर्म का कर्तृत्व भोक्तृत्व : एक शंका-समाधान

कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के सम्बन्ध में निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से पूर्वोक्त विवेचन को पढ़कर कई लोगों को दोनों नयों में विरोधाभास लगता है। परन्तु इन दोनों नयों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों नयों की विषयवस्तु और उनका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। निश्चयनय शुद्ध आत्मा और शुद्ध पुद्गल का ही कथन कर सकता है, पुद्गल मिश्रित आत्मा का या आत्म-मिश्रित पुद्गल का तथा कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का कथन निश्चयनय से किस प्रकार सम्भव है? निश्चयनय तो पदार्थ के शुद्ध स्वरूप का अर्थात्—जो पदार्थ स्वभाव से, अपने आप में जैसा है, वैसा ही प्रतिपादन करता है। कर्म का सम्बन्ध सांसारिक अशुद्ध (कर्म मिश्रित) आत्मा से है, इसलिए उसका (कर्मयुक्त सांसारिक आत्मा का) कथन व्यवहारनय ही कर सकता है, क्योंकि परनिमित्त की अपेक्षा से वस्तु का निरूपण करना ही उसका काम है। अतः निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि विषयों का निरूपण नहीं हो सकता। वह तो केवल शुद्ध, मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि शुद्ध अजीव का ही निरूपण कर सकता है।

जड़-चेतन मिश्रित संसारी कर्मबद्ध आत्मा से कर्म का सम्बन्ध है

कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध संसारी आत्मा से—कर्मयुक्त आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नहीं। संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है, उसमें चैतन्य और जड़ का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से सर्वथा रहित विशुद्ध चैतन्ययुक्त होता है। कर्मबद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के कारण जो कर्मप्रायोग्य पुद्गल-परमाणु अकृष्ट होकर परस्पर मिल जाते हैं, नीर-क्षीरवत् एक-से हो जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। संसारी आत्मा और कर्म दोनों जड़-चेतन मिश्रित हैं, दोनों में अन्तर यह है कि संसारावस्था में जड़ और चेतन अंश इस प्रकार के नहीं हैं कि उनका अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। फिर भी इन दोनों का पृथक्करण मुक्तावस्था में हो जाता है। संसारी आत्मा जब तक कर्मयुक्त है, तभी तक संसारी कहलाती है, कर्म से मुक्त होते ही वह मुक्त आत्मन कहलाती है। कर्म भी जब आत्मा से पृथक् हो जाता है, तब केवल पुद्गल कहलाता है। आत्मा से सम्बद्ध कर्म-पुद्गल द्रव्यकर्म है, और द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की प्रवृत्ति-क्रिया भावकर्म है। अतः स्पष्ट है कि आत्मा और पुद्गल की मिश्रित अवस्था में ही कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध है।

मन्य तथ्य यह है कि न तो संसारी जीव शुद्ध चेतनायुक्त है और न ही कर्म शुद्ध पुद्गल है। संसारी जीव चेतन-अचेतन दोनों द्रव्यों का मिला-जुला रूप है। इसी तरह कर्म

भी विकृत अवस्था है, जो जीव की मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से निर्मित हुई है, उससे ही सम्बद्ध है। जीव और पुद्गल दोनों स्वाभाविक अवस्था में हों तो कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। दोनों अपने स्वभाव में स्थित नहीं हैं, इसलिए निश्चयनय द्वारा इसका निरूपण न होकर व्यवहारनय द्वारा ही इसके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निर्णय हो सकता है।

जीव कर्मों का कर्ता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पुद्गल का निर्माण करता है। पुद्गल तो पहले से विद्यमान है, उसका निर्माण जीव नहीं करता। जीव तो अपने सन्निकट में स्थित कर्म पुद्गल परमाणुओं को अपनी प्रवृत्तियों से आकृष्ट कर अपने में मिलाकर नीर-क्षीरवत् एक कर देता है। यही संसारी जीव द्वारा द्रव्य कर्मों का कर्तृत्व है। यदि जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है तो फिर उनका कर्ता कौन है? पुद्गल स्वतः तो कर्मरूप में परिणत नहीं होता, जीव ही उसे कर्मरूप में परिणत करता है।

दूसरी बात यह है कि द्रव्य कर्मों के कर्तृत्व के अभाव में भावकर्मों का कर्तृत्व कैसे सम्भव हो सकता है। द्रव्यकर्म ही तो भावकर्म को उत्पन्न करते हैं। सिद्ध परमात्मा द्रव्यकर्मों से मुक्त हैं, इसलिए भावकर्मों से भी मुक्त हैं। जो कर्म का कर्ता होता है वही उसका फलभोक्ता होता है। संसारी जीव ही कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता है, किन्तु मुक्त जीव न तो कर्म का कर्ता है, न ही भोक्ता है।^१

कर्मफलों को व्यक्तियों के जीवन में देखकर कर्मकर्ता का अनुमान

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में हिंसा के फल के सम्बन्ध में कहा है—पंगु, कोढ़ी, और अंगविकल आदि व्यक्तियों को देखकर यह समझो कि ये सब निर्दोष त्रस जीवों के हिंसारूप पाप कर्म के फल हैं, जिन्हें वे भोग रहे हैं। इसका आशय यह है कि फलभोक्ता को देखकर उसके कर्ता का अनुमान स्वतः हो जाता है। जो जीव कर्मफल भोग रहा है, वही उस कर्म का कर्ता है, यह सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार चाणक्य नीति में कहा है—“दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन और नाना दुःख-संकट आदि ये सब आत्मापराध रूपी वृक्ष के फल हैं।” कर्म किये बिना फल भोगने का सवाल ही नहीं उठता।

इसी दृष्टि से कर्मबद्ध संसारी आत्मा का लक्षण कर्म-ग्रन्थ के विवेचन में दिया गया है—जो विभिन्न प्रकार के कर्मों का कर्ता है, वही कर्मफल का भोक्ता है। वह जब तक संसार में रहता है तब तक कर्म संयुक्त रहता है, और तभी तक संसार में परिभ्रमण

१. कर्मव्याक सूत्र (प्रस्तावना) (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. २८-२९.

करता है। किन्तु कर्मविमुक्त होते ही परिनिर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। वही (संसारी) आत्मा का लक्षण है, अन्य नहीं।^१

कर्म के साथ कर्ता और फलभोक्ता परस्पर सम्बद्ध हैं

बौद्ध दर्शन का कथन है—कर्म से विपाक प्रवर्तित होता है और विपाक से कर्म उत्पन्न होता है। साथ ही वह कारणरूप परम्परा से आगे किसी कर्ता के तथा विपाक से आगे फलभोक्ता को नहीं देखता। “किन्तु कारण के होने पर ही कर्ता है और विपाक की प्रवृत्ति से फलभोक्ता है; ऐसा मानता है।”^२ जैन दार्शनिकों ने कहा—कर्म के कारण को मानना और उसके कर्ता तथा फलभोक्ता को प्रत्यक्ष (Direct) न मानना वदतो व्याघत है। वस्तुतः कर्ता, कर्म और कर्मविपाक तथा फलभोक्ता ये चारों परस्पर एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। कर्म हैं तो उनके कारण भी हैं, कर्ता भी हैं, कर्मफल भी हैं और फलभोक्ता भी है।

आत्मा और पुद्गल दोनों अपने-अपने गुणों के कर्ता हैं; किन्तु निमित्त रूप से परिणमनकर्ता हैं

यद्यपि आत्मा और पुद्गलकर्म एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं, तथापि न तो आत्मा पुद्गलकर्मों के गुणों का कर्ता है और न ही पुद्गलकर्म आत्मा के गुणों का कर्ता है; किन्तु दोनों परस्पर एक-दूसरे के निमित्त से परिणमन करते हैं। अतः आत्मा चेतन होने से जड़ कर्म पुद्गल का उपादान या साक्षात्कारण न होते हुए भी परम्परा प्राप्त परोक्षभाव से उसका कारण है। इसलिए व्यवहारदृष्टि से आत्मा जड़-कर्मपुद्गल का कर्ता माना जाता है।^३ तथा स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले सुख-दुःखादि का भी व्यवहार से भोक्ता कहा जाता है।

१. (क) पंगुकुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
नीरागत्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतः त्यजेत्॥ —योगशास्त्र, प्रकाश १
- (ख) दारिद्र्यः दुःख-रोगानि बन्धन-व्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्॥ —वाणक्यनीति
- (ग) यः कर्ताकर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्गा परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥
—कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी)

२. मञ्जुसमिकाय ३/१/३

३. जीव-परिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तद्देव जीवो वि परिणमदि॥

णधि कुब्बदि कम्मगुणे जीवो, कम्मं तद्देव जीवगुणे।

अण्णोण्ण निमित्तेण दु परिणामं जाण दोगहंपि॥

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।

पुग्गलकम्मकड्डाणं ण दु कत्ता सब्बभावाणां।

—समय-श्राभृत

कर्म का कर्ता होते हुए भी आत्मा कर्मरूप नहीं हो जाता

यद्यपि आत्मा कर्म का कर्ता और फलभोक्ता है, तथापि वह कर्मरूप नहीं हो जाता। इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—जैसे (सुनार आदि) शिल्पकार आभूषण आदि के निर्माण का कार्य करता है, तथा वह स्वयं आभूषणादिरूप नहीं हो जाता; उसी प्रकार यह जीव भी कर्म करता (बांधता) हुआ भी कर्मरूप नहीं हो जाता। अर्थात्—अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़ कर कर्मरूप-जड़रूप नहीं हो जाता। आशय यह है कि जिस प्रकार स्वर्णकार आभूषण के निर्माण में निमित्त कारण है। अतः वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता और निमित्त कारण भी बनता है। इसी प्रकार जीव (आत्मा) भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता और कर्मों के कर्तृत्व (बन्धन) में निमित्त रूप भी बन जाता है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं भोग्यत्व का व्यवहार उपयुक्त माना है। उपादान-उपादेयभाव यहाँ घटित नहीं होता।^१

आत्मा स्वयं ही कर्मकर्ता और स्वयं ही फलभोक्ता

इस दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता है और वही विकर्ता (कर्म-फलभोक्ता या कर्मक्षयकर्ता) है। चाणक्यनीति में कहा गया है—आत्मा स्वयं ही कर्म करता है और उस कर्म का फल भी स्वयमेव भोगता है। स्वयं ही कर्मानुसार संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं कर्म से मुक्त होता है। महाभारत में कहा गया है—यह तो सबका सामान्य अनुभव है कि कुम्भकार मिट्टी के पिण्ड से जो-जो बर्तन आदि बनाना चाहता है वही-वही बनाता है। इसी प्रकार मनुष्य स्वेच्छा से कृत कर्म का फल प्राप्त करता है। जिस प्रकार छाया और धूप निरन्तर एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रहते हैं। इसी प्रकार कर्ता और कर्मफल अपने द्वारा किये गए कर्मों से सम्बद्ध रहते हैं।^२

१. जह सिपिओ उ कम्म कुव्वइ, ण य सो उ तम्मओ होइ।

तह जीवो वि य कम्म कुव्वदि ण तम्मओ होइ॥

—समयसार ३४९

२. (क) अप्पा कत्ता तिक्त्ता य दुहाण य सुहाण य।

—उत्तराध्ययन २०/३७

(ख) स्वयं कर्मकरोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।

स्वयं परिभ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते।

—चाणक्यनीति

(ग) यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।

एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥

—दशस्मृति

यथा छायाऽऽतपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम्।

तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः॥

—महाभारत अनु. पर्व अ. १, श्लोक ७४

आत्मा ही कर्म का कर्ता और फलभोक्ता है

वस्तुतः कर्म का कर्ता और फलभोक्ता आत्मा स्वयं ही है। इसी आत्म-कर्तृत्ववाद का समर्थन जैनशास्त्रों में तथा महाभारत आदि वैदिक धर्मग्रन्थों में भी मिलता है। सूत्रकृतांग में भी कहा गया है—सभी प्राणी अपने कृतकर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। आत्मा स्वयं अपने द्वारा कृत कर्मों से बन्धन में पड़ता है। भगवतीसूत्र में भी स्पष्ट कहा है—“आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा-आलोचना करता है और अपने द्वारा ही कर्मों का संवरं (आम्रव-निरोध) करता है।”^{११}

महाभारत भीष्म पर्व में कहा गया है—“हे राजन्! आत्मा के द्वारा किये गये कर्म का फलभोग आत्मा के द्वारा ही किया जाता है, चाहे वह कर्म तुम्हारे द्वारा जिस किसी प्रकार से इहलोक में किया गया हो या परलोक में किया गया हो।” हरिवंशपुराण में भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है—“अपनी आत्मा द्वारा स्वयं जो भी शुभ या अशुभ कर्म किया गया हो, काल प्राप्त होने पर सभी देहधारियों के जीवन में वह कर्म (फल के रूप में) दिखाई देता है।” महाभारत वन पर्व में भी कहा गया है—“मनुष्य अपने द्वारा किये गये दोषों (अपराधों) के कारण जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से सतत घिरा हुआ, रहकर संसार में रचा-पचा रहता है। प्राणी उन-उन स्वकृत कर्मों के कारण परलोक में दुःखित होता है। और उस दुःख के प्रतिघात (नाश) के लिए पाप योनि को प्राप्त करता है।”^{१२}

१. (क) अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। —उत्तराध्ययन २०/३७
- (ख) “सन्वे सय कम्म कप्पिया।” —सूत्रकृतांग १/२/६/१८ गा.
- (ग) “जहा कडं कम्म, तहासि भारे।” —वही, १/५/१ गा. २६
- (घ) अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरइ।” —भगवतीसूत्र श. १, उ. ३
२. (क) “आत्मनैव कृतं कर्म, ह्यात्मनैवोपभुज्यते।
इह वा प्रेत्य वा राजस्त्वया प्राप्तं यथा तथा। —महाभारत भीष्म पर्व अ. ७७
- (ख) स्वयमात्मकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
प्राप्त काले तु तत्कर्म दृश्यते सर्वदिहिनाम्॥ —हरिवंशपुराण उग्रसेन अधि. २५
- (ग) जातिमृत्युजरा दुःखैः सततं समाभिद्रुतः। संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैरनः॥ ३३॥
जन्तुभिः कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः।
तद्दुःख-प्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमानुते॥३५॥ —महाभारत वनपर्व ३३, ३५

आत्मा स्वयं ही कर्ता, तथा कर्मों की फलोत्पादन शक्ति से स्वयं फलभोक्ता

अतः जैनकर्मविज्ञान का यह सिद्धान्त अकाट्य है कि आत्मा स्वयं ही शुभ या अशुभ कर्म करता है और उसका फल भी कर्म के प्रभाव से अर्थात् कर्मों की फलोत्पादन-शक्ति से स्वयं ही भोग लेता है। ईश्वर या अन्य किसी शक्ति का इसमें हस्तक्षेप नहीं है।

भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—प्रभु (परमात्मा) संसार (लोकगत जीवों) कर्मों—का न तो कर्ता है और न ही कर्मों का सृजन करता है। यानी—दूसरे जीव के लिए स्वयं कर्म नहीं करता। और न ही कर्मफल का संयोग कराता है। जगत् के जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वाभाविक रूप से (स्वयं कर्म में) प्रवृत्त होते हैं (और स्वयं ही उसका फल भोगते हैं)।^१

दुःख जीव के द्वारा प्रमाद के कारण किया गया है

जितने भी कर्म हैं, उन सबका फल सुख या दुःख रूप में आता है। शुभ कर्म का फल सुखरूप होता है और अशुभ कर्म का फल दुःखरूप। एक प्रकार से दुःख कर्म का पर्याय-वाचक बन गया है। इसी दृष्टि से स्थानांगसूत्र में एक प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है। भगवान् महावीर से पूछा गया है—“भगवन्! दुःख किसने किया है?” भगवान् ने कहा—“दुःख जीव ने ही अपने प्रमाद के कारण उत्पन्न किया है।” गौतमादि ने पूछा—“भंते! यह दुःख कैसे नष्ट होता है?” भगवान् ने कहा—“अप्रमाद से दुःखक्षय होता है।”^२

इस प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जितने भी दुःख रूप कर्म हैं, उन सबका कर्ता और भोक्ता तथा विकर्ता (क्षयकर्ता) आत्मा ही है, परमात्मा या और कोई न तो किसी के सुख-दुःख रूप कर्म का कर्ता है, न भोक्ता है।

सुख-दुःख का कर्ता और विकर्ता आत्मा ही है

उत्तराध्ययन सूत्र भी इस तथ्य का समर्थन करता है कि आत्मा ही (अपने लिए) सुख-दुःखों का कर्ता है, वही विकर्ता (भोक्ता या क्षयकर्ता) है।^३

जीव द्वारा कर्म करने से दुःख होता है, दुःख रूप फल भोगता है

स्थानांगसूत्र में फिर अन्यतीर्थिकों द्वारा इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है और भगवान् ने उसका समुचित समाधान दिया है—“भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते

१. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

—भगवद्गीता ५/१४

२. (प्र.) “से णं भंते! दुक्खे केण कडे? (उ.) जीवेण कडे पमाएण।

(प्र.) से णं भंते! दुक्खे कहं वेइज्जइ? (उ.) अप्पमाएणं।—स्थानांग स्या. ३, उ. २ सू. १६६

३. ‘अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।’

—उत्तरा. अ. २०

हैं, बताते हैं, और प्ररूपणा करते हैं कि श्रमण निर्ग्रन्थों के मत में कर्म किस प्रकार दुःखरूप होते हैं?" पूर्वोक्त चार भंगों में से वे यह नहीं पूछते कि जीव के द्वारा पूर्वकृत कर्म दुःखरूप होते हैं, या नहीं होते हैं? वे यह पूछते हैं कि जीव के द्वारा जो कर्म पूर्वकृत नहीं हैं, क्या वे दुःखरूप होते हैं? अर्थात् क्या अकृतकर्म प्राणियों को दुःख रूप फल प्रदान करते हैं? क्योंकि अन्यतीर्थिकों (अकृत कर्म को दुःख का कारण मानने वाले वादियों) का यह मत है कि जीव द्वारा कर्म किये बिना ही दुःख होता है। कर्मों का स्पर्श (बन्ध) किये बिना ही दुःख होता है। किये जाने वाले और किये हुए कर्मों के बिना ही दुःख होता है, तथा प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व कर्म किये बिना ही उसका फल वेदन करते-भोगते हैं। "क्या यह कथन सत्य है?"

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—“जो लोग ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं, मेरा कथन तथा प्रज्ञापन-प्ररूपण इस प्रकार है—(जीव द्वारा) कर्म करने से दुःख (रूप फल) होता है। कर्मों का स्पर्श करने से दुःख होता है, क्रियमाण और कृत कर्मों से दुःख होता है; तथा प्राण, भूत, जीव और सत्त्व कर्म करके उसका फल वेदन करते-भोगते हैं, ऐसे कहना चाहिए।”

दुःख का उत्पादक तथा फलभोक्ता : स्वयं जीव ही

भगवतीसूत्र में भी इसी प्रकार का प्रश्न उठाया गया है, कि दुःख कौन उत्पन्न करता है, कौन दुःख रूप फल भोगता है? वहाँ भी आत्मा को दुःख का कर्ता और भोक्ता बताया गया है।

कर्मबन्धन से बद्ध, कर्मबन्ध निष्पादयिता परिणामयिता ही कर्मभोक्ता है

प्रज्ञापना सूत्र के २३वें कर्मपद में कर्म के कर्तृत्व के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है—“जीवेण कञ्जस्स, जीवेण णिव्वत्तियस्स, जीवेण परिणामियस्स”। इसका भावार्थ है—कर्मबन्धन से बद्ध जीव के द्वारा कृत, जीव के द्वारा ज्ञानावरणीयादि के रूप में निष्पादित (व्यवस्थापित) तथा जीव के द्वारा परिणामित—

१. अण उत्थिया . . . एवं परुवेत्ति—कहण्ण समणाणं निग्गंथाणं किरिया कञ्जइ? तत्थ जस्स कडा कञ्जइ, नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा कडा नो कञ्जइ. नो तं पुच्छंति; तत्थ जा सा अकडा नो कञ्जइ, नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा अकडा कञ्जइ, तं पुच्छंति। से एवं वत्तव्वं सिया?” अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं अकञ्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति ति वत्तव्वं, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण एवमाइक्खामि . . . एवं परुवेत्ति—“किच्चं दुक्खं, फुस्सं दुक्खं, कञ्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति ति वत्तव्वं सिया॥

—स्यानांग . . . २/१६७ सू.

२. भगवतीसूत्र ६/१०/२५७

(ज्ञानप्रद्वेष, ज्ञान-निन्दव आदि विशिष्ट कारणों से उत्तरोत्तर रागादि तीव्र या मन्द परिणाम भी) कर्मबन्धन बद्ध जीव के होता है, कर्मबन्धनमुक्त जीव के नहीं। अतः कर्मबन्धन-बद्ध जीव ही कर्म का कर्ता है, निष्पन्नकर्ता है और परिणामनकर्ता है।^१

इस सम्बन्ध में नैयायिक वैशेषिकों द्वारा यह शंका प्रस्तुत की जाती है कि (सांसारिक) जीव अज्ञ है। उसे अपने सुख-दुःख का भान नहीं है। इसलिए वह कर्म करने और फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। ईश्वर या कोई अदृश्य शक्ति उससे जैसा चाहती है, वैसा कर्म कराती है, और फल भी वही भुगवाती है।^२ परन्तु जैन दर्शन इस मान्यता को युक्ति, सूक्ति और अनुभूति के विरुद्ध मानता है। इस सम्बन्ध में “कर्मवाद पर प्रहार और परिहार” नामक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। फिर भी यहाँ उसके सम्बन्ध में किंचित् विचार कर लेना आवश्यक है।

ईश्वर कर्मफल प्रदाता नहीं है : क्यों और कैसे?

ईश्वर-कर्तृत्ववादियों द्वारा यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि चोरी, डकैती, आदि अपराध करने वाला व्यक्ति स्वयं उस-उस अपराध का फल भोगना नहीं चाहता; न्यायाधीश या दण्डनायक दण्डित करके उसे उसके अपराध का फल भुगवाता है। वैसे ही जगत् के सभी जीवों को उनके अच्छे और बुरे कर्म का फल देने (भुगवाने) वाला भी कोई अन्य होना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ दार्शनिकों और धर्म-सम्प्रदायों ने ईश्वर को फलदाता के रूप में स्वीकार किया है। जबकि जैनकर्म-विज्ञान इस मन्तव्य को स्वीकार नहीं करता। जैनकर्म-विज्ञान का मन्तव्य है कि कर्म करने और उसका फल भोगने की शक्ति स्वयं जीव में निहित है। उसे वह शक्ति कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा (जीव) में अपना स्वयं का कर्तृत्व और स्वयं का ही भोक्तृत्व विद्यमान है।

ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किस-प्रयोजन से किया : एक अनुत्तरित प्रश्न

एक और प्रश्न है—ईश्वर के द्वारा सृष्टि के कर्तृत्व एवं जगत् के जीवों को अच्छे-बुरे फल-प्रदातृत्व के सम्बन्ध में। वह यह है कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण क्यों

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र खण्ड ३ पद २३ उ. १ का मूल पाठ सू. १६७९ तथा पदों के विशेषार्थ (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. १९
- (ख) जीवस्तु कर्मबन्धनबद्धो भगवतो वीरस्य (मते) कर्ता।
सन्तत्यनाद्यं च तदिष्ट कर्मात्मनः कर्तुः॥ —प्रज्ञापना पद २३ में उद्धृत
२. (क) अज्ञो जन्तुरमीशोऽयआत्मनः सुखदुःखयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं या श्वभ्रमेव वा॥
- (ख) अष्णाणी हु अनाथो अष्पा! तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सर्गं गिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि॥ —गोमटसार ८८०

और किसलिए किया ? वह जगत् के निर्माण, नियंत्रण और व्यवस्था के प्रपंच में क्यों पड़ता है ? वह क्यों अच्छा-बुरा कर्म करने वाले को अच्छा-बुरा फल प्रदान करता है ? इसके पीछे उसका क्या प्रयोजन है ?

ईश्वरकर्तृत्ववादी के समक्ष ये प्रयोजन सम्बन्धी जटिल प्रश्न जब आते हैं, तब उनका यथार्थ सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। यदि वे यह कहें कि करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर ऐसा करता है; अतः करुणा उसका प्रयोजन थी। अर्थात् ईश्वर के अन्त में करुणा जागी और उसने सृष्टि का सृजन किया। तब प्रतिप्रश्न होता है—यह (करुणात्मक) प्रयोजन कब पैदा हुआ ? यदि कहें कि जिस दिन ईश्वर का जन्म हुआ, उसी दिन करुणा नामक प्रयोजन पैदा हुआ, तब इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर और जगत् का जन्म एक साथ हुआ। यदि ईश्वर पहले से ही था, और प्रयोजन बाद में कभी पैदा हुआ, तब प्रश्न होगा—प्रयोजन बाद में क्यों पैदा हुआ, पहले क्यों नहीं ? इन प्रश्नों का सिद्धान्त और युक्ति से संगत कोई समाधान नहीं मिलता।

ईश्वर द्वारा करुणा से प्रेरित होकर सृष्टिकर्तृत्व भी प्रत्यक्ष असिद्ध

ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व करुणात्मक प्रयोजन से हुआ है, यह भी तर्कसंगत नहीं है। वर्तमान सृष्टि में जहाँ इतनी हत्या, दंगा, आतंक, धोखेबाजी, छल-फरेब आदि क्रूरताएं प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही हैं वहाँ ईश्वर की करुणा की बात समझ में नहीं आती। दूसरे भी जितने प्रयोजन सृष्टिकर्तृत्व तथा जगत् के जीवों को कर्मफल प्रदातृत्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जाते हैं, उनकी भी कोई युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जाती। इन समग्र दार्शनिक दृष्टिबिन्दुओं के आधार से जैनदर्शन ने ईश्वर के द्वारा सृष्टिकर्तृत्व और कर्मफल-प्रदातृत्व के तथ्य से इन्कार कर दिया।^१

उपनिषद् में ईश्वर के जगत्-कर्तृत्व के पीछे यह तर्क प्रस्तुत किया गया है—
“एकोऽहं बहुस्याम्”—मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ,^२ इस प्रकार ईश्वर ने अपने एकाकीपन को दूर करने के लिए अनेकसंख्यात्मक जगत् का निर्माण किया। यह कल्पना भी ईश्वर जैसे सर्वशक्तिमान् और समर्थ के लिए युक्तिसंगत और उचित नहीं प्रतीत होती।

यह हुआ दार्शनिक दृष्टिकोण से ईश्वरकर्तृत्ववाद एवं ईश्वर द्वारा कर्मफल प्रदातृत्ववाद का निराकरण!

१. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण , पृ. १०५-१०६.

२. एकोऽहं बहुस्याम्।

—उपनिषद्

धार्मिक दृष्टिकोण से भी ईश्वरकर्तृत्व एवं फलदातृत्व असिद्ध है

धार्मिक दृष्टिकोण से भी ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व एवं कर्मफलप्रदातृत्व सिद्ध नहीं होता। जब सभी कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है, वही करने-न करने तथा अन्यथा करने में समर्थ है, जीव को किसी भी प्रकार की करने-न करने तथा अन्यथा करने की स्वतंत्रता नहीं है। इसका मतलब है जीव अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता। स्पष्ट शब्दों में कहें तो जीव ईश्वर के हाथों की कठपुतली है। मनुष्य या अन्य प्राणी भी आज जैसा है, वैसा ही जीवन-पर्यन्त रहे, उसमें रहोबदल का उसे कोई अधिकार नहीं है। यह मान्यता धार्मिक सिद्धान्त के विपरीत है।

धर्म (संवर-निर्जरायम अथवा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयमय धर्म) की साधना व्यक्ति के जीवन परिवर्तन के लिए, जीवन के अभ्युदय के लिए एवं कर्मक्षय करके आत्मिक विकास के लिए है। यदि किसी भी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार मनुष्य या किसी प्राणी को नहीं है तो अहिंसा आदि की साधना और बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जैनदर्शन ने प्रत्येक प्राणी को स्वयं कर्तृत्व का, स्वयं परिवर्तन का अधिकार दिया है। अगर ईश्वर कर्तृत्ववाद या ईश्वर द्वारा फलदातृत्ववाद में परिवर्तन और प्रगति का अधिकार किसी प्राणी को नहीं है तो व्यक्ति की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य एवं सम्यक्तप की, कर्म-मोक्ष की, या कृत्स्नकर्म-क्षय की (मोक्षमार्ग की) साधना निरर्थक हो जाती है। फिर तो यही माना जाएगा कि जिसका जैसा स्वभाव है, जितना आत्म विकास है, जितना आत्मनियमन है उतना ही और वैसा ही रहेगा, उसमें परिवर्तन को कोई अवकाश या अधिकार व्यक्ति को नहीं है।

जैनदर्शन जीव के द्वारा स्वयं कर्तृत्व को, स्वयं आलोद्धार को तथा स्वयं परिवर्तन और प्रगति को स्वीकार करता है। यही कारण है कि जैनकर्मविज्ञान व्यक्ति को क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा (घृणा), मोह, मद, काम आदि मोहनीय कर्म के विकारों पर विजय प्राप्त करने की स्वतंत्रता देता है। इसी आधार पर प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पहुँचने की तथा अपने में परिवर्तन की स्वतंत्रता जैनदर्शन देता है। ध्यान, स्वाध्याय, तप, आदि की तथा रत्नत्रय की साधना पद्धति का विकास परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है। ईश्वरकर्तृत्ववाद व्यक्ति के परिवर्तन और विकास में बाधक है।^१ इसलिए धार्मिक दृष्टि से भी ईश्वरकर्तृत्ववाद मनुष्य की प्रगति और परिवर्तनशीलता में बाधक है।

जब धार्मिक दृष्टि से आत्मा को परिवर्तन और अभ्युदय का अधिकार नहीं है, तो ऐसे कर्ता-धर्ता ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के लिए हानिकार, संकटकारक और

१. जैन दर्शन और अनेकान्त से (भावांशग्रहण) पृ. १०६-१०८

खतरनाक है। व्यक्ति के द्वारा प्रगति और परिवर्तन के अधिकार का अस्वीकार मनुष्य को स्थिति-स्थापक, गतानुगतिक, रूढ़िवादी और निराशावादी बना देता है। जब प्रगति और परिवर्तन दोनों मानव के हाथ में नहीं हैं, तथाकथित ईश्वर के हाथ में हैं तो मनुष्य अकिंचित्कर और ईश्वरमुखापेक्षी बन जाता है।

फलतः अपनी-अपनी धर्म-सम्प्रदाय-परम्परा के तथाकथित ईश्वर की खुशामद, चापलूसी एवं अन्धभक्ति करके पाप-माफी का फतवा ले लेते हैं। परन्तु इस प्रकार से किसी भी जीव को तब तक पाप-माफी नहीं मिल सकती, जब तक वह अपने पापों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि द्वारा शुद्धि न करले। अर्थात् अपने जीवन में जब तक व्यक्ति स्वयं परिवर्तन एवं अभ्युदय की साधना न करले, तब तक पापकर्मों से या कर्मों से मुक्ति नहीं मिल सकती।

नैतिक दृष्टिकोण से भी ईश्वरकर्तृत्ववाद असंगत है

ईश्वरकर्तृत्ववाद पर नैतिक दृष्टि से विचार करने पर भी वह असंगत लगता है। परिवर्तन और अभ्युदय व्यक्ति के स्वयं संकल्प पर आधारित है। यदि व्यक्ति को स्वयं संकल्प करने की स्वतंत्रता नहीं है तो वह अपने कृतकर्म के प्रति उत्तरदायी कैसे हो सकता है? क्योंकि यदि व्यक्ति का कृत ईश्वराधीन है तो उत्तरदायी ईश्वर है, न कि व्यक्ति। वह तो यही कहेगा कि ईश्वर ने अच्छा या बुरा जैसा कराया, उसने कर लिया। इस दृष्टि से वह अपने द्वारा ईश्वराधीन या ईश्वरप्रेरित होकर किये गये अच्छे या बुरे कर्म का उत्तरदायी क्यों बनेगा? तथाकथित ईश्वर ने जब जैसा और जिस प्रकार से कराया, उसने तब वैसा, और उस प्रकार से कर लिया। इसमें जिम्मेवार कराने वाला है, करने वाला नहीं।

फिर तो यंत्रमानववत् मानव भी कृतकर्म के प्रति उत्तरदायी नहीं रहेगा

एक यंत्र है, या लोहनिर्मित मानव (रोबोट) है, वह थोड़ी दूर चलता है और गोली चला देता है, जिससे निर्दोष व्यक्ति मारा जाता है। प्रश्न होता है—रोबोट जिम्मेवार है, उस अपराध के लिए या रोबोट को चलाने वाला है? रोबोट तो बिल्कुल उत्तरदायी नहीं है, उत्तरदायी है यंत्रमानव (रोबोट) को चलाने वाला; क्योंकि यंत्रमानव उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार मानव उसे चलाता है। यदि मनुष्य तथाकथित ईश्वर (कर्तृत्ववादी) के समक्ष वैसा ही यंत्र-मानव है तो वह अपने द्वारा कृतकर्म के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। नैतिक दृष्टि से यह एक जटिल पहेली है, जिसे सुलझाना ईश्वरकर्तृत्ववादियों के वश की बात नहीं है। जब सारी बाजी ईश्वररूप बाजीगर के हाथ में सौंप दी जाती है तब जीव द्वारा कृत अच्छे या बुरे कर्म का फलभोगकर्ता भी वही (ईश्वर) होना चाहिए।

इसीलिए जैनकर्मविज्ञान ने ईश्वर के द्वारा कर्तृत्व अथवा फल-प्रदातृत्व के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करते हुए प्रत्येक पक्ष का खण्डन किया और यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर किसी का उत्थान या पतन करने वाला नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपना उत्थान और पतन करता है। जब आत्मा स्वभाव दशा में रमण करता है, तब अपना उत्थान करता है, जब आत्मा विभावदशा में रमण करता है, तब उसका पतन होता है। विभावदशा में रमण करने वाली आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है, तथा स्वभावदशा में रमण करने वाली आत्मा कामधेनु और नन्दनवन है। शुभमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और अशुभ-विषम मार्ग पर चलने वाला आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है।”

गीता में ईश्वरकर्तृत्ववाद के बदले आत्मकर्तृत्ववाद का समर्थन

भगवद्गीता में अर्जुन के द्वारा पूछे गये एक प्रश्न का उत्तर भी ईश्वरकर्तृत्ववाद के विरुद्ध है। अर्जुन ने जिज्ञासावश पूछा—“मनुष्य जान-बूझ कर न चाहते हुए भी किस की प्रेरणा से पाप कर्म करता है? कौन उसे जबर्दस्ती पाप कर्म में प्रवृत्त (नियुक्त) कर देता है?” इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—“मनुष्य के अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर से पड़े हुए काम (कामना, वासना, राग, मोह आदि) एवं क्रोध (अज्ञेयता, घृणा, द्वेषादि की तीव्रता); जो कि राजोगुण से उत्पन्न होते हैं। वे महापापकर्म (महामोहनीय कर्म) जीवों को चिरकाल तक अपने चंगुल में फँसाए रखते हैं। इन्हीं को तू शत्रु समझ।”

पापकर्म में बलात् नियुक्त या प्रवृत्त करने वाला अपना भावकर्म ही

कुरुक्षेत्र के मैदान में कर्मयोगी श्री कृष्ण ने पापकर्म में बलात् धकेलने वाला ईश्वर या किसी अदृश्य शक्ति को नहीं कहा है। किन्तु श्री कृष्ण का स्पष्ट और सीधा उत्तर है कि जीव के अन्तर् में स्थित महापाप कर्म कराने वाले महाशन (अतीव व्यापक) क्राम और क्रोध, जैनदर्शन की भाषा में कहें तो राग और द्वेष (अथवा क्रोधादि

1. (क) उद्धरेवात्मनाऽऽत्मानमात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥” —गीता
- (ख) अप्या नई वेयरणी, अप्या मे कूडसामली।
अप्या कामदुहा धेणू, अप्या मे नंदणं वणं॥ —उत्तराध्यायन २०/३६
- (ग) “अप्यामित्तममित्त च दुष्पट्टिय सुप्पट्टिओ” —वही, २०/३७
२. (क) अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः?”
काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः। महाशनो महापाप्या विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

—भगवद्गीता अ. ३, श्लोक ३७-३८

कषाय-नोकषाय) ही पाप कर्म में प्रवृत्त करते हैं। कर्मविज्ञान की भाषा में कहें तो जीव का पूर्वबद्धसंस्कार रूप भावकर्म ही उसे पापकर्म में प्रवृत्त करता है। यहाँ भी प्रकारान्तरे ईश्वरकर्तृत्व के बदले आत्मकर्तृत्व का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है।

महाभारत में दुर्योधन से पूछा जाता है कि “तुम्हारी राज-सभा में अनेक धर्मशास्त्री, समाज-शास्त्री, नीतिशास्त्रवेत्ता, इतिहासज्ञ एवं पौराणिक विद्वान् हैं, वे तुम्हें उन-उन शास्त्रों में विहित धर्म, नीति और कर्तव्य की प्रेरणा देने वाले सूत्रवचन सुनाते हैं, तुम्हें नीति और धर्म का, कर्तव्य और दायित्व का ज्ञान-भान भी है, फिर श्री क्या कारण है, तुम धर्म और नीति के उन नियमों पर चल नहीं पाते?”

इसके उत्तर में दुर्योधन कहता है—

“धर्म क्या है? यह मैं भलीभांति जानता हूँ, किन्तु धर्म में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु अधर्माचरण से निवृत्त (विरत) नहीं हो पाता। मेरे हृदय में कोई न कोई दुर्देव (आसुरी भाव या मोहादि दुर्भाव) बैठा हुआ है, वह मुझे जिस-जिस कार्य (सुकृत्य या दुष्कृत्य) में नियुक्त करता है, अर्थात् वह मुझे जैसा-जैसा सुझाता है, वैसा-वैसा मैं करता हूँ।”

यह दुष्टभाव या दुर्देव अथवा पूर्वोक्त काम-क्रोधादि दुर्भाव और कोई नहीं, आत्मा की अशुद्ध दशा में होने वाले रागद्वेष, मोह या कषायादि विकार हैं, वैभाविक भाव हैं, जिनके कारण वह शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। इसीलिए कहा गया कि अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपने रागादि वैभाविक भावों—भावकर्मों का कर्ता है।

भोगों के त्याग करने की असमर्थता : ब्रह्मदत्त चक्री के द्वारा

इसी प्रकार चित्तमुनि ने जब सम्भूति के जीव को भोगमार्ग (प्रेयमार्ग) छोड़ कर त्याग (श्रेय) मार्ग की ओर मुड़ने का कहा तो उसने उत्तर में यही कहा—मैं यह सब जानता हुआ भी दलदल में फँसे हुए हाथी की तरह (पूर्वनिदानकृतकर्मादयवश) कामभोगों में फँस कर उनके अधीन निष्क्रिय हो गया हूँ। त्यागमार्ग के शुभ परिणामों को देखता हुआ भी उस ओर एक कदम भी नहीं बढ़ा सकता। आप जिस प्रकार मुझे सांसारिक पदार्थों की अनित्यता और अशरण्याता के विषय में उपदेश दे रहे हैं, उसे मैं भी समझ रहा हूँ कि ये भोग असंगकारक (आसक्ति में बांधने वाले) होते हैं, किन्तु हम जैसे

१. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

—महाभारत

लोगों के लिए तो ये दुर्जेय हैं।' इससे स्पष्ट है कि कर्म का कर्ता जीव स्वयं ही है, ईश्वर की प्रेरणा से कर्ता नहीं।

प्रत्येक आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है

जैनकर्म-विज्ञान ने कर्म के कर्तृत्व पर स्वतंत्ररूप से चिन्तन किया और प्रथम सिद्धान्तसूत्र दिया—'प्रत्येक आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है। पंचास्तिकाय में कहा गया है—“सभी आत्मा प्रभु और स्वयम्भू हैं, वे किसी के वशीभूत नहीं हैं।” प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वामी स्वयं है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो—समस्त प्राणी अपने अच्छे-बुरे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं। जीव चाहे तो शुभकर्मपूर्वक अपना पूर्ण विकास करके ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर सकता है, और चाहे तो दुष्कर्म करके स्वयं अभव्य, पापी या अनाचारी बना रह सकता है।

यदि व्यक्ति का अपने कृत कर्म का संकल्प स्वतंत्र नहीं है, पराधीन या ईश्वराधीन है, तो वह अपने कृतकर्मों के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। जैनदर्शन के अनुसार जीव संकल्प करने में स्वतंत्र है, इसलिए वह कृतकर्म के प्रति स्वयं जिम्मेदार है। वह शुभ या अशुभ कर्म करने में स्वतंत्र है, इसलिए उसे शुभकर्म का शुभ और अशुभ कर्म का अशुभ फल मिलता है। पंचास्तिकाय टीका में कहा गया है—“आत्मा (अशुद्ध) निश्चयनय की अपेक्षा से भावकर्मों का और व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्यकर्म, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने में स्वयं ईश (समर्थ) होने से 'प्रभु' है। आत्मा की प्रभुता—समर्थता यह है कि वह शुभ प्रवृत्ति के द्वारा ऐश्वर्यशाली बने, शुभ पदार्थों का उपभोग करे, अनन्त सुख का अनुभव करे, अथवा दुष्प्रवृत्ति करते हुए दीन-दुःखी बनकर अनन्त दुःखों को भोगे तथा जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहे, यह उसकी स्वतंत्रता है। इस दृष्टि से शुभ-अशुभकर्म का उत्तरदायी स्वयं (व्यक्ति) है। अतः दार्शनिक दृष्टि से ईश्वरकर्तृत्व की धारणा सम्यक् नहीं है।”

नैतिक दृष्टि से आत्मा ही कृत का नैतिक जिम्मेदार है

नैतिक दृष्टिकोण से भी ईश्वरकर्तृत्ववाद यथार्थ सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कृत का नैतिक जिम्मेदार व्यक्ति स्वयं है। वह अपने उत्तरदायित्व से छूट नहीं सकता। कोई भी

१. देखें उत्तराध्ययन सूत्र अ. १३ गा. २७ से ३० तक का विवेचन (जैनगम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृ. २१७, २१८, २१९

२. (क) पंचास्तिकाय २७

(ख) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. १२३

(ग) पंचास्तिकाय-तत्त्वदीपिका २७

अच्छ-बुरा कर्म करता है, तो उसे यह उत्तरदायित्व लेना होता है कि वह स्वयं उसके लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है।”

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा स्वयं विकास करने में प्रभु है

धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी ईश्वरकर्तृत्ववाद का सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मिक विकास, आन्तरिक परिवर्तन एवं अभ्युदय का अधिकार है। छोटे-से-छोटे प्राणी को भी ये अधिकार प्राप्त है। एक इन्द्रिय वाला प्राणी भी विकास करते-करते पंचेन्द्रिय तक, और पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य तक पहुँच जाता है। मनुष्य बनकर वह आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आरूढ़ होकर क्रमशः क्षीणपोह नामक बारहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है तथा तत्पश्चात् वीतराग, पूर्णज्ञानी, एवं सिद्ध बुद्ध परमात्मा बन सकता है।^१

जीव की प्रभुत्वशक्ति का विश्लेषण करते हुए पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति में कहा गया है—कर्म संयुक्त जीव अनादिकाल से भावकर्म एवं द्रव्यकर्म के उदय से शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता बनता है तथा सान्त या अनन्त चतुर्गतिक संसार में मोह से आवृद्धित होकर भ्रमण करता रहता है। इसके विपरीत कर्ममुक्त होने की अपेक्षा से जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग पर चल कर जीव समस्त कर्मों को उपशान्त या क्षीण करके ज्ञानादिरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है—आत्मा प्रभु है।^२

जैनदर्शन द्वारा आत्मकर्तृत्ववाद ही अभीष्ट है, परमात्मकर्तृत्ववाद नहीं

जैनदर्शन ने आत्मा के इस विश्लेषण द्वारा आत्मकर्तृत्ववाद की परिपुष्टि की है, जिससे ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन हो जाता है कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभाशुभ कर्म करता है। ईश्वर ही उसे बन्धन में बाँधता और मुक्त करता है।

तीनों कार्यों में ईश्वर की आवश्यकता नहीं

जैनदर्शन आत्मकर्तृत्ववादी दर्शन है। उसे ईश्वरकर्तृत्ववाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है। ईश्वर कर्तृत्ववाद के साथ तीन कार्यों की कल्पना की गई है—(१) वह सृष्टि का कर्ता हो, (२) सृष्टि का नियन्ता हो, तथा (३) अच्छे-बुरे कर्म का फल भुगवाने वाला हो। जैनदर्शन ने इन तीनों कार्यों के लिए ईश्वर की आवश्यकता महसूस नहीं की।

सृष्टि का स्वयं उत्पाद-व्यय के रूप में परिणमन होता रहता है

जैनदर्शन जगत् को प्रवाह रूप से अनादि मानता है। तथा वह (जगत्) किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अकृत्रिम है। जीव और पुद्गल के संयोग से प्रत्येक पदार्थ में

१. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. १०७-१०८

२. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, टीका या. ६९-७०

परिणमन—वैभाविक परिवर्तन होता है। यही सृष्टि है, जो जीव और पुद्गल के द्वारा निर्मित होती रहती है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का उत्पत्ति और व्यय के रूप में परिणमन होता रहता है, पदार्थ अपने आप में नित्य बना रहता है, उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि जीव और पुद्गल के अतिरिक्त सृष्टि-कर्तृत्व के लिए तीसरी सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

सृष्टि का नियन्ता भी ईश्वर आदि कोई नहीं

जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि का नियन्ता भी कोई नहीं है। अगर कोई सर्वशक्तिमान नियन्ता होता तो सृष्टि इस प्रकार की त्रुटिपूर्ण, दोषपूर्ण तथा अनेक अव्यवस्थाओं से पूर्ण न होती। यदि सृष्टिकर्ता तथाकथित ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है तो वह समग्र सृष्टि का नियमन अकेला नहीं कर सकता। अतः नियन्ता की बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती।

सृष्टि का नियमन सर्वभौमिक नियमों द्वारा

जैन दर्शन सृष्टि का नियमन नियम-सार्वभौम नियम के द्वारा मानता है, नियन्ता के द्वारा नहीं। सार्वभौम नियम अकृत्रिम हैं, त्रैकालिक हैं, जीव और पुद्गल के 'स्वयंभू' नियम हैं। वे किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं।

किसी जीव को देवगति पाना है या मोक्ष पाना है तो वह उस-उस नियम के अनुसार जाएगा। यह सारी प्राकृतिक एवं स्वयंकृत व्यवस्था है; बाहर से निर्मित या आरोपित नहीं है। इसलिए नियन्ता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

ईश्वर को नियन्ता मानने पर दोषापत्तियाँ

जहाँ ईश्वर को नियन्ता माना जाएगा तो वहाँ सब कुछ ईश्वर की मर्जी पर छोड़ दिया गया। न तो वहाँ कर्मवाद की आवश्यकता पड़ी और न पुरुषार्थ की। ईश्वर के द्वारा सम्यक् व्यवस्था नहीं बैठी तो कर्मवाद को बीच में लाना पड़ा। ईश्वर किसी को अच्छा और बुरा फल क्यों देता है? यह प्रश्न जब ईश्वरकर्तृत्ववादियों के समक्ष आया तो उन्होंने कहा—“ईश्वर प्राणी के अच्छे-बुरे कर्म के अनुसार अच्छा-बुरा फल देता है।” तात्पर्य यह है कि कर्मवाद के बिना व्यवस्था सम्यक् नहीं हो सकी, अन्ततोगत्वा सब कुछ कर्मवाद से ही होना है, तब ईश्वर को बिचोलिया बनाने की क्या आवश्यकता है? यह एक प्रकार से प्रक्रिय-गौरव है जिसे सहन नहीं किया जाना चाहिए।¹

अतः ईश्वर न तो सृष्टि का कर्ता है, न ही जीवों के कर्मों का प्रेरक या नियन्ता है। स्वयं आत्मा ही कर्म का कर्ता है, वही भोक्ता है तथा कर्म ही स्वयं नियन्ता है।

१. (क) जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. १०४-१०५, ११२

(ख) प्रक्रियागौरवं यत्र, तं पक्षं न सहामहे।
प्रक्रियालाघवं यत्र, तं पक्षं रोचयामहे॥

कर्मा का फलदाता कौन ?

जीव को कर्मों का फल ईश्वर देता है : वैदिक आदि धर्मों का मन्तव्य

ईश्वर को जगत् का कर्ता-धर्ता-संहर्ता मानने वाले धर्मों और दर्शनों का यह मन्तव्य है कि जीव कर्म करने में तो स्वतंत्र है, किन्तु उसका फल भोगने में परतंत्र है। अर्थात्—जीव के द्वारा कृत कर्मों का फल उसे भुगवाने वाला ईश्वर है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, जीव को अपने पिछले और इस जन्म में पहले किये हुए शुभ या अशुभ का स्वयं को ज्ञान नहीं होता। इस कारण संसारी जीव अल्पज्ञ होने के कारण स्वयं ही अपने पिछले जन्मों के और इस जन्म के पूर्व कृत कर्मों का हिसाब लगाकर उसका यथायोग्य शुभाशुभ सुफल अथवा दुष्फल या पुरस्कार अथवा दण्ड स्वयं ले ले, यह संभव नहीं है।

संसार में सभी प्राणी अच्छे ही कर्म करते हों, ऐसा नहीं है। अधिकांश जीव बुरे कर्म करते हैं। परन्तु कर्म के कर्ता जीव का यह प्रकृतिसिद्ध स्वभाव रहा है कि वह अपने अशुभ कर्म का फल पाना नहीं चाहता; कर्मजन्य प्रकोप से वह सदैव दूरतिदूर भागना चाहता है। दुःख, क्लेश एवं विपरीत परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं होती, ऐसी स्थिति में विपरीत आचरण एवं दुष्कर्म करने वाले जीवों को स्वकृत दुष्कर्म का फल कैसे मिलेगा ? कौन देगा ? अतएव अपने दुष्कर्म का और शुभकर्म करने वाले जीवों को उनके सत्कर्म का फल भुगवाने वाला कोई न कोई तटस्थ एवं सर्वज्ञ पुरुष चाहिए। वह निष्पक्ष पुरुष ईश्वर ही है, जिसे अन्य धर्म वाले गॉड, खुदा, अल्लाह, ईश, अकाल और परमात्मा आदि कहते हैं।

वैदिक संस्कृति के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में कहा गया है—“यह (सांसारिक) जीव अज्ञ है, अपने सुख और दुःख का, दूसरे शब्दों में अपने कर्म के अच्छे और बुरे फल का भान करने में, अर्थात्—अतीत और वर्तमान में कृत पूर्वकर्मों को जानने में, वह असमर्थ है। इसलिए वह कर्म करने में भले ही स्वतंत्र हो, कर्मफल भोगने में स्वतंत्र और समर्थ नहीं है। ईश्वर या कोई अदृश्य शक्ति उसे जैसा चाहती है, वैसा फल भुगवाती है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग या नरक में जाता है।”

सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि की बागडोर ईश्वर के हाथों में

निष्कर्ष यह है कि वैदिक संस्कृति की छाया में पलने वाले कतिपय भक्तिमार्गी ऐसे भी आए, जिन्होंने अपने सुख-दुःख की बागडोर ईश्वर के हाथ में सौंप दी। उसी के हाथ में तारने-डुबोने या मारने-जिलाने की सत्ता सौंप दी। उनके अन्धविश्वास और आत्मिक सामर्थ्यहीनता के अनुसार यह माना जाने लगा कि न अपना सुख अपने हाथ में है और न ही अपना दुःख अपने हाथ में है। ईश्वर चाहे तो किसी को सुखी बना सकता है और वह चाहे तो दुःखी कर सकता है। उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी को स्वर्ग में भेज दे, अथवा जबरन नरक में धकेल दे।^१

वैदिक मान्यता : गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी कार्य-कलाप ईश्वर प्रेरित

वैदिक विद्वानों की यह मान्यता है कि माता के गर्भ में आने से लेकर जीव के जन्म, शैशव, यौवन, प्रौढ़त्व एवं वृद्धत्व तथा मृत्यु-पर्यन्त शरीर का पालन, पोषण, संवर्द्धन, संरक्षण, विकास या हास बही (ईश्वर ही) करता है। वही जीव को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाता है। उस-उस जीव के पूर्वकृत कर्मों के फलानुसार विविध ऐश्वर्य-सामग्री जुटाना, भोजन-वस्त्र सम्पन्न या विपन्न करना, ज्ञान का विकास या हास करना, भावना में विविधता उत्पन्न करना तथा सुख-दुःख की नाना घटनाओं और कार्यों का सम्पादन करना उसी ईश्वर के हाथ में है।^२

कर्म जीव के हाथ में : फल ईश्वराधीन

तात्पर्य यह है कि वैदिक मान्यतानुसार कर्म भले ही जीव करले, परन्तु उसका फल देने वाली दूसरी विशिष्ट चेतन-शक्ति है, जिसका नाम ईश्वर है। वह सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान् है, दयालु है और न्यायी है। जीवों के शुभ या अशुभ कर्मों के फल का फैसला उसी के हाथ में है। वह चाहे तो फल दे देता है और न चाहे तो नहीं भी देता। शुभ का अशुभ और अशुभ का शुभ फल देना भी उसकी न्यायकारिता की क्रांतिगत है। सब कुछ उसकी इच्छा पर निर्भर है। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। इसीलिए उसके लिए कहा जाता है—

१. (क) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयो।

ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वध्रमेव वा ॥

—महाभारत

(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेशमुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. ५०-५१

(ग) तुलना करें—“अण्णाणी हु अनाथो अया, तस्स य सुहं च दुक्खं च।

सग्गं गिरयं गमणं, सव्वं ईसरकयं होदि ॥” —गोम्मटसार (कर्मकांड) गा. ८८०

२. कर्म-मीमांसा (स्व. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि) से भावांश ग्रहण पृ. ३९

“कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा समर्थः ईश्वरः।”

ईश्वर करने, न करने अथवा अन्यथा करने में समर्थ है। वही अकेला सर्वशक्तिसम्पन्न एवं सर्वतंत्र-स्वतंत्र है।^१

भगवद्गीता में भी इसी आशय का एक श्लोक अंकित है। जिसका भावार्थ है—
“मेरे द्वारा ही विहित (निश्चित किया हुआ) और इच्छित फलों को मनुष्य पाता है।”^२

इस प्रकार कर्मों का फल ईश्वराधीन होने से फल के लिए उसे ईश्वरेच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है।

वैदिक संस्कृति के अनुगामियों का अथन है कि कर्म तो जीव करता है, परन्तु कर्मफल का नियन्ता-प्रदाता ईश्वर है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

“शुभ अरु अशुभ कर्म-अनुहारी।

ईस देई फल हृदय विचारी ॥”^३

अर्थात् जीव के शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर हृदय में विचार कर फल देता है।

इस विषय में न्यायदर्शन के आचार्यों का तर्क यह है कि “बहुधा पुरुषकृत (सांसारिक जीव के द्वारा किये हुए कर्म का) तथारूप फल नहीं दिखाई देता।” जैसे—किसी किसान ने खेत में गेहूँ का बीज बोया, किन्तु वर्षा न होने से, अतिवृष्टि होने से, अथवा टिड्डीदल के द्वारा फसल को नष्ट कर देने से, अथवा अन्य किसी कारण से उसे फसल नहीं मिली, उसका कृषिकर्म (परिश्रम) निष्फल हो गया किन्तु उसके गाँव के ही दूसरे कृषक को अपने परिश्रम (कृषिकर्म) का पूरा लाभ (फल) मिला। “इसलिए कर्म के फल का कारण ईश्वर ही हो सकता है, पुरुष (संसारी जीव) नहीं।”^४

ईश्वर द्वारा कर्मफलप्रदान में चतुर्थ कारण:

ईश्वर को कर्मफलदाता मानने के पूर्वोक्त तीन कारणों के अतिरिक्त चौथा कारण यह माना जाता है कि कर्म अपने आप में जड़ हैं। उनमें किसी को अच्छा या बुरा फल देने का ज्ञान नहीं है। इसलिए जीव को फल देने वाली ईश्वर नाम की विशिष्ट चैतन्य शक्ति है।

१. कर्मवाद : एक अध्ययन से भावांश ग्रहण

२. लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥

-भगवद्गीता ७/२२

३. तुलसीकृत रामायण

४. “ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माऽफलस्य दर्शनात्॥”

-न्यायदर्शन सू. ४/१

ईश्वर ही सबके भाग्य का निर्माता, त्राता एवं विधाता है

इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववादी जितने भी दर्शन, धर्म-सम्प्रदाय, मत और पंथ हैं; वे सब ईश्वर-परमपिता परमात्मा को जीवों का भाग्य निर्माता-भाग्य-विधाता मानते हैं। उनकी मान्यता है कि विश्व में जितने भी चर-अचर, स्थावर-जंगम (त्रस) छोटे-बड़े जीव हैं, सबके भाग्य (शुभाशुभ कर्म) महल का निर्माता, त्राता, और विधाता ईश्वर है। भाग्य एक प्रकार से पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म का फल है। फलितार्थ यह हुआ कि जीवों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का फलदाता ईश्वर है।^१

न्यायाधीश की तरह ईश्वर सबके कर्मों का न्याय करता है

इसे वे एक दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं। जैसे-लोकव्यवहार में यह देखा जाता है कि कोई आदमी किसी की हत्या करता है, या चोरी, डकैती, बलात्कार आदि दुष्कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाला दण्ड वह स्वयं नहीं भोगता। अर्थात्-न तो वह दुष्कर्म उसे तत्काल दण्ड देता है, और न ही वह स्वयं उक्त दुष्कर्म का दण्ड ग्रहण करता है। उक्त दुष्कर्म पर न्यायालय में अभियोग (केस) चलाया जाता है। न्यायाधीश उसे उस दुष्कर्म की सजा सुनाता है और उक्त दुष्कर्म का फल (दण्ड) भुगवाने के लिए अमुक अधिकारी आदि को आदेश देता है। इसी प्रकार ईश्वर समग्र सृष्टि का कर्ता-धर्ता एवं संचालक है। सृष्टि में जो-जो प्राणी जैसा-जैसा कर्म करता है, उसे जगत् के जीवों के कर्मफल का नियंता ईश्वर न्यायाधीश की तरह यथोचित फैसला सुनाता है और उस-उस जीव को तदनुसार कर्मफल भुगवाता है।

जैनकर्मविज्ञान ईश्वर को फलदाता, भाग्य-विधाता नहीं मानता

जैनकर्मविज्ञान ईश्वर को जीवों के कर्मफल का नियंता, फलदाता और भाग्यविधाता मानने से सर्वथा इन्कार करता है। अकाट्य युक्तियों, सूक्तियों, अनुभूतियों और प्रमाणों से जैनकर्मविज्ञान यह सिद्ध करता है कि निरंजन, निराकार, अशरीरी और कर्मों से सर्वथा मुक्त, सर्वदुःखों से रहित, वीतराग, परमात्मा को सांसारिक जीवों के कर्मों का फैसला करने वाले, कर्मफल-प्रदाता न्यायाधीश बनाने की आवश्यकता नहीं है।

जैनकर्म विज्ञान का स्पष्ट कथन है कि जीवों को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल ईश्वर नाम की कोई विशिष्ट चैतन्य शक्ति नहीं देती; न ही ऐसी कोई शक्ति फल देती हुई

१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से भावांश ग्रहण पृ. ५६

दिखाई देती है। कर्मों में स्वयं में ऐसी शक्ति है, जिसके कारण जीव को प्राकृतिक नियमानुसार अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल, वह चाहे या न चाहे, मिलता रहता है।

इसी तथ्य की पुष्टि भगवद्गीता में की गई है; जिसका भावार्थ है—“जगत् के जीवों का कर्तृत्व तथा उनके कर्मों का सृजन प्रभु (ईश्वर) नहीं करता, और न ही उसे कर्मफल का संयोग कराता है। यह सब स्वभावतः (कर्मों की प्रकृति के नियमानुसार) चलता रहता है।”

ईश्वर को कर्मफलदाता मानने पर अनेक आपत्तियाँ और अनुपपत्तियाँ सम्भव

अतः वैज्ञानिक दृष्टि को धारण करने वाले जैनकर्म-विज्ञान ने इस प्रकार का कोई भी अदृश्य फलदाता ईश्वरीय शक्ति का स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि कर्म का फल देने की शक्ति स्वयं कर्म के स्वभाव में निहित है। यदि ईश्वर को जीवों का कर्मफलदाता न्यायाधीश बनाया जाएगा तो अनेक बाधाएँ और आपत्तियाँ सामने आकर खड़ी हो जाएँगी। जिनका युक्तियुक्त समाधान ईश्वर-कर्तृत्ववादियों के पास नहीं है।

इस सम्बन्ध में हमने ‘कर्मविज्ञान’ के द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत ‘कर्मवाद पर प्रहार और परिहार’ नामक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

यह तो स्पष्ट है कि ईश्वरकर्तृत्ववादी भी ईश्वर को अशरीरी (निरंजन, निराकार) सर्वज्ञ, शुद्ध (कर्मकल्मष से तथा रागादि विकारों से रहित) एवं सर्वव्यापी मानते हैं; परन्तु ईश्वर को सांसारिक जीवों का कर्मफलदाता मानने पर इन सभी विशेषताओं में विरोध प्राप्त होता है।

अशरीरी ईश्वर शरीरधारियों को कैसे कर्मफल दे सकता है?

(१) ईश्वर जब अशरीरी (शरीर-रहित) है, तब वह स्थूलशरीरधारियों को कैसे विघ्न-बाधा या सहायता पहुँचा सकता है? स्थूलशरीरधारी सांसारिक जीवों को कर्मफल के रूप में दण्ड या पुरस्कार देने के लिए स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है। मगर ऐसा

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री)

(ख) कर्म-मीमांसा (स्व. युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी)

२. “न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥”

—भगवद्गीता अ. ५, श्लो. १४

३. (क) कर्मवाद : एक अध्ययन से भावांश ग्रहण पृ. ६९

(ख) देखें—कर्मविज्ञान द्वितीय खण्ड के ‘कर्मवाद पर प्रहार और परिहार’ नामक निबन्ध

पृ. २९५-३०९

कोई स्थूलशरीरधारी ईश्वर दिखाई नहीं देता। यदि कहें कि सूक्ष्मशरीर के द्वारा वह जगत् के जीवों को कर्मफल भुगवाता या देता है, परन्तु ईश्वर तो निरंजन, निराकार, अपीन्द्रगलिक (अभीतिक), एकमात्र चैतन्यधन सच्चिदानन्दस्वरूप (अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय-रूप) है।

निराकार ईश्वर किसी आकार को अपनाकर कर्मफल देता है, तो उसकी निराकाररूपता समाप्त होती है। और प्रत्यक्षरूप से भी साकार होकर निराकार परमात्मा कभी किसी को कर्मफल देते-दिलाते नहीं देखा गया है। निराकार परमात्मा के कार्मण शरीर या तैजस शरीर या तथाकथित कोई सूक्ष्म शरीर भी है नहीं, हो भी नहीं सकता, जिससे कि यह सब क्रिया जाना सम्भव हो सके। कदाचित् यह मान भी लें कि उसके दिव्यसूक्ष्म शरीर है, तो भी एक ही शरीर से इतने विशाल समग्र संसार में युगपत् चित्र-विचित्र अनेक कार्य किये जाने कैसे सम्भव हो सकते हैं ?

ईश्वर की सर्वज्ञता केवल जानने रूप होती है, करने रूप नहीं

(२) ईश्वर की सर्वज्ञता तो केवल जानने रूप होती है, वह सर्वज्ञता के द्वारा केवल निरन्तर ज्ञाता द्रष्टा रह सकता है, सर्वज्ञता से कर्तृत्व तो कथमपि सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ सब जीवों को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जान-देख सकता है, कार्य करने में-यानी जीवों को कर्म कराने और कर्मफल देने के प्रपंच में, वह समर्थ नहीं है। यानी उसकी सर्वज्ञता जीवों को सुख-दुःख देने में कैसे समर्थ हो सकती है ?

सर्वज्ञता वीतरागता के बिना सम्भव नहीं

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञता वीतरागता के बिना कथमपि सम्भव नहीं है। यही कारण है कि इच्छावान्, रागादि विकारों से युक्त और कषायादि या कर्म-कल्मषों से युक्त संसारी जीवों में वीतरागता नहीं होती तब तक उनमें सर्वज्ञता भी नहीं पाई जाती।

वीतराग कभी दण्ड देने, कर्मफल भुगवाने के चक्कर में नहीं पड़ते

वीतराग व्यक्ति द्वारा कर्म करवाना, फल भुगवाना, दण्ड देना-दिलाना आदि सब चित्र-विचित्र दुनिचादारी के खेल खेलते रहना युक्तिसंगत ही नहीं है। क्योंकि वीतराग तो निरन्तर ज्ञाता-द्रष्टा हुआ करते हैं, कर्ता-धर्ता-हर्ता या कर्मफलदाता नहीं।^१

लीला करने वाला या इच्छानुरूप खेल करने वाला ईश्वर मोही होगा; वीतरागी नहीं

(३) ईश्वर को इच्छामात्र से या उसकी लीलामात्र से यह सब कुछ होना भी किसी प्रकार गले नहीं उतरता; क्योंकि एक तो ईश्वर अमूर्तिक, अरूपी (निराकार) है; दूसरे,

१. कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) से भावांश ग्रहण पृ. ४-५

वह इच्छा से रहित है। यदि मैम्पेरिज्म या हिप्नोटिज्म जैसी सम्मोहनी विद्या की भाँति ऐसा होना मान भी लिया जाए तो ईश्वर मोही सिद्ध होगा उसकी वीतराग तो सुरक्षित नहीं रह सकेगी; क्योंकि इच्छा, राग, मोह, आदि वीतरागता के विरोधी हैं। अतः निरंजन निराकार तथा अनन्तज्ञानादि घतुष्य सम्पन्न ईश्वर जीवों को कर्म करवाने एवं फल भुगवाने के प्रपंच में क्यों पड़ेगा? कृतकृत्य ईश्वर को सांसारिक झंझटों में पड़ने का लोभ और राग क्यों जगा?

(४) किसी भी सर्वव्यापी व्यक्ति विशेष के द्वारा कोई भी कार्य करना सम्भव नहीं है; क्योंकि क्रिया या प्रवृत्ति करने के लिए मन-वचन-काया का योग (स्पन्दन या हिलवा डुलना) आवश्यक है, जो उन सर्वथा योगनिरुद्ध परमात्मा में नहीं है, तथा जैसे आकाश सर्वव्यापी होने से हिल-डुल नहीं सकता, वैसे ही तथाकथित ईश्वर का हिलना-डुलना भी असम्भव है।

शुद्ध तत्त्वरूप ईश्वर परस्पर विरोधी कार्य कैसे कर सकता है?

ईश्वरकर्तृत्ववादियों द्वारा ईश्वर एक तथा शुद्ध एवं कोई हाथ-पैर वाला व्यक्ति न मानकर अव्यक्त तत्त्वरूप माना गया है। ऐसी स्थिति में शंका होती है कि एक शुद्ध तत्त्व अनेक दुष्ट, अशुद्ध, चित्र-विचित्र तथा परस्पर विरोधी कार्य कैसे कर सकता है? यथा-गमन और स्थिति, सुख व दुःख, ज्ञान और अज्ञान, राग और विराग आदि परस्पर विरोधी हैं। निमित्त रूप से यदि कुछ कर सकता हो तो भी इनमें से एक समय में कोई एक ही कार्य कर सकेगा; सकल कार्य नहीं। इत्यादि अनेकों बातें ईश्वर के द्वारा फलप्रदानरूप कार्य के रूप में एक ही समय में कैसे हो सकती हैं?

सारे संसार के कर्म और कर्मफल का हिसाब एवं व्यवस्था रखना ईश्वर के लिए सम्भव नहीं

ईश्वर के द्वारा जीवों को फलदातृत्व में दूसरी बाधा यह है कि इतना बड़ा कार्य करने के लिए, समग्र लोक में यत्र-तत्र व्याप्त छोटे-बड़े प्राणियों के क्षण-क्षण के कर्म और कर्मफल का, तथा कर्मफलस्वरूप दण्ड-पुरस्कार आदि का हिसाब-किताब रखने में उसे कितना समय लगेगा? इतना समय उसे कहाँ मिलेगा? अगर दिन और रात का सारा समय इसी प्रपंच में बिता देगा तो अपने आत्मभावों में रमण कब करेगा? अनन्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा (ईश्वर) संसार के पूर्वोक्त प्रपंच में पड़कर तो अपना आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही खो देगा। फिर उसे सारे संसार के जीवों के कर्म और

१. (क) कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) से भावांशग्रहण, पृ-४-५

(ख) हूँ आत्मा हूँ भा. १ (प्रवक्ता डॉ. तरुलताबाई स्वामी)

कर्मफल की व्यवस्था को क्रियान्वित करने के लिए राज्य-व्यवस्था की तरह एक लम्बे चौड़े कार्यालय, बड़े-बड़े रजिस्ट्रारों, मुनीमों-गुमाश्तों, कर्मचारियों अथवा सेवकों आदि की आवश्यकता पड़ेगी। वीतराग, कर्ममुक्त और अनन्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न कृतकृत्य परमात्मा को इन सब प्रपंचों में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है? यदि वह वीतराग होकर भी ऐसा करता है तो उसका वीतराग विशेषण सार्थक कैसे होगा? वह तो संसारी जीवों से भी अधिक प्रपंची और घोर संसारी हो जाएगा।^१

ईश्वर सीधा कर्मफल नहीं देता, उसकी प्रेरणा से दूसरे जीव देते हैं

यदि यह कहा जाए कि किसी जीव को दूसरे जीवों द्वारा अथवा परस्पर एक दूसरे को सुख-दुःख मिलता है, परन्तु मिलता तो ईश्वर की प्रेरणा से ही है। क्योंकि कर्म का फल तो सुख या दुःख के रूप में आखिरकार ईश्वर ही देता है। ऐसी स्थिति में, जबकि ईश्वर स्वयं सीधा कर्मफल नहीं देता, किन्तु उसकी प्रेरणा या आज्ञा से ही तो जीव शुभाशुभ कर्म करता है, तब फिर हत्यारे, चोर, डाकू, व्यभिचारी, ठग, असत्यभाषी, अन्यायी-अत्याचारी या बलात्कार करने वाले या किसी को सताने वाले किसी भी व्यक्ति को अपराधी नहीं ठहराया जाना चाहिए, क्योंकि ये सब कुकृत्य ईश्वर की प्रेरणा से ही होते हैं। अपराध के अभाव में उन व्यक्तियों को कर्मफल के रूप में दण्ड देने का अधिकार भी ईश्वर को नहीं है।

ईश्वर को भाग्य-विधाता मानने पर दोषापत्ति

ईश्वरकर्तृत्ववादी जब यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर समस्त जीवों का भाग्य-विधाता तथा कर्मफलदाता है, तब यह भी मानना पड़ेगा कि मानव के जीवन में सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध जितनी भी बुरी प्रवृत्तियाँ या अप्रशस्त क्रियाएँ हैं, उन सबका प्रेरक भी ईश्वर है। इस अपेक्षा से उन सब कुकर्मों का दायित्व भी ईश्वर पर आ जाता है। यदि मनुष्य के भाग्य की रचना परमात्मा करता है; तो यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य का जैसा भाग्य परमात्मा ने बना दिया है, तदनुसार ही वह शुभ-अशुभ कर्म करता है। उसका फल उसे नहीं मिलना चाहिए। इस दृष्टि से हत्या, लूटपाट, चोरी आदि पापकर्म करने वाले किसी भी व्यक्ति को अपराधी या दोषी नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि इन व्यक्तियों के द्वारा ईश्वर उन प्राणियों को उनके पूर्वकृत कर्मों का फल भुगता रहा है।

जैसे-राजा जिन पुलिस आदि व्यक्तियों द्वारा अपराधियों को दण्ड दिलाता है, वे अपराधी या दोषी नहीं माने जाते; क्योंकि वे तो सिर्फ राजा की आज्ञा का पालन कर रहे

१. कर्मवाद : एक अध्ययन, से भावांश ग्रहण , पृ. ७०

होते हैं। अतः कसाई, हत्यारा, लम्पट, चोर, डाकू आदि व्यक्ति भी ईश्वर की आज्ञा या प्रेरणा के अनुसार उन-उन जीवों के पूर्वकृत कर्मों का फल भुगवाते हैं। ईश्वर ने ही पहले उनके द्वारा पूर्ववत् कर्मों का यही फल निश्चित किया होगा, तभी तो वे सब ये कार्य कर रहे हैं।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो ईश्वर की प्रेरणा से ही हत्यारा किसी जीव की हत्या करता है, चोर किसी की सम्पत्ति चुराता है, व्यभिचारी किसी स्त्री पर बलात्कार कर रहा है, शिकारी किसी वन्यपशु का वध कर रहा है।

ईश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले या ईश्वर-प्रेरणा से काम करने वाले भला दोषी या अपराधी कैसे हो सकते हैं? ईश्वर को न्यायाधीश मानने वालों की दृष्टि में तो यह सब ईश्वर की इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा या न्याय के अनुसार हो रहा है। न्यायाधीश की गद्दी पर बैठने वाले ईश्वर की आज्ञा के अनुसार ही तो ये चोर, डाकू, हत्यारे आदि पुलिस के सिपाहियों की तरह का काम कर रहे हैं, फिर उन्हें कारागार में बंद क्यों किया जाता है, क्यों उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता है?

ईश्वर ने ऐसा भाग्य क्यों बनाया?

तात्पर्य यह है कि भाग्यविधाता एवं कर्मफलदाता तथाकथित ईश्वर ने किसी व्यक्ति का ऐसा भाग्य क्यों बना दिया, जिसके कारण उसे कसाई, चोर, डाकू या हत्यारे का धंधा अपनाना पड़ा? उनके इस प्रकार के भाग्य-निर्माण के कारण कसाई अपने स्वभावानुसार मूक पशुओं का वध करके उनकी जीवन-लीला समाप्त कर देता है, चोर दूसरों के धन का अपहरण करता है, और लोगों को संकट में डाल देता है। डाकू डाके डालकर सम्पत्ति लूट लेता है, उस घर के लोगों की हत्या करता है, मारता-पीटता है, और सारे परिवार को दुःख सागर में धकेल देता है। ये चोर, डाकू, कसाई या हत्यारे जो भी पापकर्म करते हैं, और जनता को भयंकर पीड़ा पहुँचाते हैं, उसमें उनका कोई दोष नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि तथाकथित ईश्वर उन्हें कसाई, चोर, डाकू या हत्यारे न बनाता तो वे ऐसे नीच कर्म न करते। ईश्वर को भाग्यविधाता मानने पर यही मानना अनिवार्य हो जाता है कि मनुष्य या पशु के जीवन में जो भी पापमय अशुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबका जिम्मेवार ईश्वर है।

बुद्धि की दुष्टता ईश्वरप्रदत्त होने से घातकों की दुर्बुद्धिरूप कर्मफलोत्पादक ईश्वर

यदि यह कहें कि ईश्वर जीव को कब कहता है कि तू बुरे कर्म कर? इसके उत्तर में यह प्रतिप्रश्न उठता है कि मनुष्य या पशु बुरे कर्म क्यों करते हैं? इसीलिए करते हैं कि

१. (क) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से भावांश ग्रहण, पृ. ५८
- (ख) कर्मवाद : एक अध्ययन, से भावांश ग्रहण पृ. ७०

उनकी बुद्धि खराब है। चूँकि ईश्वरकर्तृत्ववादियों के मतानुसार जीव कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है। ऐसी स्थिति में हत्यारे, चोर, डाकू आदि परविधातक के कर्म उनकी किसी दुर्बुद्धि के परिणाम हैं। और बुद्धि की दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत कर्म का फल होना चाहिए, क्योंकि जीव कर्म से बंधा है और जीव की बुद्धि होती है—कर्मानुसारिणी। कर्म का फल ईश्वराधीन मानने पर पूर्वोक्त पर-धातक लोगों की दुर्बुद्धिरूप कर्मफल का उत्पादक ईश्वर को ही माना जाएगा।

सांसारिक जीवों का भाग्यविधाता ईश्वर होने से पाप प्रवृत्तिप्रयोजक भी ईश्वर है

यदि बुद्धि खराब होने का कारण उन-उन जीवों के भाग्य की विपरीतता मानी जाए तो भी प्रश्न उठता है कि उनका भाग्य खराब बनाया किसने ? संसार के जीवों के भाग्यविधाता तथाकथित ईश्वर ने ही तो मनुष्यों और पशुओं के भाग्य को खराब बनाया है, जिसके कारण उन्हें धर्म, नीति और व्यवहार से विरुद्ध कार्य करने पड़ते हैं। ईश्वर ने स्वयं उन-उन पापकर्मी जीवों का भाग्य खराब बनाया, इसी कारण ही उन्हें विवश होकर वैसे पापमय कार्य करने पड़ते हैं।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो—ईश्वर को संसार के जीवों का भाग्य-निर्माता या भाग्य-विधाता मानने पर संसार के समस्त प्राणियों की अशुभ प्रवृत्तियों और अधम कार्यों की जिम्मेवारी ईश्वर पर आ जाती है। और दुष्कृत्य या पापमय प्रवृत्तियाँ करने वाले जीव बिलकुल अलग-थलग एवं निर्दोष रह जाते हैं। उन्हें पापी या अधर्मी नहीं माना जा सकता।

अतः ईश्वर को संसार के जीवों का भाग्य विधाता तथा कर्मफल दाता मानने में ये सब आपत्तियाँ और अनुप्रपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं!'

पापी पापकर्म करने में ढीठ होकर ईश्वर की दुहाई देता है

इनके अतिरिक्त एक भयंकर आपत्ति और आ खड़ी होती है कि जो पापी मनुष्य अर्हनिश पापकर्म में रत रहता है, उसे कोई हितैषी संत समझाने जाए कि तू इतने घोर पापकर्म क्यों करता है ? इन पापकर्मों की सजा तुझे कितनी भयंकर मिलेगी ? क्या तुझे परमापिता परमात्मा का कोई डर नहीं है ? परमात्मा के दरबार में जब तेरे पापकर्मों की जाँच-पड़ताल होगी, तब तेरे इन पापमय कारनामों पर नाराज होकर परमात्मा तुझे पकड़ कर दण्ड के रूप में घोरतितघोर नरक में भेज देंगे, जहाँ तू रातदिन दुःखों और यतनाओं को रो-रोकर भोगता रहेगा। अथवा वे तुझे सूअर, कूकर, गर्दभ या बकरो आदि किसी पशुयोनि या तिर्यंच योनि में धकेल देंगे, जहाँ तुझे किसी प्रकार की सम्यक्

१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से भावांश ग्रहण पृ. ६१, ५८

बोध प्राप्त नहीं होगी। अतः यदि तू दूसरे के हानि लाभ की चिन्ता नहीं कर सकता तो कम-से-कम अपने हानि-लाभ की तो चिन्ता कर।

किन्तु पापात्मा मानव परम हितैषी संत की बात को सुनी-अनसुनी करके, ठुका देता है, और प्रायः धृष्टता पूर्वक कह बैठता है—“आप परमात्मा की माया को नहीं समझते, इसीलिए तो आप हमें पापकर्मों से डरने की बात कह रहे हैं”।^१

हमारे भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, संसार के भाग्य विधायक हैं, परिपालक हैं और सुखदाता हैं। हमारे भाग्य का निर्माण भी उन्होंने ही किया है? उन्हीं की कृपा से हमें साठे सुख-साधन मिले हैं। हमारे जीवन में ऐश्वर्य और वैभव के मंगलमय बाध बज रहे हैं। समाज में हमारी जो प्रतिष्ठा है, वह उन्हीं परमात्मा की परमकृपा का फल है। परिवार में और समाज में मौज बहार है, वह सब उसी प्रभु के अनुग्रह की बढौलत है। मेरे सभी कार्यों के पीछे उस महाप्रभु की कृपा है कि मैं सदैव प्रसन्नता और सुख-सुविधा के झूले में झूलता हूँ। मैं बिना किसी हिचक के जो चाहता हूँ, जैसा चाहता हूँ; कर लेता हूँ। भय और संकोच का तो मेरे जीवन में बिलकुल नामोनिशान भी नहीं है।

आप कहेंगे—परमात्मा कब कहता है—“बुरे काम कर, पापकर्म कर।” इसके उत्तर में मेरा (पापी का) कहना यह है कि मैं बुराइयाँ, पापमय प्रवृत्तियाँ करने से सकुचाता नहीं हूँ, यह सब आपकी (संतपुरुषों की) दृष्टि से मेरी दुर्बुद्धि—खराब बुद्धि के कारण होता है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण ही मेरा सोचने-समझने और आवरण करने का ढंग बिलकुल गलत है। संसार में होने वाली समस्त पापमय प्रवृत्तियाँ और बुराइयों का मूल कारण बुद्धि की विकृति ही है। और बुद्धि खराब होती है—भाग्य से-अशुभ कर्मफल से। भाग्य को अच्छा या बुरा बनाने वाला कौन है? वही परमपिता परमात्मा है।

जीवों का भाग्य-निर्माण करते समय दुर्बुद्धि-घातक मानव क्यों पैदा किये?

और आप (संत) यह भी जानते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, उसके ज्ञाननेत्रों से संसार का कोई भी जीव या जड़ पदार्थ ओझल नहीं है। वे प्रत्येक जीव के भाग्य को निर्माण करते समय यह जानते हैं कि इस जीव के भाग्य का ऐसा निर्माण कर रहा हूँ जिससे इसे कुबुद्धि या सुबुद्धि प्राप्त होगी। वे यह सब जानते हुए भी कि इस जीव का ऐसा भाग्य निर्माण कर रहा हूँ, जिससे इसे कुबुद्धि, दुष्टबुद्धि या पापमय बुद्धि प्राप्त होगी और उसके कारण यह हत्या, चोरी, डकैती, लूट-मार, ठगी, तस्करी, बेईमानी, अनीति आदि पापकर्म करेगा, निर्दोष लोगों को सताएगा, विश्वासघात करेगा, धर्मस्थानों की पवित्रता को नष्ट करेगा, सतियों का शील लूटेगा आदि।

१. वही, सारांश उद्धृत पृ. ६०

इन सब बातों को पूर्णतया जानते हुए भी तथा मेरे भूत-भविष्य को हस्ता-मलकवत् देखते हुए भी परमात्मा ने जब मेरा भाग्य ऐसा दुर्बुद्धि-पूर्ण बनाया है, तब मुझे पापकर्म करने से भय और संकोच क्यों होगा ? और क्यों धर्म-विरुद्ध एवं लोक-व्यवहार-विरुद्ध पाप प्रवृत्तियाँ करने में झिझक होगी ? इसलिए मैं बेधड़क ये पापप्रवृत्तियाँ करता हूँ। सच पूछें तो मुझे न तो पाप कर्म करने में कोई बुराई मालूम होती है और न ही किसी प्रकार की भीति। क्योंकि मेरी आस्था ऐसी बन गई है कि परमपिता परमात्मा ने सब कुछ जानते-देखते हुए मेरा भाग्य ऐसा ही बनाया है, और मैं उसी भाग्यानुसार जो कुछ भी कर रहा हूँ, उससे मुझे पाप नहीं लग सकता।¹

तथाकथित परमात्मा द्वारा जैसा भाग्य निर्माण : वैसा ही कार्य दुरात्मा लोग करते हैं।

इससे भी आगे बढ़कर वह और भी ढीठ बनकर परमहितैषी संत को उत्तर देता है—मैं तो परमात्मा का सच्चा भक्त हूँ। उनके साथ द्रोह कैसे कर सकता हूँ ? उन्होंने मेरा जैसा भाग्य बनाया है, उसके अनुरूप ही मैं सब कार्य करता हूँ। परमात्मा के जनाए हुए भाग्य के अनुसार मैंने पापकर्म करने छोड़ दिये तो उनके साथ बड़ा भारी दगा होगा। रही परमात्मा के दरबार में मेरे से अपने कारनामों की पूछताछ की बात। परमात्मा तो स्वयं अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे पूछेंगे भी नहीं। यदि परमात्मा के दरबार के कर्मचारियों की प्रान्तिवश मुझसे उन्होंने पूछ भी लिया तो मेरे पास घड़ाघड़ाया उत्तर यह है कि—प्रभो ! आप ही तो मेरे भाग्य विधाता हैं। आपने मेरे भाग्य का जैसा निर्माण कर दिया, तदनुसार ही मैं कार्य कर रहा हूँ। पापमय भाग्य बनाकर आप कैसे पूछते हैं कि मैंने अमुक पाप क्यों किया ? मैंने जो कुछ भी अतीत में किया है, वर्तमान में कर रहा हूँ या भविष्य में करूँगा, वह सब आप भाग्य विधाता की आज्ञा एवं प्रेरणा के अनुसार ही हुआ, हो रहा या होगा, उसकी सारी जिम्मेदारी आपकी है। मैं तो आपका वफादार सेवक और सपूत हूँ। आपके बनाए हुए भाग्य के अनुसार ही मेरे से सब कुछ हुआ है ! मेरे जीवन के समस्त क्रियाकलाप की जिम्मेदारी मेरे भाग्य-विधाता अन्तर्यामी प्रभु की है। यदि मेरा भाग्य खराब न बनाते तो मेरी बुद्धि खराब न होती और मेरे से ये लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध पापमय कार्य न होते। आप स्वयं मेरे भाग्य विधाता, कर्मप्रेरक एवं कर्मफल प्रदाता होकर भी मुझसे पूछते हैं ?

परमात्मा के इस उद्धत वफादार ने पापों से निर्दोष होने की जो बात कही है, उसी को उर्दू का एक शायर अपनी भाषा में व्यक्त करता है—

1. वही, से भावांश ग्रहण, पृ. ६०-६१

“खुदा जब मुझसे पूछेगा कि ‘तकसीर’ किसकी है?
तो कह दूँगा कि इस तकदीर में ‘तहरीर’ किसकी है?”

ईश्वर को कर्मफल दाता एवं भाग्य विधाता मानने से दोषापत्ति

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर को भाग्यविधाता व कर्मफल-दाता मानकर चलने से संसार के समस्त जीवों के द्वारा होने वाले पापों, दोषों व अपराधों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही आ पड़ता है।

इसलिए जैनकर्मविज्ञान परमात्मा को जगत् के जीवों का भाग्यविधाता व कर्मफलदाता नहीं मानता।

परमात्मा को कर्मफलदाता मानोगे तो वह अन्यायी एवं अपराधी सिद्ध होगा

एक दोषापत्ति और भी है--परमात्मा को कर्मफल-प्रदाता मानने में कहा जाता है कि परमात्मा न्यायी है। यदि परमात्मा को किसी धनिक की धन-सम्पत्ति को बुरा या लुटवाकर उस धनिक को उसके पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल देना अभीष्ट है तो वह स्वयं तो उस कार्य को नहीं करता, किन्तु चोर-डाकूओं के माध्यम से ही उस धनिक को उसके अशुभ कर्मों का फल दिलवाएगा। ऐसी स्थिति में वह चोर या डाकू परमात्मा की आज्ञा का परिपालक या परमात्मा द्वारा प्रेरित होने के कारण निर्दोष और अदण्डनीय समझा जाना चाहिए, किन्तु व्यवहार में इससे विरुद्ध देखा जाता है, उस चोरी आदि पापकर्म करने वाले को अपराधी मानकर सरकारी पुलिस दल उसे पकड़ता है, उसे गिरफ्तार करके जेलखाने में दूंसता है, पुलिस दल उसे मारता-पीटता भी है, उल्टा लटका देता है। कई अपराधियों को फाँसी आदि की सजा दी जाती है। यह सब दण्ड प्रक्रिया परम न्यायाधीश परमात्मा के न्याय के खिलाफ है, ऐसा मानना चाहिए। यह कितनी बड़ी अधेरगर्दी होगी, परमात्मा के न्याय के विरुद्ध? एक ओर तो परमात्मा धनिक को कर्मफल रूप दण्ड देने के लिए चोर, डाकू आदि को उसके घर भेजता है, चोरी डकैती के लिए; और दूसरी ओर पुलिस के द्वारा उसे पकड़वाकर भारी सजा दिलाता है। यह तो वैसी ही बात हुई--चोर को कहे--चोरी कर और साहूकार को कहे--जागता रहा क्या यही परमात्मा का न्याय है?

परमात्मारूपी शासक अपराधों को रोकने का कार्य पहले से ही क्यों नहीं करता?

जगत् में यह देखा जाता है कि किसी शासनकर्ता को अगर यह मालूम हो जाता है कि अमुक व्यक्ति अमुक स्थान पर चोरी करना चाहता है, या अमुक डाकू दल फतां

१. (क) ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण

(ख) तकसीर=गलती, दोष या अपराध। तकदीर=भाग्य, तहरीर=प्रेरणा या संचालन।

२. वही, से सारांश उद्धृत पृ. ६५-६६

स्थान पर डाका डालने की योजना बना रहा है, अथवा अमुक हत्यारा अमुक व्यक्ति की हत्या करने के फिराक में है तो वह शासक पहले से ही उस अपराध को रोकने और अपराध करने का प्लान बनाने वाले को पकड़कर जेल में बंद कर देता है। वह कड़ा प्रबन्ध करता है कि अपराधी वृत्ति का व्यक्ति अमुक अपराध या दुष्कर्म करने न पाए। स्थिति के बिगड़ने से पहले ही वह उसे काबू में करने के प्रयास करता है। कदाचित् एक बार अपराधी अपने मकसद में कामयाब हो जाए तो भी उसके पश्चात् शासक उसका कठोरता से दमन करके सदा के लिए वहाँ अपराध होने से रोक देता है। शासक का यह कर्तव्य भी है कि दुष्कर्म होने से पहले ही उसकी रोकथाम करे अथवा एक बार उसके अनजाने में वह काण्ड हो भी जाए तो उसकी पुनरावृत्ति होने से पूरी तरह रोक दे।

जब साधारण बुद्धि वाले शासक में इतनी कर्तव्यपरायणता, शक्तिसम्पन्नता तथा न्यायकारिता है तो ईश्वर जैसे सर्वज्ञ, घट-घट के अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायी एवं दयालु परमात्मा का कर्तव्य होता है कि वह अपराधी की भावना को बदल दे, अथवा जनता को पीड़ा पहुँचाने की उसने जो योजना बनाई है, उसे बदल दे या उसके मार्ग में ऐसी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करदे कि वह पूर्वयोजित अपराध कर ही न सके। क्योंकि सर्वज्ञ होने के नाते उसे यह पहले ही ज्ञात हो जाता है कि अमुक व्यक्ति अमुक समय पर अमुक जगह जनोत्पीड़क दुष्कर्म करने वाला है।

अपराधी के भावों को जानता हुआ ईश्वर उसे क्यों नहीं रोकता?

इसके बावजूद, यदि वह (परमात्मा) अपराधी के या दुष्कर्मकर्ता के क्षण-क्षण के भावों को जानता हुआ भी तथा अपराध को रोकने का सामर्थ्य रखता हुआ भी अपराधी या दुष्कर्मी को मनमाना अपराध या दुष्कर्म करने देता है, तो मानना पड़ेगा कि वह अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है, अथवा वह सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि उसने जीवों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की स्वतंत्रता दे रखी है। सभी जीव अपनी इच्छानुसार कर्म करते हैं, परमात्मा तो उनके द्वारा कर्म किये जाने में बाधक नहीं बनता। ऐसी स्थिति में कहना चाहिए कि तथाकथित परमात्मा जो भी कर्मफल देता है, उसका उद्देश्य प्राणियों पर दया करके उनका जीवन सुधारना या उन्हें सच्ची राह चलाना नहीं है, किन्तु अपने मनोविनोद या लीला करने अथवा शासन की महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए वह ऐसा करता है।^१

अगर तथाकथित ईश्वर में दयालुता या कर्तव्यपरायणता होती तो वह उन जीवों को दुष्कर्म करने से पहले ही रोक देता, उनका मानस बदल देता। इसी प्रकार वह जानता

१. कर्मवाद : एक अध्ययन से भावांश, पृ. ७२

है कि उन दुष्कर्मियों को दुष्कर्म करने का कठोर दण्ड देना पड़ेगा और कठोर दण्ड मिलने पर वह रोएगा, पछताएगा, गिड़गिड़ाएगा, कष्ट पाएगा, किन्तु यह जानते-बूझते भी तथा दयालु और शक्तिशाली होते हुए भी उन दुष्कर्मकर्ता जीवों को पापकर्म करने से पहले ही क्यों नहीं रोक देता ? पापकर्म करने के लिए तत्पर व्यक्ति का बलात् हाथ क्यों नहीं पकड़ लेता ? किन्तु तथा-कथित परमात्मा पहले तो अपने मनोविनोद, लीला या शासन की महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने हेतु पापकर्मियों और अपराधियों को खुलका खेलने दे, उन्हें अराजकता फैलाने की खुली छूट दे दे, उसके पश्चात् दुष्कर्म के कठोर फल के रूप में जिंदगी भर उन पर दुःखों का पहाड़ लाद दे। यह कहाँ की शासन-व्यवस्था है ? यह कौन-सी कर्तव्यपरायणता एवं दयालुता है ?^१

एक न्यायाधीश भी जब किसी का न्याय करता है तो अल्पज्ञ होने के कारण पहले अपराधी के अपराध की जांच-पड़ताल करता है। उसके अपराध को साबित करने के लिए साक्षियाँ और गवाहियाँ लेता है, प्रत्यक्षदर्शियों के बयान लेता है। उस पर व्यवस्था दंग से केस (मुकदमा) चलाया जाता है। सब प्रकार से वास्तविकता की छानबीन करने पर तथा गवाहों की गवाहियों से अपराधी का अपराध प्रमाणित हो जाने पर दण्डव्यवस्था करता है। यही कारण है कि उसे फैसला देने और दण्ड व्यवस्था करने में काफी समय लग जाता है।

परन्तु तथाकथित ईश्वर तो सर्वज्ञ-सर्वशक्ति सम्पन्न है, वह तो सभी अपराधियों के भूत-भविष्य और वर्तमान की सब घटना, मनोवृत्ति और प्रवृत्ति को जानता है, उसे तो किसी के अपराध को साबित करने के लिए किसी की साक्षी या गवाही की आवश्यकता ही नहीं है, फिर वह जीवों को उनके कर्म का फल देने में इतना विलम्ब क्यों करता है ? क्यों नहीं अपराध होते ही तत्काल उस दुष्कर्म का फल भुगवा देता है ? फौरन दण्ड की व्यवस्था क्यों नहीं करता ? उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कहाँ चली जाती है ?

एक बात यह भी है कि न्यायाधीश न्यायासन पर बैठकर अपराधी को अपने सामने बुलाता है, उसका अपराध प्रमाणित हो जाने पर उससे पूछता है और कहता है- “तुमने अमुक अपराध या चोरी या हत्या का दुष्कर्म किया है या अमुक व्यक्ति को धोखा दिया है, इसलिए तुम्हारे इस अपराध की यह सजा दी जा रही है।”

ईश्वर सारे संसार के कर्मफल का नियन्ता और दण्ड का व्यवस्थापक है, इसलिए परम न्यायाधीश है। मगर संसारी जीवों को उनके दुष्कर्मों का फल देते समय अथवा उनके अपराधों की दण्ड व्यवस्था करते समय अपराधी व्यक्तियों से कभी प्रत्यक्ष या

१. वही, भावार्थ ग्रहण, पृ. ७३

परोक्ष में भी आकर कभी कहता देखा नहीं जाता कि तुमने अमुक अपराध या पाप किया है, अतः तुम्हारे उस पाप या अपराध का यह दण्ड तुम्हें दिया जाता है।

ऐसा करने पर ही उसकी परम न्यायाधीशता सार्थक होती; और संसार के अबोध अथवा अज्ञानी जीव उससे नसीहत लेते, उन पापकर्मों को करने से पहले सोचते-विचारते और उनसे बचते या सावधान रहते कि यदि ऐसा पापकर्म फिर करेंगे तो आगे फिर दण्ड भुगतना पड़ेगा।

ऐसी स्थिति में अपराधी या दुष्कर्मकर्ता लोग यह समझ जाते हैं, कि ईश्वर जैसी कोई भी सर्वोपरि शक्ति हमें कुछ कहने-सुनने वाली नहीं है, न ही कोई दण्ड व्यवस्था दिखाई देती है, सरकारी दण्डव्यवस्था से भी वे फरार होकर, रिश्वत देकर जैसे-तैसे बच जाते हैं और जैसे-तैसे स्वच्छन्द रूप से बेखटके पापकर्म करते रहते हैं। ईश्वर जैसा सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ जानता-देखता और दण्ड देने में समर्थ पुरुष भी आँख मिचौनी या उपेक्षा करके बैठा रहे, यह कैसी न्यायशीलता या शक्तिमत्ता है ?

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का कहना है कि ईश्वर तो जीवों के अपने किये हुए कर्मों के अनुसार उनके शरीरादि का निर्माण करता है, जीवों के पूर्वकृत-कर्मानुसार ही उन्हें फल देता है, अपनी इच्छानुसार नहीं। ऐसी स्थिति में वह ईश्वर भी स्वतंत्र और स्वेच्छानुसार कुछ नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा भी स्वतंत्र नहीं, परतन्त्र है, वह भी स्वेच्छा से किसी भी प्राणी का बाल भी बाँका नहीं कर सकता। तब तो वह (परमात्मा) भी पराधीन है, परतंत्र है।

जो सर्वथा स्वतंत्र हो, स्वाधीन हो, स्वेच्छा से कार्य करने की क्षमता रखता है, वही सच्चे माने में परमात्मा कहलाने योग्य है। जो परिवार, समाज, पक्षपात, स्वार्थ आदि के बन्धनों में जकड़ा हुआ हो, जिसे अपने आत्मिक ऐश्वर्य की उपेक्षा करके सांसारिक जीवों को कर्मफल देने के कर्म-परतंत्रता वश कार्य में, पचड़े में पड़ा रहना पड़ता हो, वह परमात्मा सर्वतंत्र-स्वतंत्र परमात्मा कैसे हो सकता है? तथाकथित परमात्मा तो जीवों के द्वारा कृत कर्मों के अधीन होने से परमात्मा भी कहलाने योग्य नहीं है।

यदि परमात्मा अपनी इच्छा से कर्मों के फल में हेराफेरी करने लग जाए तब भी ईश्वर की न्यायाधीशता, न्यायिकता और प्रामाणिकता भी खतरे में पड़ जाएगी। अतः परमात्मा को कर्मफलप्रदायक न मानना ही युक्तियुक्त है।'

तथाकथित ईश्वर सुयोग्य शासक के समान प्रभावशाली भी नहीं है

किसी प्रान्त में या राष्ट्र में सुयोग्य, न्यायशील एवं निष्पक्ष तथा भ्रष्टाचार से रहित शासक का शासन हो तो उसके प्रभाव से चोर, डाकू, हत्यारे एवं गुण्डे लोगों की चोरी आदि कुकर्म करने की सहसा हिम्मत नहीं होती। वे उद्वण्डता और उच्युंखलता का मार्ग छोड़कर प्रायः सत्य अपना लेते हैं, जिससे सर्वत्र शान्ति, सुरक्षा और अमन-कै स्थिति हो जाता है। लोग निर्भयता पूर्वक सानन्द अपनी जीवन यापन करते रहते हैं। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जगत् के सर्वोच्च शासक, सर्वशक्तिमान्, न्यायशील, परमकृपालु, परमपिता परमात्मा के होते हुए भी जगत् में बुराई, अराजकता, आपाधापी, भ्रष्टाचार, अन्याय, अनीति आदि अपराध दिनोदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। मांसाहारियों, व्यभिचारियों, यौन-अपराधियों, चोरों, डकैतों, विश्वासघातकों, नुटों एवं दुष्टों का दौर-दौरा बढ़ता ही जा रहा है। संसार में सर्वत्र छल-कपट, धोखा-धड़ी, टगी, बेईमानी, चोरबाजारी, तस्करी, अराजकता, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध एवं तुल्य स्वार्थ की अग्नि ज्वालाएँ उठती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जाए कि जगत् के शासन की बागडोर ईश्वर के हाथों में है और वही संसार का सर्वोच्च शासक है, कर्मफलदाता, दण्ड-पुरस्कार प्रदाता है ?^१

अव्यक्त रूप से दण्ड प्रदान करना भी कृतकृत्य ईश्वर का कार्य नहीं

ईश्वरकर्तृत्ववादी यों कह सकते हैं कि परमपिता परमात्मा यों प्रत्यक्ष दण्ड देता हुआ दिखाई नहीं देता, वह अव्यक्त रूप से दण्ड देता है तो किसी की आँखें फूट जाती हैं, किसी की टांग टूट जाती है, किसी को कोढ़ हो जाता है, किसी को कोई भयंकर रोग हो जाता है, किसी का घर, शरीर या अन्य पदार्थ जलकर खाक हो जाता है। इस प्रकार पापकर्मों का फल किसी न किसी रूप में ईश्वर दे ही देता है।

कृतकृत्य और दयालु ईश्वर के द्वारा जीवों को कर्मफल देने-दिलाने के सम्बन्ध में हमने पिछले पृष्ठों में कितनी ही दोषापत्तियाँ, अनुपपत्तियाँ और ईश्वरत्व में बाधाएँ बताई हैं। इसलिए कृतकृत्य ईश्वर को इन सांसारिक रगड़ों-झगड़ों से क्या लेना-देना है? उसका क्या स्वार्थ है? अथवा ऐसा करने में क्या पदार्थ है? बल्कि कर्मों का फल देते समय किसी को रुलाना, किसी को डराना, किसी को धमकाना, किसी को सताना, किसी के हाथ-पैर कटवा देना, किसी की आँखें पोड़ देना, किसी पर विपत्ति का पहाड़ ढ़ाल देना, किसी को दाने-दाने का मोहताज बना देना, किसी के शरीर में असाध्य बीमारी पैदा

१. वही, से सारांश ग्रहण पृ. ७०

२. ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण, पृ. ७०

कर देना, किसी को अकस्मात् भार डालना, किसी को पानी में डुबा देना, किसी को आग में जला देना आदि ये और इस प्रकार के कठोर कर्म एक दयालु निर्विकार और कृतकृत्य ईश्वर भला कैसे कर सकता है ? यदि वह ऐसा हिंसात्मक दण्ड-प्रयोग करता है या उसे करना पड़ता है तो वह दयालु, निर्विकारी और कारुणिक कैसे रह सकता है ? ऐसे कठोर कर्म करने से तो उसकी निर्विकारता और दयालुता ही समाप्त हो जाती है।^१

ईश्वर प्रदत्त कर्मफल वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा विफल एवं प्रभावहीन

हम यह मान लें कि परमात्मा दया से प्रेरित होकर ही उन दुष्टों, अपराधियों या दुष्कर्म-कर्ताओं को कठोर दण्ड देता है। परन्तु उसके दिये हुए दण्ड को आज के उन-उन रोगों और व्याधियों के विशेषज्ञ बहुत कुछ अंशों में विफल कर देते हैं, अथवा प्रभावहीन कर देते हैं। ईश्वर को कर्मफल-दाता मानने वालों के समक्ष प्रश्न यह है कि ईश्वर के द्वारा जीवों को उनके कृतकर्मों का दिया गया दण्ड स्थायी एवं अमिट होना चाहिए, वह पूर्णरूप से क्रियान्वित होना चाहिए। उस दण्ड को कोई प्रभावहीन या असफल करने का साहस करे तो वह सफल नहीं होना चाहिए। मगर आधुनिक विज्ञान जगत् ने तथाकथित परमात्मा द्वारा कर्मफल के दिये गए उस दण्ड को बहुत अंश तक समाप्त कर दिया है या बहुत कम कर दिया है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य की एक आँख नष्ट हो गई। परमात्मा ने उसे उसके अशुभ कर्म के दण्ड के रूप में उसे काना बना दिया। परन्तु आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने नकली आँख उसकी फूटी हुई आँख की जगह फिट करके परमात्मा के दिये गए उक्त दण्ड को विफल कर दिया।

इसी प्रकार सांसारिक लोगों के कर्मों के फलस्वरूप परमात्मा द्वारा भेजी गई लगे, हैजा (कॉलेरा), क्षयरोग (टी. बी.) मलेरिया आदि दुःसाध्य बीमारियों को भी वर्तमान डॉक्टरों और चिकित्सकों ने अपने अधिक शोध प्रयास के पश्चात् बहुत हद तक या तो समाप्त कर दिया है या फिर उनका प्रभाव बहुत कम कर दिया है। परमात्मा द्वारा दिये हुए दण्ड के कारण किसी की टाँग टूट गई, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक नकली टाँग लगाकर उस दण्ड को बेकार कर देते हैं।^२

ऐसा परमात्मा पूजनीय एवं सम्मान्य कैसे?

कई बार कर्मफल भुगवाने के लिए तथाकथित ईश्वर भूकम्प या बाढ़ लाता है, उस समय उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि जो उसके पूजा स्थान हैं, या धर्म-स्थान हैं, अथवा जो उसके भक्त या पुजारी हैं, उनकी भी तबाही हो रही है। क्या सर्वज्ञ एवं

१. कर्मवाद : एक अध्ययन से भावांश ग्रहण पृ. ७३

२. ज्ञान का अमृत से सारांश ग्रहण पृ. ६६

सर्वदर्शी परमात्मा को अपने पूजास्थानों (मंदिर, मस्जिद, चर्च, देवालय, गुरुद्वारा आदि) तथा धर्मस्थानों का एवं पुजारियों और धार्मिक भक्तों का जरा भी ख्याल नहीं आता। तथाकथित परमात्मा की ऐसी दशा देखकर उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या इबादत कैसे रह सकती है। उनकी दृष्टि में ऐसा परमात्मा सम्मानित और पूजनीय कैसे रह सकता है?

ईश्वर द्वारा कर्मफल सजा के रूप में नहीं, दूसरों के घात रूप में मिलता है

एक बात और, जो लोग ईश्वर को कर्मफलदाता मानते हैं, उन्हें हमारी विचारशक्ति कहती है कि किसी भी विचारशील फलदाता को किसी व्यक्ति को उसके बुद्धि कर्मों का फल ऐसा देना चाहिए, जो उसकी सजा के रूप में हो, न कि दूसरों को उसके द्वारा सजा दिलवाने के रूप में। किन्तु तथाकथित ईश्वर घातकों (क्रूर मानव, सिंह, सर्प, चीता आदि) से दूसरे का घात कराता है, क्योंकि उसके जरिये उसे दूसरे को सजा दिलवानी है। किन्तु घातक जिस दुर्बुद्धि के कारण दूसरे का घात करता है, उस बुद्धि को दुष्ट करने वाले कर्मों का उसे क्या फल मिला? इस फल के द्वारा तो दूसरे को सजा भोगनी पड़ी।^१

ईश्वर को फलदाता मानने से ऐसी अनेक दोषापत्तियाँ खड़ी होती हैं

अतः ईश्वर को फलदाता मानने से ये और इस प्रकार की कई अनुपपत्तियाँ एवं विसंगतियाँ खड़ी होती हैं। एक अनुपपत्ति यह भी है कि किसी कर्म का फल कर्ता को तुरंत मिल जाता है और किसी का कुछ समय के बाद और किसी को अपने कर्मों का फल कुछ वर्षों के बाद। कुछ लोगों को अपने कर्म का फल दूसरे जन्मों में मिलता है। एक ही सरीखे एक ही समय में किये जाने वाले दो व्यक्तियों के समान कर्म का फल एक को शीघ्र ही और अच्छा मिलता है, दूसरे को देर से और बुरा मिलता है। इस अन्तर का कारण क्या है? जबकि फलदाता ईश्वर एक ही है?^२

एक ही सदृश एवं एक ही समय में किये हुए कर्म का फल देने में यह पक्षपात, विसंगति या विषमता क्यों? क्या ईश्वर भी खुशामद, चापलूसी, प्रशंसा, स्तुति या पूजा-पत्री की रिश्वत के आगे झुक जाता है? क्या परमात्मा मित्रत या मान्यता करने न करने पर किसी को उसके पापकर्म का फल कम और किसी को अधिक दे देता है? क्या परमात्मा के यहाँ भी रिश्वतें चलती हैं? जो किसी को पहले और किसी को पीछे कर्मों का फल भुगवाता है? या कर्मफल में न्यूनाधिकता कर देता है? अतः परमात्मा को

१. वही, सारांश ग्रहण, पृ. ६७

२. पंचम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. १७

३. वही, पृ. १८

कर्मफलदाता मानने पर ये और इस प्रकार की अन्य आशंकाएँ उपस्थित होती हैं, जिनका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वर को कर्मफलदाता मानने वालों के पास पूर्वोक्त दोषापत्तियों, अनुपपत्तियों, विसंगतियों, आक्षेपों, आरोपों और ईश्वर पर आने वाले दोषों का कोई भी युक्ति-तर्कसंगत, बुद्धिसंगत, शास्त्रसंगत, अनुभवयुक्त एवं अन्ध-विश्वासरहित या सन्तोषजनक कोई भी समाधान नहीं है। अतः सांसारिक जीवों को उनके द्वारा कृतकर्मों का फलदाता कोई भी ईश्वर या अन्य दैवी शक्ति नहीं है। कर्मों का फल कर्मविज्ञान के गूढ़ (अव्यक्त) नियमों के अनुसार स्वतः मिल जाता है।^१

कर्मफल निष्फल नहीं, अवश्य सफल होता है

एक शंका ईश्वरकर्तृत्ववादियों द्वारा यह उठाई जाती है कि मनुष्य के द्वारा किया गया कर्म कई बार निष्फल प्रतीत होता है, उसका कोई भी कर्म प्रायः सफल नहीं होता। परन्तु पूर्वोक्त तथ्यों को जानने पर यह भी स्पष्ट हो गया कि ईश्वर को कर्मफलदाता मानने पर कितनी दोषापत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं? केवल इतनी-सी बात के लिए ईश्वर को बीच में लाकर खड़ा करने की कोई आवश्यकता भी नहीं है कि कर्मफल देर से मिलता है। कर्म करने के बाद उसके फल का एक नियम है। उसी के अनुसार फल देर-सबेर से अवश्य मिलता है। आज का बोया हुआ बीज क्या आज ही फल दे देता है? क्या जमाये हुए दूध का तत्काल दही बन जाता है? मुर्गी के द्वारा अण्डा देते ही क्या तत्काल उसमें से मुर्गी या मुगा निकल आता है? यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि च्यवसाय, व्यायाम, कृषि, अध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य तत्काल फलित नहीं होते, उन्हें सफल होने में काफी समय लगता है। क्या इससे उन-उन कार्यों के प्रति मनुष्य अविश्वास करके चुपचाप बैठ जाता है? क्या वह उन-उन सत्कार्यों को प्रारम्भ नहीं करता? इसी प्रकार कर्मों का फल भी देर-सबेर से ही सही, मिलता अवश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्येक कर्म का फल जीव को स्वयं भोगना पड़ता है।^१

संसार में पापात्मा सुखी और धर्मात्मा दुःखी दिखाई देते हैं : इसका समाधान

एक ओर हिंसा आदि पाप कर्म करने वाले दुरात्मा, क्रूर एवं पापकर्मा खूब समृद्ध, सुखी और साधन सम्पन्न दिखाई देते हैं; जबकि दूसरी ओर सज्जन एवं धर्मात्मा मानव न्याय, नीति एवं धर्म के पथ पर चलते हैं, आध्यात्मिक जीवन से उच्च हैं, फिर भी

१. (क) कर्मवाद : एक अध्ययन, से भावांश ग्रहण, पृ. ७४

(ख) ज्ञान का अमृत, से भावांश ग्रहण पृ. ७३

२. कर्म भीमांसा (स्व. युवाचार्य मधुकर मुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. ४०

वे दुःखी, दरिद्र, श्रीहीन एवं साधनहीन दिखाई देते हैं। अथवा चोरी करता है एक और पकड़ा जाता है दूसरा; अन्याय-अत्याचार करता है एक और न्याय-नीति पर चलने वाला सदाचारी दण्डित होता है।

इस प्रकार के विषम फलयुक्त दृश्य संसार में देखे जाते हैं, मगर उनके पीछे कई रहस्य और अकल्पनीय गुथियाँ होती हैं, परन्तु इतनी-सी बात से यह नहीं कहा जा सकता अथवा इस प्रकार की अनास्था व्यक्त करना अनुचित है कि कर्मफल स्वतः न्यायोचित या यथोचित मिलता है? या कर्मफल मिलता ही नहीं, यह भी कहना अधीर व्यक्तियों की अनास्था का सूचक है।

जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञ आचार्यों ने इस गुथी को, बहुत ही सुन्दर और युक्तियुक्त ढंग से सुलझाया है। उनका कहना है—कर्म की गति अतीव गहन है। बड़ी-बड़ी विलक्षणताएँ इसमें छिपी हुई हैं।^१ जैनकर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने बन्ध के चार प्रकार बताकर उनसे युक्त विभिन्न दृष्टियों एवं अपेक्षाओं से तथा योग, उपयोग, लेश्या, इन्द्रिय, काय, वेद, कषाय आदि की तीव्रता-मन्दता, एवं भावों और अध्यवसायों के उतार-चढ़ाव से कर्मों के फल में अगणित प्रकार की तरतमता बताई है। उन्हें समझे बिना तथा उनके रहस्यों को हृदयंगम किये बिना यों ही कह देना कि कर्म का फल यथोचित और यथाव्याय नहीं मिलता, उतावला निर्णय है।

पापात्मा की सम्पन्नता, पुण्यात्मा की विपन्नता: पापानुबन्धी पुण्य तथा पुण्यानुबन्धी पाप के कारण

जैन कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ आचार्यों ने कहा कि हिंसक व्यक्ति क्री समृद्धि और वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति करने वाले भक्त साधक की दरिद्रता; दूसरे शब्दों में कहें तो धर्मात्मा आदि का दरिद्र-दुःखी तथा पापात्मा आदि का सम्पन्न-सुखी दिखाई देना, क्रमशः उनके पापानुबन्धी पुण्य, तथा पुण्यानुबन्धी पापकर्म का फल है। पापात्मा व्यक्ति के द्वारा पूर्वकृत दान-परोपकार आदि पुण्य कार्यों का फल वर्तमान में उसकी सुख सम्पन्नता के रूप में देखा जाता है, परन्तु उसके द्वारा वर्तमान में पुण्यफल का दुरुपयोग किया जाना हिंसा आदि पापकर्म भविष्य के लिए पापानुबन्धी है, पापकर्म-फल-प्रदाता है। इसी प्रकार पुण्यात्मा व्यक्ति के द्वारा पूर्वकृत हिंसा आदि पापकर्म का फल वर्तमान में उनकी दुःख-दरिद्रता आदि के रूप में देखा जाता है, परन्तु वर्तमान में उसके द्वारा किये जाने वाले धर्माचरण, सदाचार-पालन, तथा सेवा-परोपकार आदि पुण्यकर्म का फल भविष्य में पुण्यानुबन्धी है, पुण्यकर्मफल-प्रदाता है।

१. (क) कर्मवाद : एक अध्ययन, से भावांश ग्रहण पृ. ६८

(ख) विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—कर्मविज्ञान प्रथम खण्ड का “कर्म-अस्तित्व के प्रति अनास्था अनुचित” निबन्ध। पृ. १८३

आशय यह है कि हिंसा आदि दुष्कर्म अथवा भगवद्भक्ति आदि सत्कर्म कदापि निष्फल नहीं होते। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म या जन्मों में उनका फल अवश्य ही मिलता है। इसलिए कर्म और कर्मफल के कार्य-कारण भाव में कभी अतिक्रमण (विपरीत) नहीं हो सकता।^१

भगवती सूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है—“परलोक में किये हुए कई कर्मों का फल इस लोक में भोगा जाता है, इसी प्रकार इस लोक में किये हुए कई कर्मों का फल परलोक में भोगा जाता है।”

केवल इतनी-सी बात के लिए ईश्वर को कर्मफल-दाता बनाकर न्यायाधीश के सिंहासन पर बिठाने और अनेक दोषों से लिप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

वैदिक धर्म एवं जैन धर्म मान्य परमात्मा में परमात्मस्वरूप सम्बन्धी मतभेद

वैदिक धर्म और जैनधर्म की परम्परा में परमात्मा के सम्बन्ध में कर्ता-धर्ता और फलदाता को लेकर जरा-सा मतभेद है, किन्तु जैन-दर्शन परमात्मा की सत्ता को पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। वह आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, कर्म और कर्मफल आदि सभी बातों को मानता है। जैन-दर्शन अधात्म-साधना का लक्ष्य बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बनना, आत्मा से परमात्मा बनना, परमात्म-पद प्राप्त करना बताता है। वह वैदिक दर्शनों की भाँति परमपिता परमात्मा को जगत् का कर्ता, भाग्य-विधाता, कर्म प्रेरक एवं कर्मफलदाता स्वीकार नहीं करता।

परमात्मा से सम्बन्धित तीन रूप

अधात्म जगत् में परमात्मा के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। सूक्ष्म रूप से चिन्तन करने पर उन मान्यताओं को तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम रूप—परमात्मा एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता, सर्वशक्तिमान् है, वही जगत् का निर्माता, त्राता, संहर्ता है। वही जगत् के जीवों का भाग्य-विधाता और कर्मफल-प्रदाता है। संसार में जो कुछ हो रहा है, वह सब परमात्मा के सक्ति से ही होता है। उसके इशारे के बिना वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिल

१. (क) या हिंसावतोऽपि समृद्धिः अर्हत्पूजावतोऽपि वारिद्र्यावाप्तिः सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम्। तत्क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलितस्यति, इति नाऽत्र नियतकार्यकारणभाव व्यभिचारः॥” —जैनाचार्य

(ख) कर्मवादः एक अध्ययन, से भावांश ग्रहण, पृ. ६९

२. परलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति, इहलोककडा कम्मा परलोए वेइज्जति।

सकता। वही संसार का सर्वसर्वा है। परमात्मा पापियों का नाश करने तथा धार्मिक लोगों का उद्धार व परित्राण करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप में संसार में अवतरित होता है, युग-युग में जन्म लेता है। वह वैकुण्ठ धाम से या विष्णु लोक से नीचे उतरता है अथवा मनुष्य, पशु आदि के रूप में जन्म ग्रहण करता है और अपनी लीला दिखाकर वापस वैकुण्ठ धाम में जा विराजता है। वह सदैव पूजनीय, नमस्करणीय और संस्मरणीय है।

यह परमपिता परमात्मा का एक रूप है। परमात्मा के इस रूप को सनातनधर्म मानते हैं। इसमें मनुष्यों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का कोई मूल्य नहीं है, जो कुछ है वह सब परमपिता पर ही निर्भर है।

द्वितीय रूप—परमात्मा एक है, अनादि है, अनन्त है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान् है। सभी जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं। उसमें परमात्मा का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यह जीव की इच्छा पर निर्भर है कि वह सत्कर्म करे या दुष्कर्म। परमात्मा का उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु जीवों को उनके कर्मों का फल परमात्मा प्रदान करता है। परमात्मा दुष्कर्मकारी पापियों का विनाश करने और सत्कर्मकारी धर्मात्मा सज्जनों का परित्राण एवं उद्धार करने और अपनी लीला दिखाने के लिए मनुष्यादि के रूप में अवतरित नहीं होता। परमात्मा सदैव पूजनीय, वन्दनीय और संस्मरणीय है।

यह परमपिता परमात्मा का दूसरा रूप है, इसमें मनुष्य परमात्मा के बराबर खड़ा है। इसमें उसको अपनी इच्छानुसार कर्म करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। वह किसी के अधीन नहीं। परन्तु कर्मफल की प्राप्ति के लिए उसे परमात्मा के द्वार खटखटाने पड़ते हैं। परमात्मा का यह रूप आर्य समाज द्वारा मान्य है।^१

तृतीय रूप—परमात्मा का तीसरा रूप इस प्रकार है—प्रत्येक आत्मा में परमात्मभाव का निवास है। उस पर कर्मों का आवरण आया हुआ है। शरीर को आत्मा मानने वाला बहिरात्मा जब अपने ऊपर छाये हुए कर्मविरणों को दूर करके अन्तरात्मा बन जाता है और वही सम्यग्दृष्टिसम्पन्न तप-संयम से युक्त अन्तरात्मा धीरे-धीरे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर आत्मगुणघातक चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है, और वीतराग केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) अर्हत् परमात्मा बन जाता है, फिर शेष चारों ही कर्मों का क्षय करके चौदहवें गुणस्थान में अयोगी केवली होकर निरंजन, निराकार, विदेह, सर्वकर्ममुक्त, सिद्ध, बुद्ध परमात्मा बन जाता है।

१. ज्ञान का अमृत, से सारांश ग्रहण, पृ. ७६-७७

अतः व्यक्ति की दृष्टि से परमात्मा एक नहीं, अनन्त है, किन्तु परमात्मभाव की दृष्टि से सभी परमात्मा समान हैं। सभी में परमात्मभाव एक जैसा ही है। परमात्मा सादि भी है, और अनादि भी है। एक जीव की अपेक्षा परमात्मभाव सादि है, और सभी मुक्तात्माओं की अपेक्षा से परमात्मभाव अनादि है। परमात्मभाव अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं आने पाता। परमात्मा व्यक्ति की अपेक्षा सर्व व्यापक नहीं है, किन्तु उसके ज्ञानालोक में समग्र विश्व आभासित हो रहा है, अतः ज्ञान की अपेक्षा से वह सर्वव्यापक है।

मुक्त परमात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक सुख, और अनन्त आत्मशक्ति से सम्पन्न है।

वह जगत् का कर्ता, धर्ता-संहर्ता नहीं है। और न ही वह कर्म-प्रेरक है, न कर्म-फलदाता है। संसार के किसी भी प्रपंच में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। समस्त जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं। परमात्मा जीव को कर्म करने की प्रेरणा नहीं देता; न ही किसी कर्म को करने का निषेध करता है।

जीव जैसा-जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल उसे स्वतः मिल जाता है। कर्मकर्ता के आत्मप्रदेशों पर लगे हुए (श्लिष्ट) कर्म परमाणु ही उसे (जीव को) नियमानुसार अपना फल स्वयं दे देते हैं। परमात्मा का उसके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई बास्ता नहीं है। कर्मफल पाने के लिए परमात्मा माध्यम नहीं बनता। जीव का कर्म या कर्मफल परमात्मा के अधीन नहीं है। जीव किसी भी दृष्टि से परमात्मा के अधीन नहीं है। वह स्वतंत्र है।

सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा पुनः संसार में अवतरित नहीं होता। वह अवताररूप में आकर किसी का विनाश या उद्धार (परित्राण) नहीं करता। वह न किसी को मारता है, न जिलाता है। सभी जीव अपने-अपने आयुष्य कर्म के अनुसार जीते-मरते हैं। जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता-हन्ता है। स्वर्ग और नरक, मनुष्य के अपने-अपने सत्कर्म (पुण्य) और दुष्कर्म (पाप) के परिणाम हैं। अपनी जीवन नैया को तारने-डुबोने वाला जीव स्वयं ही है। ईश्वर को इससे कोई वास्ता नहीं है।

इसके बावजूद भी परमात्मा अध्यात्मसाधना का सर्वोपरि साध्य है। वही अन्तिम ध्येय है। मनुष्य को अपने भीतर सोये हुए परमात्मभाव को जगाकर सर्वकर्मों को काट कर एक दिन परमात्म-लोक में पहुँचना है। यह परमपिता परमात्मा का तीसरा रूप है, जो जैनधर्म परम्परा द्वारा मान्य है।^१

१. वही, पृ. ७८

इस दृष्टि से परमपिता परमात्मा वंदनीय, पूजनीय, नमस्करणीय और संस्मरणीय है। इस तीसरे परमात्मरूप में मनुष्य को ही प्रधानता दी गई है। परमात्मा का स्थान केवल ध्येय या लक्ष्य के रूप में ही यहाँ रखा गया है।

कर्मविज्ञान-क्षेत्र में ऐसे परमात्मा की क्या उपयोगिता है?

यहाँ एक प्रश्न होता है—जैनदर्शन के अनुसार जब परमात्मा कुछ कर्ता-धर्ता एवं जगत्-निर्माता नहीं है, और न ही जगत् के जीवों का भाग्य विधाता और कर्म-फल-प्रदाता है तथा संसार के किसी भी प्रपंच में उसका हस्तक्षेप नहीं है, और न वह हमारा कुछ लाभ-नुकसान कर सकता है; तब फिर परमात्मा का भजन-पूजन करने की, उसकी भक्ति-स्तुति करने की तथा उसको वन्दन-नमन एवं उसका स्मरण-कीर्तन करने की क्या आवश्यकता है? कर्मविज्ञान के क्षेत्र में ऐसे परमात्मा की क्या उपयोगिता है?

परमात्मा की स्तुति-भक्ति आदि से महान् लाभ

जैनकर्मविज्ञान के अनुसार वीतराग जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त परमात्मा का स्मरण, कीर्तन, गुण-चिन्तन, तथा उनकी स्तुति-भक्ति आदि आत्मशुद्धि, आत्मशान्ति, आत्मसमाधि एवं आत्मविकास के लिए अत्यावश्यक माना गया है।^१

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि चतुर्विंशति अर्हत् (वीतराग) परमात्मा की स्तुति (स्तव) करने से जीव दर्शन (सम्यक्त्व) विशुद्धि प्राप्त कर लेता है। परमेष्ठी तथा परमात्मा के वन्दन से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्च गोत्र कर्म का बन्ध कर लेता है तथा अप्रतिहत सौभाग्य को एवं आज्ञाफल को प्राप्त कर लेता है। साथ ही वह दाक्षिण्यभाव (जनता के द्वारा अनुकूल भाव) भी उपलब्ध कर लेता है। इसी प्रकार वीतराग परमात्मा का स्तव एवं उनकी स्तुति मंगल करने से जीव को सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप बोधिलाभ प्राप्त होता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप बोधिलाभ से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया (मुक्ति) के योग्य अथवा (कल्पों) वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना कर लेता है।^१

आवश्यक सूत्र में बताया गया है कि इन पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करने से समस्त पापकर्मों का प्रणाश होता है। तथा इन वीतराग मुक्त सिद्ध परमात्मा का कीर्तन (गुणानुवाद), वन्दन और पूजन करने से आध्यात्मिक जीवन में स्वस्थता और उत्तम समाधि प्राप्त हो जाती है।^१

१. वही (पं. ज्ञानमुनिजी) से, पृ. ७९

२. (क) चडवीसत्थएणं दंसण विसोहिं जणयइ।—उत्तराध्ययन अ.२९ सू. ९

(ख) वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ ॥”

—उत्तरा. अ. २९ सू. १०

जैसे दर्पण को देखकर मनुष्य अपने चेहरे पर लगे हुए दाग को साफ कर लेता है, वैसे ही परमात्मा को आदर्श मानकर मनुष्य अपनी आत्मा के दागों को धो सकता है। आत्मा पर काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, अज्ञान, अबोध आदि विकारों के दाग लगे हुए हैं, प्रभु के स्मरण एवं कीर्तन से इनका सदबोध प्राप्त होता है, और व्यक्ति वीतराग परमात्मा से अपनी आत्मा की तुलना करके उन विकारों के कालुष्य को तथा कर्मों के आवरण को दूर करके वीतराग मुक्त परमात्म-पद पाने के लिए प्रेरित होता है। संसारी जीव सविकार है, और परमात्मा निर्विकार है, दोनों में कर्म मलिनता और कर्म रहितता का ही अन्तर है। इस अन्तर को मनुष्य आत्मा और परमात्मा के चिन्तन-मनन और बोध से मिटा सकता है। जैन कर्म विज्ञान बताता है कि परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने हेतु सर्वकर्मों का क्षय करने की साधना से तथा आत्म-स्वरूप में रमणता से आत्मशुद्धि एवं आत्मशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है।

ईश्वर और जीव में अन्तर कर्मों का है

जैन दर्शन का यह मन्तव्य है कि ईश्वर और जीव में विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। कर्मावरणों के हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। आशय यह है कि जीव अपने कर्मों से बंधा हुआ है, और ईश्वर उन सब कर्मों से मुक्त हो चुका है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—

“आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है।
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है, ना खेद है॥”

अशुद्ध आत्मा संसारी : शुद्ध आत्मा मुक्त परमात्मा

जैसे सोने में से मैल निकाल दिया जाए तो सोने के अशुद्ध रहने का कोई कारण नहीं है, वह शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा में से कर्ममल दूर हो जाए तो फिर आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है। अशुद्ध आत्मा संसारी है और शुद्ध आत्मा मुक्त परमात्मा है।

(ग) “यव-शुद्ध-मंगलेण नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभ-संपत्ते य णं जीवे अंतकिरियं कप्प विमाणोवयतिगं आराहणं आराहेइ॥”

—उत्तरा. अ. २९ सू. १४

(घ) “एसो पंच णमोकारो, सव्वपावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं पदमं हवइ मंगलं॥”

—नमस्कार महासंत्र

(ङ) कित्तिथ-वदिय-महिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा,
आरुणं बोहि लाभं समाहियरमुत्तमं दित्तु॥”

—चतुर्विंशतिस्तव पाठ से

१. ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण, पृ. ७९

२. वैश्व की झांकी (उपाध्याय अमरमुनि) से, पृ. १६८

प्रत्येक जीव कर्म करने, फल भोगने, कर्म निरोध और कर्म क्षय करने में स्वतंत्र

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक जीव कर्म के लिए जैसे स्वतंत्र है, वैसे ही स्वयं कर्मफल भोगने में भी तथा समभाव से कर्मफल भोग कर तथा नये कर्मों के आगमन को रोकने और प्राचीन कर्मों को तप एवं संयम से क्षय करने में भी वह स्वतंत्र है। उसमें ईश्वर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है।

जड़ कर्म अपना फल कैसे देते हैं? संक्षिप्त समाधान

जैनकर्मविज्ञान पर यह आक्षेप है कि कर्म जड़ हैं, वे अपना फल कैसे प्रदान कर सकते हैं? इसका समाधान हम अगले निबन्ध में विस्तार से करेंगे।^१ यहाँ तो इतना ही कहना है कि माना कि कर्म जड़ हैं, परन्तु जब जीव के साथ उनका सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क से कर्मों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि वे जीव पर अच्छा-बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। जिस प्रकार नेगेटिव और पोजिटिव तार अलग-अलग रहते हैं, तब उनसे बिजली पैदा नहीं होती, किन्तु जब वे दोनों तार मिल जाते हैं, तब उनमें बिजली की शक्ति पैदा हो जाती है और उससे हीटर, कूलर, पंखा, रोशनी आदि में स्विच ऑन करते ही स्वतः संचालन क्रिया हो जाती है। इसी प्रकार जीव (चेतन) के संयोग से कर्म में ऐसी शक्ति स्वतः पैदा हो जाती है कि वह अच्छे बुरे विपाकों (कर्मफलों) को नियत समय पर स्वतः प्रकट कर देता है।

जैन कर्म विज्ञान यह नहीं मानता कि चेतन के सम्पर्क के बिना ही जड़कर्म फल देने में समर्थ हैं; परन्तु यह अवश्य मानता है कि कर्मों का फल प्रदान करने के लिए ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं, उनमें रागादि विकारों के कारण कर्म परमाणु प्रविष्ट और श्लिष्ट हो जाते हैं और समय पर अपना फल देते हैं।

कर्म कर्ता चाहे या न चाहे, कर्म अपना फल अवश्य देता है

सांसारिक जीव चाहे अल्पज्ञ हो, अपने सुख-दुःख को समझने में समर्थ न हो, कर्म-कर्ता चाहे या न चाहे फिर भी कर्म तो अपना फल स्वयमेव ही दे देते हैं। विषमज्ञ कर लेने पर कोई व्यक्ति चाहे या न चाहे, विष अपना प्रभाव उस पर दिखलाता ही है।^२

इसलिए यह आक्षेप भी निराधार है कि प्रायः जीव बुरे कर्म (पाप) करते हैं, किन्तु उनका फल पाना या भोगना नहीं चाहते; क्योंकि सारे ही जीव चेतन हैं, वे जैसा कर्म करते हैं, उस समय परिणाम भी वैसे बन जाते हैं, बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है,

१. कर्म अपना फल कैसे प्रदान करते हैं? निबन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है।-सं.

२. कर्मग्रन्थ भाग १ (प्रस्तावना) (मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म.) से, पृ. २९

जिससे बुरे कर्म की इच्छा न रहने पर भी वे मोहाविवश ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि उन्हें अपने कर्मानुसार स्वतः फल मिल जाता है।

कर्म करना और फल न चाहना, ये दोनों अलग-अलग स्थितियाँ हैं। केवल चाह न होने से ही कृतकर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। जैसे तीर छूट जाने पर उसे वापस लौटाना तीर छोड़ने वाले के वश की बात नहीं है, वैसे ही कर्म बन्ध जाने पर तथा उदय में आने पर उसका फल भोगना ही पड़ता है। जब तक कर्म संचित (सत्ता में) रहता है, तब तक कर्मकर्ता चाहे तो उसके फल में परिवर्तन कर सकता है। यह अलग बात है। सामग्री एकत्रित होने पर कार्य स्वतः होने लगता है। जैसे-एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खा रहा है, फिर वह चाहे कि पिपासा न लगे तो उसकी पिपासा रुक नहीं सकती, वैसे ही कर्म फलते समय तीव्र-मन्द जैसे भी रागादियुक्त परिणाम होते हैं तदनुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं, जिनसे प्रेरित होकर कर्मकर्ता जीव स्वयं बरबस कर्मफल भोगता है, उसके फलप्रदान में ईश्वर की कोई प्रेरणा नहीं होती।

जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं ही फल पाता है, कर्म ही फलदाता है

अतः जैनकर्मविज्ञान का अकाट्य सिद्धान्त है कि जीव जैसे कर्म करने में स्वतंत्र है, वैसे ही वह उस कर्म का फल भोगने में भी स्वतंत्र है, पराधीन नहीं; अर्थात्-ईश्वर या दूसरे के अधीन नहीं। मकड़ी स्वयं जाला बुनती है और स्वयं ही उसमें फंस जाती है। क्या मकड़ी को जाले में फंसाने के लिए किसी दूसरे नियामक की आवश्यकता रहती है? शराबी शराब पीता है तो क्या शराबी को शराब के सिवाय दूसरी कोई शक्ति आती है—नशा चढ़ाने के लिए? शराब को वह स्वयं ही पीता है, तभी शराब उसे नशा चढ़ाती है और शराब के नशे से मुक्त भी वही हो सकता है? मिर्च खाने वाला व्यक्ति स्वयं ही मिर्च खाता है, स्वयं मिर्च ही खाने वाले का मुँह जलाती है, तो क्या मुँह जलाने के लिए और कोई आता है मिर्च के सिवाय?

इसीलिए चाणक्य नीति में कहा गया है—“आत्मा स्वयं (अच्छ-बुरा) कर्म करता है, और स्वयं ही उसका फल भोगता है। स्वयं ही कर्मवश संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही कर्मों से मुक्त होता है।”

जैनाचार्य अमितगति सूरि ने भी ठीक ही कहा है—“पहले अपने द्वारा कृतकर्म का शुभाशुभ फल स्वयं ही जीव पाता है, स्वतः ही भोगता है। कोई देवी, देव, नियति, ईश्वर या अन्य कोई समर्थ व्यक्ति कर्मफल या कर्मफल के रूप में सुख-दुःख देता है, ऐसा मानने पर स्वयं कर्म करना व्यर्थ सिद्ध होता है।”

इसीलिए निष्कर्ष और उपदेश के रूप में आचार्य अमितगति कहते हैं—संसारी देहधारी जीव अपने ही किये हुए कर्मों का फल पाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई किसी को कुछ भी (कर्मफल) देता-लेता नहीं है। हे भद्र ! अनन्यचित होकर इस विचारधारा पर अटल निष्ठा रखकर यही सोचना चाहिए तथा दूसरा कोई कुछ (कर्मफल) दे देता है, इस बुद्धि (विचारधारा) का त्याग कर देना चाहिए।

तार्क्य यह है कि संसारी जीवों को कर्मों का फल-प्रदाता ईश्वर या तथाकथित कोई भी विशिष्ट चेतन-तत्त्व सिद्ध नहीं होता। कर्मकर्ता जीव को कर्म अपना फल नियमानुसार स्वयं ही प्रदान करते हैं। जीव को अपने कृत-कर्मों का फल स्वतः ही देर-सबेर से प्राप्त होता रहता है; और जब तक वह नये कर्मों का निरोध और पुराने कर्मों का क्षय स्वतः नहीं कर लेता, तब तक स्वतंत्र रूप से कर्म करता रहता है, और उनका फल भी भोगता रहता है। ईश्वर का कर्म करने की प्रेरणा करने में और उन कर्मों का फल भुगवाने में कोई हाथ नहीं है।

ईश्वर कर्मफलदाता नहीं : एक दृष्टि में

ईश्वर को कर्मफल-दाता मानने पर निम्नलिखित दोषाप्तियाँ आती हैं—

(१) यदि ईश्वर को पूर्वजन्मकृत कर्मों के शुभाशुभ फल का प्रदाता माना जाए तो जीव के द्वारा स्वयं किये गए कर्म व्यर्थ हो जाएँगे।

(२) यदि ईश्वर जीवों को कर्मफलप्रदान उनके पुण्य-पाप के अनुसार करता है तो ईश्वर को स्वतंत्र कहना व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि वह फल-प्रदान करने में अदृष्ट की सहायता लेता है। जीवों को अपने अदृष्ट के अनुसार (शुभाशुभ कर्मोदय से) तो स्वतः सुख-दुःख प्राप्त हो जाता है फिर ईश्वर की फलदाता के रूप में कल्पना करना व्यर्थ है।

(३) अदृष्ट के अचेतन होने से किसी बुद्धिमान् की प्रेरणा से ही ईश्वर फल दे सकता है, यह कथन भी उचित नहीं है। फिर तो हम लोगों की प्रेरणा से भी अदृष्ट फल दे सकता है। अतः ईश्वर-प्रेरणा से अदृष्ट के द्वारा फल देने की बात भी ठीक नहीं है।

१. (क) वही, पृ. ७६

(ख) स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥

—चाणक्य नीति

(ग) स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

निजाजितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।

विचारयत्रेव मनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥

— सामायिक पाठ

क्योंकि अदृष्ट तो दूसरे की प्रेरणा के बिना ही स्वयोग्यता एवं क्षमता के अनुसार जीवों को सुख-दुःख प्राप्त कराता है। ईश्वर को जीवों के अदृष्ट का कर्ता मानना भी उचित नहीं, क्योंकि जीव स्वयं अपने पुण्य-पाप आदि कर्मों का कर्ता है।

(४) ईश्वर-प्रेरणा से जीव शुभाशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि जीव पूर्वोपार्जित पुण्य पापकर्मों के उदय होने पर शुभाशुभ परिणामानुसार ही कार्य में प्रवृत्त होता है।

(५) ईश्वर को कर्मफलदाता मानने से उसे कुम्भकार की तरह शरीरधारी कर्ता मानना पड़ेगा। कुम्भकार तो शरीरी है, किन्तु ईश्वर अशरीरी है। वह किसी को दिखाई नहीं देता। अतः मुक्त आत्मा की तरह अशरीरी ईश्वर किसी के कर्मों का फलदाता नहीं हो सकता।

(६) ईश्वर को शुभाशुभ कर्मों का फलदाता मानने पर किसी को निन्दनीय कार्य का दण्ड नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि वैसे कार्यों के लिए उन जीवों को ईश्वर ने ही प्रेरित किया है। मगर उन जीवों को हत्या आदि कुकर्मों का दण्ड मिलता है। इसलिए ईश्वर को किसी को शुभाशुभ कर्मों का फलदाता मानना अनेक दोषों से परिपूर्ण और न्यायोचित नहीं है।

इन सब तथ्यों के प्रकाश में ईश्वर कर्मफलदाता सिद्ध नहीं होता, कर्म ही अपना फल स्वयं देते हैं।

1. (क) जैनदर्शन में आत्म विचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से सारांश ग्रहण पृ. २१८-२१९
- (ख) बह्दर्शन समुच्चय टीका का० ४६ पृ. १८२-१८३
- (ग) विस्तृत विवेचन के लिए देखें—अष्टसहस्री, प्रमेय कमल भार्तण्ड, स्याद्वाद-मंजरी आदि ग्रन्थ।

कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?

पूर्व प्रकरण में हमने विभिन्न दृष्टियों से ईश्वर द्वारा कर्मफल-प्रदातृत्व का खण्डन किया है, जिससे यह सिद्ध हो गया कि जीव को उसके कर्मों का फलदाता ईश्वर या कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। आत्मा स्वयं शुभाशुभ कर्म करता है, और स्वयं ही कर्म के प्रभाव से अर्थात्-कर्मों की फलोत्पादनशक्ति से उसका फल भी भोग लेता है। इस दृष्टि से कर्म स्वयं ही जीव को फल प्रदान करता है, दूसरे शब्दों में कहें तो—कर्म स्वयं ही जीव को अपने-अपने कृतकर्म का फल भुगवाता है।

जड़ कर्म अपना फल कैसे देता है?

प्रश्न हो सकता है—कर्म तो पुद्गल हैं, जड़ हैं, अजीव हैं, चेतनारहित हैं, और ज्ञान तो जीव को होता है; क्योंकि वही उसका गुण है, अजीव कर्मों को ज्ञान तो होता नहीं। अतः कर्म को न तो अपने शुभ या अशुभ होने का ज्ञान है, और न ही उसे यह ज्ञान है कि इस कर्म का यह फल है, उस कर्म का वह, या यह कर्म अच्छा है तो उसका फल अच्छा देना चाहिए तथा वह कर्म बुरा है तो उसका फल बुरा देना चाहिए। संक्षेप में, कर्मों को शुभ या अशुभ रूप में फल प्रदान करने का कोई ज्ञान नहीं होता। स्पष्ट शब्दों में कहें तो—जड़ कर्मों को क्या पता है—किस प्राणी को, कहाँ, कब, किस रूप में और कैसे सुख-दुःख रूप फल देना है? ऐसी स्थिति में जब उन जड़ कर्मों को यह सब ज्ञान ही नहीं है, तब भला वे कैसे यथोचित और यथाव्यवस्थित रूप में जीव को यथासमय उसके द्वारा कृत शुभ या अशुभ कर्म का फल दे सकेंगे?

कर्म ज्ञानशून्य अवश्य है, शक्ति शून्य नहीं

प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, सामयिक है, परन्तु जैनकर्मविज्ञान-भर्मज्ञ तीर्थंकरों, आचार्यों एवं विशेषज्ञ मुनियों तथा मनीषियों ने इस प्रश्न का बहुत ही सुन्दर और युक्तिसंगत, अनुभूतियुक्त एवं श्रुतियुक्त समाधान दिया है।

१. ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण पृ. ४०

जैनकर्मविज्ञान का कथन है कि कर्म जड़ है, चेतनारहित है, इस सत्यता से कोई इन्कार नहीं है, कर्म पुद्गलों की जड़ता जैन जगत् में आवाल वृद्ध प्रसिद्ध है, किन्तु जड़ कर्मपुद्गलों में कोई शक्ति नहीं है, वे सर्वथा शक्तिविहीन हैं, यह जानना और मानना कथमपि उचित नहीं है। संसार में कर्म के सिवाय अन्य अनेकों जड़ पदार्थ हैं। अणु-परमाणु भी जड़ हैं, औषधियाँ, दवाइयाँ, इंजेक्शन आदि भी जड़ हैं, रोटी, दूध, दही, घी, तेल, मिर्च, मसाले, मद्य आदि तथा अन्य पकाये हुए खाद्य पदार्थ भी जड़ हैं। संसार के समस्त पदार्थ बिना किसी की प्रेरणा के, अथवा बिना किसी ज्ञान के अपना प्रभाव दिखलाते ही हैं। जड़ पदार्थ अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी शक्ति का चमत्कार बताते देखे गए हैं। इस तथ्य से कोई भी समझदार व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता कि अणुबम, परमाणु बम आदि जड़ पदार्थों ने हिरोशिमा और नागासाकी पर कितना कहर बरसा दिया? अणुबम का विस्फोट कितना भयंकर, कितना शक्तिशाली और संहारकारक, एवं विनाशक होता है? इस तथ्य से सभी परिचित हैं।

आहार ग्रहण करने के बाद की स्वतः प्रक्रिया की तरह कर्म ग्रहण के पश्चात् फलदान प्रक्रिया

हम आहार करते हैं। आहार के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, खींचते हैं। उसके बाद वह आहार स्वतः पचाने वाले रस के साथ मिलकर पकता है। इसकी स्वतः क्रिया से वह सारे शरीर में फैला। जो सारभूत था, वह मस्तिष्क आदि विभिन्न अवयवों में गया। जो निःसार भाग था, वह मल-मूत्रादि बनकर बाहर निकला। बड़ी आंत में गया तो उत्सर्जकिया हुई। ये सब क्रियाएँ शरीर में आहार के पहुँचते ही स्वतः होने लगती हैं। आहार के उन गृहीत पुद्गलों का वर्गीकरण भी हो जाता है, विभाजन भी। आहार में गृहीत पुद्गलों के स्वभाव का भी स्वतः निर्णय हो जाता है। आहार पेट में डालने के पश्चात् व्यक्ति कोई भी क्रिया नहीं करता है—पचाने की; रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि धातु स्वयं निर्मित होते चले जाते हैं। जहाँ जो होना है, वह स्वतः होता चला जाता है। शक्ति भी मिल जाती है और ऊर्जा भी। इसके सिवाय भी आहार करने के पश्चात् गृहीत खाद्य पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार काम करने लगते हैं। जैसे—किसी के शरीर में चिकनाई की आवश्यकता है, वहाँ ख्राये हुए स्निग्ध पदार्थ स्वयमेव उसकी पूर्ति कर देते हैं। जहाँ प्रोटीन, श्वेतसार या जिस-जिस विटामिन की जरूरत होती है, वहाँ वे पदार्थ भोजन के द्वारा पहुँच कर काम करने लगते हैं।

दवा शरीर में जहाँ रोग है, वहाँ पहुँचकर काम करती है

हमें यह बहुत आश्चर्यजनक लगता है कि शरीर के अमुक हिस्से में रोग होता है,

बीमार पेट में दवा लेता है, किन्तु वह दवा जहाँ बीमारी है, वही पहुँचकर उस बीमारी को मिटाने का काम करती है। मस्तक में दर्द है तो वह दवा वही पहुँच कर उस दर्द को मिटा देती है। पेट दुखता है तो वह दवा पेट में ही पहुँचकर उसकी पीड़ा को शान्त कर देती है। प्रश्न होता है, ज्ञानशून्य दवा को क्या पता है, अमुक जगह रोग है, उसे मुझे मिटना है! कौन उसे वहाँ पहुँचाता है और रोग मिटाता है? पेट में दर्द है तो वह दवा आँख में क्यों नहीं पहुँचती? कोई ईश्वर उस रोग को नहीं मिटाता, न ही अन्य कोई शरीर में जाकर क्रिया करता है? इसका समुचित समाधान यह है कि शरीर में जो जीव द्वारा आहत पुद्गल हैं, उनमें ऐसी स्वाभाविक शक्ति और आकर्षण व्यवस्था है कि शरीर के जिस अंग में, जिस तत्त्व की कमी है, उसे दवा के परमाणु पुद्गल जीव के द्वारा पेट में डालते ही वह उस दिशा में स्वतः आकृष्ट होकर चले जाते हैं और उस तत्त्व की पहले पूर्ति का देते हैं। शरीर में प्रोटीन की कमी है तो आहार में लिया हुआ प्रोटीन उन्हीं अंगोपांगों या सैलों की ओर खिंच जाता है।

कर्मपुद्गल भी आकृष्ट होकर आने के पश्चात् स्वतः कार्य करते हैं

यही तथ्य कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध में समझिए। कर्म पुद्गलों का ग्रहण करना भी एक प्रकार का आहार है। व्यक्ति की शारीरिक-मानसिक चंचलता के कारण कर्मपुद्गल आकृष्ट होते हैं। कर्मपुद्गल आकर उसके आत्मप्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं। मिल जाते हैं। फिर उन कर्मपुद्गलों का स्वभाव के अनुसार विभाजन या वर्गीकरण होता है। कर्म जीव के साथ मिलते ही अपना कार्य शुरू कर देते हैं। कर्ता के कषायों तथा रागद्वेष परिणामों के अनुसार उनकी फल भुगवाने की कालसीमा निर्धारित होती है। जिस प्रकार कर्मपरमाणु गृहीत होते हैं, वे अपने सजातीय परमाणुओं द्वारा आकर्षित किये जाते हैं। फिर वे उसी दिशा में सक्रिय होकर अपना काम करना शुरू कर देते हैं। उनमें फल देने की शक्ति स्वतः पैदा हो जाती है। जीव के द्वारा कर्म परमाणुओं के आकृष्ट होते ही उनमें एक विशिष्ट क्षमता पैदा हो जाती है। उसे जैनकर्मविज्ञान की भाषा में कहते हैं—अनुभाग बन्ध (रसानुभाव), उसी का फलितार्थ है—कर्म की फलप्रदान शक्ति या क्षमता। उसके लिए ईश्वर को कर्मफल का नियंता मानने की जरूरत नहीं।

कर्मों की फलदान शक्ति में तरतमता क्यों?

जिस प्रकार संसार के सभी परमाणुओं में एक सरिखी क्षमता या शक्ति नहीं होती, उसमें भी विभिन्न प्रकार की तरतमता होती है, उसी प्रकार कर्मों में या एक ही प्रकार के कर्म में सदा एक सरिखी शक्ति निर्मित नहीं होती। कर्म परमाणुओं की संरचना के कारण तथा व्यक्ति की रागादि परिणामों की तीव्रता-मन्दता के आधार पर कर्मों की फलदान शक्ति में तरतमता होती है।

कर्मों की फलदान शक्ति में तारतम्य क्यों?

बीमार आदमी को डॉक्टर देखता है, उसे उसके रोग के अनुसार अमुक दवा या इंजेक्शन लिख देता है। चर्मरोग है तो वह विटामिन डी को लेने की सलाह देता है। विटामिन डी में चर्मरोग मिटाने की शक्ति है, किन्तु होम्योपैथिक डॉक्टर रोगी की प्रकृति, रोग की तीव्रता-मन्दता देखकर ही हाई या लो पोटेन्सी (शक्ति) वाली गोलियाँ सेवन करने को कहता है। होम्योपैथिक दवाइयाँ ६, ३०, १००, २००, १००० से लेकर लाख पोटेन्सी तक की होती हैं। उन दवाइयों की क्षमता के अनुसार वे रोग को मिटाने में समर्थ होती हैं।

यही बात कर्मों की फलदानशक्ति के सम्बन्ध में है। यदि राग द्वेष तीव्र होता है तो कर्मपुद्गलों की फलदानशक्ति भी तीव्र हो जाती है, मन्द होता है तो फल देने की शक्ति भी मन्द होती है। जिस प्रकार दवाओं के सेवन के पश्चात् उसका मनचाहा परिणाम लाना डॉक्टर या रोगी के हाथ की बात नहीं; उसका परिणाम स्वतः निर्मित होता है। इसी प्रकार कर्म करने के बाद उसका मनचाहा या न्यूनाधिक फल पाना कर्ता के हाथ की बात नहीं, कर्म में स्वतः उद्भूत शक्ति से फल प्राप्त होता है। कर्मों की फलदानशक्ति कर्ता के रागादि परिणामों की तीव्रता-मन्दता पर आधारित है। कर्म को स्वयं अच्छे-बुरे या फलदान का ज्ञान नहीं होता, किन्तु जीव के रागद्वेषादि परिणाम के साथ स्वतः आकृष्ट होकर फल देने की उसमें शक्ति उद्भूत हो जाती है।

मद्य और दूध की तरह ज्ञानशून्य होने पर भी कर्म अपना प्रभाव दिखाता है

मद्य और दूध दोनों जड़ पदार्थ हैं। इन दोनों को अपने बुरे और अच्छे फल का कोई बोध नहीं होता, तथापि इन दोनों में बुरा और अच्छा प्रभाव डालने की क्षमता देखी जाती है। दूध ज्ञानहीन होते हुए भी सेवन किये जाने पर पेट में पहुँचता है एवं रसभाग और खल भाग के रूप में विभक्त होकर अलग-अलग रूप में परिणत हो जाता है। दूध को अपने माधुर्य, शक्तिवर्द्धकता एवं स्वास्थ्यपोषकता आदि सद्गुणों का कोई बोध नहीं होता, फिर भी जब मनुष्य गाय, भैंस या बकरी आदि का दूध पीता है, तब वह पीने वाले के जीवन में अपनी विशेषताओं का प्रभाव दिखाता है। दुग्धपान करने से श्रान्त और क्लान्त व्यक्ति में नवजीवन का संचार होता है। क्षुधा से पीड़ित मनुष्य अथवा उपवास, बेला, तेला आदि तपस्या में रत मानव जब दूध से पारणा करता है, तो शरीर में स्फूर्ति, शक्ति, ताजगी और नवचेतना आ जाती है। दूध के सेवन से विद्यार्थी को बौद्धिक शक्ति मिलती है। दुग्धमुहे बालक को माता का दूध मिलते ही उसके उत्साह और बल में वृद्धि होती है।

प्रश्न होता है, दूध का चमत्कार तो हम सबका जाना माना है, दूध को इस प्रकार का प्रेरक अथवा दूध में शक्ति संचार कर्ता या स्फूर्तिप्रेरक कौन है? यह सत्य है कि दूध के परमाणुओं में स्वतः ऐसी शक्ति निहित है, जो प्राणी के सेवन करते ही उसके मुर्झाए हुए जीवन-पुष्प को विकसित कर देते हैं। सेवन कर्ता को दूध स्वयं ही स्फूर्ति और शक्ति के रूप में फल प्रदान करता है। जैसे—दूध जड़ है, अपनी गुणसम्पदा से सर्वथा अनभिज्ञ है, अपने में निहित विशिष्ट शक्तियों का उसे कोई ज्ञान नहीं है, फिर भी सेवन करने वाले व्यक्ति के जीवन में अपना फल प्रगट करता है; बौद्धिक और शारीरिक दृष्टि से उसे परिपोषण देता है; तथैव कर्म जड़ है, अपनी विशिष्ट शक्तियों से अनभिज्ञ है, फिर भी वह उसके कर्ता के जीवन को अपनी शक्तियों से चमत्कृत एवं प्रभावित करता है, कर्मकर्ता जीव को अच्छे-दुरे फल प्रदान करता है।^१

मदिरा की फल देने की शक्ति से भी आप सब परिचित हैं। जब कोई व्यक्ति मद्यपान कर लेता है, देशी या विदेशी शराब, वाइन, व्हिस्की आदि पी लेता है, तो वह पीने वाले को नशा चढ़ाती है, नशे में धुत होकर वह उछलता, कूदता है, नाचता है, अंटशंट बकता है, गाली गलीज करता है, बेसुध होकर नालियों में गिर जाता है।^२ और तो और, मद्यपान करने वाले की ऐसी चिनीनी और विकृत दशा हो जाती है कि कुत्ते भी उसके मुँह में पेशाब कर जाते हैं। मद्य या दूध पीने के बाद यह जरूरत नहीं होती कि उसका फल देने के लिए ईश्वर या कोई दूसरा नियामक आए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मदिरा जड़ होते हुए भी उसके सेवन करने वाले को स्वयं अपना अशुभ फल प्रदान करती है; उसके जीवन को प्रभावित करती है।

ज्ञानशून्य मिर्च और चीनी कैसे मुंह जला देती है और मीठा कर देती है

जड़ लाल मिर्च को क्या ज्ञान है खाने वाले आदमी का मुँह जलाने का? फिर भी वह खाने वाले का मुँह जलाती है। अधिक खाने वाला मुख से सी-सी शब्द करता है, उसके चेहरे पर पसीना आने लगता है। मिर्च को ऐसा फल देना किसने सिखाया था? परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे खाने वाले के मुँह को चरपरा कर देती है।

इसी प्रकार चीनी या चीनी की बनी हुई मिठाइयाँ खाने वाले का मुँह मीठा कर देती हैं। चीनी को क्या ज्ञान है, माधुर्य रूप फल देने का? फिर भी जड़ चीनी के परमाणुओं में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि वह खाने-पीने वाले का मुँह मधुरता से

१. कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. ३५-३६

२. ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण पृ. ४२

सराबोर कर देती है। साथ ही अधिक चीनी और चीनी की मिठाइयाँ खाने वाले व्यक्ति के शरीर में वे मधुमेह, पायरिया, कृमिरोग आदि भी पैदा कर देती हैं।

मिर्च या चीनी खाने के बाद मुंह जलाने या मुँह मीठा करने ईश्वर या कोई अन्य नियामक नहीं आता।

इसी प्रकार विभिन्न खाद्य पदार्थों और दवाइयों में ज्ञानशून्यता होने पर भी उनके परमाणुओं में चेतन के साथ सम्पर्क होने पर एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत जड़ पदार्थों की शक्ति का चमत्कार

जड़ परमाणुओं की विलक्षण कार्यक्षमताएं आज किसी से छिपी नहीं हैं। क्या पठित और क्या अपठित सभी आज वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत परमाणुओं की स्वयं स्फूर्त, स्वतः उत्पन्न शक्तियों के अनेक आश्चर्योत्पादक चमत्कार देखते हैं, अनुभव करते हैं। बिजली की शक्ति के अनेक चमत्कार तो आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामोफोन, टेलिफोन, टेलीविजन, रेडियो, वायरलैस, बीडिओ कैसेट, टेप रिकार्डिंग आदि अनेकानेक आधुनिक जड़ जगत् के प्रतिनिधि वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत विभिन्न परमाणुओं के चमत्कार भी परमाणु शक्ति को उजागर करते हैं। इन सब वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत पदार्थों में किसी ईश्वर, देवी-देव या कोई अन्य शक्ति काम नहीं करती, यहाँ तो परमाणुशक्ति के ही ये सब चमत्कार हैं।

उदाहरणार्थ—रेडियो एक वैज्ञानिक आविष्कार है। इससे हजारों मील दूर बैठे संगीत, भाषण सुना जाता है। इसमें कहाँ तो बोलने वाला बैठा है, कहाँ सुनने वाला ? परन्तु इस यंत्र में ऐसी शक्ति है कि यह भाषा के परमाणुओं को पकड़ लेता है, और उन्हें उसी भाषा के रूप में दूर-दूर तक प्रसारण कर देता है। इसी प्रकार के अन्य यंत्रों में भी परमाणुओं की शक्ति के अनेक विध चमत्कार हैं।

जैनकर्मविज्ञान द्वारा निर्दिष्ट कर्म भी कामणवर्गणा के परमाणुओं की शक्ति का अनेकविध चमत्कार है। जिस प्रकार ये वैज्ञानिक उपकरण या यंत्र भी भाषा वर्गणा आदि के परमाणुओं को दूर से आकर्षित-आहूत होकर वहाँ श्लिष्ट या स्थित हो जाते हैं। और फिर अपना चमत्कार दिखाते हैं। इसी प्रकार कर्मयोग्य (कामणवर्गणा) के परमाणु भी जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों से आकृष्ट होकर जीव के आत्मप्रदेशों के साथ श्लिष्ट या सम्बद्ध हो जाते हैं, तो जीव के शुभाशुभ अध्यवसायों के अनुसार उन कर्मों में शुभ या अशुभ कर्मफल देने की शक्ति भी स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जिससे वे समय आने पर अपने-आप शुभ या अशुभ कर्मों का फल सुख या दुःख के रूप में प्रकट करते रहते हैं। इस प्रकार कर्म जड़ होता हुआ भी कर्मकर्ता के जीवन को प्रभावित और चमत्कृत कर देता है। वह समय आने पर जीव को अच्छे-बुरे फल प्रदान करता है।

जड़-परमाणुओं की विलक्षण शक्ति के चमत्कार

परमाणुओं में कितनी आकर्षण और विस्मयोत्पादक विलक्षण शक्ति है, और आधुनिक वैज्ञानिकों ने उन परमाणुओं की शक्ति का अन्वेषण करके किस-किस प्रकार से असम्भव को सम्भव करके दिखला दिया है? इसके कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण पण्डितवर्ग श्री ज्ञान मुनिजी ने प्रस्तुत किये हैं—

“उन दिनों भारत के जाने-माने वैज्ञानिक श्री हंसराज जी ‘वायरलेस’ लुधियाना आए। उन्होंने वहाँ के आर्यसमाज मंदिर (दाल बाजार) में वैज्ञानिक शक्तियों के अनेकों आश्चर्योत्पादक चमत्कार दिखलाए। परमाणुओं के विचित्र और विलक्षण चमत्कारों का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने मस्तिष्क को चकरा देने वाली अनेकों वस्तुएँ जनता के समक्ष रखी थीं—

१. आवाज पर चलने वाला बिजली का पंखा—... एक बिजली का पंखा दिखलाया, जो सुयोग्य पुत्र की तरह आज्ञा का पालन करता है—‘चलो’ कहते ही चल पड़ता है तत्काल हवा फेंकने लगता है और ‘रुको’ कहते ही तत्काल खड़ा हो (स्थिर हो) जाता है। हवा बिखेरना बंद कर देता है।
२. अद्भुत नल—... यह नल इतना विस्मयोत्पादक है कि मनुष्य के सामने और निकट आते ही जल गिराने लगता है और जब मनुष्य उसके आगे से हट जाता है, तब तत्काल जल गिराना बंद कर देता है।
३. बिजली का बल्ब—बिजली का एक ऐसा बल्ब दिखलाया गया, जो बिजली के पंखे की तरह मालिक के आदेशानुसार काम करता है। उसे ‘जलो’ यह आज्ञा देते ही वह तत्काल प्रकाशमान हो उठता है, परन्तु जब उसे ‘बुझ जाओ’ यह संकेत किया जाता है, तो वह तत्काल बुझ जाता है, प्रकाश देना बंद कर देता है।
४. जीवित मानव (शरीर) का रेडिओ (यंत्र)—यह विज्ञान का एक विलक्षण चमत्कारिक आविष्कार है। मनुष्य को एक विशेष प्रकार का मिक्सचर (एक पेंच औषधि, जिसमें कई दवाइयाँ मिली रहती हैं) पिला दिया जाता है। उस मिक्सचर के शरीर में प्रवेश करते ही उक्त मनुष्य का शरीर रेडिओ (यंत्रवत्) बन जाता है। उससे फिर रेडिओ का प्रोग्राम (कार्यक्रम) सुना जा सकता है।
५. टेलीविजन—टेलीविजन का शाब्दिक अर्थ है—व्यवधान रहते हुए भी दूर की वस्तु को देखने की क्रिया। वैसे यह एक वैज्ञानिक यंत्र है, जिससे कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों के चित्र देखे जाते हैं। टी. वी. स्टेशन में कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले

जैसा कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं, जैसे बोलते, नाचते, गाते हैं, जैसा अभिनय करते हैं, जिस तरह बातें करते हैं, वह ज्यों का त्यों टेलीविजन में दृष्टिगोचर होता है। टी. वी. (के पर्दे) पर चलचित्र की फिल्में भी दिखाई जाती हैं।

... इनसे परमाणुओं में अवस्थित अद्भुत शक्तियों के चमत्कारों का बड़ी सफलता के साथ परिचय प्राप्त हो जाता है। कितनी विचित्र बात है कि हाथ लगाए बिना ही बिजली के बल्ब और पंखे को आज़ा देते ही जगमगा उठता है तथा पानी का नल भी सम्मुख आते ही पानी नीचे गिराने लगता है। जब हाथों के स्पर्श बिना ही केवल जीभ से उच्चारण किये हुए भाषा के परमाणुओं के प्रभाव से बिजली का पंखा चल पड़ता है, अथवा बल्ब प्रकाशमान हो उठता है, तब आत्मा पर लगे हुए या लगाने वाले कर्म-पुद्गल-परमाणु प्राणि जीवन में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल कर दें, या जीव के अध्यवसाय के अनुसार कभी सुखी और कभी दुःखी बना दें, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ऐसा भी नहीं है कि बल्ब और पंखे का स्वयं जलने और स्वयं चल पड़ने के पीछे कोई अदृश्य (परोक्ष) शक्ति काम कर रही है, किन्तु मुख से निकलने वाले भाषा के परमाणुओं का ही बिजली के बल्ब पर या पानी के नल पर अव्यक्त रूप से ऐसा प्रभाव पड़ता है कि बल्ब जल उठता है, पानी नल से चलने (गिरने) लगता है।

इनके अतिरिक्त परमाणु शक्ति के आज तो और भी नये-नये चमत्कारपूर्ण आविष्कार देखे-सुने जाते हैं, जिन्हें जानकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि कर्मपरमाणुओं में जीव को कृतकर्मानुसार फल देने की शक्ति नहीं है। इन आविष्कारों में कतिपय चमत्कारपूर्ण आविष्कार ये हैं—

1. टेलीप्रिंटर—टेलीग्राफ और टेलीफोन के आविष्कार तो अब बहुत पुराने हो चुके हैं। टेलीप्रिंटर जैसे एक विलक्षण यंत्र का भी आविष्कार हो चुका है जो दुनिया में घटित विशिष्ट घटनाओं की सूचना देता है। एक स्थान पर एक मनुष्य बोलता है, तो दूसरे स्थान पर यह यंत्र स्वतः (ऑटोमैटिक) उसे टाइप करता जाता है, जिसे दैनिक समाचारपत्र के सम्पादक अपने पत्र में छाप देते हैं।
२. बेरोमीटर—धर्मामीटर जैसे शरीर का तापमापक यंत्र होता है, वह जड़ पारे के कारण शरीर से स्पर्श करते ही उसकी गर्मी अंकित कर देता है, लेकिन बेरोमीटर मौसम की सूचना देता है। वह जहाँ भी लगा दिया जाता है, वहाँ के पारिपार्श्विक वातावरण में सर्दी, गर्मी, हवा, आंधी, तूफान, वर्षा आदि की सूचना स्वतः अंकित कर देता है। यह जड़ की शक्ति का अद्भुत नमूना है। तीन

दिनों में आकाश की क्या स्थिति रहेगी? वह साफ रहेगा या बादलों से आच्छादित? वायुमण्डल में गर्मी रहेगी या सर्दी? इसे यह यंत्र ठीक-ठीक बतला देता है।

३. कम्प्यूटर—यह एक ऐसा गणकयंत्र है, जिसके माध्यम से लाखों की संख्या का जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि का यथार्थरूप से बहुत ही शीघ्र लगभग एक मिनट में जाना जा सकता है। एक गणितज्ञ व्यक्ति हिसाब में भूल कर सकता है, लेकिन कम्प्यूटर यंत्र कभी जोड़ आदि में भूल नहीं करता। आजकल तो कम्प्यूटर के द्वारा नीकरी के उम्मीदवार व्यक्ति का इंटरव्यू भी लिया जाता है।

आजकल तो ऐसी मशीनें भी आ गई हैं, जो रोग का भी सही निदान कर लेती हैं। रोगी के फोटो पर से भी रोग का निदान करने वाले यंत्र आविष्कृत हो चुके हैं। ऐसी भी एक मशीन का आविष्कार हुआ है, जो रोग होने से पहले ही रोग की सूचना दे देती है, ताकि व्यक्ति सावधान हो जाय।

वैज्ञानिकों ने आज ऐसे यंत्र का भी आविष्कार किया है, जो हृदयरोगी के शरीर के साथ लगा देने के बाद यदि हृदय का दौरा पड़ने की स्थिति बनने लगती है तो आवाज करने लगता है। यह यंत्र रोगी की भावी रोगाक्रान्त स्थिति को सूचित करने में सहयोगी बनता है।

४. रोबोट—यह लौहनिर्मित मानव है। जो बटन दबाते ही संकेत के अनुसार काम करने लगता है। यह मनुष्य की तरह किन्तु मनुष्य से बहुत शीघ्र काम करता है। यह आश्चर्योत्पादक सेवक है, जिसके साथ मनुष्य को माक्षापच्यी नहीं करनी पड़ती। जिस कार्य का संकेत किया जाता है, उस कार्य को वह वफादारी पूर्वक ठीक ढंग से करता है।

५. लोहे की बनी गाय—विदेशों में ऐसी एक लोहनिर्मित गाय का भी आविष्कार हुआ है, जिसमें दुग्धोत्पादक सभी पदार्थ (जिन्हें खाकर असली गाय दूध देती है) उस लोह निर्मित गाय में डाल दिये जाते हैं। बस वे चार-पाँच घंटे में ही रासायनिक प्रक्रिया से घुल-मिल कर एक रूप हो जाते हैं और उसे दुहने पर बिल्कुल दूध जैसा ही पदार्थ निकलता है। यह भी परमाणुओं की रासायनिक शक्तियों का चमत्कार है।

६. राडार यंत्र—यह यंत्र वायुयानों के आगमन की और उनकी गति की सूचना भर दे देता है। यह यंत्र इतना सशक्त होता है कि किसी भी दिशा से आ रहे हवाई जहाज का संकेत दे देता है कि जहाज इतनी दूरी से, इतनी गति से आ रहा है? इस प्रकार का बोध जड़ के प्रतिनिधि राडार यंत्र से होता है।

७. राकेट (प्रक्षेपणास्त्र) —यह मिसायल सरीखा यंत्र होता है, जिससे हवाई जहाज मार गिराए जाते हैं। आजकल तो ऐसे भी राकेट यंत्रों का निर्माण हो गया है, जो शत्रु के गुप्त अड्डों का पता लगाकर उन गुप्त अड्डों के फोटो लेकर वापस स्वयमेव वहीं आ जाता है, जहाँ से चला था। कितनी विलक्षण शक्ति है जड़ पुद्गल परमाणुओं में या उनसे निर्मित यंत्रों या पदार्थों में ?

८. मिसाइल—यह स्वयंचालित (ऑटोमैटिक) यंत्र है। यह कई किस्म का होता है। जैसे—(१) टैंकों को तोड़ने वाला, (२) वायुयान को नष्ट करने वाला और (३) दूसरी मिसाइल को रोकने वाला। मिसाइलों में कोई चालक नहीं होता, यह यंत्र स्वयं ही चलता है। टैंकों को तोड़ने वाला मिसाइल, उनकी समस्त शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर डालता है। वायुयानों को नष्ट करने वाले मिसाइल विशेष अड्डे से छोड़े जाते हैं और अमुक स्थान विशेष तक मार करते हैं।

कई मिसाइल तो ऐसे होते हैं जो हजार माइल दूर तक जाकर जहाज को मार गिराते हैं। ऐसे मिसाइल वायुयान का पीछा करते हैं, जिधर को वह मुड़ता है, मिसाइल भी उधर ही मुड़ जाता है और जहाज की दिशा में पहुँचकर आखिरकार उसे गिराकर ही दम लेता है। ये मिसाइल एटम (परमाणु) से चलते हैं। परमाणुशक्ति (एटमिक एनर्जी) इसका संचालन करती है।

ऐसे मिसाइल भी होते हैं, जो शत्रु के मिसाइल को रोकते हैं। अगर किसी शत्रु ने किसी वायुयान के पीछे मिसाइल छोड़ दिया, ऐसी स्थिति में वायुयान वाले उस मिसाइल को रोकने और उसे नष्ट करने के लिए उस मिसाइल के पीछे अपनी ओर से एक और मिसाइल छोड़ देते हैं। वह मिसाइल शत्रु के मिसाइल का पीछा करता है और अन्त में, उसे समाप्त कर देता है।

९. एपोलो—अमेरिका के द्वारा आविष्कृत इस यंत्र ने संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है। इसने चन्द्रलोक की यात्रा करके वहाँ से मिट्टी खोदकर लाने का अपूर्व कार्य किया है, ऐसा वहाँ के वैज्ञानिकों का कथन है।

एपोलो यंत्र पारमाणविक (एटमिक) ईंधन से चलता है। यह लगभग मालगाड़ी जितना लम्बा है। इसमें लगभग ७५ लाख छोटे-बड़े कलपुर्जे होते हैं। इसकी ऊँचाई तीन मंजिल जितनी होती है। इसमें १० व्यक्तियों के लेटने और सोने की जगह होती है। एपोलो का जहाँ निर्माण होता है, वहाँ लगभग २०० कारखाने काम करते हैं। इसके निर्माण में छोटे-बड़े लगभग एक लाख वैज्ञानिक लगते हैं।

इसमें एटमिक (परमाणविक) ईंधन से चलने वाले लगभग ७ इंजन होते हैं। चलते समय इसकी गति धीमी होती है, परन्तु जब ये भूमि के आकर्षण क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं तो इनकी गति अत्यन्त तेज हो जाती है, और वापस जब ये भूमि पर उतरते हैं तो इनकी गति और भी तीव्र हो जाती है।

वैज्ञानिकों के कथनानुसार जिस एपोलो ने चन्द्रमा पर चन्द्रपालकी को उतारा था, वह चन्द्रमा की धरती से लगभग १० मील ऊपर चक्कर लगाता था। इस एपोलो में तीन व्यक्ति बैठे थे। इनमें से दो को नीचे (पृथ्वी) से आदेश मिला कि आप चन्द्रपालकी में चले जाएँ। तदनुसार उनके चन्द्रपालकी में चले जाने पर चन्द्रपालकी को निर्धारित समय पर एपोलो से अलग कर दिया गया। और वे दोनों व्यक्ति चन्द्रमा की धरती पर उतर आए। चन्द्रपालकी रात को १ बजे वहाँ उतरी थी, उस समय वहाँ घोर अन्धकार था, किन्तु पालकी की रोशनी के कारण वहाँ अंधेरा नहीं रहा। उसके प्रकाश में वे दोनों व्यक्ति पालकी से नीचे उतरे, चन्द्रमा की धरती से उन्होंने मिट्टी ली, पत्थरों से अपनी जेबें भरीं। चन्द्रपालकी को लगभग २०० गज दूर छोड़कर वे लोग वहाँ भ्रमण करते रहे। अन्त में, वे पुनः पालकी में आ गए। तदनन्तर पालकी ऊपर उठी और ऊपर घूमने वाले एपोलो (राकेट) से जुड़ गई।

वैज्ञानिकों का कहना है कि ऊपर से तीनों व्यक्तियों ने जब अपने पेट में दर्द होने की सूचना दी तो उन्हें नीचे (भूतल) से सूचना दी गई कि हम इसकी छानबीन करते हैं। फिर उन्होंने पता लगाया कि एपोलो इस समय अमुक वायुमण्डल में है, इस कारण उनके शरीर पर ऐसा प्रभाव हो सकता है। अतः उन्होंने एपोलो-स्थित व्यक्तियों को सूचित किया कि आप लोग अमुक दवा का सेवन करें, इससे आपका पेट-दर्द मिट जाएगा। इस सूचनानुसार उन तीनों ने उक्त दवा का सेवन किया, जिससे उनका पेट दर्द मिट गया। वे स्वस्थ हो गए।

कितनी विलक्षण बात है कि इस भूतल पर बैठे हुए वैज्ञानिकगण इस पृथ्वी के आकर्षण क्षेत्र से बाहर एपोलो पर, उसके साथ जुड़ी हुई चन्द्रपालकी पर, तथा चन्द्रपालकी में अवस्थित मनुष्यों की गतिविधि पर पूर्णतया नियंत्रण रख रहे हैं और अपने संक्रिय के अनुसार उसे चला रहे हैं। उनकी एक-एक क्षण की गतिविधि से वे अवगत हैं। यह सब परमाणु शक्तियों के अनुपम चमत्कारों का जीता-जागता निदर्शन है। इन सबमें किसी भी देवी-देव या ईश्वर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है।

१०. लूनोखोद-यह एशिया का नया चमत्कारिक यंत्र है, जो कार के आकार का है। यह चन्द्रमा के भूतल पर भ्रमण करता है और वहाँ की भूमि को खोदता है, वहाँ की मिट्टी एकत्रित करके उठाता है। इसकी एक खूबी यह है कि एशिया के वैज्ञानिकों ने इसका गेयर (Gear) बदल दिया है। इसमें एक लेबोरेट्री भी है, जो सभी वस्तुओं का चेकअप (जांच-पड़ताल) करके उसके फोटो नीचे (पृथ्वी पर) भेजती है। एक विलक्षण बात यह है कि इस यंत्र में बैठा हुआ मनुष्य जब सांस लेता है तो उस सांस की भी आवाज नीचे (पृथ्वी तल पर) बैठे हुए वैज्ञानिक सुन सकते हैं। इतना ही नहीं, उस यंत्र में कोई खराबी हो जाए तो नीचे के वैज्ञानिक लोग नीचे बैठे-बैठे ही उसे सुधार सकते हैं। इतना नियंत्रण और घनिष्ठतम सम्पर्क लूनोखोद से हजारों मील दूर नीचे बैठे हुए वैज्ञानिकों का है। यह परमाणुशक्ति का ही चमत्कार समझना चाहिए।

जड़ टाइमबम चेतनाहीन है, फिर भी उसके साथ टकराने या छूने से वह समय पर फूटता है और तबाही मचा देता है।

अतः अब यह कहने और सोचने का युग बीत गया है कि परमाणु जड़ है, इसे अपने भले-बुरे का ज्ञान-विवेक नहीं है, वह क्या कर सकता है? अब तो विविधलक्षी परमाणुओं की विलक्षण शक्ति साकार होकर सामने आ रही है और कर्म-परमाणुओं की विलक्षण शक्तियों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर यथार्थता को प्रमाणित और उद्घोषित करने जा रही हैं।^१

जड़ पदार्थों की शक्ति का प्रकटीकरण आत्मचेतना का सम्पर्क होने पर ही

एक बात इस सम्बन्ध में अवश्य समझ लेनी चाहिए कि इन विविध जड़ परमाणुओं में या जड़ पदार्थों में अमुक-अमुक फल देने की जो शक्ति निर्मित होती है, वह आत्मचेतना का सम्पर्क होने पर या जीव के द्वारा अमुक विधि से उससे सम्पर्क करने पर-सम्बद्ध होने पर या प्रेरित करने पर ही वह अपना प्रभाव दिखला सकती है, वह शक्ति उजागर होकर अपना यथोचित फल दे सकती है।

जैसे-कि उपर्युक्त पारमाणविक विविध यंत्रों का भी मनुष्यों के द्वारा सम्पर्क-संचालन या सम्बन्ध होने पर ही उनका यथोचित प्रभाव देखा गया अथवा उनकी यथायोग्य फलप्रदान शक्ति का प्रत्यक्षीकरण हुआ, इसी प्रकार कर्मपरमाणुओं में फल देने की शक्ति तो पड़ी रहती है, मगर वह व्यक्त तभी होती है जब कर्मपरमाणु जीव के रागद्वेषादि परिणामों से आकृष्ट होकर आत्मा से सम्बद्ध-श्लिष्ट हो जाते हैं, और तभी

१. वही, साभार उद्धृत, पृ. ५३

शुभ या अशुभ अध्यवसायों के अनुसार उनमें फल देने की शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

आशय यह है—जब जीव (आत्मा) के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध या श्लेष होता है, अर्थात्—कर्मपरमाणुओं के साथ आत्म-चेतना का सम्पर्क होता है, तब वही शक्ति काल-परिपाक होने पर (समय पाकर) उस कर्मकर्ता जीव (आत्मा) को सुख या दुःख के रूप में फल प्रदान करती है।

जैन कर्मविज्ञान का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि जीव (आत्मा) के साथ सम्बद्ध होने पर ही कर्मपरमाणु अपना फल दे सकते हैं। आत्म-चेतना के साथ सम्पर्क हुए बिना ही कर्म अपना फल देते हैं, यह जैनकर्म-विज्ञान का सिद्धान्त नहीं है।

प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि जड़ पदार्थों का अन्य जड़ पदार्थों पर भी संयोग के कारण प्रभाव दिखाई देता है। जैसे—पारस संयोग पाकर लोहे को स्वरूप में परिवर्तित कर देता है। वस्त्र विभिन्न रंगों के परमाणुओं का संयोग पाकर चित्र-विचित्र रंगों को प्राप्त हो जाता है, तो फिर चेतन का संयोग पाकर जड़ कर्म अधिक शक्तिशाली बन जाँ, इसमें आश्चर्य ही क्या है?'

उदाहरण द्वारा तथ्य का स्पष्टीकरण

एक उदाहरण से हम इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं—मान लीजिए, एक लोटे में भांग अधिक से अधिक तेज घोंटकर रखी हुई है, अथवा अंगूरी शराब बोतल में रखी हुई है; क्या वह भांग लोटे को और शराब बोतल को नशा चढ़ा सकती है? अथवा वह भांग या शराब पास में बैठे हुए व्यक्तियों पर अपना कुछ भी प्रभाव दिखला सकती है? स्पष्ट है—लोटे या बोतल को भांग तथा शराब का नशा नहीं चढ़ता, न ही पास में बैठे हुए व्यक्तियों पर उनका कोई प्रभाव पड़ता है। इसका कारण है—भाँग या शराब तभी नशा चढ़ाती है, जब किसी आत्मचेतना (जीवित जीव-चेतनायुक्त जीव) के साथ उसका सम्पर्क, सम्बन्ध या संग हो। मुर्दे के पेट में भाँग या शराब उड़ेल देने पर उस पर उनका कोई नशा नहीं चढ़ता, न ही कोई प्रभाव होता है।

आशय यह है कि जब कोई जीवित (चेतनायुक्त) व्यक्ति भांग या शराब पीता है, आत्मचेतना के साथ उनका सम्पर्क संग होता है, तभी जाकर वे नशा चढ़ाती हैं; आदमी उनके नशे में धुत्त होकर उन्मत्त और पागल-सा हो जाता है; बड़बड़ाता है।

ठीक यही स्थिति कर्मपरमाणुओं या अन्य परमाणुओं की है। अकेले अन्य परमाणुओं या कर्मपरमाणुओं में अपना फल शुभ या अशुभ रूप में या यथोचित रूप में

प्रकट करने की क्षमता नहीं है। भांग या शराब की भाँति कर्मपरमाणुओं या अन्य परमाणुओं में शक्ति तो रहती है, पर उस शक्ति की अभिव्यक्ति आत्मचेतना (जीवित व्यक्ति) का सम्पर्क, सम्बन्ध या संग होने पर ही होती है। जीव भी कर्म परमाणुओं का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध (सम्पर्क-श्लेष) होने पर कर्मपरमाणुओं की उस-उस प्रकार की फलोत्पादन शक्ति से प्रेरित होकर ऐसी चेष्टाएँ या प्रवृत्तियाँ करता है, जो उसके लिए सुखकारक या दुःखकारक होती हैं।^१

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष चिन्तन से आत्मप्रदेशों में एक प्रकार की हलचल (कम्पन) होती है। इसके परिणामस्वरूप कर्म पुद्गल आकृष्ट होकर चिपक जाते हैं। जैसे-कैमरा आकृति को, रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लोहे के कणों को खींचता है वैसे ही रागादि परिणाम द्रव्यकर्म कार्मणवर्गणा को आकर्षित करते हैं।

आशय यह है कि जीव के कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्द (हलचल, क्रिया या प्रवृत्ति) के समय राग-द्वेषादि काषायिक भावों के निमित्त से जो कर्म-परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होकर बंध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओं में शराब या दूध की तरह अच्छा या बुरा फल देने की शक्ति रहती है, जो चैतन्य के सम्पर्क से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव डालती है। और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे कार्य करता है, जो उसके लिए सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। इसका रहस्य यह है कि कर्म में अपने आप में सुख-दुःख प्रदान करने की शक्ति नहीं है, किन्तु यह शक्ति चेतन द्वारा (चेतन-संयोग से) ही प्राप्त होती है। चेतन का संयोग पाकर कर्म की फलदान शक्ति बलवत्तर हो जाती है, जिसके प्रभाव से देवेन्द्र, नरेन्द्र, एवं धर्मेन्द्र तीर्थंकरों तक को कठोर यंत्रणा भोगनी पड़ती है।^२

यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं, तो बंधने वाले कर्म-परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में उसका अच्छा ही फल मिलता है। इसी प्रकार यदि जीव के भाव बुरे होते हैं तो बंधने वाले कर्मपरमाणुओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में उसका फल भी बुरा ही मिलता है।

मानसिक (मनोवर्गणा) पुद्गलों का चेतन पर प्रभाव

मानसिक भावों का अचेतन पदार्थ पर कैसे प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभाव के कारण उस अचेतन पदार्थ का परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के हेतु हमें विकित्सकों और वैद्यों के भोजन-सम्बन्धी नियमों पर दृष्टिपात करना चाहिए।

१. कर्मवाद : एक अध्ययन से भावांश ग्रहण पृ. ७७

२. पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) से सारांश ग्रहण पृ. १५

आयुर्वेदशास्त्र के नियमानुसार भोजन करते समय मन में किसी प्रकार का क्रोध, रोष, उद्विग्नता, शोक, व्यथा, पीड़ा या वैमनस्यभाव नहीं होना चाहिए। भोजन करने के आधा घंटा पहले से लेकर भोजन करने के आधा घंटा पश्चात् तक मन में किसी भी प्रकार का अशान्तिकारक विचार आना हितावह नहीं होता। शान्त और अक्षुब्ध मनःस्थिति में जो भोजन किया जाता है, उसका परिपाक अच्छा होता है, वह भोजन विकृतिकारक नहीं होता। इसके विपरीत शोक-भय-काम-क्रोधादि भावों की मनःस्थिति में भोजन किया जाए तो उसका परिपाक ठीक नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि कर्ता के भावों का प्रभाव अचेतन वस्तु पर भी पड़ता है और उसी के अनुसार उसका विपाक होता है।

ठीक यही बात अचेतन कर्मपुद्गलों के विषय में समझ लेनी चाहिए। कर्म-कर्त के मानसिक तीव्र-मन्द शुभ-अशुभ अध्यवसायों या परिणामों का प्रभाव कर्मपरमाणुओं पर पड़ता है, और उसी के अनुसार उसका अच्छा या बुरा, तीव्र या मन्द विपाक (परिपाक) होता है, और कालान्तर में तदनुसार अपने आप उक्त कर्म का वैसा ही सुखकारक या दुःखकारक फल मिल जाता है।'

कर्म अपने आप ही फल दे देते हैं, अन्य नियामक की आवश्यकता नहीं

यह ठीक है कि कोई भी जीव स्वेच्छा से अपने अशुभ कर्मों का दुःखद कटुफल नहीं भोगना चाहता, परन्तु कर्मों के फल देने के नियमों में कोई परिवर्तन, रियायत, खुशामद, या आरजू-मित्रत आदि नहीं चलती। कर्मकर्ता चाहे या न चाहे, उसे तो निपट समय पर—कर्म की स्थिति का परिपाक होने पर उसके फलोन्मुख होने (उदय में आने) पर—भोगना ही पड़ता है। जैसे—कोई व्यक्ति स्वादलिप्सावश अस्वास्थ्यकर भोजन करता है तो उसके शरीर में रोग उत्पन्न होता है। वह इस रोग का तनिक भी इच्छुक नहीं है। फिर भी स्वास्थ्य-विरुद्ध हानिकारक भोजन करने का फल व्याधि या बीमारी के रूप में उसे भोगना ही पड़ता है।

इससे स्पष्ट है कि कर्मफलदायक नियम भी एक प्रकार की शक्ति के रूप में हैं, जो मनुष्य की इच्छा तथा मानवीय (मानव की आत्मिक या शारीरिक) शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी अपना कार्य करते रहते हैं। अतः यह शक्ति न तो स्वयं चेतन या चेतनजन्य है और न किसी एक विशिष्ट चेतन व्यक्ति (ईश्वर) में केन्द्रित होकर कार्य करती है; और न ही यह कर्मफल-प्रदात्री शक्ति जीव के शरीर से बाहर किसी स्थान पर केन्द्रित होकर परस्पर विरोधी कर्मवाले भिन्न-भिन्न जीवों को उनके विभिन्न कर्मों का फल दे सकती है।

इसलिए मानना पड़ता है कि यह कर्मफलप्रदात्री शक्ति प्रत्येक जीव के भीतर शक्तिरूप से सदृश होते हुए प्रति व्यक्ति (प्रत्येक प्राणी) में पृथक्-पृथक् है।

आशय यह है कि यद्यपि जड़ कर्म चेतनशक्ति के अभाव में स्वतः फल नहीं दे सकते, किन्तु इसके साथ ही जैन कर्मविज्ञान यह मानता है कि कर्मों को अपना फल देने के लिए कर्ता से भिन्न अन्य चेतन सत्ता की अथवा ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहती।

कर्मफलदात्री शक्ति का आधार : कार्मण शरीर

उष्णता, विद्युत् आदि प्राकृतिक सूक्ष्म या स्थूल पदार्थ के समान इस कर्मफल-प्रदात्री शक्ति का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। इस कर्मफलप्रदात्री शक्ति का आधार आत्मा तो हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञानादिमय है; इसके विपरीत कर्मशक्ति का स्वभाव ज्ञानादि गुणों को आच्छादित एवं विकृत करना है। अतः उसका आधार उस शरीर (कर्मशरीर) को मानना पड़ेगा, जो आत्मा के साथ परलोक में जाते समय भी रहता है। इसलिए कर्मफल प्रदान करने वाला कर्मपुद्गल के अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बना हुआ (सूक्ष्म) कार्मण शरीर ही है, जो सारे शरीर में व्याप्त है; आत्मा के साथ ही साथ रहता है तथा स्थूल पदार्थों से बनी हुई दीवार, छत आदि में भी प्रविष्ट होकर आसानी से आत्मा के साथ ही साथ निकल जाता है।

आशय यह है कि यह सूक्ष्म कार्मण शरीर जीव द्वारा पूर्वकृत समस्त कर्मों के फल देने की शक्ति से युक्त सूक्ष्म कर्मपुद्गलपरमाणुओं का पुंज है। कर्मफलदात्री शक्ति से युक्त इन कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ सूक्ष्म कार्मणशरीर के रूप में सम्बन्ध रहता है। वह सूक्ष्म (कार्मण) शरीर अर्थात्—कर्मपरमाणु पुंज ही आत्मा को एक योनि और गति से दूसरी योनि एवं गति में ले जाते हैं और शरीर से सम्बद्ध सभी इन्द्रिय, योग, उपयोग, वेद आदि निर्धारित करते हैं।

जब जीव नये कर्म करता है, तब उस कर्म के अनुसार फल देने वाली शक्ति कुछ नवीन सूक्ष्म कर्म-परमाणुओं में स्वतः उत्पन्न हो जाती है; तथा ये (नये) कर्म-शक्तियुक्त परमाणु उस जीव के पहले से विद्यमान सूक्ष्म कार्मण शरीर में प्रविष्ट होकर सम्मिलित एवं सम्बद्ध हो जाते हैं।^१

कर्मफल प्रदान करने वाली यह शक्ति किस प्रकार की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है ? इसे समझने के लिए एक उदाहरण ले लीजिए। जैसे—दो पदार्थों के परस्पर संघर्षण से उष्णताशक्ति उत्पन्न हो जाती है; जो कुछ देर तक स्थिर रहकर बाद में आकाश में लुप्त हो जाती है। अथवा जैसे—मस्तक के केशों में सेलुलाइड का कंधा करने से उस कंधे में

१. कर्म-मीमांसा से भावांश ग्रहण, पृ. ४३-४४

आकर्षण (खींचने की) शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वह कंधा सूई के बारीक तंतुओं को आकर्षित करने लगता है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति मन-वचन-काया से कोई कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया करता है तो उसके निकटवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलचल उत्पन्न हो जाती है। वे सूक्ष्म कर्मपरमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। उनमें उस व्यक्ति के कर्मानुसार फल देने की शक्ति अपने आप पैदा हो जाती है। इन कर्मशक्तियुक्त परमाणुओं का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह-सम्बन्ध हो जाता है। और ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु पूर्व विद्यमान सूक्ष्म (कार्मण) शरीर में मिल जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् जब कार्मण शरीरस्थ कर्मपरमाणु क्रियाशील होते हैं यानी फलोन्मुख होते हैं, तब उनका प्रभाव उस जीव पर पड़ने लगता है, अर्थात्-कर्म-शक्ति अभिव्यक्त होने लगती है।

वे कर्मपरमाणु जीव की ज्ञान-दर्शन शक्ति को आवृत्त कर देते हैं, उसकी सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की शक्ति को कुण्ठित, विकृत एवं मोहित कर देते हैं; उससे उस जीव की मनोवृत्ति में असर पड़ जाता है, उसकी लेश्या या भावना तीव्र-मन्द राग-द्वेष रूप या क्रोधादि कषायरूप हो जाती है। उसके शरीर की गति-मति में, उसकी बुद्धि में, उसके रहन-सहन और व्यवहार में काफी फर्क पड़ जाता है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों या विषयों का संयोग-वियोग होने पर उसे तीव्र-मन्द-सुख या दुःख की अनुभूति (अनुभव) होने लगती है। उसकी ज्ञानादि शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार उस जीव को, विशेषतः उस मनुष्य को, अपने पूर्वकृत कर्मों का फल अपने आप मिलने लगता है। अतः कर्मफल भुगवाने के लिए, परमात्मा या अन्य किसी विधाता या नियन्ता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।^१

आत्मा के योग (मन-वचन-काय) तथा रागद्वेषादि काषायिक भावों के निमित्त से जब कर्मवर्णना के परमाणु-पुद्गल कर्म के रूप में परिणत होकर आत्मा से सम्बद्ध होते हैं, तब उनमें चार प्रकार की बन्धशक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है—(१) कर्मों का स्वभाव (प्रकृति), (२) उनकी स्थिति (काल-मर्यादा), (३) उनकी फल देने की शक्ति तथा (४) उनका परिमाण (संख्या)। उन बद्ध कर्मपरमाणुओं में जो फल देने की शक्ति निर्मित होती है, वही शक्ति काल-परिपाक होने पर आत्मा को सुख या दुःख के रूप में कर्मों का फल देती है।^१

जब इन कर्मपरमाणुओं की कर्मशक्ति कार्य करती-करती क्षीण हो जाती है तब वे कर्म शक्तिविहीन हो जाते हैं, तब इनका सम्बन्ध सूक्ष्म कार्मण शरीर से छूट जाता है।^१

१. कर्ममीमांसा से भावांश ग्रहण, पृ. ४४-४५।

२. जैनदर्शन में आत्म विचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण पृ. २१७

३. कर्ममीमांसा से भावांश ग्रहण पृ. ४५

आशय यह है कि कर्म अपना फल देने के पश्चात् आत्मप्रदेशों से चिपके नहीं रहते, बल्कि एक क्षण के बाद शीघ्र ही आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जिस प्रकार पका हुआ आम आदि फल डाली से गिरकर पुनः उसमें लग नहीं सकता, उसी प्रकार कर्म अपना फल देने के पश्चात् तत्काल आत्मप्रदेशों से अलग हो जाते हैं। फिर वे पुनः फल नहीं दे सकते। जो कर्म अपना फल दे चुकते हैं, उनका क्षय हो जाता है, तथा वे कर्मपरमाणु आत्मा से पृथक् होकर और कर्म-पर्याय छोड़कर अन्य अकर्मरूप पर्याय में परिवर्तित हो जाते हैं।

कर्म के द्वारा फल देना, उस बद्ध कर्म के कषाय पर निर्भर

सांख्य, मीमांसा और बौद्धदर्शनों की तरह जैनदार्शनिक मानते हैं कि कर्म स्वयं फल प्रदान करते हैं। वे अपना फल देने में परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र हैं। जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों का कहना है कि बद्ध कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके उदयावस्था में आकर स्वयं फल प्रदान करते हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है—कर्म बंध होते ही शीघ्र फल देने नहीं लगते, अपितु जिस प्रकार भोजन तुरन्त न पचकर जठराग्नि की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। अतः कर्मों का फल देना उसके कषाय पर निर्भर है। यदि तीव्र कषायपूर्वक कर्मों का आस्रव हुआ है, तो कर्म कुछ समय पश्चात् शीघ्र ही अधिक प्रबल रूप से फल देना प्रारम्भ कर देते हैं और मन्दकषायपूर्वक कर्मों के बंधने से कर्मों का विपाक देर से होता है।'

इस प्रकार कर्मविज्ञान के नियमानुसार बन्धचतुष्टय के अनुरूप कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं; वह फल-प्रदान में किसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर आदि की अपेक्षा नहीं रखता।

कर्मफल : वैयक्तिक या सामूहिक ?

कर्मसिद्धान्त वैयक्तिक जीवन की तरह सामाजिक जीवन से भी सम्बद्ध

कर्मसिद्धान्त जितना व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध है, उतना ही, बल्कि कई मामलों में पारिवारिक, सांघिक, वर्गीय, जातीय, राष्ट्रीय, संस्थाकीय आदि के रूप में सामाजिक जीवन से भी सम्बद्ध है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने जीवन में कर्मों को बांधने एवं कर्मों से मुक्त होने, अथवा पूर्वकृत कर्मों का क्षय एवं आगन्तुक कर्मों का निरोध करने का पुरुषार्थ करता है, उसी प्रकार परिवार आदि के रूप में बद्ध समूह भी अपने जीवन में कर्मों को बांधने, तथा पूर्वकृत कर्मों का क्षय और नवीन आने वाले कर्मों (आप्तवों) का निरोध करने तथा कर्मों से सर्वथा मुक्त होने का भी पुरुषार्थ करता है। इसलिए कर्म सिद्धान्त के विषय में जैनकर्मविज्ञान की यह मान्यता है कि एक व्यक्ति के कर्म का फल उस व्यक्ति के साथ-साथ दूसरों को भी भोगना पड़ता है, प्रायः समग्र परिवार को, सारी जाति को, समस्त वर्ग को या संस्था के सभी सदस्यों को, अथवा कभी-कभी सारे राष्ट्र को भोगना पड़ता है। इसे ही जैन-कर्मविज्ञान की परिभाषा में सामुदायिक कर्मबन्धन और उसका सामुदायिक फलभोग (विपाक) कहा जाता है।

मानवजाति की पीड़ाओं और दुःखों का कोई कारण नहीं : एक आक्षेप

किन्तु जैनकर्म-विज्ञान के इस सिद्धान्त और इसके रहस्य से अनभिज्ञ कतिपय दार्शनिक और विचारक भी इस तथ्य को न मान कर जैन कर्म विज्ञान पर आक्षेप करते हैं और उसके इस सिद्धान्त को निराधार बताते हैं।

१. देखें-सामुदायिक रूप से कर्मफल की साक्षी गाथा-

“जावंतऽविज्जापुरिसा सब्बे ते दुक्खसंभवा।

लुंप्पति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए।”

विसत्रा पावकमेहिं बाला पडियमाणिणे।”

—उत्तराध्ययन अ. ६ गा. १, ११

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार दर्शन के विशेषज्ञ डॉ. जॉन मेकेंजी ने एक आक्षेप किया है कि “कर्मसिद्धान्त के आधार पर मानवजाति की पीड़ाओं और दुःखों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।”

जैनकर्मविज्ञान द्वारा इसका समाधान

इस आक्षेप का समाधान यह है कि कोई भी दुःख या पीड़ा, चाहे वह व्यक्ति की हो, या समूह की, उसका कोई न कोई कारण तो अवश्य ही होता है। अकारण कोई भी दुःख या पीड़ा नहीं होती। जैन कर्मविज्ञान के पुरस्कर्ता भगवान् महावीर से जब पूछा गया—“भगवन् ! दुःख किसके द्वारा कृत हैं ?” इसके उत्तर में उन भवंद्वय सर्वदर्शी वीतराग ने कहा—“दुःख अपने द्वारा कृत हैं, दूसरे के द्वारा नहीं।”^१

जिस प्रकार एक व्यक्ति दुःख-उपार्जन के लिए स्वयं उत्तरदायी बताया गया है, उसी प्रकार अनेक व्यक्तियों का समूह भी मिलकर दुःख उपार्जन के लिए स्वयं उत्तरदायी हो सकता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट कहा है कि “कर्मसिद्धान्त-विशेषज्ञ साधक न तो आत्मा की आशातना करे - पीड़ा पहुँचाए, और न ही दूसरों की आशातना करे - पीड़ा-व्यथा पहुँचाए। और न अन्य प्राणियों, भूतों, जीवों या सत्त्वों की आशातना करे, यानी पीड़ा पहुँचाए।”^२

इस सूत्र में भगवान् ने मानव जाति को ही नहीं, प्राणिमात्र को दुःख पहुँचाने, पीड़ित करने का निषेध किया है, उसका कारण भी उन्होंने पहले ही बता दिया कि अगर किसी भी मानव या प्राणी को पीड़ा या दुःख दोगे तो बदले में तुम भी कर्मबन्धन करके उसी प्रकार का दुःख या पीड़ा प्राप्त करोगे।^३

भगवान् ने दूसरों को दुःख या पीड़ा पहुँचाने वाले पापकर्मियों के लिए स्पष्ट कहा है—उन क्रूरकर्मा अज्ञानी जीवों को वहाँ (नरकादि में) प्रगाढ़ वेदना (पीड़ा) होती है; क्योंकि उन्होंने दूसरों को पीड़ा पहुँचाने का दुष्कर्म करके अपने लिए दुःखागार नरक का कर्मबन्धन कर लिया।^४

१. जैन एथिक्स पृ. ३०

२. ‘दुःखे केण कडे ? गोयमा! अत्तकडे दुःखे, नो परकडे।’ -भगवतीसूत्र श. १७ उ. ५

३. णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा।
-आचारांग श्रु. १ अ. ६ उ. ५

४. (क) देखें, आचारांगसूत्र का पांचवाँ अध्ययन के ५वें उद्देशक का-तुमासि नाम तं चेव . .
. . इत्यादि पाठ।

(ख) “एयं तुलमणोसि।

-आचारांग १/१/७

५. ‘सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।

बालाणं क्रूरकम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा।’

-उत्तराध्ययन सूत्र ५/१२

भगवतीसूत्र में इस तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो दुःखित (दुःख देने वाले कर्मों से बद्ध) है, स्पृष्ट है वही दुःख (कर्मजन्य दुःख) को पाता है, जो अदुःखी (दूसरों को दुःख पहुँचाने वाला नहीं) है, वह दुःखजनक कर्म-बन्धन को नहीं प्राप्त करता। इसी प्रकार दूसरे जीवों को समाधि (सुख शान्ति) देने वाला उसी (प्रकार) समाधि (सुख शान्ति) को प्राप्त करता है।'

आचारांग सूत्र में मानवजाति के दुःखों और पीड़ाओं के कारणों को कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से जानने वाले कर्मविज्ञान कुशल मानवों की वृत्ति-प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है—“प्राणियों को जो भी दुःख या पीड़ा होती है, वह स्व-स्वकर्मकृत है, यह जानकर दुःख-उत्पत्ति के कारणभूत मिथ्यात्व, हिंसादि अद्रत, प्रमाद, कषाय और योगरूप आपन्नद्वारों का सर्वशः (कृत-कारित-अनुमोदित रूप से) निरोध करे।”

इस संसार में मनुष्यों (मानवजाति) को जो दुःख (कर्मजनित दुःख-कारण) कहा गया है, कुशल (कर्मविज्ञान निष्णात) पुरुष उस दुःख (दुःख के कारण समूह) को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा उसका त्याग करते हैं।”

“इसमें कुशल पुरुष कर्मबन्धन से लिप्त नहीं होता।” इसके विपरीत आचारांग सूत्र में कहा गया है—जो मनुष्य विषयसुखार्थी (विषय-सुखों में अत्यन्त आसक्त) एवं बार-बार विषय-सुखों की लालसा करता है, वह सावधकार्यों को करता हुआ स्वकृत दुःख (दुःखोत्पादक पापकर्म) से मूढ़ बनकर विपर्यास (विपरीत बुद्धि) को प्राप्त होता है।” . . . जिसमें ये प्राणी व्यथित या पीड़ित हैं, वह दुःखमय संसार स्वयंकृत ही है।”

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति मूढ़तावश पापकर्मोपार्जन करके अपने लिए स्वयं ही दुःख उत्पन्न करता है, वैसे ही परिवार, जाति, सम्प्रदाय, गाँव, नगर या राष्ट्र आदि समूह भी अपने लिए दुःख का कारण स्वयं बनता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है, मुख्यतया कर्म एक व्यक्ति करता है, परन्तु उसका फल परिवार, समाज, संघ, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि के रूप में समग्र समूह को भोगना पड़ता है। माना कि शुभ या अशुभ कर्म एक ही व्यक्ति स्थूलरूप से करता हुआ दिखता है,

१. (क) “दुःखी दुःखेण फुडे, नो अदुःखी दुःखेण फुडे।”
(ख) “समाहिकार ए णं तमेव समाहिं पडिलम्मइ।” —भगवतीसूत्र श. ७ उ. १
२. (क) “इह कम्मं परित्राय सव्वसो . . .।”
(ख) जं दुःखं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुःखस्स कुसला परित्रमुदाहरति।”
(ग) “. . . अहित्य कुसले नोवलिपिज्जासि।”
(घ) “सुहृद्धी लालप्पमाणे, सएण दुःखेण मूढे विपरियासमुवेइ। . . . जसि मे पाणा पव्वहिया।”
—आचारांग १/२/६

परन्तु उसमें कोई प्रेरणा देने वाला—उस शुभ या अशुभ कर्म को कराने वाला होता है, कोई अनुमोदक या समर्थक होता है। कोई उसके कार्य के प्रति आन्तरिक सहानुभूति रखता है, अथवा साथ में—एक ही घर या संस्था में रहता है, उसकी संवासानुमति होती है। उस अशुभ या शुभ कार्य से निम्न अर्थ, भौतिक सुख-सुविधा या अन्य प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करता है। ये और इस प्रकार के तथाकथित समूह से सम्बद्ध सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे आदि एक या दूसरे रूप में उस शुभ या अशुभ कर्मबन्ध में हिस्सेदार होते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में उस समूह से सम्बद्ध लोगों में से जैसा—जैसा जिसका तीव्र, मन्द या मध्यम शुभाशुभ कर्मबन्ध होता है, तदनुसार उसे वैसा शुभाशुभ कर्मफल मिलता है।

सामूहिकरूप से बद्ध कर्म का सामूहिक रूप से फल : एक दृष्टान्त

इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टान्त ले लें—

एक सिनेमा हॉल में हजारों दर्शक बैठे हैं। चित्रपट पर ऐसा क्रूर दृश्य आया, जिसे देखकर अधिकांश दर्शकों के मन में भय का भाव आया, अथवा दृश्यमान व्यक्ति की क्रूरता एवं दुष्टता को देखकर उस पर द्वेषभाव उमड़ पड़ा। फलतः उन सब दर्शकों के एक ही साथ अशुभकर्म का बन्ध हो गया। यद्यपि उन दर्शकों में भी जिस-जिस दर्शक के मन में जैसे-जैसे तीव्र, मन्द या मध्यम द्वेषभाव उत्पन्न हुए, तदनुसार उनके अशुभ कर्म का बन्ध भी तीव्र, मन्द या मध्यम होना संभव है।

वर्षों बाद इसी जन्म में अथवा अगले जन्म में एक साथ सामूहिक रूप से बांधा हुआ वही कर्म उदय में आया। उस समूह पर अकस्मात् आफत आ गई। भूकम्प, बाढ़, महामारी, हैजा, विद्युत्पात, ट्रेन-दुर्घटना, विमान-दुर्घटना, अथवा विशाल इमारत का अचानक धराशायी हो जाना इत्यादि निमित्तों (कारणों) में से कोई भी दुर्घटना उक्त पूर्वकृत सामूहिक अशुभ कर्मबन्ध के फल का निमित्त बनी। और वह दुर्घटना एक साथ उस समूह को कालकवलित कर गई। कितने ही लोग घायल हो गए। जो लोग उक्त पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्धन से बच गए थे, वे सही सलामत बच गए। यह सब सामूहिक रूप से बद्ध अशुभ कर्म का अशुभफल नहीं तो क्या है ?

एक साथ पापकर्म का बन्ध कैसे हो जाता है ?

एक मानवसमूह एक साथ कैसे पापकर्म का बन्ध कर लेता है, इसे समझने के लिए एक और दृष्टान्त लीजिए—

१. देखिये—'तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भाव-वीर्याधिकरण-विशेषस्तद्विशेषः।'

मान लीजिए, किसी जगह एक चोर को फांसी पर लटकाने की सजा दी गई है। जल्लाद उसे फांसी पर लटकाने में जरा-सी देर कर देता है। वहीं पास में खड़े पवासों दर्शक उत्तेजित होकर कहने लगते हैं—“अरे! इस दुष्ट को जल्दी से फांसी पर चढ़ाओ। देर क्यों कर रहे हो? इस दुष्ट को ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए थी।”

सामूहिक हिंसादि पापकर्म का कृत, कारित, अनुमोदित रूप से सामूहिक बन्ध और फल

यद्यपि उन दर्शकों का चोर को दण्ड देने, न देने से कोई वास्ता नहीं है। फिर भी नाहक की द्वेष और आवेशवश वे हिंसाकर्म के वाचिक और मानसिक समर्थन-अनुमोदन तथा तथारूप हिंसाकर्म करने की प्रेरणा (कारित) देकर सामूहिक रूप से एक साथ अशुभ कर्म का बन्ध कर लेते हैं। इस नाहक किये हुए कारित और अनुमोदित के रूप में सामूहिक पापकर्मबन्ध का फल क्या सामूहिक दुःख और संकट के रूप में नहीं मिलेगा?

तथ्य यह है कि हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती, लूटपाट, तस्करी, बलात्कार, व्यभिचार, असत्य, दम्भ, ठगी, महारम्भ, परिग्रहवृत्ति आदि नानाविध पापकर्म हैं। यदि इन हिंसादि पापकर्मों को कोई स्वयं करता है, कोई दूसरे से कराता है, और कोई इनका अनुमोदन-समर्थन करता है, मन से, वचन से तथा काया से,^१ तब उसका फल जैसे व्यक्तिगत रूप से मिलता है, वैसे ही सामूहिक रूप से भी मिलता है।

कृत-कारित-अनुमोदित रूप से पापकर्मों का फल वैयक्तिक भी, सामूहिक भी

निष्कर्ष यह है कि जैसे व्यक्तिगतरूप से कृत-कारित और अनुमोदित हिंसादि पापकर्मों का फल मिलता है, वैसे ही सामूहिक रूप से कृत-कारित-अनुमोदित हिंसादि पापकर्मों का फल मिले बिना कैसे रह सकता है?

मानव-समुदाय की पीड़ा का कारण स्वयं मानव-समुदाय है

इसलिए जैनकर्मविज्ञान के अनुसार मानव-समुदाय की पीड़ा का कारण स्वयं मानव-समुदाय है; फिर वह समुदाय जाति के रूप में हो, वर्ग के रूप में हो, राष्ट्र, प्रान्त, नगर, ग्राम, संघ या समाज के रूप में हो, एक साथ सामूहिक रूप से बांधे हुए शुभ-अशुभ कर्मों का फल भी एक साथ मिलता है।

१. जैनशास्त्रों में बताया गया है कि शुभ-अशुभ कर्म का बंध तीन करण एवं तीन योग से होता है। तीन करण हैं—करना, कराना और अनुमोदन। इसे ही कृत, कारित और अनुमोदित कहते हैं। तीन योग हैं—मन, वचन और काया। इन तीनों से हिंसादि पाप-कर्मों का आस्रव एवं बन्ध होता है; कृत, कारित और अनुमोदित रूप से।

ईश्वर भी मानव-समूह की पीड़ा का कारण नहीं; क्यों और कैसे?

ईश्वरकर्तृत्ववादी मानवसमूह पर एक साथ आकस्मिक रूप से पड़े हुए संकट, दुःख या पीड़ा का कारण उस समूह को न मानकर ईश्वर को मानते हैं, तब प्रश्न होता है कि तथाकथित ईश्वर ने पहले उन लोगों को अशुभ कर्म करने की प्रेरणा क्यों दी, जिससे बाद में उन्हें वैसा कटुफल भोगना पड़ा ? ऐसे ईश्वर को न्यायी, निष्पक्ष और दयालु कैसे कहा जा सकता है ?

प्रकृति मानवसमूह की पीड़ा का साक्षात् कारण नहीं, निमित्त कारण हो सकती है

यदि ईश्वर को मानव समूह की इस पीड़ा का कारण न मानकर प्रकृति को इस सामूहिक पीड़ा की प्रदात्री मानी जाए तो मानव जाति प्रकृति के हाथ का खिलौना मात्र रह जाएगी। वस्तुतः प्रकृति प्रदत्त दुःख या प्राकृतिक प्रकोप केवल निमित्त हो सकता है, उस मानव समूह के स्वयं द्वारा सामूहिक रूप से बांधे हुए कर्मफल को भुगवाने में। जड़ प्रकृति ऐसे ही किसी को पीड़ा या दुःख दे देने में निमित्त बनती हो, ऐसा नहीं है। उसका भी सार्वभौमिक नियम (नियत) है।

जैनकर्म सिद्धान्त संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व द्वारा स्वयं कर्तृत्व का अवसर प्रदाता

ईश्वर या प्रकृति दोनों की पराधीनता मानने से मानव के स्वतंत्र कर्तृत्व का, नैतिक-आध्यात्मिक साधना का, तथा जीवन को उच्च मूल्यों से सुसम्पन्न करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता, जबकि जैनकर्म सिद्धान्त संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व के माध्यम से प्राणिमात्र को, मनुष्यमात्र को व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से स्वयं कर्तृत्व का, कर्म-स्वातंत्र्य का तथा कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा (क्षय) और कर्म मोक्ष की साधना का, अन्य आध्यात्मिक साधना का एवं जीवन को उच्च मूल्यों से सुसम्पन्न करने का सुअवसर देता है।

कर्म : कथञ्चित् वैयक्तिक, कथञ्चित् सामाजिक

इस दृष्टि से संवर-निर्जरा-मोक्ष रूप धर्म की अपेक्षा से कर्म वैयक्तिक प्रतीत होता है, परन्तु जब दूसरों के साथ सम्पर्क, व्यवहार या सम्बन्ध होता है, तब कर्म नैतिकता और धार्मिकता के गुणों को लेकर सामाजिक या सामूहिक बन जाता है। अर्थात्-- नैतिकता और धार्मिकता उद्गम से वैयक्तिक है, और व्यवहार में सामाजिक है, इस दृष्टि से नैतिक और धार्मिक आचरण (कर्म) वैयक्तिक होते हुए भी व्यवहार में सामाजिक हो जाता है, क्योंकि दूसरों से यानी समूह से या समाज से सम्पर्क हुए बिना

व्यक्ति की अहिंसा इत्यादि की प्रवृत्ति क्रियान्वित नहीं हो सकती। समाज या समूह के साथ व्यवहार में ही अहिंसाजनित या हिंसाजनित कर्म की प्रतीति होती है।

जैन कर्म-विज्ञान में जिस प्रकार वैयक्तिक कर्मबन्धन और वैयक्तिक कर्मफलभोग (विपाक) को भी स्थान दिया गया है, उसी प्रकार सामुदायिक कर्मबन्धन और सामुदायिक कर्मफलभोग (विपाक) की प्ररूपणा को भी स्थान दिया गया है। कर्मविज्ञान की इसी प्ररूपणा के आधार पर कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में पीर्वात्य और पाश्चात्य आक्षेपकों को समुचित समाधान दिया जा सकता है। यह एक ऐसा कर्मसम्बद्ध सिद्धान्त है, जिसके आधार पर हम डंके की चोट कह सकते हैं कि कर्मबन्धन और कर्मविपाक दोनों ही व्यक्ति की तरह समग्र परिवार, समस्त जाति, समूचे राष्ट्र, समग्र संघ या सारे समाज के सदस्यों को एक साथ निष्पन्न होते हैं।

‘सामुदायिक क्रिया’ द्वारा सामुदायिक कर्मबन्ध और विपाक

जैनकर्म-विज्ञान द्वारा सूचित २५ क्रियाओं में से २४ क्रियाएँ कर्मबन्धक हैं, उनमें से एक क्रिया का नाम है—सामुदायिक (सामुदायिक) क्रिया। उसका अर्थ है—समूह रूप में इकट्ठे होकर अशुभ या अनुचित पापबन्धक अथवा शुभ या पुण्यबन्धक क्रियाओं का करना। उदाहरणार्थ—एक समूह द्वारा वेश्यानुत्पन्न करवाना, सामूहिक अशुभ क्रिया है, और एक समूह द्वारा वैराग्योत्पादक, भगवद्भक्तिप्रेरक, अथवा सद्धर्म-प्रेरक संगीत, भजन या विचारगोष्ठी का आयोजन करना, यह सामूहिक शुभ क्रिया है।

इसी प्रकार किसी का वध करने के लिए सामूहिक रूप से कोई षडयंत्र करना अशुभ सामुदायिक क्रिया है, और किसी व्यक्ति, समूह, जाति या राष्ट्र की रक्षा या सेवा के लिए शुभोपयोग से प्रेरित होकर एक समूह, संस्था या संगठन द्वारा सामूहिक रूप से आयोजन करना सामुदायिक शुभक्रिया है।

इसी प्रकार लोगों को ठगने के लिए सामूहिकरूप से एक कम्पनी खोलना अशुभ सामुदायिक क्रिया है और गरीबों, मध्यमवर्गीय लोगों या अभाव पीड़ितों को दैनिक जीवन में काम आने वाली उपयोगी वस्तुओं को लागत मूल्य में या सस्ते भाव में अथवा लागत से भी कम दाम लेकर मुहैया कराने के लिए सामूहिक रूप से एक संस्था खोलना, शुभ सामुदायिक क्रिया है।

जिस प्रकार सामूहिक शुभाशुभ क्रिया से शुभ कर्म या अशुभकर्म का बन्ध होता है, उसी प्रकार उन शुभाशुभ कर्मबन्धन का शुभ-अशुभ फल भी सामूहिक रूप से प्राप्त होता है।

१. कर्मवाद से भावांश ग्रहण

२. देखें—समवायांगसूत्र का २५वाँ समवाय

वर्तमान में आये सामूहिक दुःख का कारण भी पूर्वकृत सामूहिक कर्मबन्ध

निष्कर्ष यह है कि जैसे एक व्यक्ति के वर्तमान में आये हुए आकस्मिक दुःख का कारण पूर्वकृत कर्म होता है, वैसे ही एक समूह पर राष्ट्र, जाति, परिवार, संघ, समाज अथवा सम्प्रदाय पर अकस्मात् आ पड़े दुःख का कारण भी पूर्वकृत सामुदायिक कर्म होता है।

अभी-अभी कुछ दिनों पहले ईरान में भयंकर भूकम्प आया। उसमें ५० हजार से भी अधिक लोग मारे गए। लाखों बेघरबार हो गए। सैकड़ों मकान धराशायी हो गए। यह सामूहिक रूप से अशुभ कर्म-फल नहीं तो क्या है? ता. ४ जुलाई ९० के समाचार पत्र में एक दुःखद घटना की खबर छपी थी कि मुसलमानों के पवित्र तीर्थस्थान मक्का के निकट एक लम्बी सुरंग में अचानक बिजली बंद हो जाने से ऑक्सीजन की कमी के कारण हजयात्रियों का दम घुटने लगा। इसी में लोग हड़बड़ाकर भागे। इस भगदड़ में लगभग १४०० लोग मर गए। क्या यह सामूहिक रूप से पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल नहीं है?²

एक व्यक्ति द्वारा किये हुए दुष्कर्म का फल सारे परिवार को मिलता है

एक व्यक्ति के द्वारा किये हुए अनिष्ट कुकर्म का फल उसके साथ-साथ उसके समग्र परिवार को भी एक या दूसरे रूप में किस प्रकार भोगना पड़ता है? इसके समाधान के लिए निम्नोक्त व्यावहारिक उदाहरण पर्याप्त होगा। पहले हम पूर्वपक्ष ससमाधान प्रस्तुत करते हैं—डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर के शब्दों में—

‘क’ ने किसी व्यक्ति की हत्या की। ऐसी स्थिति में ‘क’ की पत्नी तथा बच्चे उस हत्या के लिए उत्तरदायी नहीं हैं, तो वे उसका दण्ड क्यों भोगें? शायद यहाँ यह कहा जाए कि वे उसके पत्नी और बच्चे नहीं होते तो उन्हें दण्ड नहीं भोगना पड़ता। परन्तु उनका पत्नी तथा बच्चे होना, क्या उनके अपने संकल्प का परिणाम है? शायद पत्नी के लिए यह कहा जा सकता हो, पर क्या बच्चों के लिए भी यह कहा जा सकता है? शायद यहाँ यह कहा जाए कि जिस समाज का ‘क’ सदस्य था, उसकी संरचना में ही ये सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं तथा इन सम्बन्धों का एक विशेष प्रकार का होना, समाज के सदस्यों के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है. . . . ।’³

१. रांची एक्सप्रेस ता. १२-६-१९९० से

२. रांची एक्सप्रेस ता. ४-७-१९९० से

३. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर के ‘जैसी करनी वैसी भरणी’ लेख से उद्धृत पृ. ३०३

सामूहिक कर्मफल की संगति इस प्रकार होती है

परन्तु कर्मफल की असंगति के लिए यह समाधान संतोषजनक नहीं है। कर्म सिद्धान्त का समाधान इस प्रकार का होना चाहिए—“यद्यपि ‘क’ के पत्नी-बच्चों का ‘क’ के वर्तमान कुकृत्य के लिए कोई दोष नहीं मालूम होता; परन्तु ऐसा भी सम्भव है, ‘क’ के द्वारा जिसकी हत्या की गई है, उस व्यक्ति से ‘क’ का सारा परिवार परेशान हो, भयाक्रान्त हो, या ‘क’ के परिवार को उसने दुःखद स्थिति में डाल दिया हो, या उस पर अन्याय अत्याचार किया हो, फलतः ‘क’ के अतिरिक्त उसके स्त्री-पुत्र भी मन और वचन से उक्त व्यक्ति को कोसते हों, उससे बदला लेने की प्रेरणा करते हों, अथवा मन ही मन या वचन से ‘क’ के द्वारा की गई हत्या का समर्थन-अनुमोदन करते हों।”

परिवार के तन-मन-वचन में ऐसा कोई अत्याचार न हो, निहत व्यक्ति का भी ‘क’ के परिवार के प्रति कोई दुर्भाव या हानिपूर्ण व्यवहार न हो, ऐसी स्थिति में उनको अपने परिवार के अग्रगण्य ‘क’ से बिछुड़ने और विपन्न अवस्था में पड़े रहने का जो दण्ड मिला; उसके पीछे पूर्वजन्म में इस या उस व्यक्ति के उस प्रकार के ऐसे कुकृत्य में ‘क’ का परिवार भी हिस्सेदार बना हो। जैसे—आजकल भी जहाँ किसी की हत्या की जाती है, वहाँ मुख्य हत्यारा एक होता है, दूसरे कई उसे सलाह देने वाले या प्रेरणा देने वाले, उकसाने वाले, शस्त्रास्त्र जुटाने वाले, साथी बनने वाले तथा उस कुकृत्य को छिपाने के लिए फरार होने या स्वयं को वकील के जरिये कानूनी दावपेंच से निर्दोष सिद्ध करने वाले अथवा झूठी साक्षी देने वाले या उसके कुकृत्य का समर्थन करने वाले होते हैं, वैसे ही ‘क’ के पत्नी-पुत्र पूर्वजन्म में घटित कुकृत्य में हिस्सेदार रहे हों। इस प्रकार सामूहिक कर्मफल की संगति भलीभांति हो जाती है।

एक शासक के कुकृत्य का फल : सारी प्रजा को भोगना पड़ता है

महाभारत में भी इस विचार के बीज मिलते हैं—एक शासक के अच्छे-बुरे कर्म का फल उसके राज्य की सारी प्रजा को भोगना पड़ता है। “राजा अगर धर्मिष्ठ होता है, तो प्रजा भी धर्मिष्ठ-धर्मपरायण होती है, राजा अगर पापी, अन्यायी, अत्याचारी होता है, उसकी प्रजा भी वैसी ही पापिष्ठ, अन्यायी, अत्याचारी बन जाती है। प्राचीन काल में प्रजा राजा का अनुसरण करती थी।” महाभारत में इस तथ्य को बहुत ही सशक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजा अगर अपने कर्तव्य कर्म से या धर्म से च्युत हो जाता तो जनसमूह उसके राज्य की अव्यवस्था और अन्याय-अत्याचार से पीड़ित, दुःखित और व्यथित हो जाता था। कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोप भी उसमें निमित्त बन जाता था।

१. (क) राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा।
राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजा॥
- (ख) देखें—महाभारत, शान्तिपर्व

कर्म एक का : फलभोग समूह को : क्यों और कैसे?

इसलिए यह कहना कर्मसिद्धान्त के विपरीत नहीं होगा कि जो प्रत्यक्ष रूप से मुख्यतया कर्म करता है, केवल वही उसका फल न भोगकर उसका परिवार भी और कभी-कभी उसका धर्मसंघ, जाति या राष्ट्र भी उसका फल भोगता है। एक व्यक्ति परिवार में धर्माचरण करता है, उसकी प्रशंसा, प्रसिद्धि, विश्वसनीयता होने से सारे परिवार की प्रशंसा, प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता होती है।

परन्तु कभी-कभी यह कहावत भी चरितार्थ हो जाती है—“एक सड़ी मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है।” परिवार में कोई नामी चोर, डाकू या हत्यारा बन जाता है—तो सारा परिवार बदनाम हो जाता है। सारे परिवार को उसके काले कारनामों का कुफल थोड़े-बहुत अंशों में भोगना पड़ता है। क्योंकि परिवार वाले उसकी कमाई का उपभोग करते हैं। पत्नी तो करती ही है। परिवार के समझदार या बुजुर्ग सदस्य उसके कुकर्मों का समर्थन भले ही न करते हों, परन्तु साथ में रहते हैं, इसलिए संवासानुमति तो होती ही है। आन्तरिक रूप से उसकी कमाई में साझेदारी तथा उसकी लाई हुई वस्तुओं का उपयोग करने से परोक्ष रूप में समर्थन—अनुमोदन हो ही जाता है।

एक व्यक्ति को किसी अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार मिलता है तो सारे परिवार को उसका फल मिलता है। सारा परिवार उसका समर्थन करता है। अतः शुभ कर्म का भी समग्र परिवार फलभागी बनता है। महात्मागाँधी ने भारत को स्वराज्य दिलाने के लिए सत्कर्म किया। उसमें अनेक व्यक्तियों एवं कार्यकर्ताओं का सहयोग था। जब सारा राष्ट्र स्वतंत्र हो गया तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता का फल राष्ट्र के सभी लोगों को यत्किंचित रूप में मिला ही है। अतः यदि एक व्यक्ति अहिंसादि-धर्माचरण करके समाज या राष्ट्र को उन्नति के पथ पर ले जाता है तो उसका फल सारे समाज और राष्ट्र को भी मिलता है।

भगवान् महावीर तथा तथागत बुद्ध आदि ने जो धर्म-संघ की रचना—स्थापना की। उसका फल संघ के सभी सदस्यों को एक या दूसरे रूप में मिला। लाखों साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका संघ के निमित्त से साधना करके कर्मों से मुक्त हो गए, लाखों श्रावक-साधिका, उपासक-उपासिकाएँ देवगति अथवा मनुष्यगति में पहुँची। इतिहास इस प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है।

एक शासक अपनी राज्यवृद्धि की लिप्सा से युद्ध करता है, तो सारा राज्य बरबाद हो जाता है। समूचा राष्ट्र कभी-कभी अनेक कठिनाइयों में फँस जाता है। पाकिस्तान की साम्राज्यलिप्सा ने, बंगलादेश नहीं बना, उससे पूर्व वहाँ के लाखों निर्दोष महिलाओं, बुद्धिशाली लोगों एवं नागरिकों को बेरहमी से मीत के घाट उतार डाला। उस समय का समग्र पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान में बंगलादेश) उस युद्ध की ज्वाला में झुलस

गया था। बंगलादेश बना, तब भी वहाँ के निवासियों को अभावपीड़ित स्थिति में रहना पड़ा था।

कभी-कभी एक व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करता है, जिससे सारा संघ या संस्थान लाभान्वित होता है। कौरव-पाण्डवों के वर्ग ने मिलकर जुआ खेला, उसके फलस्वरूप हुए महाभारत युद्ध की पीड़ा अनेकों को भोगनी पड़ी।^१ किसी सम्राट में कामुकता थी, उसके कारण पूरा देश परतंत्र हो गया। पृथ्वीराज चौहान ने कुछ गलत काम किये, उसका परिणाम पूरे भारतवर्ष को भोगना पड़ा। चन्द्रगुप्त मौर्य, महाराणा प्रताप आदि ने अपने-अपने देश, राष्ट्र अथवा प्रान्त की स्वतन्त्रता के लिए कुछ कष्ट सहन किये, उसका परिणाम पूरे राष्ट्र, देश या प्रान्त को मिला।

कर्म सामूहिक या सामाजिक न होता तो एकमात्र मुख्य कर्मकर्ता ही फल भोगता

ये और इस प्रकार की सारी घटनाएँ हमें यह सोचने के लिए बाध्य करती हैं कि कर्म सामाजिक भी होता है। यदि वह सामाजिक नहीं होता तो मुख्यतया कर्मकर्ता को ही उसका फल भोगना पड़ता, उससे सम्बन्धित अन्य लोगों को उसके कर्म का फल नहीं मिलता या नहीं भोगना पड़ता। परन्तु उपर्युक्त घटनाओं से सिद्ध है कि, कभी-कभी एक साथ अनेक व्यक्तियों या परिवार, समाज, राष्ट्र आदि समूह को मुख्यतः वैसा शुभ-अशुभ कर्म न करने पर भी उसका फल सामूहिक रूप में भोगना पड़ता है, या मिलता है। इसलिए कर्म और कर्मफल व्यक्तिगत की तरह सामूहिक भी होता है। अर्थात् अकेले एक व्यक्ति द्वारा मुख्यरूप से वांछनीय या अवांछनीय कर्म किया जाता है, और उसका परिणाम सम्बन्धित वर्ग या समूह को भोगना पड़ता है।

कर्म और कर्मफल वैयक्तिक भी है, सामूहिक या सामाजिक भी है

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि अगर कर्म और कर्मफल सामूहिक या सामाजिक होते हैं तो 'क्या जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है यह वैयक्तिक कर्म एवं कर्मफल का सिद्धान्त' यथार्थ नहीं है ?

उपादान की दृष्टि से आत्मा स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही फल भोगता है

इसके उत्तर में हमें जैन कर्मविज्ञान की दृष्टि से गहराई में उतरना होगा। जैनदर्शन में दो प्रकार के कारण बताए हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान की दृष्टि से कर्म बिल्कुल व्यक्तिगत होता है। किसी भी कर्म का उपादान तो व्यक्ति स्वयं होता है। वह स्वयं ही कर्म करता है, और फल भी स्वयं भोगता है। इसीलिए यह सिद्धान्त

उपादान की दृष्टि से नितान्त ठीक बताते हुए कहा गया है—'आत्मा स्वयं कर्म करती है और स्वयं ही उसका फल भोगती है।'

निमित्त कारण व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक होता है

किन्तु निमित्त कारण वैयक्तिक नहीं होता, वह सामूहिक या सामाजिक होता है। उदाहरण के तौर पर एक घर के मुखिया ने जुआ खेला, उसमें सारी पूँजी गंवा दी। उसके परिवार में छोटे-बड़े कुल मिलाकर ३० आदमी हैं। सबको उस धनहानि का परिणाम भोगना पड़ा। धन के अभाव का आक्रमण सब पर हुआ। इस प्रकार एक व्यक्ति के किये हुए अनिष्ट कर्म के कारण आया हुआ दुःखरूप परिणाम सामूहिक हो गया।

परिणाम सामूहिक, किन्तु संवेदन व्यक्तिगत

परन्तु सबका संवेदन सामूहिक नहीं होता। घर में जो तीस आदमी हैं, उन सबका संवेदन पृथक्-पृथक् होगा। सबमें कुछ न कुछ भिन्नता एवं फल भोगने में तरतमता अवश्य रहेगी। घटना एक होने पर भी सबका संवेदन भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। किसी का संवेदन तीव्र होगा, किसी का मन्द और किसी का मध्यम। एक का संवेदन दूसरे से प्रायः नहीं मिलेगा।

एक भाई सोचेगा—“भाईजी ने बहुत ही बुरा किया। जुआ न खेलते तो इतना धन बर्बाद न होता।” उससे छोटा भाई सोचेगा—“हमें कितनी सुख-सुविधाएँ मिलती थीं, लेकिन आज बड़े भैया के कारण हमें गरीब और अभावपीड़ित होना पड़ा।” उसका बड़ा पुत्र सोचेगा है—“हाय! पिताजी के कारण हम लुट गए! अब हमारा कारोबार कैसे चलेगा? पूंजी तो सारी जुए में स्वाहा कर दी पिताजी ने!” मझला पुत्र कहता है—“पिताजी ने ही धन कमाया था, उन्हीं के हाथों वह चला गया। इसमें अब चारा ही क्या है? व्यापार है यह तो, इसमें उतार-चढ़ाव आता ही रहता है!” उससे छोटा पुत्र कहता है—“भाई! होनहार को कोई टाल नहीं सकता। भाग्य में लिखा होगा तो फिर धन आ जाएगा। चिन्ता करना बेकार है।” सबसे छोटा पुत्र कहता है—“लक्ष्मी का स्वभाव ही चंचल है। वह आती-जाती रहती है। क्या हुआ धन चला गया तो? हमारे हाथों में शक्ति है, फिर पुरुषार्थ करके कमायेंगे और पुनः स्वावलम्बी हो जाएँगे।” पुत्रों की माता सोचती है—“लड़कों के पिताजी ने बड़ी मुश्किल से इतनी पूंजी इकट्ठी की थी, किन्तु कौन जानता था, इस प्रकार इनके जुए के खेल में सारी पूंजी एकदम चली जाएगी? हाय! बड़ी मुसीबत आ गई!”

१. (क) स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।

(ख) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य॥

(ग) कर्मवाद से किंचिद् भाव ग्रहण पृ. १८४

—उत्तराध्ययन

इस प्रकार घटना एक होने पर भी उसकी प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न प्रकार की हुई। सबका संवेदन भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि कर्म एक का, परिणाम सामूहिक, किन्तु संवेदन व्यक्तिगत होता है।

उपादान वैयक्तिक : निमित्त सामूहिक

इसी प्रकार उपादान की दृष्टि से व्यक्ति स्वयं कर्म करता है, स्वयं ही उसे भोगता है, किन्तु निमित्त की दृष्टि से उससे सम्बन्धित सारा समूह उसका परिणाम भोगता है। मान लीजिए, किसी कारणवश दो सौ आदमी भीषण ग्रीष्म ऋतु में कहीं जा रहे हैं। वे सब अपनी व्यक्तिगत इच्छा से ही कड़ी धूप में यह गमन क्रिया कर रहे हैं। अतः गमन क्रिया का कर्म सबका व्यक्तिगत होने से उपादान व्यक्तिगत है, किन्तु उन सबको तेज धूप की पीड़ा हो रही है। सबको कष्ट का अनुभव हो रहा है, इस कारण कहना होगा—उपादान वैयक्तिक होते हुए भी निमित्त सामूहिक हुआ।

आचरण व्यक्तिनिष्ठ : व्यवहार समाजनिष्ठ : क्रिया वैयक्तिक, प्रतिक्रिया सामूहिक

इसी प्रकार हम देखते हैं कि आचरण—किसी भी कर्म की क्रिया—व्यक्तिगत होती है, किन्तु व्यक्ति का दूसरे से सम्बन्ध अवश्य होने से व्यवहार सामूहिक होता है। अतः कहा जाता है—आचरण व्यक्तिनिष्ठ होता है और व्यवहार होता है—समाजनिष्ठ। सामाजिक जीवन पूरा का पूरा व्यवहार से सम्बद्ध होता है। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—‘क्रिया एक, प्रतिक्रिया अनेक।’ क्रिया से जैसे कर्म होता है, वैसे प्रतिक्रिया से भी कर्म और कर्मफल का संवेदन होता है।

उदाहरणार्थ—एक महिला वैराग्यरस से ओतप्रोत गीत गाती है। जहाँ वह संगीत हो रहा है, वहाँ सी से अधिक श्रोता उपस्थित हैं। उनमें से किसी को वह संगीत गायनकला की दृष्टि से बहुत रुचिकर लगता है, किसी को माधुर्य की दृष्टि से वह गायन दिलचस्प लगता है। कोई गीत गाने वाली महिला के हावभाव पर कोई उसके अभिनय पर और कोई गाये जाने वाले गीत के ताल और लय पर मुग्ध होता है। कोई व्यक्ति वैराग्यरस में सराबोर होकर विरक्ति के भावों में बहने लगता है तो कोई उस वैराग्यपूर्ण गीत से ऊब जाता है। कोई उस गीत को अत्यन्त सरस बतला कर गायिका को इनाम देता है, कोई धन्यवाद देता है, तो कोई उसके गीत को नीरस बतलाकर उसकी निन्दा करने लगता है।

इस प्रकार महिला के द्वारा की गई गायन क्रिया एक होते हुए, उसकी प्रतिक्रिया

भिन्न-भिन्न प्रकार की हुई। इस प्रकार आचरण या कर्म एकनिष्ठ, किन्तु व्यवहार अनेकनिष्ठ-सामूहिक हुआ।^१

निष्कर्ष यह है कि क्रिया करने वाले एक व्यक्ति को तो अपने शुभ या अशुभ भावों के अनुसार कर्मबन्ध और कर्मफल मिलता है किन्तु साथ ही उस क्रिया पर भिन्न-भिन्न प्रकार की शुभाशुभ भावों की प्रतिक्रिया करने वालों को भी कर्मबन्ध और कर्मफल सामूहिक रूप से प्राप्त होता है।

कर्म और कर्मफल वैयक्तिक भी, सामाजिक भी : क्यों और कैसे?

पूर्वोक्त सन्दर्भों में कर्मविज्ञान के रहस्य को समझा जाए तो कर्म के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्ष यथार्थ सिद्ध होते हैं। फलितार्थ यह है कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, यह कर्मबन्ध और कर्मफल की वैयक्तिकता भी यथार्थ है और एक के किये हुए कर्म का परिणाम समूह को भी भोगना पड़ता है, यह कर्म और कर्मफल की सामूहिकता-सामाजिकता भी यथार्थ है। दोनों पक्ष समन्वित होकर कर्म विज्ञान की यथार्थ तस्वीर व्यक्त करते हैं।

अनेकान्त दृष्टि से कहें या सापेक्ष दृष्टि से कहें, जब हम उपादान की अपेक्षा से विचार करते हैं तो कर्म और कर्मफल वैयक्तिक होता है, और जब निमित्त की अपेक्षा से सोचते हैं तो कर्म एवं कर्मफल सामाजिक होता है। इसी प्रकार संवेदन की अपेक्षा से सोचते हैं तो व्यक्ति-व्यक्ति का संवेदन पृथक्-पृथक् होने से कर्म और कर्मफल वैयक्तिक प्रतीत होता है, किन्तु जब हम परिणाम की अपेक्षा से विचार करते हैं तो प्रतीत होता है—कर्म और कर्मफल सामूहिक है—सामाजिक है।^२

वैयक्तिक कर्मों का संक्रमण नहीं, सामाजिक कर्मों में ही संक्रमण

इसी प्रकार कर्मविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जब हम संक्रमण की दृष्टि से विचार करते हैं तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कर्म वैयक्तिक होते हैं, उनका संक्रमण नहीं होता, जिनमें कर्म और कर्मफल का आदान-प्रदान या विनिमय नहीं होता; किन्तु जो कर्म सामाजिक होते हैं, उनमें संक्रमण होता है, विनिमय होता है।^३ जैसे—एक परोपकारपरायण व्यक्ति दान करता है, भोजनसत्र चलाता है, या निःशुल्क शिक्षण संस्था चलाता है, तो उसके इस शुभकर्म का फल उसको तो मिलता ही है, समाज को भी उसका सामूहिक फल मिलता है।

१. वही, भावांश ग्रहण पृ. १८३

२. कर्मवाद से भावांश उद्धृत पृ. १८५

३. वही, भावांश ग्रहण पृ. १८२

माता-पिता के कर्म का फल संतान को; क्यों और कैसे?

परिवार समाज की एक इकाई है। परिवार में माता-पिता आदि स्वयं कष्ट उठाकर, सब कुछ सहन करके बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। विशेषतः माता अपनी संतान का अनेक कष्ट उठाकर पालन-पोषण करती है, उन्हें संस्कार और शिक्षण भी देती-दिलाती है। माता या पिता बालकों के पालन-पोषण-संवर्द्धन का कर्म करते हैं, तब वह कर्म और कर्मफल बालकों में संक्रान्त हो जाता है। माता-पिता के किये हुए कर्म का फल बालकों को प्राप्त होता है।

कई बार माता-पिता के अनेक रोग आनुवंशिकता के कारण उनके बच्चों में संक्रान्त हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? अपराध माता-पिता का और परिणाम भोगना पड़ता है, निरपराध बच्चों को! इसी प्रकार पैतृक विरासत के रूप में माता-पिता के कुछ गुण-दोष भी संतानों को मिलते हैं। पिता के धन का लाभ उत्तराधिकार में पुत्रों को मिलता है, किन्तु कभी-कभी पिता के कर्ज या व्यापार में घाटे की धनहानि भी पुत्रों को भोगनी पड़ती है।^१

यह आकस्मिक या अकारण नहीं हो जाता। जैन कर्मविज्ञान के अनुसार सोचा जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन बच्चों को अपने पूर्वकृत (पूर्वजन्म या कई जन्मों पूर्व किये हुए) शुभाशुभ कर्म का उदय इस जन्म में अमुक माता-पिता या परिवार में जन्म लेने और अपने पूर्वकृत कर्मों के फल के रूप में गुण-दोषों की प्राप्ति या धन के लाभ-हानि का संयोग प्राप्त होता है। अतः संक्रमण सामूहिक होता है किन्तु संवेदन व्यक्तिगत होता है। इसमें वह संक्रान्त नहीं होता। वैयक्तिक कर्म का संक्रमण नहीं होता, न ही विनिमय होता है।

उपादानकारण की अपेक्षा कर्मफलभोग व्यक्तिगत, निमित्तकारण की अपेक्षा से सामूहिक

इसलिए उत्तराध्ययनसूत्र का यह कथन भी यथार्थ है कि "पापी जीव के दुःख को न जाति वाले बंटा सकते हैं, न मित्रवर्ग, न पुत्र और न ही बन्धु-बान्धवा। (पूर्वकृत अशुभ कर्म उदय में आने पर) व्यक्ति स्वयं अकेला ही दुःख (जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, रोग, शोक, चिन्ता आदि दुःख) भोगता है, क्योंकि कर्म कर्ता का ही अनुगमन करता है। अर्थात्-कर्ता को ही कर्म का फल भोगना पड़ता है।"^२

१. वही, भाषांश ग्रहण पृ. १८२

२. न तस्स दुक्खं विभयति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बांधवा।

एगो सयं पच्चाणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥

--उत्तराध्ययन १३/२३

यह कथन उपादान कारण की अपेक्षा से सत्य है; किन्तु निमित्त कारण की अपेक्षा से पापी जीव के परिवार, वर्ग, जाति, धर्म-सम्प्रदाय आदि से सम्बद्ध जो अनेक लोग समूह रूप से कृत, कारित या अनुमोदित रूप में होते हैं, वे भी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार उसका फल प्राप्त करते हैं, इसलिए मुख्यकर्ता द्वारा कृत उक्त अशुभ (पाप) कर्म की प्रेरणा, समर्थन-अनुमोदन करने वाले उससे सम्बद्ध जो भी पारिवारिक वर्गीय, जातीय या संस्थाकीय, सम्प्रदायीय जन हैं, वे भी किसी न किसी रूप में उक्त कर्म के कर्ता होने पर वे भी सामूहिक रूप से कर्मफल भोगते हैं। इस दृष्टि से सामूहिक रूप से कृत कर्म और उसका प्राप्त सामूहिक फल भी यथार्थ है, क्योंकि आखिरकार परिवार वर्ग, जाति आदि के लोग भी किसी न किसी रूप में अपने परिवार आदि के व्यक्ति द्वारा कृत पापकर्म के परोक्ष रूपेण हिस्सेदार बनते हैं। तब फिर उन्हें उस कर्म में सहायक होने से उसका फल अपने-अपने कृत कर्म की मात्रानुसार भोगना पड़ेगा ही।

कर्म सामूहिक, सुख-दुःख-संवेदन अपना-अपना, फलभोग पृथक्-पृथक्

इस विषय में आचारंग का यह सूत्र भी मननीय है। उसका भावार्थ यह है—“हे पुरुष! स्वजनादि तुझे त्राण देने (रक्षा करने) या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। दुःख और सुख (का संवेदन) प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना है, यह जानकर (विषयभोगों या पर-पदार्थों से अनासक्त रहे)।

कुछ मनुष्य भोगों की ही अहर्निश चिन्ता करते रहते हैं। कई मानवों को तीन प्रकार से यानी अपने, दूसरों के अथवा दोनों के, अथवा कृत, कारित, अनुमोदित रूप से, सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या बहुत अर्थ (धन) की मात्रा (संचित) हो जाती है। फिर वे सब उसके उपभोग के लिए उस अर्थमात्रा पर आसक्त (गृद्ध) हो जाते हैं। उन सबके उपभोग के बाद बची हुई विपुल सम्पत्ति के कारण वह महान् साधन-सम्पदा से सम्पन्न हो जाता है। फिर जीवन में कभी ऐसा समय आता है कि उस प्रचुर सम्पत्ति में से दायद हिस्सा बँटा लेते हैं, चोर उसे चुरा ले जाते हैं, राजा (शासनकर्ता) उसे छीन लेते हैं, वह अन्य प्रकार से (दुर्व्यसनों, या प्राकृतिक प्रकोपों से) नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। गृहदाह (आगजनी) आदि से जलकर भस्म हो जाती है।”

१. “जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सार्यं। भोगामेव अणुसोयति। इहमेगसि माणवाणं तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुणा वा। से तत्थ गट्ठिं चिट्ठिं भोयणाए।”

“ततो से एगया विपरिसिट्ठं संभूतं महोवगरणं भवति। तं पि से एगया दायदा विभयति, अदत्तहारोवा से अवहरति, रायाणो वा से विलुपति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से। अगारादाहेण वा से डग्गति।”

“इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं वाले पकुब्बमाणे, तेण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ।।”

—आचारंग १/२/४, सू. ८२

इसी प्रकार अज्ञानी मानव दूसरों के लिए अनेक क्रूर कर्म करता हुआ (दुःख के कारणों का निर्माण करता है), फिर दुःख (उन पूर्ववद्ध कर्मों) के उदय होने पर वह मृदु बनकर विपर्यासभाव को प्राप्त होता है।”

कर्म सामूहिक, फल भी कथंचित् सामूहिक, कथंचित् व्यक्तिगत : क्यों और कैसे?

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि कर्म चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक उदय में आने (फलभोग के सम्मुख होने) पर उस पर सुख-दुःख का संवेद-अपना-अपना पृथक्-पृथक् होता है। साथ ही इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि धन-संचित करने का (परिग्रह) कर्म व्यक्ति अकेला नहीं, कभी-कभी सारे परिवार या समाज के लोग सम्मिलित रूप से, अथवा करने, कराने तथा अनुमोदन करने (यौ त्रिविध) रूप से करते हैं, उस संचित धन पर आसक्ति भी उक्त समूह की होती है। फलतः वे सब उक्त धन या सुख-साधनों का उपभोग करते हैं।

माना कि उक्त अर्थ के उपार्जन, संचय और संरक्षण में सबको पृथक् पृथक् सुख-दुःख का संवेदन होता है। बल्कि वर्तमान युग में तो बहुत-से लोग केवल येन-केन-प्रकारेण धन कमाने के पीछे पड़े रहते हैं, ताकि धन से बड़प्पन प्रदर्शित कर सकें, सुख-सुविधाएं जुटा सकें, इसके पीछे जो चिन्ता, तनाव, उद्विग्नता, स्वास्थ्य की बर्बादी, ईर्ष्या-द्वेष वृद्धि आदि होती है, उससे दुःख का संवेदन ही अधिक होता है। फिर भी उक्त अर्थ संग्रह के साथ जिन-जिन लोगों की आसक्ति जुड़ी हुई है, तथा जो जो व्यक्ति उसका उपभोग करते हैं, उनको भी उक्त कर्म का फल भोगना पड़ेगा ही। हाँ, वे अपने हिस्से में आई हुई सामग्री का उपभोग अनासक्त भाव से करें या आवश्यकतानुसार खर्च करें, शेष सम्पत्ति को जनता की शिक्षा, चिकित्सा, सहायता आदि सेवा कार्यों में लगाएं तो उससे पुण्य कर्म का उपार्जन भी कर सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति धन में मतवाला एवं स्वार्थपरायण होकर स्वयं या अपने परिवार को ही उपभोग का अधिकारी मानता है, उसे सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वह संचित धन यदि पुण्यकार्य में नहीं लगाया गया तो वह दायद, चोर, सरकार, अग्नि, बाढ़, भूकम्प आदि निमित्तों से नष्ट हो सकता है, फिर उस व्यक्ति के पल्ले पड़ेगा, उस धन के लिए किये हुए पाप कर्मों का स्वयं फल भोग। फिर जो अपनी मूर्खता और विपरीत दृष्टि के कारण कर्म फलभोग के समय भी वह समभाव न रखकर, विषमभाव रखता है तो फिर उसके जीवन में नये-नये कर्मों की बाढ़ आनी रहती है। ऐसा मूर्ख व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।”

१. देखें—जायन्तामहूर् १/२/४/ सू. ८२ पर विवेचन और विश्लेषण; पृ. ५६ (आगम प्रकाशन समिति, अहमद)

कर्म की अशुद्धता दूर हो तो समूह के लिए किये गए शुभ कर्म का फल भी सुखकारक

श्री केदारनाथजी का यह मन्तव्य भी विचारणीय है—हमारे कर्म का फल खुद हमें तो भोगना ही पड़ता है, साथ ही साथ दूसरों को भी भोगना पड़ता है; इस नियम पर अब हमें विश्वास रखना चाहिए। मानवजगत् का न्याय सामूहिक पद्धति पर चलता है। इसलिए हमारे कर्मों का फल (केवल) हमें (ही) न मिलकर समूह को भी मिलेगा। . . . प्रेमी और कल्याण-इच्छुक माता-पिता अपनी सन्तान पर अच्छे संस्कार डालने और उसकी उन्नति के लिए खुद संयमी, सद्गुणी और सदाचारी रहते हैं। इसी प्रकार सारी मानव-जाति पर हमारा प्रेम हो, सबके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो तो समस्त मानव-जाति के लिए (कर्मविज्ञान के अन्तर्गत) धर्ममार्ग (संवर-निर्जरापथ) से कष्ट सहन करने में हमें धन्यता का अनुभव होगा। . . . इसके लिए हमें अपने कर्मों और संकल्पों का विचार करके उनमें रहने वाली अशुद्धता दूर करनी चाहिए। (कम से कम) हमें शुभ कर्म करने चाहिए और शुभ संकल्प धारण करने चाहिए। सबकी शुद्धि और उन्नति के लिए हमें सत्कर्मरत और सद्गुणी बनना चाहिए। . . . केवल अपने विषय की संकुचित भावना से कष्ट सहन करने के बजाय मानवता और एकता की विशाल भावना से कष्ट सहन करने में जीवन की सच्ची सार्थकता है।^१

आशय यह है कि विचारक मानव को शुद्ध और शुभ कर्म करना चाहिए, जिसका लाभ स्वयं को ही नहीं व्यापक समाज को भी मिले। जैसे माता-पिता स्वयं संयमी सदाचारी रहकर संतान के अभ्युदय एवं सुसंस्कार के लिए नाना कष्ट सहते हैं वैसे ही व्यापक भावना से संयमी सदाचारी रहकर विश्व के प्रति वात्सल्यभाव रखकर कष्ट सहन करे। तभी अपने सुकर्म का फल स्वयं के साथ-साथ समग्र समाज को मिल सकता है।

इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण के समय ऐसी भावना करो—‘मिती मे सत्वेभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।’ मेरी समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री है, किसी के साथ भी वैर विरोध नहीं है। ‘सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं’ इस सामायिक पाठ में उक्त श्लोक में भी प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोदभावना, दुःखित जीवों के प्रति करुणाभावना और विपरीतवृत्ति-प्रवृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भावना का स्रोत भी सामूहिक रूप से पुण्य-बन्ध एवं पुण्यफल का प्रतिपादक है।

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित श्री केदारनाथजी के ‘कर्मपरिणाम की परम्परा’ लेख से, पृ. २४९

नेता या अग्रणी का प्रभाव या संक्रमण सामूहिक होता है

परिवार, जाति, सम्प्रदाय या समाज नेता, नायक अथवा अग्रणी के आधार पर चलता है। परिवार आदि ये सब समाज के घटक हैं। ये कुछेक कुशल व्यक्तियों के समूह चलते हैं। अतः किसी भी सामाजिक परिणाम के लिए कतिपय अग्रगण्य व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु उसकी संक्रमणशीलता अथवा प्रभावशालिता पूरे समाज पर होती है। व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होते हुए भी समाज, राष्ट्र एवं विश्व से सम्बद्ध है। कुछेक व्यक्तियों या राष्ट्रों की वृत्ति-प्रवृत्ति का प्रभाव कभी-कभी सारे राष्ट्र अथवा विश्व पर भी पड़ता है।

इसीलिए पहले कहा गया था—परिवार या समाज के नेता, शासक या अग्रणी के गुण-दोषों का प्रभाव या संक्रमण सामाजिक होता है।

कर्म की सामूहिक फल प्राप्ति : निमित्त की अपेक्षा से

इसी प्रकार कर्मविज्ञान के अन्तर्गत कर्म के सामूहिक या सामाजिक फल प्राप्त होने में उपादान और निमित्त की दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक व्यक्ति ने अणुबम का प्रयोग किया। एक साथ एक लाख मनुष्य मारे गए। यहाँ उपादान की अपेक्षा से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति ने एक लाख आदमियों को मार डाला, किन्तु निमित्त की दृष्टि से कहा जा सकता है, वह व्यक्ति मारने वाला है। यदि मनुष्य मरणशील नहीं होते अथवा उनमें मरने की योग्यता या क्षमता न होती तो अणुबम उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकता था। अतः मरण का उपादान वे सब व्यक्ति हैं, निमित्त इस व्यक्ति का एवं अणुबम का मिल गया, वे मर गए। निमित्त का काम उपादान को व्यक्त कर देना है। उपादान निष्क्रिय होता है, उसे सक्रिय एवं प्रभावी बना देना निमित्त का कार्य है।

निमित्त की दृष्टि से ही नहीं, उपादान दृष्टि से भी विचार करो

जीवन का सारा व्यवहार निमित्त के आधार पर चलता है। उपादान की दृष्टि से सोचें तो कोई किसी व्यक्ति या समूह का भला नहीं कर सकता; किन्तु निमित्त की दृष्टि से कहा जाता है—अमुक व्यक्ति ने अमुक को या अमुक समूह को सुखी कर दिया, अथवा दुःखी कर दिया। फलतः निमित्त की प्रशंसा या निन्दा की जाती है। निमित्त के बिना मनुष्य का कार्य या व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु निमित्त को पकड़ कर बैठ जाना बुद्धिमानी नहीं है। ऐसा करने से पुरुषार्थहीनता भी परिलक्षित होती है। अतः पहले किसी घटना या परिस्थिति का उपादान की दृष्टि से विचार या चिन्तन करना चाहिए। उपादान की दृष्टि से कर्मसिद्धान्त यह नहीं कहता कि अमुक व्यक्ति सुख या दुःख देने वाला है। किन्तु निमित्त की दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है!^१

१. कर्मवाद से भावांश ग्रहण, पृ. १८६

उपादान पर सारा बोझ न डालो, निमित्त का विचार भी करो

उपादान की दृष्टि से विचार करने के साथ ही व्यक्ति अपने आपको उस दोष या अपराध से बरी न समझ ले, और ऐसा न कहना चाहिए कि मैं क्या करूँ; उसका (जिसको हानि पहुँचाई, हत्या की अथवा मारा-पीटा उसका) उपादान ही ऐसा था। मैं तो केवल निमित्त बना हूँ। इस प्रकार निमित्त की ओट में स्वयं को छिपा लेना उचित नहीं है। उपादान पर सारा बोझ डालकर स्वयं छिप जाने से उस व्यक्ति को फिर बुराई करते रहने या उसी अपराध को बार-बार दोहराने में कोई संकोच नहीं होता। इसलिए व्यक्ति हो या समूह स्वयं को अपराध से बरी समझकर उपादान के नाम पर दूसरों के सिर पर दोष मढ़ देना कथमपि उचित नहीं है।

कर्मविज्ञान अपने प्रति विचार करते समय उपादान को प्राथमिकता देने तथा दूसरों के प्रति व्यवहार करते समय निमित्त को प्राथमिकता देने की बात कहता है। अपने पर संकट, विपत्ति या दुःख आ पड़ने पर कर्म-सिद्धान्तविज्ञ व्यक्ति अपने उपादान का विचार करे, निमित्त को न कोसे, किन्तु दूसरों के प्रति अयुक्त, अनुचित या अन्याययुक्त व्यवहार के समय व्यक्ति उसके उपादान का विचार न करके स्वयं के निमित्त होने-दूसरों को क्षति पहुँचाने में निमित्त बनने का विचार करे और अपना अपराध या दोष स्वीकार करे। यही शुभकर्म या शुद्धकर्म (अकर्म) का सामाजिक रूप होगा।

कर्मोदय की दो अवस्थाएँ : स्वयं उदीरित, परेण उदीरित

कर्मविज्ञान में व्यक्तिगत या समूहगत कर्मबन्ध के पश्चात् उसका फल भुगवाने से पहले वह उदय में आता है। कर्मोदय की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—एक अवस्था वह है—जिसमें कर्म स्वयं उदय में आता है। दूसरी अवस्था वह है, जिसमें कर्म को उदय में आने से पहले ही स्वयं उदीरणा करके उदय में—विपाकावस्था में लाया जाता है, और शीघ्र ही फल भोग करके उसे निर्जीर्ण (क्षीण) कर दिया जाता है। उदीरणा भी दो प्रकार से होती है—एक स्वतः उदीरणा की जाती है; दूसरी, दूसरे निमित्त के द्वारा उदीरणा की जाती है। आशय यह है किसी शुभ या अशुभ पूर्वकृत वैयक्तिक या सामूहिक कर्मबन्ध का फल विपाकावस्था को प्राप्त होने से पहले ही या तो स्वतः उदीर्ण करके फलभोग लेना, अथवा दूसरे किसी निमित्त के द्वारा कर्मफल को उदीरित कर देना।^१

दो दृष्टान्तों द्वारा: वैयक्तिक की तरह सामूहिक कर्म-विपाक

वैयक्तिक एवं सामूहिक कर्म की परेण उदीरणा को हम दो दृष्टान्तों द्वारा समझ लें—

१. वही, भावांश ग्रहण, पृ. १८७

(१) वैयक्तिक कर्मफल—एक व्यक्ति बिलकुल निरोग है। उसके शरीर में किसी भी प्रकार का शारीरिक या मानसिक रोग नहीं है, किन्तु एक दिन वह कहीं जा रहा था, अक्समात् किसी ने उस पर पत्थर फेंका और घटनास्थल पर ही उसकी मृत्यु हो गई। यह मृत्यु स्वाभाविक नहीं, स्वयं प्राप्त नहीं, स्वयं द्वारा उदीर्ण (आत्महत्यापरक) नहीं, किन्तु दूसरे व्यक्ति के द्वारा उदीरित मृत्यु है। जो मीत कई वर्षों पश्चात होने वाली थी, वह दूसरे के द्वारा पाषाण-प्रहार से तत्काल हो गई। यह व्यक्तिगतरूप से पूर्वकृत कर्मबन्ध का दूसरे के निमित्त से उक्त कर्म को उदीरित करके वैयक्तिक रूप से शीघ्र मृत्युरूप फल भोगन हुआ।

(२) सामूहिक कर्मफल—इसी प्रकार सामूहिक रूप से शीघ्र कर्मफल भोग भी होता है। एक समूह किसी बस से किसी तीर्थयात्रा पर जा रहा है। उसमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवक एवं बच्चे भी हैं। बहुत ही आनन्द से, स्वस्थतापूर्वक यात्रा हो रही है, अक्समात् कुछ सशस्त्र आतंकवादी उस बस में चढ़ गए। ड्राइवर एवं कंडक्टर को बंदूक की नोक पर बस रोकने या जंगल में ले चलने को बाध्य कर दिया। और फिर उसमें बैठे हुए ड्राइवर कंडक्टर समेत सभी यात्रियों को गोलियों से भून डाला। उनके पास से जो धन, आभूषण आदि मिले; लेकर चम्पत हो गए। इस घटना में एक साथ ४०-५० व्यक्तियों को अपना-अपना पूर्वकृत कर्मबन्ध, जो वर्षों बाद उदय में आता, उक्त आतंकवादियों द्वारा तत्काल उदीरणा करके विपाकावस्था में लाकर फल भुगवाने में तत्पर हो गया।

यह सामूहिक रूप से बद्ध कर्म का परेण उदीरित शीघ्र सामूहिक कर्मफल की घटना है।

भ. महावीर ने जिस प्रकार व्यक्ति को मुक्त होने की स्वतन्त्रता दी है, वैसे ही समूह को भी कर्मों से मुक्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान की है। इसका प्रमाण है—एक समय में एक साथ १०८ व्यक्तियों के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का विधान। अतः जैसे एक साथ सामूहिक रूप से कर्मबन्ध का विधान है, वैसे ही एक साथ सामूहिक रूप से कर्ममुक्त होने का भी विधान है। गौतम स्वामी के ५०३ शिष्य उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बने थे। उन्हें गौतम स्वामी के केवलज्ञान होने से पूर्व ही एक साथ केवल ज्ञान और वीतरागत्व प्राप्त हो गया था।

भूकम्प आदि आकस्मिक दुर्घटना के निमित्त से हजारों को एक साथ कर्मफल प्राप्ति

इसी प्रकार सामूहिक रूप से भूकम्प, बाढ़, महामारी, प्लेग आदि संक्रामक बीमारियाँ, इत्यादि आकस्मिक विपत्तियाँ उदीरित होती हैं। इन विपदाओं के आने पर एक साथ हजारों, लाखों व्यक्तियों को वे अपनी चपेट में ले लेती हैं। सामूहिक रूप से पूर्वबद्ध जो कर्म न जाने कब विपाक में (फल भुगवाने) आता, वह किसी पर-निमित्त के

द्वारा तत्काल विपाक में आ जाता है। प्लेग या हैजा आदि किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त एक रोगी किसी गाँव में आ जाता है, और सारा गाँव अक्सरमात् उस रोग का शिकार हो जाता है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है, कि उन दूसरे हजार लोगों ने तो अभी तो रोगोत्पत्ति का कोई कुपक्ष्य-सेवन आदि नहीं किया, फिर उन्हें उस रोग का अक्सरमात् शिकार होकर मृत्यु के मुख में क्यों जाना पड़ा ?

परन्तु कर्मविज्ञान का कथन है कि अभी तो उन्होंने कोई कुकृत्य नहीं किया, किन्तु उनकी आत्मा ने पूर्वकाल में सामूहिक रूप से ऐसा कोई कुकर्म अवश्य किया होगा, जिससे कर्मबन्ध हुआ है, और उसी पूर्वबद्ध कर्म का अकस्मात् इस निमित्त से एक साथ सामूहिक रूप में फल भोगना पड़ा है। कर्म के संस्कार तो जन्म-जन्मान्तर के चलते हैं। वे इस जन्म के भी हो सकते हैं, पूर्वजन्म या जन्मों के भी।¹

सामूहिक या सामाजिक कर्मफल न मानने पर

इसलिए परेण उदीरितरूप में कर्मफल सामूहिक भी होता है, व्यक्तिगत भी। कर्म और कर्मफल को सामूहिक या सामाजिक नहीं मानने पर या तो वह आत्मा कर्म और कर्मफल दोनों से अस्पृष्ट, निरंजन-निराकार सिद्ध-बुद्ध मुक्त होगी, या फिर वह समाज से बिल्कुल अलग-थलग केवल व्यक्ति रह जाएगी! समाज तभी बनता है जब व्यक्ति एक दूसरे से प्रभावित होता है। इसी में सामाजिकता, अच्छी परम्परा तथा समाज के हित का विचार विकसित होता है। कर्मों का संक्रमण होता है, तभी समाज का निर्माण होता है। इसलिए जिस प्रकार कर्म वैयक्तिक के समान सामूहिक भी होता है, इसी प्रकार उसका फल भी वैयक्तिक के समान सामूहिक या सामाजिक भी होता है।

पूर्वोक्त सभी पहलुओं से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कर्म और कर्मबन्ध तथा बद्ध कर्मों का फल वैयक्तिक भी होता है और सामूहिक या सामाजिक भी। सापेक्ष दृष्टि से सोचना ही जैन कर्मविज्ञान की विशेषता है।

१. कर्मवाद से भावांश ग्रहण, पृ. १८७

क्या कर्मफल-भोग में विनिमय या संविभाग है ?

एक के शुभाशुभ कर्म फल को दूसरा कोई भी ले या दे नहीं सकता

आत्म-कर्तृत्व का स्वीकार करने के साथ-साथ जैनकर्मविज्ञान-विशेषज्ञों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि क्या कोई दूसरा व्यक्ति या ईश्वर आदि किसी के पुण्य-पाप के फल को स्वयं ग्रहण कर सकते हैं ? जैनकर्मविज्ञान ने इसका समाधान किया कि स्वकृत कर्म के लिए व्यक्ति या समूह स्वयं ही जिम्मेदार है। वही व्यक्ति या समूह स्वकृत शुभाशुभ कर्म का फल स्वयं ही भोगता है। ईश्वर या कोई शक्ति, या अन्य कोई व्यक्ति किसी दूसरे के पुण्य या पाप के फल को न तो दे सकता है, और न ही उससे ले सकता है।

भगवद्गीता में तो स्पष्ट कहा गया है—“ईश्वर न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है, न पुण्य को। जीवों का ज्ञान अज्ञान से आवृत है। अतः उस अज्ञान (भावकर्म) के कारण मोह से मूढ़ हो जाते हैं।”

सामायिक पाठ में आचार्य अमितगति सूरि ने कहा है—“जिस आत्मा ने पूर्वकाल में स्वयं जो कर्म किया है, उसी का शुभाशुभ फल वही प्राप्त करता है। यदि वह जीव दूसरे के द्वारा दिये हुए फल को प्राप्त करता है, तो स्वकृत कर्म निरर्थक ही सिद्ध होगा।”

जिस प्रकार अपने द्वारा पठित विद्या का-ज्ञानप्राप्ति का लाभ दूसरा नहीं प्राप्त कर सकता, न ही वह व्यक्ति दूसरे को उसके बिना मेहनत किये ज्ञान दे सकता है, इसी प्रकार अपने द्वारा कृतकर्म का फल न तो व्यक्ति दूसरे को दे सकता है, न ही दूसरे के कर्म का फल स्वयं ले सकता है, और न दूसरा प्राप्त कर सकता है। अतः यह निश्चित है कि

१. (क) नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
- (ख) स्वयं कृतं कर्म यदाऽऽत्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥—सामायिक पाठ
- (ग) क्तारमेव अणुजाइ कम्मे। —उत्तरा. २०/२

कोई भी प्राणी न तो किसी दूसरे के बदले कर्म कर सकता है और न ही दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म का फल दूसरा भोग सकता है। स्वकृत कर्म का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। एक के किये हुए कर्म का फल भी दूसरा नहीं भोग सकता, और न ही कर्म की अदला-बदली हो सकती है। इतना अवश्य है कि कर्मफल भुगवाने में दूसरा व्यक्ति निमित्त या प्रेरक बन सकता है। यदि कर्म और उसके फल का विनिमय हो सकता, तब तो रोगी, दुःखी या पीड़ित आदि के रोग, दुःख या पीड़ा को उसके स्वजन अवश्य बांट लेते और उसे सुखी कर देते।

कर्म के फलभोग में कोई भी हिस्सा नहीं करता

उत्तराध्ययन सूत्र में तो स्पष्ट कहा है कि—“संसारी प्राणी (अपने और) दूसरों (बन्धु-बान्धवों) के लिए साधारण (सबको समान फल मिलने की इच्छा से किया जाने वाला) कर्म करता है परन्तु उस कर्म के वेदन (फलभोग) के समय वे बान्धव बन्धुता नहीं दिखाते, अर्थात्—उस कर्मफल को भोगने में हिस्सेदार नहीं होते।” यदि एक का कर्म या कर्मफल दूसरा ले सकता, तब तो स्वाध्याय, तप या अन्य रत्नत्रय साधना आदि की जरूरत कोई भी न समझता, दूसरों से स्वाध्यायदि के लाभ का फल ले लेता।

अतः निष्कर्ष यह है कि “जिस व्यक्ति ने जैसा, जो कुछ कर्म किया उसका फल उसे ही मिलता है, दूसरे को नहीं। आगम में कहा है—कर्म कर्ता का ही अनुगमन करता है। जो कर्ता है, वही उसका फल भोगता है। कपड़ा बुनने वाला, घड़ा बनाने वाला स्वयं ही उसका फल प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो अच्छा-बुरा जैसा भी कर्म करता है वही उसका फल भोगता है।

एक व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मफल में दूसरा हिस्सेदार नहीं हो सकता

जैनकर्मविज्ञान का स्पष्ट मन्तव्य है कि शुभ या अशुभ कर्म के फलभोग में एक के बदले दूसरा व्यक्ति जिम्मेदार नहीं बन सकता। व्यक्ति जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, वह अपने ही संकल्प या विचार के अनुसार करता है, इसलिए वही उसके फल की प्राप्ति का अधिकारी है।

प्रश्न होता है कि जैसे परिवार के अधिकांश लोग मिलकर खेती करते हैं, पर जब फसल आती है, तब उसका फल सारे परिवार को मिलता है, जो बच्चा या विद्यार्थी किशोर अभी कृषि कर्म में हिस्सा नहीं बैटाता। उसे भी उस कृषिकर्म के फलस्वरूप अनाज तथा उससे बनी हुई चीजें मिलती हैं। इसलिए दूसरे के द्वारा किये गये कर्म का फल कर्म नहीं करने वालों को भी मिलता है।

१. “संसारभावत्र परस्स अड्ढा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ देयकाले न बांधवा बंधवयं उवेत्ति ॥”

इसका समाधान यह है कि परिवार के जिन लोगों ने कृषिकर्म में हाथ बंटया है, उन्हें तो उसका फलभोग मिलता ही है, किन्तु जिन बच्चों या किशोर-किशोरियों ने कृषिकर्म नहीं किया है, उनका उनके पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण उक्त परिवार से सम्बन्ध हुआ, इस कारण पूर्वोपार्जित कर्म के फलस्वरूप उन्हें भी उसका फल मिलता है। कर्मफल मिलने एवं कर्मफल भोगने में अन्तर है

किन्तु एक रहस्य इसमें अवश्य है—कर्मफल मिलना एक बात है और कर्मफल का भोगना—संवेदन करना दूसरी बात है। कर्मफल एक समान मिलने पर भी उस फल का भोग (वेदन) पृथक्-पृथक् रूप से होता है। परिवार के एक युवक को कृषिकर्म का फल तो मिला, किन्तु वह दुःसाध्य बीमारी का शिकार हो जाने से अथवा किसी कारणवश कारागार में बंद किये जाने से उस फल का उपभोग नहीं कर सका। अथवा अकस्मात् हार्ट फेल या एक्सीडेंट हो जाने से वह यथेष्ट फलभोग नहीं कर सका। इसी दृष्टि से आचारंग सूत्र में कहा गया है—“एक समय ऐसा आता है, जब अर्थसंग्रही मनुष्य के शरीर में (भोगफल में) अनेक प्रकार के रोगों के उत्पात (उपद्रव) पैदा हो जाते हैं। (उस समय) वह जिनके साथ रहता है, वे ही स्वजन एकदा (रोगग्रस्त होने पर) उसका तिरस्कार एवं निन्दा करने लगते हैं। (वैमनस्य हो जाने से) बाद में वह भी उनका तिरस्कार एवं निन्दा करने लगता है।”

आशय यह है कि अर्थसंग्रही मानव को अर्थसंग्रह का फल तो मिला, लेकिन उस फल का यथेष्ट उपभोग वह नहीं कर सका। इसलिए वहाँ कहा गया है—“दुःख और सुख (रूप फलभोग) प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना है, यह समझो।” उसके दुःख में न तो उसके ज्ञाति(स्व)जन हिस्सा बँटाते हैं, न मित्रगण, न पुत्र और न ही बन्धु-बान्धव। वह अपने दुःख को स्वयं ही भोगता (अनुभव करता) है। सच है, कर्म कर्ता का ही अनुगमन करते हैं।”

एक दूसरे पहलू से भी फलभोग (वेदन) में प्रत्येक व्यक्ति की भिन्नता बताते हुए कहा गया है—“विषयभोगों में आसक्त मनुष्यों के पास कदाचित् अपने, दूसरों के या दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या प्रचुरमात्रा में अर्थ (धन) सम्पदा हो जाती है। वह फिर

१. (क) “तओ से एगया रोग-समुप्याया समुप्यज्जति। जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियमा पुब्बिं परिव्वयति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा।”

—आचारंग श्रु. १ अ. २, उ. ४ सू. ८१

(ख) “जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।”

(ग) न तस्स दुक्खं विभयति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।—उत्तराध्ययन १३/२३

उस अर्थमात्रा में आसक्त होता है। उपभोग के लिए उसकी रक्षा करता है। उपभोग के बाद बची हुई विपुल सम्पत्ति के कारण वह महान् वैभवशाली बन जाता है। किन्तु फिर जीवन में कभी ऐसा समय आता है कि दायद हिस्सा बंटता लेते हैं, चोर उसे चुरा लेते हैं, राजा (शासक) उसे छीन लेते हैं। या वह अन्य प्रकार (दुर्व्यसनों आदि में या मुकद्दमे बाजी, आतंकप्रयोग आदि) से नष्ट-विनष्ट हो जाती है, अथवा गृहदाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।”

“इस प्रकार अज्ञानी मानव दूसरों के लिए कूरकर्म करता हुआ (दुःखद कर्मफल पाता है, तब) दुःखोदय (दुःखद कर्मोदय) होने पर वह मूढ़ बनकर विपर्यास भाव को प्राप्त हो जाता है।”

आशय यह है—कर्मफल प्राप्त होने पर भी विभिन्न कारणों से वह फलभोग नहीं प्राप्त कर पाता। प्रत्युत दुःखरूप वेदन ही उसके पल्ले पड़ता है।

प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करता है, परकृत का नहीं

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है—प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं या परकृत सुख-दुःख का? इस पर भ. महावीर ने समाधान किया—“प्राणी अपने ही द्वारा कृत सुख-दुःख का भोग करते हैं।” वस्तुतः सुख-दुःख का उपादान तो व्यक्ति ही होता है। सुखी या दुःखी होना व्यक्ति के अपने हाथ में है। “दुःख किसने किया?” यह पूछने पर भ. महावीर ने यही कहा—“दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं।” दूसरा व्यक्ति सुख या दुःख देने में मात्र निमित्त बन सकता है।

जैनकर्मविज्ञान की मान्यता है कि विविध सुखद या दुःखद फलभोगों (अनुभवों का संवेदन) का मूल (उपादान) कारण तो व्यक्ति के अपने ही पूर्वकर्म हैं।¹⁹

इस सिद्धान्त को समझने के लिए हमें उपादान और निमित्त कारण को समझना आवश्यक है। कहा जाता है—अमुक डॉक्टर ने अमुक रोगी को रोगमुक्त करके सुखी कर

19. “तिविहेण जाधि से तत्थ मत्ता भवइ, अप्पा वा बहुगा वा। से तत्थ गद्धए चिद्धति भोयणाए। ततो से एग्गा विपरिसिद्धं सभूयं महोवगरणं भवति। तपि से एग्गा दायदा विभवति, अदत्तहारो वा से अवहरंति, रायाणो वा से विलुंपति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अंगारदाहेण वा इज्झइ।

इति से परस्स अद्दाए कूराइ कम्माइ बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ॥”

—आचारंग शु. 9, अ. 2, उ. 4, सूत्र ८२

20. (क) भगवती सूत्र 9/2/64

(ख) दुःखे केण कडे? अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे;

—भगवती सूत्र

(ग) जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ० सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. 396

दिया, अमुक सेठ ने उसे अर्ध-सहयोग देकर सुखी कर दिया अथवा अमुक व्यक्ति ने उसकी शिकायत करके उसे नौकरी से मुक्त कराकर दुःखी कर दिया। परन्तु ये सब निमित्त हैं। निमित्त के हाथ में सुख-दुःख देने की कोई शक्ति नहीं है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के उपादान कारण की दृष्टि से सुख-दुःख-संवेदन (अनुभव) स्वकृत है, किन्तु निमित्त कारण की दृष्टि से परकृत है।^१

आचार्य कुन्दकुन्द ने उपादान कारण (निश्चयनय) की दृष्टि से कहा कि जो यह मानता है कि मैं जीवों को सुखी या दुःखी करता हूँ, वह मूढ़ या अज्ञानी है। ज्ञानी की दृष्टि इससे विपरीत है। मैं जीवों को सुखी या दुःखी करता हूँ, यह तुम्हारी मूढ़ मति है। इससे शुभाशुभ कर्म का बन्ध होता है।^२

दूसरा व्यक्ति दुःख के साधन जुटाता है, अथवा परीषह के रूप में कोई भी दुःख आ पड़ता है, उस समय यदि व्यक्ति अपने उपादान को संभाल ले, अथवा मन में विक्षोभ, चंचलता, तनाव आदि न लाए, समभाव में स्थिर रहे तो दुःख के निमित्त मिलने पर भी दुःख का वेदन नहीं होगा। जिसका मन शान्त हो जाता है, समभाव में स्थिर हो जाता है, वह दुःख-घटना जान लेने पर भी दुःख का वेदन (अनुभव) नहीं करता।

बहुत-से लोग जो इस तथ्य को नहीं समझते हैं, अकारण ही दुःखानुभव करते रहते हैं। कई लोग तो जरा-जरा-सी बात पर दुःख-संवेदन करने लगते हैं। निमित्तों को कोसने लगते हैं—अमुक ने मुझे दुःखी कर दिया। अमुक व्यक्ति ऐसा नहीं करता तो मैं दुःखी नहीं होता। अमुक व्यक्ति ने मुझे प्रणाम नहीं किया, अमुक ने मुझे पूछा तक नहीं, अमुक व्यक्ति ने मुझे अपशब्द कहे, गाली दी इत्यादि सैकड़ों बातें निमित्तों को लेकर दुःख-संवेदन करने की होती हैं।^३

योगदर्शन में मन के विक्षेप के साथी बताए गए हैं—(अकारण) दुःख, दीर्घमनस्य, अंगकम्पन, श्वास-प्रश्वास में वृद्धि इत्यादि। मन में विक्षेप, चंचलता, वैमनस्य, अनमना-

१. (क) प्रेक्षाध्यान मई १९९१ के अंक में प्रकाशित “अपने भाग्य की डोर, अपने हाथ में” लेख से भावांश ग्रहण पृ. ७
- (ख) जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ० सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. ३१८
२. “जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिद सुहिदं करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अप्पणाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥
एसा दु जा मदीदे दुक्खिद सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥
—समयसार गाथा २५३, २५९.
३. प्रेक्षाध्यान मई १९९१ के अंक में प्रकाशित ‘अपने भाग्य की डोर, अपने हाथ में’ लेख से भावांश ग्रहण पृ. ७-८

पन, आदि सब दुःख के निमित्त हैं।^१ जो व्यक्ति मन को शान्त, स्वस्थ एवं समत्व में स्थित कर लेता है, अपनी प्रज्ञा को स्थिर कर लेता है, वह तो दुःखों के अन्धड़ आने पर भी दुःखानुभव नहीं करता। वह यही मानता है कि सुख और दुःख का वेदन स्वकृत है, पर-कृत नहीं। एक आचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है—सुख और दुःख का दाता कोई नहीं है (स्वयं ही है); दूसरा व्यक्ति या ईश्वर सुख या दुःख देता है, यह कुबुद्धि है। दुःख और सुख अपने ही कृतकर्म के अधीन हैं।^२

अनाथी मुनि अपनी अनाथता का परिचय देते हुए मगध सम्राट् श्रेणिक से कहते हैं—“मेरी आँखों में इतनी भयंकर वेदना थी, मानो क्रुद्धशत्रु तीक्ष्ण शस्त्र भीक रहा है। विद्या, मंत्रविद्या तथा चिकित्सा में पारंगत महान् आचार्यों ने मेरा सर्वांगीण दृष्टि से उपचार किया, परन्तु वे मेरे दुःख को मिटाने में असमर्थ रहे। मेरे पिताजी ने मेरी चिकित्सा के लिए सर्वस्व धन लुटा दिया, फिर भी वे मुझे दुःख से मुक्त न कर सके। पुत्र के शोक से दुःखार्ता मेरी माता भी दुःख से छुटकारा न दिला सकी। बड़े सहोदर भ्राताओं ने काफी दौड़-धूप की, फिर भी वे इस दुःख से मेरा पिण्ड न छुड़ा सके। मेरी छोटी-बड़ी सगी बहनों ने भी बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे भी मुझे दुःखमुक्त करने में सफल न हो सकीं। मेरी अनुरक्ता एवं पतिव्रता पत्नी मेरी इस पीड़ा के कारण अर्हर्निश आँसू बहाती थी, उसने मेरी इस पीड़ा की चिन्ता से खाना-पीना, नहाना-धोना, तथा शृंगार करना भी छोड़ दिया। वह मेरे पास प्रतिक्षण परिचर्या में जुटी रहती थी, फिर भी वह मुझे इस दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकी। यही मेरी अनाथता-अशरणाता है।”

वास्तव में, कोई भी दूसरा कितना ही प्रयत्न करले, जब तक असातावेदनीय कर्म का उदय है, तब तक दुःख मिटना दुष्कर है। सुखद या दुःखद कर्म फलभोग में सहभागी या संविभागी दूसरा कोई नहीं बन सकता। अनाथी मुनि के अक्षिवेदनाजन्य दुःख को मिटाने के लिए, उनके दुःख में सहभागी बनने के लिए समग्र परिवार ने एड़ी से चोटी तक प्रयत्न कर लिया, किन्तु वह दुःख उनसे नहीं मिटा, वह तभी मिटा, जब स्वयं अनाथी ने अपने उपादान को संभाला, अशुभ कर्मों के क्षय-क्षयोपशम के लिए अथवा शुभ में परिवर्तन करने के लिए स्वयं ने संकल्प किया।^३ अतः कर्मफल का संविभाग या विनिमय कथमपि सम्भव नहीं। निमित्त भी तभी सफल हो सकता है, जब व्यक्ति का उपादान ठीक हो।

१. “दुःख दीर्घनेस्वांगमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासाविक्षेपरुसहभुवः” —योगदर्शन पाद १, सूत्र ३१
२. सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः, स्वकर्म सूत्र-ग्रथितो हि लोकः॥
३. (क) देखें—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २० गा. २० से ३० तक
(ख) वही, अ. २० गा. ३२-३३

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—तू शोक न करने योग्य व्यक्तियों के लिए शोक करता है, और पण्डितों की भाषा में बोलता है, परन्तु पण्डितगण तो सप्राण और निष्प्राण दोनों के लिए शोक नहीं करते। ये सब लोग तो स्वयं अपनी मौत से मरने वाले हैं, तू तो सिर्फ निमित्त होगा।”^१

यहाँ प्रश्न यह उठता है, यदि मनुष्य दूसरों का अहित या हित करने में केवल निमित्त बनता है तो वह पाप-पुण्य का भागी क्यों बनता है? जैनकर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि अगर व्यक्ति राग-द्वेषरहित होकर परहित करने में निमित्त बनता है, तो वहाँ पुण्यबन्ध नहीं होगा, परन्तु चूँकि व्यक्ति का राग-द्वेष और कषाय छूटा नहीं है, और कुछ नहीं तो प्रशस्त राग भी सूक्ष्मरूप से है वहाँ तक वह पुण्य कर्म का भाजन बन जाएगा। अतः पाप-पुण्य की क्रिया दूसरे के अहित-हित पर आधारित न होकर मनुष्य के अशुभ-शुभ परिणामों पर निर्भर है। मनुष्य दूसरों के हित-अहित करने पर निम्मेदार इसलिए है कि कर्म और कर्मसंकल्प उसने किया है। अतः निमित्त की अपेक्षा कर्म और कर्मसंकल्प के कारण सुख-दुःख या हिताहित करने में व्यक्ति को पुण्य-पाप का बन्ध होता है। अतः सुख-दुःखरूप फलभोग में उपादान तो व्यक्ति स्वयं ही होता है। किन्तु निमित्त दूसरे हो सकते हैं। उपादान और संवेदन व्यक्ति का अपना-अपना पृथक्-पृथक् होता है, लेकिन निमित्त अन्य व्यक्ति, पुंद्गल, गति, क्षेत्र, आदि हो सकते हैं। दूसरों के प्रति व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है, उसी के अनुसार उसको पुण्य या पाप का बन्ध होता है, और उसका फल भी भोगना पड़ता है। इसी दृष्टि से जैनकर्म विज्ञान ने कर्म-फल संविभाग या विनिमय को अस्वीकार किया है।^२

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा का सामर्थ्य ध्यानानिग से इतना प्रखर हो जाता है कि कर्मरूपी काष्ठ उसमें जलकर भस्म हो जाते हैं, इसीलिए प्रशमरति में आचार्य उमास्वानि ने कहा—“क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ आत्मा इतना समर्थ हो जाता है कि यदि दूसरे जीवों के कर्मों का उसमें संक्रमण हो सकता हो तो वह अकेला ही समस्त जीवों के कर्मों को क्षय करने में समर्थ है।”^३ किन्तु कर्म का नियम ही ऐसा है कि एक जीव के कर्म दूसरे में संक्रमित नहीं हो सकते। जो कर्म बाँधता है, वही उसका फल भोगता है। यदि ऐसा न हो तो कर्म सिद्धान्त में गड़बड़ हो जाएगी, द्रव्य की स्वतंत्रता ही लुप्त हो जाएगी।”

१. अशोक्यान्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
..... निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
-गीता. २/११
-वही.
२. कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. १९४
३. क्षपकश्रेणिमुपरिगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥
-प्रशमरति

वैदिक धर्म परम्परा के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में कर्मफल संविभाग की बात को स्वीकार किया गया है कि संतान के द्वारा करुणादि कृत्यों का प्रभाव पूर्वजों पर पड़ता है। इतना ही नहीं, पूर्वजों के शुभाशुभ कृत्यों का फल भी संतान को मिलता है। वहाँ युधिष्ठिर^१ से भीष्म कहते हैं—“राजन् ! चाहे किसी व्यक्ति को उसके कृत पाप कर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दिखाई दे, किन्तु वह (भविष्य में) उसे ही नहीं, पुत्रों तथा पौत्र-प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।” गीतारहस्य में इसी सन्दर्भ में महाभारत और मनुस्मृति का हवाला देते हुए कहा गया है—केवल हमें ही नहीं, हमारे नामरूपात्मक देह से उत्पन्न पुत्रों, प्रपौत्रों तक को कर्मफल भोगने पड़ते हैं। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन ने वैदिक परम्परा की दृष्टि से शंका प्रस्तुत की है—कुल का नाश होने से कुलधर्म नष्ट हो जाएगा, कुलनारियों दूषित हो जाएँगी, उनसे वर्णसंकर सन्तान पैदा होगी। वर्णसंकर संतान होने से कुलधर्म से सम्बन्धित पितरों को पिण्डदान एवं जलांजलि देने की क्रिया नष्ट हो जाएगी, इससे पितरों का भी पतन होगा।^२ इसका फलितार्थ है कि सन्तान आदि के द्वारा किये गए शुभाशुभ कृत्यों का प्रभाव पितरों पर पड़ता है। अतः वैदिक धर्म परम्परा में शुभाशुभ कर्मों के फल का संविभाग स्वीकार किया गया है।

बौद्ध धर्म परम्परा ने शुभ कर्म फल के संविभाग की पुष्टि की है। बौद्ध धर्म-दर्शन में कहा गया है—“बोधिसत्त्व सदैव यही शुभकामना करते हैं कि हमारे कुशल कर्मों का फल विश्व के समस्त जीवों को मिले।” इससे स्पष्ट है—बौद्धधर्म केवल शुभ कर्मों के संविभाग को मानता है। बौद्धदर्शन का सामान्य नियम तो यही है—जो व्यक्ति कर्म करता है, वही उसका फल (सन्तान प्रवाह की अपेक्षा से) भोगता है। बौद्धों के पालिनिकाय ग्रन्थ में पुण्य का पत्तिदान बताया गया है। बौद्धधर्म वैदिक परम्परानुसार प्रेतयोनि में विश्वास करता है। उसका मानना है कि प्रेत के निमित्त से जो दान-पुण्य किया जाता है, उसका फल प्रेत को मिलता है। उसका यह भी मन्तव्य है कि यदि कोई प्राणी मर कर परदत्तोप-श्रीवी प्रेतयोनि में जन्म लेता है, तब तो उसके निमित्त यहाँ किया जाने वाले पुण्य कर्म का फल उसे मिलता है, लेकिन जो प्राणी मरकर मनुष्य, देव या तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न होता है, तो पुण्यकर्मफल उसके कर्ता को ही मिलता है; मनुष्य, देव या तिर्यञ्च को नहीं।^३

१. (क) महाभारत शान्तिपर्व १२९

(ख) मनुस्मृति ४/१७३

(ग) महाभारत आदिपर्व ८०/३

(घ) गीतारहस्य (लोकमान्य तिलक) से पृ. २६८

२. गीता १/४० से ४३ तक

३. (क) बौद्ध धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव) पृ. २७७

(ख) 'जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से सारांश ग्रहण, पृ. ३१६-३१७

निष्कर्ष यह है—वैदिक धर्म परम्परा में पुण्य-पाप दोनों कर्मों का फल-संविभाग माना गया है, जबकि बौद्ध धर्म परम्परा में कुशल कर्म के फल का संविभाग ही माना गया है; अकुशल (पाप) कर्म के फल का संविभाग नहीं। मिलिन्द प्रश्न में अकुशल कर्मफल को दो कारणों से संविभाग के अयोग्य माना है—(१) पाप कर्म के फल पाने में प्रेत की अनुमति नहीं है, अतः उसका फल प्रेत को नहीं मिल सकता। (२) अकुशल कर्म परिमित होता है अतः उसका संविभाग नहीं हो सकता, जबकि कुशल कर्म प्रचुर होता है इस कारण उसका संविभाग सम्भव है।^१

किन्तु गहराई से सोचें तो यह तर्क निराधार है। यदि अनुमति के अभाव में अकुशल कर्म का फल प्राप्त नहीं हो सकता तो फिर कुशल कर्म का फल कैसे प्राप्त हो जाता है? इस कथन के पीछे क्या प्रमाण है कि कुशल अपरिमित है और अकुशल परिमित है? परिमित का फलभोग क्यों नहीं हो सकता?

वस्तुतः कर्मफल-संविभाग की मान्यता व्यावहारिक जगत् में प्रचलित है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में किसी भी नागरिक के शुभाशुभ कृत्यों से समग्र समाज, राष्ट्र एवं परिवार तथा भावी पीढ़ी भी प्रभावित होती है। एक व्यक्ति की गलत नीति का दुष्फल मारे राष्ट्र, समाज और परिवार को भी भोगना पड़ता है। व्यवहार-बुद्धि कर्मफल-संविभाग से अवश्य सन्तुष्ट होती है, किन्तु कर्मसिद्धान्त की तह में जाने पर उपादान कारण की दृष्टि से एक व्यक्ति के किये गए शुभाशुभ कर्मफल दूसरे को मिलें, यह असंगत लगता है। निमित्त कारण की अपेक्षा कर्मफल संविभाग-व्यवहार में स्वीकार्य है।^२

निष्कर्ष यह है कि कर्मफल का संवेदन व्यक्ति का अपना-अपना है, उपादान भी अपना-अपना पृथक्-पृथक् है। इस दृष्टि से जैनकर्मविज्ञान कर्मफल में संविभाग और विनिमय दोनों को ही अस्वीकार करता है।

यदि कर्मफल का विनिमय या संविभाग हो सकता होता तो एक व्यक्ति का दुःख दूसरा भोग लेता, अथवा पिता अपना सुख पुत्र या पुत्री को दे देता; परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुःख के लिए स्वयं जिम्मेवार है।

१. (क) वही, पृ. ३१७

(ख) मिलिन्दप्रश्न ४/८/३०-३५ पृ. २८८

(ग) आत्ममीमांसा (डॉ. दलसुख मालवणिया) पृ. १३२-१३३

(घ) गीतारहस्य पृ. २६८

२. जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से सातश प्रहण पृ. ३१७-३१८

एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—“यह सदैव सर्वमान्य निश्चित तथ्य है कि सभी प्राणी अपने-अपने कृतकर्मों के उदय से जीवन, मरण, दुःख या सुख पाते हैं। यह अज्ञानता है कि दूसरा व्यक्ति दूसरे को जिला सकता है, मार सकता है या सुखी-दुःखी कर सकता है।”^१

एक के कर्म को दूसरा नहीं भोग सकता, दुःख को भी बाँट नहीं सकता

सूत्रकृतंग सूत्र के पौण्डरीक अध्ययन में इस तथ्य का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है—“(उक्त शास्त्रज्ञ) बुद्धिमान साधक को स्वयं पहले से ही सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए कि इस लोक में मुझे किसी प्रकार का कोई दुःख या रोग-आतंक, (जो कि मेरे लिए अनिष्ट, अप्रिय, यावत् दुःखदायक है) पैदा होने पर मैं अपने ज्ञातिजनों से प्रार्थना करूँ कि—‘हे भय का अन्त करने वाले ज्ञातिजनो! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय यावत् कष्टरूप या असुख रूप दुःख या रोगातंक को आप लोग बराबर बाँट लें, ताकि मैं इस दुःख से दुःखित, चिन्तित, यावत् अतिसन्तप्त न होऊँ। आप सब मुझे इस अनिष्ट यावत् उरीड़क दुःख या रोगातंक से मुक्त करा (छुटकारा दिला) दें।’ इस पर वे ज्ञातिजन मेरे दुःख एवं रोगातंक को बाँट कर ले लें या मुझे उस दुःख या रोगातंक से मुक्त करा दें, ऐसा कदापि नहीं होता।”

अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन मेरे ज्ञातिजनों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाए, जो अनिष्ट यावत् असुखकर हो, तो मैं उन भयत्राता ज्ञातिजनों के अनिष्ट अप्रिय यावत् असुखरूप उस दुःख रोगातंक को बाँट कर ले लूँ, ताकि वे मेरे ज्ञातिजन दुःखित न हों, यावत् वे अतिसन्तप्त न हों, तथा मैं उन ज्ञातिजनों को उनके किसी अनिष्ट यावत् असुखरूप दुःख या रोगातंक से मुक्त कर दूँ, ऐसा भी कदापि नहीं हो सकता।

(क्योंकि) दूसरे के दुःख को दूसरा व्यक्ति बाँट कर नहीं ले सकता। दूसरे के द्वारा कृत कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता। प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्मता है, आयुष्य क्षय होने पर अकेला ही मरता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही (धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्णादि परिग्रह, शब्दादि विषयों तथा माता-पिता आदि के) संयोगों का त्याग करता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही इन वस्तुओं का उपभोग या स्वीकार करता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही संज्ञा (कलह) आदि कषायों का ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों का संज्ञान (परिज्ञान)

१. “सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदयात् मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत् परं परस्य, कुर्यात् पुमान् मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्॥

करता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही मनन-चिन्तन करता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही विद्वान होता है, (एक के बदले में दूसरा कोई विद्वान नहीं बनता); प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख का वेदन करता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अन्यकृत कर्म का फल अन्य नहीं भोगता, तथा प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-मरणादि भिन्न-भिन्न हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञातिजनों का संयोग दुःख से रक्षा करने या पीड़ित मनुष्य को शान्ति या शरण देने में समर्थ नहीं है। कभी क्रोधादिवश या मरणकाल में, मनुष्य स्वयं ज्ञातिजनों के संयोग को पहले से छोड़ देता है। अथवा कभी ज्ञाति संयोग भी (मनुष्य के दुर्व्यवहार-दुराचरणादि देखकर) मनुष्य को पहले ही छोड़ देता है।”

१. “से मेहावी पुन्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जां एवामेव णो लद्धपुब्बं भवति ॥६७२ ॥”
 “तेसिं वा भयंतारारणं मय णाययणं अण्णयरे दुक्खे रोगायके एवामेव णो लद्धपुब्बं भवति ॥६७३ ॥”
 “अण्णस्स दुक्खं अण्णो नो परियाइयति; अत्तेण कडं कम्मं, अत्तो नो पडिसवेदेति; पत्तेयं जायति
 ... पुरिसो वा एगता पुब्बिं णातिसंयोगे विष्णज्जति, नतिसंयोगा वा एगता पुब्बिंपुरिसं
 विष्णज्जति ॥ ६७४
 —सूत्रकृतांग शु.२, अ.१, सू. ६७२, ६७३, ६७४

कर्मफल : यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में ?

जैसा कर्म : वैसा ही फल मिलेगा ?

भारत के जनजीवन में, यहाँ तक कि जनता की रग-रग में कर्म-शब्द रमा हुआ है। झोंपड़ी से लेकर महलों तक व्यक्ति-व्यक्ति की जबान पर यह वाक्य चढ़ा हुआ है कि 'जैसा कर्म करोगे, वैसा ही फल मिलेगा'। नीम का बीज बोओगे तो आम का फल कैसे मिलेगा ? जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे ? जैसी करणी, वैसी भरणी। एक व्यक्ति छिपकर एकान्त स्थान में अँधेरे में भी पापकर्म करेगा, उसका भी फल उसे मिले बिना नहीं रहेगा। एक व्यक्ति प्रकट रूप में तो बहुत ही भला, भद्र और मिलनसार तथा मधुरभाषी मालूम होता है, परन्तु प्रच्छन्नरूप से वह मन ही मन दूसरों का शोषण करने का प्लान बनाता है, विक्रीय वस्तुओं में मिलावट करता है, तौल-नाप में गड़बड़ करता है, एक वस्तु दिखाकर दूसरी वस्तु देता है, दूसरों की रखी हुई अमानत या धरोहर को हजम कर जाता है, झूठे दस्तावेज बनाता है, झूठी साक्षी दिलाता-देता है, मिथ्या-दोषारोपण करके दूसरे को फंसा देता है और उससे रुपये ऐंठ लेता है। क्या उसे अपने इन कुत्सित कर्मों का फल नहीं मिलेगा ? भले ही ऐसा व्यक्ति भगवान् की या देवी-देवों की भक्ति एवं मनीती करता हो, प्रभु की स्तुति, प्रार्थना या स्तोत्र पाठ अथवा भजन करता हो, घंटों मंदिर में बैठकर भगवत्भजन, पूजन-अर्चन करता हो, परन्तु इस प्रकार की पूजा-पत्री मात्र से पूर्वोक्त कुत्सित कर्मों का फल मिट नहीं जाएगा।'

पश्चात्ताप-प्रायश्चित्तादि से कृतपाप-कर्मफल से बचाव

यदि व्यक्ति अपने द्वारा कृत अशुभ कर्मों की शुद्ध हृदय से आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गहर्णा करे, प्रायश्चित्त ग्रहण करे तथा भविष्य में वैसा कुकर्म न करने का संकल्प (नियम) ले, जिसके साथ उसने ऐसा दुष्कर्मयुक्त व्यवहार किया हो, उससे

विनयपूर्वक क्षमा याचना करे तथा यथासम्भव क्षतिपूर्ति करे तो बहुत कुछ अंशों में व्यक्ति उक्त कृत पापकर्म के फल से बच सकता है।

शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य ही मिलता है

भारत के जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे सब एक स्वर से स्वीकार करते हैं- “कृत कर्मों का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं।” कृतकर्मों का फल देर-सबेर अवश्य ही मिलता है। हरिवंश पुराण में भी कहा है- “किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। सैकड़ों कोटिकल्पों में बिना भोग कर्म का क्षय नहीं होता।” महाभारत में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है- हे सज्जन! यदि मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, निःसन्देह कोई संशय नहीं है कि वह उसका फल अवश्य ही प्राप्त करता है।” ब्रह्मपुराण भी इसी तथ्य का साक्षी है- “हे ब्राह्मणो! उस वर्ष में मनुष्य ने धर्म (पुण्य) या पाप जो भी किया है, उसका शुभ या अशुभ फल अवश्य ही प्राप्त करता है।” दक्षस्मृति भी इसी का समर्थन करती है- “जो दूसरे के लिए सुख या दुःख उत्पन्न करता है, वह सुख या दुःख उसके जीवन में बाद में उत्पन्न होता ही है।”

वेदना और निर्जरा का अस्तित्व

सूत्रकृतांग सूत्र में कतिपय नास्तिक दार्शनिकों की मान्यता देकर उसका निराकरण किया गया है। वैसे दार्शनिक वेदना और निर्जरा के अस्तित्व को नहीं मानते। कर्म का फल भोगना 'वेदना' है और कर्मों का आत्मप्रदेशों से आशिकरूप से अलग हो जाना-झड़ जाना 'निर्जरा' है। इन दोनों के अस्तित्व को चुनौती देने वाले दार्शनिकों का तर्क है कि “-अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों का अनेक कोटि वर्षों में क्षय करता है, त्रिगुणिसम्पन्न ज्ञानी पुरुष उन्हें एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर डालता है”; इस सिद्धान्त के अनुसार सैकड़ों पल्योपम एवं सागरोपम काल में भोगने योग्य कर्मों का भी क्षय (बिना

9. (क) “कडाण कम्पाण न मोक्ख अत्थि।” —उत्तराध्यायन ४:३
 (ख) अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः। —महाभारत वनपर्व अ. २०८
 (ग) नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
 —हरिवंश पुराण उद्धृत अभि. २५
 (घ) यत्करोत्यशुभकर्म शुभं वा यदि सत्तम! अवश्यं तत्सभान्नाति पुरुषे नाऽत्र संशयः॥
 —महाभारत वनपर्व अ. २०८
 (ङ) तस्मिन्वर्षे नरः पापं कृत्वा धर्मं च भो द्विजाः !
 अवश्यं फलमान्नाति अशुभस्य शुभस्य च॥ —ब्रह्मपुराण
 (च) सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परेः । ततस्तत्तु पुनः पश्चादात्मनि जायते॥
 —दक्षस्मृति २१

भोगे ही) अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि क्रमशः बद्ध कर्मों का क्रमशः वेदन (फलभोग) नहीं होता, अतः 'वेदना' नाम का कोई तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार 'वेदना' का अभाव सिद्ध होने पर 'निर्जरा' का अभाव तो स्वतः सिद्ध हो जाता है।

किन्तु अनेकान्तवादी जैन दर्शन ऐसा नहीं मानता। उसका कहना है कि तपश्चर्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षयण (निर्जरा) होता है, समस्त कर्मों का नहीं। उन्हें तो उदीरणा और उदय के द्वारा कर्म को फलोन्मुख करके भोगना (वेदन-अनुभव करना) होता है। आगम में भी कहा है—पहले अपने द्वारा कृत (आचरित) दुष्कर्मों तथा दुष्प्रतीकार्य कर्मों (पापकर्मों) का वेदन (फलभोग) करके ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नहीं।" इस प्रकार वेदना (कर्मफल भोग) का अस्तित्व सिद्ध होने पर निर्जरा का अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इस स्पष्टीकरण से उन लोगों के विचार का भी निराकरण हो जाता है, जो यह सोचकर निःशंक होकर पापकर्म करते रहते हैं कि वेदना (कर्मफल भोग) का अस्तित्व नहीं है, न ही कर्म फलदाता कोई ईश्वर नजर आता है, कर्म अपना फल स्वयं नहीं दे सकते; इसलिए हमें कर्मफल भोगना नहीं पड़ेगा। उन्हें चेतावनी देते हुए महाभारतकार कहते हैं—“हे भाई! इसमें कोई संशय नहीं है कि पापकर्म का फल समय आने (काल पक जाने) पर कर्ता अवश्यमेव पाता है।” वाल्मीकि रामायण में भी कहा गया है—“हे भद्रे! कर्ता जो भी शुभ या अशुभ आचरण करता है, उस कर्म का फल उसी के अनुरूप प्राप्त करता है।” महाभारत अनुशासनपर्व में इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है—“जैसे पुष्प और फल बिना ही किसी प्रेरणा से अपने-अपने समय पर पुष्पित-फलित हो जाते हैं, उस काल का वे अतिक्रमण नहीं करते, वैसे ही पूर्वकृत कर्म भी किसी की प्रेरणा के बिना (फल देने में) अपने समय का अतिक्रमण नहीं करते। वे समय पर फल अवश्य देते हैं।” हजारों गायों के झुंड में बछड़ा जैसे अपनी मां को (जान) पहचान लेता है; वैसे ही पूर्वकृत कर्म भी कर्ता का स्वयं अनुगमन करते हैं।”^{१३}

१. (क) देखें—णथि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सण्णं निवेसए।

अथि वेयणा निज्जरा वा, एवं सण्णं निवेसए।”

—सूत्र कृतांग श्रु. २ अ. ५ का अनुवाद और विवेचन, पृ. १५३, १५७

(आ. प्र. समिति, ब्यावर)

(ख) जे अत्राणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं॥

(ग) “पुत्विं दुविण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइता भोक्खो, णथि अवेइत्ता।”

—सूत्रकृतांग शीलकं वृत्ति पत्र ३७७ से ३७९ तक

२. (क) अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।

भर्तः! पर्यागते काले कर्ता नास्वत्र संशयः॥”

—महाभारत वनपर्व अ. २०८

दूसरी बात यह है कि स्वकृत कर्मों का फल माने बिना जगत् की विभिन्नता और विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। कर्मों के फलभोग की विभिन्नता के कारण ही प्राणिवाँ विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। सूत्रकृतांग टीका में कहा गया है—“जिस प्रकार वृक्षों का मूल सींचने पर उनकी शाखाओं में फल लगते हैं, उसी प्रकार इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल-भोग आगामी जन्म में होता है। इसी प्रकार अन्य जन्म में जो शुभ या अशुभ कर्म संचित किया है, उस स्व-स्वकृत कर्म के परिणाम (फल) को सुर या असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता।” अतः इहजन्मकृत कर्म का फल अगले जन्म में तथा पूर्वजन्म में कृतकर्म का फल इस जन्म में अवश्य ही वह जीव भोगता है, जिसने कर्म किया है। अतः कर्म यथासमय फल देते ही हैं।

इतने सब विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य चाहे एकान्त में छिपकर भी पापकर्म करे, अथवा प्रकट में खुल्लमखुल्ला पापकर्म का आचरण करे, दोनों ही स्थितियों में कर्म टेपरिकार्डर के केसेट में अंकित वक्ता की वाणी की तरह कर्मणशरीर में अंकित हो जाता है। जिस प्रकार उस टेप को व्यक्ति जब भी बजाएगा, पुनः पुनः वही वाणी अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार कर्मणशरीर द्वारा पूर्वकृतकर्मशरीर द्वारा पूर्वकृत कर्मफलरूप में पुनः पुनः आते रहते हैं।

यह सत्य है कि कर्म और उसके फल का सम्बन्ध कारण-कार्यवत् है। कारण उपस्थित हो तो कार्य अवश्य ही उपस्थित होता है। जहाँ प्रकाश या ताप का अनुभव होता है, वहाँ उसके कारणरूप सूर्य, अग्नि या बिजली का अस्तित्व अवश्य ही माना जाता है। जहाँ जीव द्वारा सुखरूप या दुःखरूप फल भोग किया जाता है, वहाँ उसकी पृष्ठभूमि में अवश्य ही पूर्वकृत कर्म होता है। परन्तु अधिकांश प्राणी सुखोपभोग के लिये तो लालायित रहते हैं, परन्तु दुःखरूप फलोपभोग के लिए विरले ही तत्पर रहते हैं। परन्तु

- (ख) यदाचरति कल्याणि! शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तदेव लभते भद्रे! कर्ता कर्मजमालनः॥ —वाल्मीकि रामायण अयो. स. ६३
- (ग) अचोद्यमानानि यदा पुष्पाणि च फलानि च।
तत्कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्॥ —महाभारत अनु. अ. ७/२२-२४
- (घ) यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥ —महाभारत

१. यदिह क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते।

मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं, शाखासु जायते॥

यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभाशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि॥

—सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र २८९ में उद्धृत

उन्के चाहने-न चाहने से कर्मफल सहज ही टल नहीं सकता। सभी कर्मफल कृतकर्मानुसार ही होते हैं। अशुभ कर्मबीज के फल भी तदनुसार अशुभ ही होंगे। चाहे व्यक्ति बाहर से कितना ही भला, शरीफ एवं सफेदपोश बना फिरे, लोगों पर अपने धर्मात्मापन की छाप लगाने के लिए वह कितने ही लम्बे चीड़े लच्छेदार भाषण झाड़ दे, अध्यात्म और वैराग्य के प्रवचनों की झड़ियाँ बरसा दे, परन्तु अन्तर् में दम्भ, माया, कपट, पापकर्म से लिप्तता और ठगी होगी तो व्यक्ति को उसके उन पाप कर्मों का फल जन्म-जरा-मृत्युरूप दुःखों के रूप में अवश्य ही भोगना पड़ता है।^१

कर्म के फल से बचने या उसका रूपान्तर करने का नियम

यह बात दूसरी है कि उन पापकर्मों के उदय में आने से पहले ही व्यक्ति संचित अशुभ कर्मों को आलोचना आत्म-निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा (गुरुजनों की साक्षी में प्रकटीकरण) प्रायश्चित्त, तप एवं प्रत्याख्यान (त्याग) द्वारा उन पाप कर्मों का फल भोग करके शुद्धीकरण कर ले, पापकर्मों को पुण्यकर्मों में बदल दे। परन्तु निकाचित रूप से बद्ध कर्मों का फल तो उसी रूप में भोगना पड़ता है। उसके फलभोग में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए सर्वसामान्य सिद्धान्त यह है कि कोई भी कर्ता न तो कर्म के फलों से बच सकता है और न ही किसी स्थिति में फल कर्मानुसार होने से बच सकता है। कर्मफल के नियम का हार्द यही है कि कोई भी कृतकर्म निष्फल नहीं जाता और कोई भी परिणाम (कार्य) कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। अच्छे परिणाम की इच्छा करने वाला अच्छे कर्म नहीं करता तो वह वैसा परिणाम भी नहीं पा सकता।

तत्कालफलवादियों का कृतकर्म

परन्तु कर्म और कर्मफल के इस कार्य-कारण सम्बन्ध सिद्धान्त पर बहुत-से बुद्धिवादी अथवा धार्वाक दर्शन के समर्थक लोग उंगली उठाते हैं कि यदि ऐसा है तो संसार में बहुत-से वर्तमान में पापकर्म-परायण व्यक्ति सुख भोगते और पुण्यकर्म-परायण अथवा अहिंसादि धर्मचरणरत लोग दुःख भोगते दिखाई देते हैं। कार्य और कारण-कर्म और उसका प्रतिफल यदि परस्पर जुड़े हैं तो बुरे लोगों का सुखी होना और भले लोगों का दुःखी होना, पूर्वोक्त सिद्धान्त सम्मत कैसे समझा जाए? अच्छे कर्मों का तत्काल अच्छा फल और बुरे कर्मों का तत्काल बुरा फल मिलना चाहिए न?

तत्कालफलवादी नास्तिक अथवा तत्काल फल न मिलने पर सत्कर्म से विमुख और असत्कर्म में डूबते हुए अधिकांश व्यक्ति कर्मविज्ञान अथवा कर्म के अस्तित्व पर

१. देखें हरिवंशपुराण (उग्र. अभि. २५) में-

इह वा प्रेत्य वा राजस्त्वया प्राप्तं यथा तथा।

आत्मनैव कृतं कर्म ह्यात्मनैवोपभुज्यते ॥

आस्थाहीन हो गए हैं, होते जा रहे हैं। इस विषय में हम अनेक पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष प्रस्तुत करके कई कर्मों का फल तत्काल न मिलने के विषय में विस्तार से शंका-समाधान कर्मविज्ञान के प्रथम खण्ड में 'कर्म के अस्तित्व के प्रति अनास्था अनुचित' नामक निबन्ध में प्रतिपादित कर आए हैं।

कर्म अभी और फल अभी नहीं : कर्मविज्ञान पर आक्षेप

किन्तु आचार्य रजनीश जैसे कुछ बुद्धिवादी उस विषय में दिये गए समाधान को नहीं मानते। उनका केवल एक ही तर्क है कि . . . 'कार्य-कारण के बीच अन्तराल नहीं होता, अन्तराल हो ही नहीं सकता। अगर अन्तराल आ जाए तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जाएँगे, उनका सम्बन्ध टूट जाएगा। . . . कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले जन्म में मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म में किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातों का चिन्तन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। . . . अगला जन्म अंधेरे में खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा ? पहले तो यही पक्का नहीं कि अगला जन्म होगा या नहीं ? फिर यह भी पक्का नहीं कि जो कर्म अभी फल दे सकने में असमर्थ है, वह अगले जन्म में फल देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते हैं, तो अनेक जन्मों तक क्यों नहीं ? . . . अगर कोई आदमी सुख भोग रहा हो तो अपने पिछले-अच्छे कर्मों के कारण, लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल में दूसरे उपाय ही सच हैं।''

कर्म के कार्य-कारण-सिद्धान्त के विषय में कुतर्क और समाधान

यह सत्य है कि भौतिक विज्ञान कार्य-कारण-सिद्धान्त पर खंडा है। अगर कार्य-कारण सिद्धान्त को हटा दो तो भौतिक विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाएगा।

चार्वाक और ह्यूम के सिद्धान्त का कर्मविज्ञान द्वारा निराकरण

भारतवर्ष में चार्वाक ने इस कार्य-कारण-सिद्धान्त को नहीं माना। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में 'ह्यूम' नामक दार्शनिक ने भी इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। परन्तु दोनों ही भौतिक विज्ञान और कर्मविज्ञान के कार्य-कारण-सिद्धान्त को असत्य सिद्ध न कर सके। अगर इस विवाद में चार्वाक जीत जाता तो धर्म एवं कर्म का अस्तित्व भारत से उठ जाता और यदि ह्यूम विजयी हो जाता तो भौतिक विज्ञान में कार्य-कारण-सिद्धान्त का जन्म नहीं होता।

१. देखें-जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित आचार्य रजनीश का लेख-'कर्म और कार्य-कारण सम्बन्ध' पृ. २७३

चार्वाक ने कर्म सिद्धान्त को ही नहीं माना तो कार्य-कारण सिद्धान्त को मानने का सवाल ही नहीं उठता। उसने प्रतिपादित किया कि “मनचाहा खाओ, पीओ और मौज करो, परलोक, परमात्मा, स्वर्ग-नरक आदि कुछ नहीं है। तुम ही प्रत्यक्ष देख लो न, ‘जो बुरे कर्म कर रहा है, वह अच्छा फल भोग रहा है।’ और जो अच्छे कर्म कर रहा है, वह दुःख पा रहा है, अभाव-पीड़ित हो रहा है। चोर चैन की वंशी बजा रहा है और ईमानदार, साहूकार या सज्जन पुरुष दुःख की रातें काट रहा है।”

परन्तु जैन कर्मविज्ञान ने इन दोनों का निराकरण करके कार्य-कारण सिद्धान्त की वेदी पर कर्म और कर्मफल के परस्पर सम्बन्ध को अकाट्य और चिरन्तन सिद्धान्त घोषित किया है। परन्तु जैसा कि तत्कालफलवादी कहते हैं—‘इधर कर्म किया, उधर उसका फल मिला’; इस एकान्त मान्यता को जैनकर्म-विज्ञान इस रूप में स्वीकार नहीं करता।

जैनकर्मविज्ञान क्रिया का फल तो तत्काल मानता है, किन्तु

जैन कर्मविज्ञान इस रूप में तत्कालफलवादी सिद्धान्त को अवश्य मानता है कि जीव जब भी कोई क्रिया या प्रवृत्ति करता है, तत्काल या तो आसन्न के रूप में कर्म का अर्जन हो जाता है, या फिर कर्म के साथ रागद्वेषादि हों तो तत्काल बन्ध के रूप में कर्म का अर्जन हो जाता है। प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति का फल कर्म का अर्जन करना है।

‘क्रियाएँ कर्म’ यह सिद्धान्त सूत्र बताता है, जिस क्षण कोई प्रवृत्ति या क्रिया होती है, उसी क्षण उस का फल प्राप्त हो जाता है—कर्मासन्न के रूप में या कर्मबन्ध के रूप में; क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ में लेकर चलती है। क्रिया अभी करें और उसका परिणाम—फल बाद में मिले, ऐसा नहीं होता। वह तत्काल मिलता है। आप क्रिया करें अभी और परिणाम मिले—छह महीने या वर्ष दो वर्ष बाद अथवा सौ वर्ष या हजार वर्ष बाद, ऐसा नहीं होता। क्रिया और फल में अन्तराल इतना नहीं हो सकता। हां, ये दो काल अवश्य माने जाते हैं—एक है क्रिया का काल दूसरा है—कर्मासन्न या कर्मबन्ध का काल। परन्तु ये काल इतने सूक्ष्म हैं कि सिर्फ एक दो समय का ही अन्तराल रहता है।^१

कर्मबन्ध या कर्मार्जन तो तत्काल; किन्तु फलभोग प्रायः तत्काल नहीं

आशय यह है कि कर्म का बन्ध अथवा कर्म-परमाणुओं का अर्जन तत्काल हो जाता है, क्रिया होने के साथ ही। ऐसा कदापि नहीं होता कि क्रिया या प्रवृत्ति अभी हो रही है और कर्मासन्न या कर्मबन्धा दस-बीस वर्ष बाद हो।

१. वही, पृ. २७४

२. कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. ४३

कर्म का फलभोग तत्काल नहीं; क्यों और कैसे?

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस कर्म का फलभोग भी तत्काल हो जाता है। किसी भी क्रिया का परिणाम तत्काल मिलने पर भी उसका उपभोग लम्बे समय तक, अथवा कभी-कभी कई महीने, वर्ष, या युगों में जाकर होता है। अर्थात्—कर्म के अर्जन का काल क्षणभर का होता है, किन्तु उस अर्जित, संचित या संगृहीत कर्म का फलभोग एकान्ततः उसी समय नहीं होता। अधिकांश अर्जित एवं बद्ध कर्म उसी समय फल देने में समर्थ नहीं होते।

दूसरे शब्दों में कहें तो—वे संचित कर्म या कर्मपरमाणु, जिस क्षण में संचित होते हैं या बद्ध होते हैं, अथवा आम्रवरूप में आते हैं, उसी क्षण वे प्रायः फलभोग नहीं करा सकते। कर्मों का अर्जन, क्रिया, प्रवृत्ति अथवा आम्रव का मुख्य फल होता है वह तो प्रवृत्ति काल में ही प्राप्त हो जाता है। अर्जित कर्मपुद्गल कब तक साथ रहेंगे, कब वे सक्रिय होंगे? कब तक सक्रिय होकर फलभोग कराते रहेंगे? इसका नियम कर्म के अर्जन के नियम से भिन्न है।^१

आक्षेप और समाधान

इस अन्तर को न समझकर कई तथाकथित तत्काल फलभोगवादी कर्मविज्ञान पर यह आक्षेप कर देते हैं कि “...अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी को सुख भोगना चाहिए और बुरे कार्यों का परिणाम बुरा है तो तत्काल बुरे आदमी को दुःख भोगना चाहिए।”^२

वस्तुतः कर्मफल और कर्मफल-भोग के अन्तर को न समझने के कारण ही ऐसा घपला होता है। जैनकर्म-विज्ञान ने इस तथ्य को या इन दोनों के अन्तर को बहुत ही बारीकी से पकड़ा है।

कभी-कभी कर्म-फलोपभोग तत्काल नहीं; क्यों और कैसे?

यह तो आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि कोई व्यक्ति कपड़ा बुनता है तो उसे बुनने का फल तो तत्काल मिल जाता है, किन्तु कपड़ा पूर्णरूप से तैयार होने में, तथा पहनने लायक होने में काफी समय लग जाता है। एक विद्यार्थी पढ़ाई करना शुरू करता है, तब उसे पढ़ाई करने का परिणाम तो तत्काल मिल जाता है, किन्तु उसे एम. ए. तक पहुँचने में तथा उस पढ़ाई के फल का उपभोग करने यानी व्यावहारिक जीवन में उस पढ़ाई के द्वारा धनार्जन करने, नौकरी करने आदि फलभोग तो कई वर्षों बाद मिलता है। दण्ड-बैठक करने वाला, या कुशती लड़ना सीखने वाला तत्काल ही पहलवान नहीं बन जाता। इसी

१. देखें—वही, सारांश ग्रहण पृ. ४४

२. देखें—जिनवाणी कर्मसिद्धान्त में आचार्य रजनीश का लेख पृ. २७३

प्रकार कुपथ्य करने वाला व्यक्ति भी तत्काल बीमार नहीं पड़ जाता, रोग के परमाणु तो तत्काल आते हैं, किन्तु धीरे-धीरे संचित होकर वे कई महीनों या वर्षों बाद एक दिन कठोर एवं दुःसाध्य रोग का रूप धारण करते हैं।

अर्थात्—किसी भी क्रिया का मुख्य फल तो तत्काल अव्यक्त रूप में मिल जाता है, किन्तु उस फल का उपभोग प्रायः लम्बे असें बाद होता है। वैदिक पुराणों में भी कहा गया है कि गाय के गर्भवती होते ही तत्काल शिशु पैदा नहीं हो जाता, उसमें समय लगता है, उसी प्रकार जगत् में कर्म भी तत्काल (फलभोग के रूप में) फलित नहीं होता। “कर्म के फलोपभोग का नियम कर्म के अर्जन के नियम से भिन्न होता है। अर्जित होते ही कर्म प्रायः तत्क्षण सक्रिय नहीं होता।”

“एक नवजात शिशु जन्म लेते ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी तो हो जाता है किन्तु उसे पूर्ण अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब वह बालिग या वयस्क हो जाता है। जब तक वह नाबालिग अवस्था को पार नहीं कर लेता, तब तक उस बच्चे को पिता की सम्पत्ति का कार्यकारी स्वामित्व अर्थात् सक्रिय मालिकी हक प्राप्त नहीं होता; भले ही उसे जन्मजात स्वामित्व प्राप्त हो गया हो। वयस्क होने पर ही उसे पिता की सम्पत्ति के उपभोग का तथा सक्रिय स्वामित्व का अधिकार मिलता है।”

सत्ता में पड़े हुए बद्धकर्म फलभोग नहीं करा पाते

यही तथ्य कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में समझ लीजिए। पुद्गल-परमाणुओं के रूप में या कर्मबन्ध अथवा कर्माश्रय के रूप में जो कर्म अर्जित हुआ है, वह प्रायः तत्काल कार्यकारी नहीं होता। अमुक अवधि तक वे कर्म-परमाणु या बद्ध कर्म सत्ता रूप में (संचित) पड़े रहते हैं, वे उदय में नहीं आते। इसका अर्थ यह हुआ कि वे कर्मपरमाणु अस्तित्व में अवश्य हैं, किन्तु फलभोग कराने में अभी कार्यक्षम नहीं हुए हैं। कर्मों के सत्ता में पड़े रहने के काल को जैन कर्मविज्ञान की परिभाषा में अबाधाकाल कहते हैं। अर्थात् सत्ता में रहे हुए (संचित) कर्म कुछ भी कर सकने यानी फल भुगवाने में समर्थ नहीं हुए हैं, परिणाम को क्रियान्वित करने की क्षमता अभी उन संचित (अर्जित) कर्मों में नहीं आई। उनका अव्यक्त रूप में अस्तित्व है, व्यक्तरूप में वे नहीं आए।

जैसे—किसान बीज बोता है, वह बीज तुरंत अभिव्यक्त नहीं हो जाता। अंकुर रूप में उस बीज के अभिव्यक्त होने में, अर्थात्—अंकुर फूटने में कुछ समय लगता है। अंकुर फूटने के पश्चात् धीरे-धीरे वह पौधा बनता है, और आगे बढ़ते-बढ़ते एक दिन विशाल वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।

१. (क) कर्मवाद से साभार भावांश ग्रहण

(ख) भविष्य पुराण में देखें—नहि लोके कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव॥

बीज बोने के काल के समान बंध का काल है। बंध के बाद आता है-सत्ता का काल। कर्म जब तक सत्ताकाल या अबाधाकाल में रहता है, तब तक फलभोग कराने में वह कार्यक्षम नहीं होता। अबाधाकाल पूर्ण होने पर ही कर्म फल देने (विपाक) की स्थिति में आता है। अर्थात्-वह पूर्वबद्ध या पूर्वसंचित कर्म सत्ताकाल पूर्ण होते ही उदय में आकर फल देने को उद्यत होता है। फलदान की भी एक अवधि (कालसीमा) होती है, इसे जैन कर्मविज्ञान की भाषा में स्थितिकाल कहते हैं।^१

कर्मों के अर्जन का कार्य क्षणभर में किन्तु फलभोग का कार्य काफी बाद में

आगे हम कर्मविज्ञान के बन्धविषयक खण्ड में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध एवं प्रदेशबन्ध के विषय में विस्तृत रूप से विवेचन करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि क्रिया करते ही कर्म जिस क्षण अर्जित हुआ, उसी क्षण उस फल का उपभोग नहीं होता। कर्मों के अर्जन का काल तो क्षणभर का है किन्तु उपभोग का काल काफी लम्बा है। जीव अपने कृतकर्मों का फलभोग काफी बाद में, और काफी लम्बे असें तक करता है। अतः कर्म-अर्जन का और कर्मफलभोग के नियम अलग-अलग हैं। कर्मफल और कर्मफलोपभोग में अन्तर क्यों ?

परन्तु कर्मविज्ञान पर यह जो आक्षेप किया जाता है कि '... कर्म तो हम अभी करेंगे और फल भोगेंगे अगले जन्म में'^२ यह बिलकुल निराधार और ऐकान्तिक है। कभी-कभी तो कृतकर्म का फल इसी जन्म में और तत्काल भी मिल जाता है, कभी इसी जन्म में कुछ देर से मिलता है। यह बद्ध कर्म के स्वभाव (प्रकृति) एवं अनुभाग (रस) पर निर्भर है। कई बार किसी-किसी कृतकर्म का फल कई वर्षों बाद यहीं मिल जाता है, कभी अगले जन्म में या जन्मों में मिलता है। स्थानांगसूत्र में कर्म विज्ञान के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से उद्धोषणा की गई है-कि "इस लोक में किये हुए कई सत्कर्म इस लोक में शुभफल (सुखरूप फल) विपाक से युक्त होते हैं, इहलोक में किये हुए कई शुभ कर्म परलोक में शुभ (सुखरूप) फल विपाक से युक्त होते हैं। इसी प्रकार इस लोक में किये हुए दुष्कर्म इस लोक में अशुभ (दुःखरूप) फल विपाक से युक्त होते हैं, तथैव इस लोक में आवरित कई दुष्कर्म परलोक में भी अशुभ (दुःखरूप) फल-विपाक से युक्त होते हैं।"^३

१. कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. ४२-४३

२. देखें-जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में आ. रजनीश द्वारा किया गया आक्षेप पृ. २७३

३. "इहलोगे सुचिन्ता कम्मा इहलोगे सुहफल विवागसंजुता भवति।

इहलोगे सुचिन्ता कम्मा परलोगे सुहफल विवाग-संजुता भवति।

इहलोगे दुचिन्ता कम्मा इहलोगे दुहफलविवाग-संजुता भवति।

इहलोगे दुचिन्ता कम्मा परलोगे दुहफलविवाग-संजुता भवति।" -स्थानांगसूत्र अ. ४ उ. २

इसी प्रकार मनुस्मृति आदि में भी कहा गया है—“कई दुरात्मा (दुष्ट) मानव इस जन्म में दुश्चरित कर्मों से तथा कई पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों से अपनी स्वाभाविकता खोकर विपरीत रूप (योनि) प्राप्त करते हैं। महाभारत भी इसी तथ्य का साक्षी है—“प्राणी स्व-स्वकृत कर्मों के कारण परलोक में दुःखी होता है, तथा उन दुःखों का प्रतीकार करने के लिए पापयोनि को प्राप्त करता है।”

इहलोककृत कर्म का फलभोग : इस लोक में भी, परलोक में भी

भविष्य पुराण में भी इस तथ्य का पूर्ण समर्थन किया गया है—“इस जन्म में किये गए कर्म का फल (प्रायः) दूसरे (पर) जन्म में प्राप्त होता है। मनुष्यों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल प्रायः वर्तमान में फलरूप से प्राप्त होता है।” इस लोक में किये गए कर्म भूमि में बोये गये बीज की तरह तत्काल फल उत्पन्न नहीं करते। अपितु धान्य (फसल) या वृक्षों के फल के रूप में यथासमय फलित होते हैं। वाल्मीकि रामायण में इस विषय में स्पष्ट कहा गया है—“जिस प्रकार वृक्ष के फूल ऋतु आने पर ही लगते हैं, वैसे ही पापकर्म का कर्ता भी उसका घोर फल समय आने पर ही पाता है।”

मनुस्मृति में भी कहा गया है—कई दुरात्मा मानव इस लोक में किये हुए दुश्चरित (दुष्कर्मों) से तथा कई पूर्वकृत दुष्कर्मों से अपनी स्वाभाविकता खोकर विद्रूप बन जाते हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र चूर्ण में भी इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है—(१) कई इस लोक में किये हुए कर्म इस लोक में फलित हो जाते हैं, फल दे देते हैं। (२) इस लोक में किये हुए कई कर्म परलोक में फल देते हैं। (३) परलोक में किये हुए कई कर्म इस लोक में फल देते हैं और (४) परलोक में किये गए कर्म परलोक में ही फल दे देते हैं।”

१. (क) इह दुश्चरितैः केचित्, केचित् पूर्वकृतस्तथा।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नर रूपं विपर्ययम्। -मनुस्मृति

(ख) जन्तुस्तु कर्मभित्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः।

तदुःखःप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमानुते॥ -म. भा. वनपर्व ३५

२. (क) 'इह जन्म कृतं कर्म परजन्मनि प्राप्यते।

पूर्वजन्मकृतं कर्म भोक्तव्यं तु सदा नरैः॥" -भविष्य पुराण ३/२/२४/३६

(ख) अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।

घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिचार्तवम्॥

-वाल्मीकि रा. अरण्य काण्ड सर्ग. २९/८

(ग) इह दुश्चरितैः केचित्, केचित् पूर्वकृतैस्तथा।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपं विपर्ययम्॥ -मनुस्मृति

इस चौभगी में कर्म के अनन्तर फल, और पारम्परिक फल के विषय में अनेकान्न दृष्टि से सुन्दर एवं व्यावहारिक कथन किया गया है। परम्परा से कर्म केवल एक परभव में ही नहीं, उससे आगे के परभवों में यावत् अनन्तभवों में जाकर फल देता है।

तथागत बुद्ध ने भी अपने पैर में चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे को उस वर्ष से ९१वें कल्प पूर्व किसी व्यक्ति को शक्ति (शस्त्र-विशेष) से मारा था, उसका फल माना था।

सूत्रकृतांग मूल में भी इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है—कर्मविपाक को इस लोक में या परलोक में, एक बार या सैकड़ों बार उसी रूप में या दूसरे रूप में भोगा जाता है। संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव आगे-से-आगे दुष्कृत का बन्ध और वेदन करते हैं।

स्थितिवन्ध और अनुभागबन्ध से कर्मफलभोग की काल सीमा तथा तीव्रता-मन्दता का पता चलता है

जैनकर्मविज्ञान कर्मों के बन्ध को चार रूपों में विभक्त करता है। उनमें से एक है स्थितिवन्ध, अर्थात् कर्म की कालमर्यादा। कर्मबन्ध के समय जीव के जैसे रागादि परिणाम होते हैं तदनुसार ही कर्मों में फल-जनन-शक्ति और फल-प्रदान-स्थिति (कालमर्यादा) का निर्माण होता है।

यही कारण है कि कई बार तीव्र अध्यवसाय होते हैं तो कर्म की फलोत्पादन शक्ति भी तीव्र हो जाती है और कर्मों की कालावधि भी लम्बी हो जाती है। इसीलिए इस लोक में किये हुए कई कर्मों का फलभोग परलोक में होता है। इसी प्रकार परलोक में किये हुए कर्मों का फल भी इस लोक में भोगना पड़ता है।

कर्ता के परिणामानुसार कर्मफलभोग की कालसीमा (स्थिति) निर्धारित होती है

निष्कर्ष यह है कि कर्म करते समय जीव के जैसे-जैसे शुभ-अशुभ अथवा

१. इत एकनवतिकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।

तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि मिश्रवः।

—तथागत बुद्ध

२. (क) इहलोगे कतं इहलोगे फलति।

इहलोगे कतं परलोगे फलति।

परलोए कतं इहलोगे फलति।

परलोए कतं परलोगे फलति॥

परंपरेणेति परभवे, ततश्च परतरभवे एवं जाव अण्तेसु भवेसु।

—सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. १५३

(ख) अस्मि च लोए अदुवा परत्था, समग्गसो वा तह अण्णहा वा।

संसारभावन्न परंपरं ते, बंधति वेयंति य दुण्णियाणि॥

—सूत्रकृतांग श्रु. १

तीव्र-मन्द अथवा मध्यम रागादि या कषायादि परिणाम (भाव) होते हैं, तदनुसार उसके कर्म का रस-बन्ध होता है, तथा उसी के अनुसार कर्मफल-भोग की स्थिति (काल-सीमा) का बन्ध होता है।

इसी अनेकान्तदृष्टि के आधार पर स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि “जो देव ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न होते हैं, वे चाहे कल्पोपपन्न हों, चाहे (त्रैवेयक आदि) विमानों में उत्पन्न हों, चाहे अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हों और जो ज्योतिश्चक्र में स्थित हों, वे चाहे गति-रहित हों, या सतत गमनशील हों, वे जो सदा (सतत) ज्ञानावरणीयादि पापकर्म का बन्ध करते हैं, उसका फल कतिपय देव उसी भव में वेदन कर (भोग) लेते हैं और कतिपय देव अन्य भव में वेदन करते हैं। इसी प्रकार नैरयिकों, तिर्यच-पंचेन्द्रियों तथा मनुष्यों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।”

निष्कर्ष यह है कि चाहे देव हों, मनुष्य हों, नारक हों या तिर्यच, सबको अपने द्वारा पूर्वकृत ज्ञानावरणीयादि पापकर्म का फल इस भव में, अगले भव में, या अनेक भवों के पश्चात् या अनेक भवों में अवश्य भोगना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव कर्म का बन्ध करता है, उसे उसका फल (विपाक) इस जन्म में, अगले जन्म या जन्मों में भोगना पड़ता है। कई कर्म तो ऐसे विलक्षण होते हैं, जो जन्म-जन्मान्तर तक जीव के साथ-साथ चलते रहते हैं, वे अनेक जन्मों के बाद अपना फल प्रदान करते हैं। कुछ कर्म महीनों या वर्षों बाद, अथवा काफी लम्बा काल व्यतीत होने पर अपना फल भुगताते हैं। इसके विपरीत कई कर्मों का फलभोग तत्काल अथवा अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाता है। यह सब कर्म के अनुभाग (रस) बन्ध और स्थितिबन्ध पर निर्भर है।

इस लोक में कृत कर्म का, इसी लोक में फलभोग : एक सच्ची घटना

एक व्यक्ति किसी की हत्या कर डालता है, उसका हिंसाजनित कर्मबन्ध तो उसी समय (तत्काल) हो गया। किन्तु उक्त बद्ध कर्म का फलभोग तत्काल न होकर देर से मिला। परन्तु मिला उसी जन्म में।

एक सच्ची घटना ‘परमार्थ’ (गुजराती मासिक पत्रिका)^१ में पढ़ी थी। वह संक्षेप में इस प्रकार है—कलकत्ते में श्रमजीवी वर्ग का एक व्यक्ति अपनी बहन के साथ रहता था। मेहनत मजदूरी करके जैसे-जैसे अपना गुजारा चलाता था। उसके पास अपनी मालिकी

१. देखें स्थानांग सूत्र स्थान २, उ. २, सू. ७७/११ से २३ तक का मूलपाठ व अनुवाद (पं. मुनि श्री कन्हैयालाल ‘कमल’) पृ. २४/२५ तथा ४९-५०
२. परमार्थ (गुजराती मासिक पत्रिका) से सार-संक्षेप

की तीन कोठरियाँ थीं, जिनमें वह रहता, भोजन बनाता और गुजारा करता था। एक दिन एक पंजाबी व्यापारी रात्रि को लगभग दस-साढ़े दस बजे आया और रातभर सोने के लिए एक कोठरी की मांग करने लगा। पहले तो उन्होंने टालामटूल की। पर जब वह अधिक गड़गड़ाने लगा तो उक्त भाई ने उसे एक कोठरी रात्रि-निवास करने के लिए दे दी।

उस पंजाबी व्यापारी का परिचय उसने पहले ही पा लिया था, जिसे उक्त श्रमजीवी भाई की बहन भी सतर्क होकर सुन रही थी। जब वह अपना कमीज आदि खोलकर निश्चिंतता से सो गया तो बहन के मन में लोभवृत्ति जागी—“यह व्यापारी है। दस हजार रुपये इसके पास हैं। हम दोनों भाई बहन बड़ी मुश्किल से गुजारा चलाते हैं। क्यों नहीं, इस व्यापारी को खत्म करके रुपये ले लिये जाएँ? पाप के बिना आदमी सुख से जी नहीं सकता। यहाँ कोई देखता भी नहीं। झटपट इसकी लाश को ठिकाने लगा देंगे। किसी को कुछ भी पता नहीं लगेगा।”

यह सोचकर वह उठी, पूरी चौकसी से देखा कि पंजाबी व्यापारी गाढ़ी निद्रा में सो रहा है। घुरा निकाल कर ले आई और उसके गले को रेत डाला। गले से खून की धारा बह निकली। थोड़ी देर तक छटपटाकर वह शान्त हो गया। फिर उसने उस व्यापारी की जेब से १० हजार रुपयों की नोटों की गड़्डियाँ निकालीं और प्रसन्न होती हुई अपने भाई के पास पहुँची। उसे हाथ से हिलाकर जगाया। भाई ने पूछा—“क्या है? क्यों जगा रही हो?” बहन बोली—“भाई-भाई! देखो हरे-हरे नोट!”

भाई—“कहाँ से लाई?” बहन—“वह पंजाबी व्यापारी था न! उसे मैंने खत्म कर दिया है और उसकी जेब से निकाल कर लाई हूँ।” भाई बोला—“अरी पापिनी! घोर अनर्थ कर डाला तूने! एक तो विश्वासघात का पाप किया, दूसरे हत्या और तीसरा चोरी का पाप! इस पाप का कितना भयंकर फल भोगना पड़ेगा?”

बहन ने कहा—“ऐसा मैं न करती तो, जिंदगीभर गरीबी और अभाव की चक्की में हमें पिसना पड़ता! अब हम आनन्द की जिंदगी जीएँगे। इतने रुपयों से अच्छा कारोबार करेंगे और शीघ्र ही मालामाल हो जाएँगे।”

पहले तो भाई माना नहीं, परन्तु बाद में वह भी बहन की बात से सहमत हो गया। घर के पास कूड़े का ढेर पड़ा था। वहाँ जगह खोद उस पंजाबी की लाश को दफना दिया। ऊपर से जगह एक सरीखी करके उस पर कूड़ा डाल दिया। किसी को भी पता न लगा। बात आई गई हो गई।

अब तो उन रुपयों से व्यापार किया। दो ही वर्षों में काफ़ी पैसा कमाया। बहन तो उसी वर्ष चल बसी। भाई ने शादी की। दो वर्ष बाद बच्चा हुआ। उसका पालन-पोषण

भलीभांति होने लगा। परन्तु वह पैदा हुआ तभी से बीमार रहने लगा। प्रतिदिन उसके इलाज में डाक्टरों और दवाइयों में खर्च होने लगा। वह भी अपने पुत्र की रोग-मुक्ति के लिए पैसा पानी की तरह बहाने लगा। परन्तु बीच-बीच में कुछ ठीक हो जाता, फिर कुछ दिनों बाद वह पुनः बीमार पड़ जाता।

यों करते-करते १८ वर्षों बाद जब वह स्वस्थ हुआ तो धूमधाम से उसका विवाह कर दिया। विवाह के बाद फिर वह बीमार रहने लगा। ज्यों-ज्यों इलाज कराया, त्यों-त्यों बीमारी बढ़ती गई। दवा-उपचार का खर्च भी बढ़ता गया। एक दिन बीमार पुत्र के सिरहाने की ओर बैठ कर पिता उसके सिर पर हाथ फिराता हुआ कहने लगा—“बेटा! अब कैसे है तेरे ? तू चिन्ता न कर, जितना भी पैसा खर्च होगा, करूँगा।” लड़का बोला—“पिताजी! अब मैं ठीक नहीं होऊँगा।” पिता—“ऐसी क्या बात है, बेटा! तू ठीक हो जाएगा।” पुत्र—“पिताजी! अब आपके पास कितने रुपये रहे हैं ?” पिता बोला—“कर्ज लेकर भी मैं तेरा इलाज कराऊँगा। तू चिन्ता न कर।”

रुग्ण पुत्र अपना स्वर बदल कर बोला—“क्या आप उस पंजाबी को जानते हैं, जो आपके यहाँ ठहरा था, और आपकी बहन ने जिसकी हत्या करके उसके सब रुपये ले लिये थे।” पिता ने कहा—“ऐसी बहकी-बहकी बातें मत कर। तू कैसे जानता है, उस पंजाबी को ?”

लड़के ने आवाज बदलकर कहा—“वह (पंजाबी) मैं ही हूँ। जिस दिन आपके सब रुपये मेरे इलाज में खर्च हो जाएंगे, उसी दिन मेरा देहान्त हो जाएगा।”

इस प्रकार की बात सुनने के बाद पिता के मन में खलबली मच गई। चलचित्र की तरह उस पंजाबी अतिथि की हत्या दृश्य आँखों के समक्ष तैरने लगा।

पिता ने पूछा—“तेरे साथ जिस लड़की का विवाह हुआ है, उसने क्या गुनाह किया था, तू उसे विधवा बनाकर छोड़ जाएगा ?”

पुत्र बोला—“उसने ही तो सारे पापड़ बेले थे। उसने ही मुझे मारा था। उसी का फल वह रो-रोकर भोगेगी।”

जिस दिन लड़के के इलाज में उस पिता का सारा रुपया खर्च हो गया, उसी दिन लड़के के प्राणपखरू उड़ गए। उस लड़के की पत्नी जो उसकी हत्यारी थी। उसे गलित कुष्ठ फूट निकला। वह रिब-रिबकर छह महीने बाद ही मर गई। उस लड़के के पिता ने जो व्यापार किया था, उसमें घाटा लग गया, पूंजी सारी खत्म हो चुकी थी। पुनः वैसी ही दीन-हीन परिस्थिति हो गई। इस परिस्थिति को देखकर उसे संसार से विरक्ति हो गई। काशी में जाकर उसने भगवा वेध धारण कर लिया, वह संन्यासी हो गया।

यह है—इस जन्म (लोक) में किये हुए कर्म के इसी लोक (जन्म) में फलभोग का ज्वलन्त उदाहरण।

इस लोक में कृत कर्म का फलभोग अगले लोक (जन्म) में

फलभोग का दूसरा विकल्प है—इस लोक में कर्म किया और उसका फल भुगतना पड़ा अगले लोक (जन्म) में।

एक व्यक्ति ने किसी साहूकार से दस हजार रुपये कर्ज लिये। साहूकार के बार-बार तकाजा करने पर वह उसे टरकाता रहा। नीयत खराब कर ली। वह साहूकार तो कर्ज चुके बिना ही मर गया। उसने उसके पुत्र के रूप में जन्म लिया। वयस्क होते ही वह बीमार रहने लगा। इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ। पूरे दस हजार रुपये उसकी चिकित्सा में जब खर्च हो गए, तब वह (कर्जदार से) बोला—तुम्हारे दस हजार रुपये खर्च हो गए, मेरा तुमसे जितना लेना था, वह आज चुकता हो गया। अब मैं आज ही शरीर छोड़ रहा हूँ। और सद्यभुच ही पूर्वजन्म के कर्ज लेकर वापस न चुकाने के कर्म का फल अगले जन्म में भुगतना पड़ा।

यह है इस लोक (पूर्वजन्म) में बाँधे हुए कर्म का फलभोग अगले जन्म (परलोक) में चुकाने या कर्मफल पाने का ज्वलन्त उदाहरण।

परलोक में कृत कर्म का फलभोग आगामी जन्म में, तथा इस जन्म में भी

तीसरा विकल्प है, किसी ने परलोक में कर्म किया, उसका फल इस लोक में भोगना पड़े।

भगवान् महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में तेज गर्म किया हुआ शीशा उँड़लवाया और उसे तड़फा-तड़फा कर निर्दयतापूर्वक मरवा डाला था। इस क्रूर कर्म का फल उन्हें अगले भव में सप्तम नरकगति-प्राप्ति के रूप में भोगना पड़ा। नरक में उन्हें भयंकर यातनाएँ, पद-पद पर कष्ट और वेदना भोगनी पड़ी। केवल इतने से ही—एक जन्म में प्राप्त दारुण विपाक (घोर कर्मफल भोग) से ही, उस क्रूर कर्म का फल भोगने से ही छुट्टी नहीं हो गई। तीर्थंकर महावीर के भव में फिर उनके कानों में कीले ठोके गए; तब जाकर उन कर्मों से छुटकारा मिला।

हुआ यह कि वर्धमान महावीर एक जगह कायोत्सर्ग में खड़े थे। एक ग्याला आया और अपने बैलों को उनके आसपास छोड़कर यह कहता हुआ चला गया—“बाबा! मेरे

१. (क) परमार्थ (गुजराती मासिक पत्रिका) से सार संक्षेप

(ख) जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भाव्यंश ग्रहण, पृ. २२७

बैल यहाँ चर रहे हैं, ध्यान रखना।” महावीर तो समीन अपने ध्यान में मग्न थे। उन्हें इस दुनियादारी के प्रपंचों से कोई मतलब नहीं था; न ही उन्होंने अपनी ओर से बैलों की रखवाली या निगरानी रखने की स्वीकृति या अस्वीकृति दी थी। बैल चरते-चरते काफी दूर चले गए। ग्वाला जब लौटकर आया तो बैल महावीर के आसपास नहीं मिले। ग्वाले ने बहुत देर तक इधर-उधर खोज की, मगर बैल नहीं मिले। फिर ग्वाले ने पूछताछ की तो मौनी महावीर ने उसे कुछ भी उत्तर न दिया। उसे इन पर पूरा शक हो गया कि हो न हो, इसी बाबा ने मेरे बैल कहीं छिपाये हैं। अतः फिर बैलों को ढूँढ़ने दूर-दूर तक चला गया। वह खोजते-खोजते थक गया, मगर बैल नहीं मिले। जब वह वापस लौटा तो संयोगवश बैल महावीर के आसपास चरते दिखाई दिये। ग्वाला गुस्से में तमतमाया हुआ तो था ही, उसने लकड़ी के टुकड़े को छीलकर आगे से तीखा एक कीला बनाया और ध्यानस्थ महावीर के कानों में यह कहते हुए ठोक दिया—“मेरे बैल चुराने/छिपाने का मजा चखें ले।”

भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान में देखा कि यह त्रिपुष्ट वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में खीलता हुए शीशे का रस उड़ेलने के दुष्कर्म का फलभोग (विपाक) है। अतः उन्होंने उसे समभाव से सहन किया।

इतना अवश्य है कि उन्होंने कर्मफल भोगते समय हिंसक प्रतीकार या कर्मफल भुगवाने में निमित्त (ग्वाले) के प्रति मन में किसी प्रकार का रोष या द्वेष भी नहीं किया। इस कारण उस कर्म का फल भोगने के पश्चात् वह क्षीण होकर आत्मा से पृथक् हो गया। अगर वे प्रतीकार करते या मन में रोष या द्वेष करते तो फिर नया कर्मबन्ध कर लेते और फिर उसका दुःखद फल भोगना पड़ता। यह है—परलोक (पूर्वजन्म) में किये हुए कर्म के इस लोक में फल भोगने का ज्वलन्त उदाहरण!

कर्मफल सभी सांसारिक जीवों को अवश्य भोगने पड़ते हैं

कई-कई व्यक्ति तो कर्मफल की मजाक उड़ाते हुए अथवा हँसते-हँसते क्रूर कर्म करते हुए अहंकारपूर्वक कहते हैं—“क्या होता है—कर्मफल? सारी शक्ति मेरे हाथ में है। मैं चाहे जो कुछ कर सकता हूँ। मेरा कौन बिगाड़ने वाला है?”

परन्तु ऐसे तीसमारखाँ पर कृतकर्माँ के फल के रूप में जब संकटों और कष्टों का दुःखद पहाड़ टूट पड़ता है, तब वे आकुल-व्याकुल होकर विलाप करने लगते हैं या रो-धोकर रह जाते हैं। इस प्रकार समभाव से कर्मफल न भोगने के कारण उनके नये कर्म फिर बंध जाते हैं, जिनका दुःखद फल उन्हें भोगना पड़ता है।

१. देखें—कल्पसूत्र विवेचन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) में भगवान् महावीर का जीवनवृत्त

वस्तुतः इस संसार में कर्मफल से कोई बच नहीं सकता, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली हो, सत्ताधीश हो, धनाधीश हो या धर्मधुरन्धर हो। पूर्वकृत कर्मों का फल कोई इस जन्म में तत्काल भुगतता है, और कोई देर से, कोई आज तो कोई दो दिन बाद, और कोई सौ दिन बाद भुगतता है। संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसने कर्म किया हो और उसे उसका फल भोगना न पड़ा हो।

चौथा विकल्प : परलोक कृत कर्म का फलभोग परलोक में ही

चौथा विकल्प है—परलोक (पूर्वजन्म) में कर्म किया और उसका फलभोग भी परलोक में हो गया। यह विकल्प स्पष्ट है। इस चौभंगी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कई बार कर्मफल भोगते समय समभाव न रखने से कृतकर्म का फल एक बार ही नहीं, सौ बार, हजार बार भी भोगना पड़ता है। जब व्यक्ति अत्यन्त आवेश, अहं और तीव्रता तथा क्रूरता के साथ कर्म करता है, उसका फल उसे अनेक बार भोगना पड़ता है।

आचार्य रजनीश के एकान्त प्ररूपण का खण्डन

पूर्वोक्त विवेचन से आचार्य रजनीश आदि बुद्धिवादियों की इस एकान्त धारणा का भी निराकरण हो जाता है कि—“कर्म अभी करें और उसका फल भोगें अगले जन्म में, तथा पिछले जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करना, कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करना है।”

कर्मफल विषयक असंगति का निराकरण

इसी प्रकार मानवसमाज की वर्तमानकालिक अव्यवस्था या विषमता के लिए कर्मसिद्धान्त पर दोषारोपण करते हुए कतिपय लोग कहते हैं कि—“यह कर्मफल की असंगति है। कर्म सिद्धान्त केवल पूर्वजन्मकृत कर्म का फल कहकर प्रत्येक दुरवस्था या विषमता की समस्या का समाधान दे देता है; परन्तु वर्तमान में जिसने अशुभ नहीं किया हो, उसका उसे अशुभ फल मिले तथा वर्तमान में जिसने शुभ किया हो, उसका शुभफल न मिले, यह असंगति है।”

वस्तुतः ऐसे लोग वर्तमान दृष्टि-परायण हैं, वे दूरदर्शी बनकर अतीत, अनागत एवं वर्तमान की त्रैकालिक कर्म-परम्परा की शृंखला को नहीं देख पाते। यदि वे इस त्रैकालिक कर्मपरम्परा की शृंखला को देख-सोच सकते तो सांसारिक जीव की जीवनयात्रा जो जन्म-जन्मान्तर से चली आ रही है, को समझकर जीवन का समग्र

१. देखें जिनवाणी कर्मसिद्धान्त-विशेषांक में प्रकाशित लेख में कर्म विज्ञान पर आक्षेप पृ. २७४
२. वही, कर्मविज्ञान पर ‘जैसी करणी, वैसी भरणी—पर एक टिप्पणी’—लेख में किया गया आक्षेप पृ. २७२

कर्मगणित कर सकते। फिर वे स्वतः ही इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट हो जाते कि मूलतः व्यक्ति हो या समूह, अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य के समस्त कृतकर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। एक जन्म में जो असंगत लगता है, एक से अधिक जन्मों को देखने पर कर्मफल की संगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं।

भगवान् महावीर के तीर्थंकर बनने से पूर्व के २७ भवों (जन्मों) के तथा भगवान् पार्श्वनाथ के दस पूर्व जन्मों के कर्मों की परम्परा का लेखा-जोखा इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है।^१

जो लोग कर्म के मूलाधाररूप पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को तथा अदृष्ट को, अथवा स्वर्ग, नरक आदि परोक्ष लोकों (गतियों) को नहीं मानते, वे ही कर्म फल के विषय में पूर्वोक्त असंगति बताकर जैनकर्म विज्ञान के इस अक्राट्य सिद्धान्त की उपेक्षा कर बैठते हैं। तथा इस जन्म में प्राप्त कर्मफल को असंगत बताकर कर्मसिद्धान्त को ही मानने से इन्कार कर देते हैं। जैनकर्मविज्ञान पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता है और वर्तमान में मिलने वाले कर्मफल भोग का अदृश्यमान मूल कारण पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म को मानता है।

एकान्त तत्काल फलवादी : कर्मविज्ञान के रहस्य से अनभिज्ञ

कुपथ्य करने वाला व्यक्ति तत्काल रोगी नहीं दिखाई देता। समय पाकर जब रोग उग्ररूप धारण कर लेता है, तभी निष्णात वैद्य या चिकित्सक उसका निदान करते हैं कि इस व्यक्ति ने अमुक कुपथ्य किया, इसके फलस्वरूप अमुक बीमारी हुई।

इसी प्रकार कर्म सिद्धान्त भी यह एकान्त प्ररूपणा नहीं करता कि “पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही फल मिलता है, वही सब कुछ है, अथवा इस जन्म में किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों का इसी जन्म में शुभ या अशुभ फल, तत्काल या देर-सबेर से नहीं मिलता।” ऐसा आक्षेप करने वाले लोग जैन कर्म-विज्ञान के रहस्य से बिलकुल अनभिज्ञ हैं।

इसी प्रकार जैनकर्म विज्ञान यह भी नहीं कहता कि इस जन्म में किये हुए सभी कर्मों के फल परलोक में मिलते हैं अथवा इस लोक में भी विलम्ब से मिलते हैं। कुछ कर्मों के फल तत्काल अथवा कुछ समय बाद मिलते हैं। कुछ कर्मों के फल इस जन्म में अमुक कालावधि के बाद मिलते हैं। कुछ कर्मों के फल अगले जन्म में या अनेक जन्मों के बाद भी मिलते हैं।

१. (क) देखें, कल्पसूत्र (सं. उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) में भ. महावीर एवं भ. पार्श्वनाथ के जीवन वृत्त
- (ख) भगवान् महावीर : एक अनुशीलन -उपाचार्य देवेन्द्रमुनि
- (ग) भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन -उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

जैनकर्मविज्ञान में कर्म, कर्मफल और कर्मफलभोग में अन्तर

जैनकर्मविज्ञान कर्म, कर्मफल और कर्मफल-भोग के विषय में अत्यन्त गहराई से अनेकान्तदृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत करता है। पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार किसी भी क्रिया, प्रवृत्ति या कर्म का मुख्य (अनन्तर) फल तो तत्काल मिलता है, कर्मबन्ध या कर्माश्रय के रूप में। किन्तु परम्परागत फल अथवा यों कहें कि कर्मफल का उपभोग इस जन्म में भी मिलता है, अगले जन्म या जन्मों में भी प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार कई कर्मों का फलभोग इसी जन्म में तत्काल भी प्राप्त हो सकता है। कतिपय कर्मों का कुछ असें बाद महीने, वर्ष या वर्षों बाद भी प्राप्त हो सकता है।

इसी जन्म में कर्मफलभोग का शास्त्रीय प्रमाण

उत्तराध्ययनसूत्र में हरिकेशबल के पूर्वजीवन और उत्तरकालीन जीवन की झांकी मिलती है। वे पूर्वजन्मकृत जातिमदरूप अशुभ कर्म के फलस्वरूप वर्तमान जीवन में चाण्डालकुल में जन्मे। चाण्डाल-परिवार में शुद्ध वातावरण, सत्संग, सम्यक्बोध और विकास के साधन तो मिलते ही कहाँ से? किन्तु पूर्वजन्म में आधरित शुभकर्म के फलस्वरूप उन्हें स्वयं स्फुरणा हुई वक्रता छोड़ने और सरलता को अपनाने की, एक दुर्मुही और एक सर्प के प्रति जनसामान्य के क्रमशः शुभ-अशुभ विचार एवं व्यवहार को देखकर। परन्तु अत्यधिक अपमान के दंश से पीड़ित हरिकेशबल घर से निकल पड़ा, किसी महाहितैषी मार्ग-दर्शक महात्मा की खोज में। महामुनि ने हरिकेशबल में शुद्ध कर्म (धर्माचरण) में उत्साह, साहस और पुरुषार्थ की प्रेरणा जगाई। फलतः उन्होंने महाव्रती श्रमण जीवन अंगीकार करके सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-तप की आराधना-साधना में पुरुषार्थ करके उसी जन्म में शुद्ध कर्म (अबन्धक कर्म-धर्म) का उपार्जन किया और बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण, समता, क्षमा, सन्तोष, तितिक्षा एवं दया आदि की उच्च साधना की। जिसके फलस्वरूप उसी जन्म में समस्त कर्मों का क्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।^१

इस जीवनवृत्त में पूर्वजन्म के कर्म का फलभोग इस जन्म में तथा इस जन्म में किये हुए (धर्माचरण रूप) शुद्ध कर्म (अबन्धक कर्म) का फलभोग इसी जन्म में प्राप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है। कर्म का फल तो हरिकेशबल को अशुभ, शुभ या शुद्ध क्रिया या प्रवृत्ति करते ही तत्काल शुभाशुभ कर्मबन्ध के रूप में अथवा अबन्धक कर्म के रूप में मिल गया।

तत्काल कर्मफलभोग का एक उदाहरण

कुछ कर्मों का फलभोग तत्काल प्राप्त हो जाता है, इस सम्बन्ध में एक सच्ची घटना मैंने एक समाचार पत्र में पढ़ी थी। एक जैन और सिक्ख एक बस में साथ-साथ

१. देखें, उत्तराध्ययनसूत्र अ. १२ में मुनि हरिकेशबल का जीवनवृत्त

यात्रा कर रहे थे। जैन भाई ने सिक्ख को जीवदया और मांसाहार त्याग के विषय में काफी समझाया। पर वह किसी भी हालत में ये सब बातें मानने को तैयार नहीं हुआ। जब दोनों बस से उतरे तो उस सिक्ख ने एक खरगोश का बच्चा पकड़ लिया। जैन भाई ने उसे छोड़ देने को कहा, फिर भी वह नहीं माना और छुरा निकाल कर ज्यों ही उस खरगोश के बच्चे को मारने के लिए उद्यत हुआ, त्यों ही वह एकदम उछलकर भाग गया, वह छुरा उक्त सिक्ख के हाथ पर लगा। हाथ का अगला भाग पंजे सहित कटकर अलग हो गया। सरदारजी लहलुहान होकर वहीं गिर पड़े और बेहोश हो गए। जैनभाई ने कहीं से तुरंत डिटोल लाकर उनका घाव धोया और मरहम-पट्टी की। परन्तु सरदारजी का वह घाव ठीक नहीं हुआ। वही घाव उसका जानलेवा बन गया।

यह है पापकर्म के फल के तत्काल उपभोग का ज्वलन्त उदाहरण।

एक महीने बाद ही कुकर्म का फल भोगना पड़ा

दूसरी एक प्रत्यक्ष फलभोग की घटना है जो अगस्त १९६७ के कल्याण मासिक पत्र में प्रकाशित हुई थी। जिला बुलन्दशहर में दादरी के पास एक गूजरों के गाँव में एक पहलवान रहता था। परिवार में वह अकेला था। उसके घर में माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र कोई भी न था। वह एक भैंस रखता था, उसका दूध पीता था। वह घर से जब बाहर जाता तो पीछे से एक कुत्ता दीवार लॉचकर आग पर भगीने में रखे हुए दूध को पी जाता। कुछ दिन बीते। एक दिन पहलवान जब घर पर ही था कि कुत्ता आया और दूध पीने लगा। पहलवान चाहता तो उसे डराकर भगा सकता था, किन्तु उसने आगा-पीछा कुछ न सोचकर चर्खे में से एक तकुआ निकाला, उसे गर्म किया और तुरंत उस कुत्ते की आँखों में घोंप दिया। उसकी आँखों से खून की धारा बह निकली। कुत्ता १५ दिनों तक उसकी असह्य पीड़ा भोगकर मर गया। एक दिन वही पहलवान यमुना नदी के तट से करीब एक मील दूर दरांती से झूंड (घास) काट रहा था कि अकस्मात् दरांती उसकी आँखों में लग गई। दोनों आँखें तीखी दरांती की धार से फूट गईं। वह अन्धा हो गया। एक महीने तक वह उसकी भयानक पीड़ा भोगकर मास के अन्तिम दिन मर गया। उसे अपनी करनी का दुगुना फल हाथों हाथ भोगना पड़ा।

कूरकर्मा झोक्यूला को उसी जन्म में कटुफल भोगना पड़ा

जो मनुष्य सत्ता के मद में आकर दुष्ट संगति, दुराचार, आसुरी क्रियाकलाप और हिंसादि पाप-प्रवृत्तियों को अपनाता है, वह व्यक्ति प्रायः इसी जन्म में देर-सबेर

१. 'जनकल्याण' (मासिक गुजराती) से

२. 'कल्याण' अगस्त १९६७ के अंक से

अपने पापकृत्यों का कटु फलभोग प्राप्त करता है। महाभारत (शान्तिपर्व) में कहा गया है—“अधर्म किसी भी अपेक्षा से कर्ता को नहीं छोड़ता। पाप कर्म कर्ता अवश्य ही यथासमय कृतकर्म का फल भोगता (पाता) है।”

सन् १४३० ई. में ट्रांसलवानिया के पहाड़ी प्रदेशों के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने वाला ‘काउंट ड्रोक्यूला’ एक नर-पिशाच शासक था। उसने १४७६ तक शासन किया। ४६ वर्षों तक उसने ऐसी अमानुषिक क्रूरताएँ बरतीं कि इतिहासकारों ने उसे ‘लाट दि इम्पेलर’—अर्थात्—मनुष्य के शरीर को छेदने वाला कहा। वह सजा देने के लिए क्रूरतम तरीके अपनाता था।

लोग यातना और पीड़ा से चिल्लाते रहते, उन्हें देखकर ड्रोक्यूला अत्यन्त आनन्द विभोर होकर भोजन करता। किसी के द्वारा दया की याचना करने पर भी वह अधिकाधिक क्रूरतापूर्वक नृशंस हत्याओं के नये-नये ढंग अपनाता। कभी-कभी वह दूध पीते बच्चों को उनकी माताओं के सीने पर ही कील से जड़वा देता, और उन मृत बच्चों का ही मांस खाने के लिए मजबूर कर देता। एक बार उसने अपने राज्य के सभी गरीब, वृद्ध और रुग्ण लोगों को सेना द्वारा इकट्ठा करवाकर उन्हें जिंदा जलवा दिया।

इन क्रूरतम पापकर्मों का फल उसे इसी जीवन में मिल गया। ड्रोक्यूला ने अपने जीवन काल में जिन लोगों की तड़फा तड़फा कर नृशंस हत्या की थी, उससे भी भयंकर तरीके से उसे मारा गया। तुर्की सेनाओं ने जब ट्रांसलवानिया को जीतकर ड्रोक्यूला को बंदी बना लिया तो उसके शरीर से प्रतिदिन मांस का एक टुकड़ा काट लिया जाता और वही उसे कच्चा चबाने के लिए मजबूर किया जाता।^१

कार्पेज ने अपने कृतपापों का फल इसी जन्म में भोगा

लिपजिग (जर्मनी) के सेशनकोर्ट का न्यायाधीश ‘बेनेडिक्ट कार्पेज (१६२० से १६६६ तक) भी अत्यन्त क्रूर और कठोर प्रकृति का था। उसने भी अपने ४६ वर्ष के न्यायाधीश काल में ३० हजार पुरुषों और २२ हजार स्त्रियों को फांसी पर चढ़ाया। छोटे-से-छोटे अपराध तक की सजा वह मृत्युदण्ड दे देता था। स्त्रियों को तो उसने जादू-टोने के सन्देह तक में पकड़वाकर फांसी पर चढ़ा दिया। दया या क्षमा शब्द तो उसने कहीं सीखा ही नहीं। फिर भी वह स्वयं को धार्मिक कहता था।

१. (क) “नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति।

कर्ता खलु यथाकालं ततः समाभिपद्यते॥”

—महाभारत, शान्तिपर्व अ. २९८

(ख) अखण्डज्योति, दिसम्बर १९७८ से संक्षिप्त

२. अखण्डज्योति, दिसम्बर १९७८ से पृ. १७-१८

जिनके सम्बन्धियों को निर्दोष होते हुए भी उसने सजा दी थी, और फांसी पर चढ़वाया था, ऐसे लोगों ने उक्त क्रूर न्यायाधीश-कार्पेज को पकड़ लिया और उसे ऐसे कमरे में छोड़ दिया, जहाँ पहले से ही हजारों बिच्छू रख दिये गए थे। कोई तीन दिन में उसकी मृत्यु हुई।

जब उस कमरे में से कार्पेज की आवाज आनी बंद हो गई, तब लोगों ने उसे बाहर निकाला। उसके शरीर पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं बचा था, जहाँ बिच्छूओं ने दंश न दिया हो। इस प्रकार रिब-रिबकर मरने के रूप में कार्पेज को अपने पापकर्मों का फल भोगना पड़ा।

क्रूरकर्मा इवान को अपनी करणी का फल मिला

रूस के कंटेलिया प्रदेश का एक क्रूर एवं वासनान्ध जागीरदार 'इवान' भी इसी प्रकार का क्रूर कर्म करने वाला था। उसने अपनी वासनापूर्ति के लिए सैकड़ों महिलाओं के साथ अत्याचार किया था। उनमें से कइयों ने तो आत्महत्या कर ली थी। कई अबोध बालिकाएँ इस क्रूर कर्म को सहन न कर पाने के कारण मर गई थीं। इसके अलावा उसने हजारों निरपराध व्यक्तियों को मरवा डाला था।

जब इसके पाप कर्मों का घड़ा भर चुका तो इसे रूस की कम्युनिस्ट क्रान्ति (सन् १९१८-१९) के समय वहाँ से अपनी पत्नी और बालक-बालिका के साथ भागना पड़ा। सेंटपीटर्सवर्म से कुछ मील दूर ग्रेनाइट पत्थरों से बनी एक कॉटेज में उन्होंने शरण ली। यह कॉटेज कभी 'इवान' का विलासमहल रह चुका था। वहाँ का प्रत्येक पत्थर 'इवान' के क्रूर कर्मों का साक्षी था। उसे अपने क्रूर कर्म बीभत्स और भयावह रूप में याद आने लगे। उसने अपनी क्रूर पत्नी अन्ना और दोनों बच्चों को अपने बूढ़े मल्लाह के साथ वहाँ से खाना कर दिया। अन्ना रास्ते में ही विक्षिप्त होकर नदी में कूद पड़ी। इवान ने अतीत में किये हुए क्रूर कर्मों की स्मृति से बुरी तरह भयभीत होकर नेवा झील में कूदकर आत्महत्या कर ली।^१

सचमुच, मृत्यु के समय ऐसे पापी व्यक्ति को अपने सारे क्रूर कर्म याद आते हैं और वह उनसे डर कर स्वयं का उत्पीड़न करने लगता है।

मुसोलिनी के पाप का घड़ा अन्त में फूट कर रहा

इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने जनता का शोषण करके अरबों रुपये की सम्पत्ति-सोने की छड़ें, हीरे-जवाहरात, पींड पैस और डालरों के रूप में जमा की थी। यह

१. वही, दिसम्बर १९७८ से पृ. १९

२. वही, दिसम्बर १९७८ पृ. १८

पापकर्म उसे हरदम कचोटता था। युद्ध में हारने के बाद वह अपनी जान बचाकर स्विटजरलैण्ड की तरफ भागा था। किन्तु वह भागने में सफल नहीं हुआ और कम्युनिस्ट सेनाओं द्वारा गोली से उड़ा दिया गया। उत्तराध्ययन सूत्र में ठीक ही कहा है—‘धन से प्रभादी मनुष्य अपनी रक्षा नहीं कर पाता।’^१

सामूहिक हत्याओं का कुफल हिटलर को भी मिला

इस शताब्दी में नृशंस सामूहिक हत्याओं के लिए हिटलर का नाम बड़ी घृणा और तिरस्कार के साथ लिया जाता है। उसने लाखों निरपराध व्यक्तियों को मौत के घाट उतरवा दिया। परन्तु वह भी जिंदगीभर चैन से नहीं बैठ सका। यहाँ तक कि अपनी छाया से, अपने पदचाप की प्रतिध्वनि से भी वह डरता रहा। उसे सुख से नींद नहीं आती थी। सशंक होकर बार-बार उठ बैठता था। ऐसे व्यक्ति जीवनभर अशान्त, उद्विग्न और आत्म प्रताड़ना से आन्दोलित रहते हैं। क्या यह उनके क्रूर कर्मों का फलभोग नहीं है?^२

इस जन्म के पापों का फल इसी जन्म में

अभी ता. २६ दिसम्बर ८९ की ताजी घटना है कि रूमानिया के अपदस्थ किये गए राष्ट्रपति निकोलाई चेसेस्कू और उसकी पत्नी एलेना को दोनों पर हजारों नागरिकों की हत्या कराने, एक अरब डालर से भी अधिक की सम्पत्ति देश से बाहर ले जाने तथा देशद्रोह करने के अपराध में गुप्त अदालती कार्यवाही करने के बाद फायरिंग स्क्वाड ने गोलियों से उड़ा दिया। तानाशाह चेसेस्कू और उसके परिवार के बैंक खातों पर भी पाबंदी लगा दी गई। उनके पुत्र एवं पुत्री को गिरफ्तार कर लिया गया। यह है—इस जन्म के कृत पापकर्मों का इसी जन्म में फलभोग का ज्वलन्त उदाहरण।^३

कृतकर्मों के फलभोग में काल का अन्तर क्यों?

इसे जैन कर्मसिद्धान्त की भाषा में यों समझा जा सकता है—राग-द्वेष आदि अध्यवसायों के कारण जो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ दुग्ध जलबत् धुल-मिल जाते हैं, एकीभूत-से हो जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं में—जीव के तीव्र-मन्द भावों और परिणामों के अनुसार फलोत्पादन-शक्ति और फल देने की स्थिति (कालमर्यादा) का निर्माण हो जाता है। यदि कर्मबन्ध के समय जीव के परिणाम मन्द होंगे तो कर्मपरमाणुओं में

१. (क) वही, दिसम्बर १९७८ पृ. १८

(ख) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

इमम्मि लोए अदुवा परत्या॥”

—उत्तराध्ययन सूत्र ४/५

२. वही, दिसम्बर १९७८ पृ. १८

३. रांची एक्सप्रेस (दैनिक) ता. २७/१२/८९

फलोत्पादन शक्ति भी मन्द होगी, और उस समय रागद्वेषादि परिणाम तीव्र होंगे तो फलोत्पादन शक्ति भी तीव्र होगी, तथा फलप्रदान करने यानी फल भुगवाने की अवधि (कालमर्यादा) भी लम्बी होगी। अर्थात्—कर्म अपना फल तीव्ररूप में और देर से भुगवाएँगे।^१

दुःखविपाकसूत्र में ऐसी कई दुःखरूप विपाक की सत्य घटनाएँ अंकित की हैं, जिनमें कर्मबन्ध करते समय उन-उन व्यक्तियों के परिणाम अत्यन्त क्रूर तथा हिंसादि पापकर्मों के करने में आनन्द मानने की तीव्रता से युक्त थे, उनके अन्याय, अत्याचार एवं हिंसा, असत्य, मांसाहार, मद्यपान, आदि के पापकर्म का घट दिनानुदिन तेजी से भरता जा रहा था, किन्तु जब फल भोगने (कर्मविपाक) का समय आया तो उतनी ही तीव्रता और उतनी ही कालमर्यादा के बाद उन्हें अत्यन्त दुःखद फल भोगने पड़े।

इकाई को उसके पूर्व जन्म के अत्याचारों और पाप कर्मों के फलस्वरूप जन्मान्ध मृगापुत्र के रूप में फलभोग प्राप्त होना इस तथ्य का साक्षी है। मृगापुत्र केवल मांस का गोलमटोल पिण्ड बना था उसकी मां जो भी उसे खिलाती वह सड़कर बाहर निकल जाता था, दुर्गन्ध मारता था। इसी प्रकार कर्मों का फल भी परिणामों की धारा, तथा काल-मर्यादा के अनुसार भोगना पड़ता है।^२

कर्मों के फलभोग की कालसीमा

कर्मों के फलभोग की कालसीमा मद्य की भाँति समझनी चाहिए। किसी मद्य का नशा जल्दी ही चढ़ जाता है, किसी का देर से; परन्तु नशा अवश्य ही चढ़ता है। इसी प्रकार किसी मद्य का नशा थोड़ी देर तक रहता है, तो किसी मद्य का नशा देर तक रहता है। जैसे मद्यपान करने के बाद उसे नशा पैदा करने के लिए अर्थात्—मद्यसेवन का फल भुगवाने के लिए कुछ समय तो अवश्य ही अपेक्षित है। वैसे ही कर्म भी अपना फल तत्काल ही प्रदान नहीं करते। काल-परिपाक होने पर ही वे अपना फल भुगवाना (देना) प्रारम्भ करते हैं। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो अन्तर्मुहूर्त भर में ही तुरन्त अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं, और जब तक उनकी कालावधि (स्थिति) रहती है, तब तक वे फल भुगवाते रहते हैं। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो कुछ दिन, महीने या वर्षों के पश्चात् अपना फल प्रदान करते हैं। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इससे भी लम्बा काल व्यतीत होने पर अपना फल भुगवाते हैं। और कई कर्म ऐसे भी होते हैं, जो जन्म-जन्मान्तर तक संचित पड़े रहते हैं, साथ-साथ चलते हैं, और अनेक जन्मों के बाद अपना फल भुगवाते हैं।^३

१. देखें—कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेश मुनि) पृ. ६१-६२

२. देखें—दुःखविपाक सूत्र : प्रथम अध्ययन

३. देखें—कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. ६३

व्याख्या प्रवृत्ति सूत्र में इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है—“पिच्छे जन्म में किये हुए कर्मों (के फल) को इस लोक (जन्म) में भोगा जाता है, तथैव इस लोक (जन्म) में किये हुए कर्मों के (फल) को इस लोक (जन्म) में भोगा जाता है।”

कर्मों का फलभोग शीघ्र, देर से और तत्काल : क्यों और कैसे?

तात्पर्य यह है कि जिन कर्मों की स्थिति (कालसीमा) अत्यन्त अल्प होती है, वे तो अन्तर्मुहूर्त में ही अपना फल शुभ या अशुभ रूप में तथा तीव्र-मन्द रूप में प्रदान कर देते हैं। किन्तु जिन कर्मों की स्थिति दीर्घकालीन होती है, वे अपनी कालस्थिति के अनुसार दीर्घकाल के पश्चात् उदय में आते हैं, फलोन्मुख होते हैं और अपना फल कर्ता के तीव्र-मन्द परिणामानुरूप भुगवाते हैं। वे जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ चलते रहते हैं और हजारों-लाखों जन्मों के बाद अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भुगवाते हैं।

जैनकर्मविज्ञान के इस तथ्य को व्यावहारिक रूप से यों भी समझा जा सकता है। जैसे—मनुष्य भोजन करता है, तो भोजन में ग्रहण किये हुए दूध, फल, चावल, दाल, रोटी, साग आदि पदार्थ पेट में डालते ही तुरन्त रस, रक्त आदि के रूप में परिणत नहीं हो जाते। पेट में भोजन पहुंचने के बाद कुछ देर तक वे खाद्य पदार्थ पचते हैं, तत्पश्चात् रस, रक्त, वीर्य, मज्जा, मांस आदि के रूप में उनका परिणमन होता है। यदि व्यक्ति दाल, भात, दलिया, रोटी, साग आदि शीघ्र पचने वाले पदार्थों का आहार करता है तो शीघ्र ही उनका परिपाक हो जाने से उनका रस, रक्त, वीर्य आदि के रूप में शीघ्र ही परिणमन हो जाता है। इसके विपरीत यदि वह खीर, पूड़ी, हलवा, मिठाई, तली हुई आदि गरिष्ठ चीजों का आहार करता है, तो उनका परिपाक (पाचन) भी देर से होता है, फलतः उनका रस, रक्त, वीर्य आदि के रूप में परिणमन भी देर से होता है।

किन्तु कुछ औषधियाँ तथा इंजेक्शन ऐसे भी हैं, जिनके लेते ही तत्काल वे अपना प्रभाव दिखलाते हैं। अतीव शीघ्र उसका फलानुभव हो जाता है।”

इसीलिए सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है—“कर्म बंधते ही शीघ्र अपना फल देना प्रारम्भ नहीं करते; अपितु जिस प्रकार भोजन करते ही तुरन्त न पचकर जठराग्नि की तीव्रता-मन्दता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कर्मों का विपाक भी कषायों की तीव्रता मन्दता के अनुसार होता है। अतः कर्मों का फल देना कर्ता के कषायों पर निर्भर है। यदि

१. "परलोग-कडा कम्मा इहलोए वेइज्जति, इहलोग कडा कम्मा इहलोए वेइज्जति।”

—भगवतीसूत्र

२. (क) देखें—कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ. ६४-६५

(ख) तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद) ८/२ पृ. ३७७

तीव्र कषायपूर्वक कर्मों का आस्रव (या बंध) हुआ है, तो कर्म कुछ समय बाद शीघ्र ही अत्यधिक प्रबलतापूर्वक फल प्रदान करने लगते हैं। इसके विपरीत मन्दकषायपूर्वक हुए कर्मबन्ध से कर्म का विपाक देर से होता है।" कर्मविपाक के इस नियम को समझना चाहिए।

हिंसक की समृद्धि और अर्हद् भक्त की दरिद्रता : पापानुबंधी पुण्य तथा पुण्यानुबंधी पाप के कारण

इस विश्व में बहुत-से पापी, हिंसक, पर-पीड़क, अन्यायी, अत्याचारी या दुराचारी इस जन्म में सुखी, समृद्ध और फलते-फूलते नजर आते हैं, तो उसका मूल कारण यही है कि उनके पाप कर्मों में तीव्रतम परिणामों के कारण दुःखरूप फल देने की शक्ति अधिकतम और कालमर्यादा भी लम्बी पड़ी हुई है। उनके पापकर्मों के फलस्वरूप तत्काल बन्धने वाले कर्म लम्बे समय बाद उदय में तीव्ररूप में उदय में आएँगे, फलोन्मुख होंगे और अवश्य ही फल भुगवाएँगे। इसी प्रकार कोई धर्मात्मा पुरुष दुःखी, दरिद्र और विपद्ग्रस्त दिखाई पड़े, इतने मात्र से यह नहीं समझना चाहिए कि उसके द्वारा किये जाने वाले शुभ कर्म या शुद्ध (अबन्धक) कर्म निष्फल हैं।

जैनकर्म विज्ञान के आचार्यों की स्पष्ट उद्घोषणा है कि "हिंसक व्यक्ति की समृद्धि और अर्हद् भक्ति परायण पुरुष की दरिद्रता क्रमशः उनके द्वारा पूर्वकृत पापानुबन्धी पुण्यकर्म और पुण्यानुबंधी पापकर्म के कारण है। ये दोनों प्रकार के अशुभ-शुभ कर्म कभी निष्फल नहीं होते। जन्मान्तर में इन दोनों कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः कर्म कर्मफल और कर्मफलभोग में कार्य-कारणभाव का कोई उल्लाघन नहीं है।"

घोर पापकर्म का फल कई जन्मों बाद भी, एक जन्म में भी

अन्तकृद्दशासूत्र में वर्णन है—गजसुकुमाल मुनि के सिर पर धधकते अंगारे रखकर मुनि हत्या करने की जो चेष्टा सोमिल ब्राह्मण द्वारा हुई है, वह भी गजसुकुमाल के जीव के ९९ लाख जन्मों पूर्व सोमिल के जीव के साथ बांधे हुए वैर का विपाक है। सोमिल की भी दूसरे दिन मुनिहत्या के घोर पापकर्म के फलस्वरूप दुःखद मृत्यु हुई।^१

१. "या हिंसावतोऽपि समृद्धिः, अर्हत्पूजावतोऽपि द्वारिद्र्यावाप्तिः, सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम्। तत्क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलिष्यन्ति, इतिनात्र नियतकार्य-कारण-भावव्यभिचारः।" —स्थानांग, अभयदेववृत्तिः।

२. देखें—अन्तकृतदशांग सूत्र वर्ग ३ अ. ८ में गजसुकुमाल वर्णन

दुःखविपाक और सुखविपाक में कर्मफल भोग का सजीव चित्रण

कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में विपाक सूत्र में सुखविपाक और दुःखविपाक दोनों श्रुतस्कन्धों में कर्मफल-भोग के सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनमें प्रथम श्रुतस्कन्ध के १० अध्ययन दुःखरूप फलप्राप्ति के और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० अध्ययन सुखरूप फल प्राप्ति के हैं।

दुःखविपाकसूत्र में सिंहपुर के अन्यायी-अत्याचारी दुरात्मा पापकर्मा सिंहस्य नरेश के पुत्र दुर्योधन दण्डनायक का आख्यान है। सत्ता, पद, एवं वैभव के नशे में दुर्योधन दण्डनायक (फौजदार) किसी को जान से मरवा डालता, किसी को सताता, दुःख देता अथवा लोगों को लूट लेता, किसी महिला का शीलहरण कर लेता। इस प्रकार का क्रूरतापूर्ण जीवन बिताते हुए उसे बहुत-सा समय व्यतीत हो गया था। दुःख देने का फल दुःख ही मिलता है। इस बात को वह भूल गया था। सत्ता के मद में आकर वह कहा करता—“कौन तीसमारखाँ मेरे सामने टिक सकता है?” दुर्योधन को पुण्य कमाने के लिए धन और साधन मिले थे, किन्तु वह विपरीत दृष्टि का होने से अधिकाधिक पापकर्म करता गया। दूसरों को दुःख देने का अन्तिम फल दुःख ही होता है, इस बात को वह भूल गया था। उसके क्षणिक सुख पर अनन्तकाल के दुःखों के बीज पड़े हुए थे।

पापकर्म एक दिन उदय में अवश्य आता है। यही हाल पापकर्म के पागल बने हुए मदान्ध दुर्योधन का हुआ। मृत्यु से पूर्व वह असह्य रोग से पीड़ित हुआ। वैद्य-हकीमों के सभी उपाय निष्फल हुए। वह दीर्घकाल तक असह्य दारुण वेदना भोगकर रिब-रिबकर मरा। और अपने क्रूर कर्मों के फलस्वरूप २२ सागरोपम की स्थितिवाले नरक में गया। वहाँ से यातनापूर्ण जीवन बिताकर मथुरा-नगरी में श्रीदाम राजा के यहाँ नन्दीवर्द्धन नामक पुत्ररूप में जन्म लिया। परन्तु यहाँ भी उसके मूल कुसंस्कार गये नहीं। दुष्ट बुद्धिपूर्वक सोचने लगा—पिता के हाथ में राज्य रहेगा, तब तक मैं सुखी नहीं हो सकूँगा। पिता जीवित है, तब तक मेरे हाथ में राज्य नहीं आ सकेगा। अतः पिता को मरवा डालना चाहिए।

इस प्रकार की राक्षसी भावना को क्रियान्वित करने के लिए चित्त नामक एक नापित को मंत्रीपद का लोभ देकर साध लिया। परन्तु किसी के प्राण लेना आसान न था। नापित ज्यों ही उस्तरे से राजा के मस्तक पर धाव करना चाहता था त्यों ही भयवश हाथ रुक गया। राजा उसके मनोभाव को ताड़ गया। राजा के द्वारा उसे अभयदान का आश्वासन मिलने से उसने सारी बात स्पष्ट कर दी। राजा ने तुरंत युवराज नन्दिवर्द्धन को

१. देखें, विपाकसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध (दुःखविपाक) में छठा अध्ययन (नन्दिवर्द्धन) पृ. ७१ से ७७

गिरफ्तार करवाया। तुरन्त घोषणा करवाई कि युवराज का राज्याभिषेक करना है। नगर के मुख्य चौक में राज्याभिषेक की तैयारी की गई। सीसे और तौबे का उबलता हुआ अत्यन्त गर्म रस स्वयं अपने हाथ से राजा ने नन्दिवर्धन के सिर पर उँडेल कर युवराज का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार दुर्योधन के जीव नन्दिवर्धन को पूर्वजन्मकृत एवं इहजन्मकृत दुष्कर्मों का विपाक (फलभोग) प्राप्त हो गया।

जैनकर्मविज्ञान में अनेकान्तदृष्टि से कर्मफलभोग का सिद्धान्त

वस्तुतः अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। निष्कर्ष यह है कि कई कर्मों का फलभोग तुरन्त मिल जाता है, कई कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है, पर कुछ देर से, कई कर्मों का फलभोग आगामी जन्म या जन्मों में मिलता है। कई पूर्वजन्म या जन्मों में किये हुए कर्मों का फल आगामी एक या अनेक जन्मों में मिलता है। यह बात कर्म के उदय के अधीन है। जब भी कर्म उदय में आता है, तब उस-उस कर्म या कर्मों का फलभोग जीव को देर-सबेर से प्राप्त होता है। जैनकर्मविज्ञान इस विषय में विशद और स्पष्ट विश्लेषण करता है।

कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल ?

कर्म-महावृक्ष एक : उसके पुष्प-फलादि असंख्य और अनन्त

कर्म एक महावृक्ष है। उसकी अगणित शाखाएँ (डालियाँ और टहनियाँ) हैं। उसके असंख्य पत्ते और पुष्प हैं। उसके अनन्त फल हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार राग और द्वेष, ये कर्म-महावृक्ष के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है; इसलिए मोह कर्मवृक्ष का मूल है। साथ ही कर्म जन्म-मरणरूप संसार का मूल है। और जन्ममरण ही दुःख का मूल है।^१ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, ये चारों कर्मवृक्ष को अंकुरित करते हैं। अतः मोहरूपी मूल से ही ये अंकुर-चतुष्टय फूटते हैं।

दूसरे शब्दों में—ये चारों मोहोत्पन्न अंकुर हैं। तृष्णा, कामना, वासना, लालसा, आसक्ति, गृद्धि आदि विविध वृत्तियाँ उसकी लताएँ हैं; जो कर्म-महावृक्ष से लिपटी हुई हैं। वे कर्म को उत्तेजित करके जन्म-मरण रूप संसार में वृद्धि करती हैं। मन-वचन-काया के योग से होने वाली विविध प्रवृत्तियाँ, हलचलें, कम्पन, आदि कर्ममहावृक्ष की अगणित शाखाएँ हैं। कर्म की ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध मूलप्रकृतियाँ तथा उनकी उतर-प्रकृतियाँ उसकी प्रशाखाएँ (डालियाँ व टहनियाँ) हैं। कर्मों के आम्रव और बन्ध के असंख्य प्रकार और परिणामरूप पर्याय कर्ममहावृक्ष के पत्ते (पत्र) हैं। शुभ और अशुभ कर्म अथवा पुण्यकर्म और पापकर्म तथा उसके असंख्य परिणामरूप पर्याय कर्मवृक्ष के पुष्प (फल) हैं।

शास्त्रीय भाषा में कहें तो कर्मरूपी महावृक्ष के शब्द की अपेक्षा असंख्यात भेद हैं। अनन्तानन्त प्रदेशात्मक स्कन्धों के परिणमन की अपेक्षा कर्म के अनन्त भेद होते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों के अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा भी उसके अनन्त भेद कहे जाते हैं।^२

१. रागो य दोसो धि य कम्मबीर्यं, कम्मं च मोहयभवं वयति।
कम्मं च जाई-मरणस मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयोते। —उत्तराध्ययन, ३२/६
२. (क) देखें-उत्तराध्ययन (२३/४८) में—भवतण्हा लया वुत्ता भीमा-भीमफलोदया।
(ख) “मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।”—उत्तराध्ययन ३२/८
(ग) महाबंधो भाग १ की प्रस्तावना (पं. सुमेरूचन्द्र दिवाकर) से पृ. ७३.

इसके अतिरिक्त आत्मा के ज्ञान-दर्शन पर आवरण, आत्मिक सुख और दानादि शक्तियों का अवरोध, मोह-मूढ़ता, सम्यक्त्व-मूढ़ता, आधि-व्याधि-उपाधि, संकट, दीनता दारिद्र्य आदि दुःखानुभव; तथा अशुभगति, जाति, शरीर, अंगोपांग आदि, तथा नीचगोत्र आदि अशुभ; एवं सुखशान्ति, तन-मन की स्वस्थता, दीर्घायुष्य, सीभाग्य, सुस्वराता, सुगति, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ अंगोपांग, शरीर का अच्छा गठन, अच्छा ढांचा, सुन्दर आकृति, शुभ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति आदि शुभ; कर्म रूपी महावृक्ष के तीव्र-मन्दादि अनुभागों (रसों) तथा प्रदेशों और स्थितियों में तारतम्य के अनुसार अनन्त शुभाशुभ फल हैं।

जैनकर्मविज्ञान : कर्म के मूल से लेकर फल तक का तथा उससे मुक्ति का सांगोपांग प्ररूपक

जैनकर्मविज्ञान कर्म-महावृक्ष के अस्तित्व को सिद्ध करके बताता है, वैसे ही कर्म महावृक्ष के मूल से लेकर फल तक के अगणित अंगोपांगों का भी बहुत कुशलता और विचक्षणतापूर्वक कर्मशास्त्र द्वारा परिचय कराता है। साथ ही कर्म विज्ञान की यह विशेषता है कि गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान-अज्ञान, भव्य, संज्ञा, आदि मार्गणास्थान, १४ मुख्य जीवस्थान और १४ गुण-स्थान आदि के माध्यम से गणना (कम्प्युटरिंग) करके प्रत्येक संसारी जीव के क्षण-क्षण में आने वाले और बंधने वाले कर्मों और उनके फलों का फलादेश बता देता है।

जैनकर्मविज्ञान इतना ही बताकर नहीं रह जाता, वह यह भी बता देता है कि कर्म कैसे आते हैं? कैसे बंधते हैं? कब तक कौन-सा कर्म, जीव के साथ रहता है? साथ ही जीव कर्म क्यों, कैसे और किस माध्यम से करता है? उनका फल कैसे भोगता है? कौन उन कर्मों का फल भुगवाता है? जिस प्रकार फल पकने के बाद वृक्ष से झड़ जाते हैं, कई फल आँधी आदि से झड़ जाते हैं, कई फलों को कच्चे ही तोड़ कर पाल में रखकर शीघ्र पका लिये जाते हैं; इसी प्रकार बद्धकर्म का काल-परिपाक हो जाने पर वे फल भुगता (दे) कर तुरन्त झड़ जाते हैं; कर्मवृक्ष से अलग हो जाते हैं।

कर्मविज्ञान ने कर्मक्षयोपाय के सम्बन्ध में दशाश्रुतस्कन्ध में बताया है कि जिस वृक्ष का मूल सूख गया हो, उसे कितना ही सींचा जाए वह अंकुरित नहीं होता, इसी प्रकार मोहरूपी मूल का क्षय हो जाने पर कर्म भी फिर अंकुरित (प्रादुर्भाव) नहीं होते। कर्मविज्ञान ने यह भी बताया कि जो व्यक्ति कर्मों को फलोन्मुख होने से पहले ही

१. देखें दशाश्रुतस्कन्ध (५/१४) में—“सुक्कमूले जहा रुक्खे, तिच्चमाणे न रोहति।

एवं कम्मा न रोहति मोहणिज्जे खयं गए॥”

संक्रमण-करणों के माध्यम से शीघ्र ही भोग लेते हैं, उन्हें कर्म-फल पुनः भोगने की आवश्यकता नहीं होती। वे कर्मवृक्ष से कर्मों को पृथक् कर देते हैं।

इतना ही नहीं, जैनकर्म विज्ञान उन कर्मों का वर्गीकरण उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार करता है, उन कर्मों के करने में तीव्र-मन्द रस के अनुसार उनकी स्थिति का निर्धारण भी करता है, उनकी सत्ता (संचित) में रहने की भी सामान्य रूप से अवधि बताता है।

कर्म फलभोग के समय अगणित फल वाले वृक्ष के रूप में

कर्म सिद्धान्त के अनुसार यह फलित होता है कि कर्म एक प्रकार से फलभोग की तैयारी है। दूसरे शब्दों में कहें तो—“कर्म फलभोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही कर्मबीज फलभोग के समय वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। जिसके अगणित फल लगते हैं, वे पकने पर झड़ जाते हैं फिर नये फल आते हैं, और यथासमय झड़ते जाते हैं। कई लोग उदीरणा द्वारा, निर्जरा या संक्रमण द्वारा समय से पहले पका कर फलोपभोग का लेते हैं।”

कर्म-महावृक्ष के असंख्य पत्र-पुष्प-फलों की गणना करना अशक्य : क्यों और कैसे?

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्मरूपी महावृक्ष के असंख्य पत्र, पुष्प हैं और अनन्त फल हैं। जिस प्रकार किसी फलदार वृक्ष के पत्र, पुष्प और फल की गिनती सामान्य मानव के द्वारा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कर्मरूपी महावृक्ष के पत्रों, पुष्पों और फलों की गणना करना छद्मस्थ अथवा अल्पज्ञ के लिए कठिन है।

क्योंकि कर्म विज्ञान के अनुसार पहले तो कर्म की मुख्य-मुख्य मूल प्रकृतियों के अनुसार आठ भेद हैं, फिर उनकी उत्तर-प्रकृतियों की संख्या १४८ अथवा १५८ है। फिर उनके एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में भी नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन कुल ५६३ प्रकार के जीवों की अपेक्षा से, तथा उनके भी चतुर्दश गुणस्थानों की अपेक्षा से, और फिर गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान-अज्ञान, भव्य, अभव्य, संज्ञी-असंज्ञी, आहार, संयम, दर्शन, लेश्या आदि मार्गणा द्वारों की अपेक्षा से गणना करने पर कर्म के हजारों प्रकार हो जाते हैं।

तत्पश्चात् यदि हजारों कर्म-प्रकारों के प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण की बन्ध, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधति और निकाचना, इन दश अवस्थाओं के तीव्र, मन्द अध्यवसायों (भावों) की दृष्टि से कर्म-पर्यायों की गणना करने लगे, एक-एक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के असंख्य पर्यायों की

अपेक्षा से भी कर्मफलों की गणना करने लगे तो अगणित प्रकार हो जाते हैं। अतः कर्ममहावृक्ष के इन असंख्य कर्मफलों की गणना केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा के सिवाय सामान्य मानव तथा अल्पज्ञ और छद्मस्थ मनुष्य नहीं कर सकता।^१

सर्वज्ञ आप्त वीतराग परमात्मा द्वारा कर्म के सामान्य और विशेष फलों का निरूपण

अतः उन परम कृपालु वीतराग अनन्तज्ञानादिचतुष्टयनिधान परमात्मा ने मूल कर्म-प्रकृतियों के फल का दिग्दर्शन कराया है, साथ ही उन्होंने जैनागमों में यत्र-तत्र जीवों के विविध परिणामों के अनुसार कर्मबन्ध का निर्देश करके विशिष्ट कर्मप्रकारों के विशेष फल का भी निरूपण किया है। जिज्ञासु और मुमुक्षु व्यक्ति यदि उन कर्मफल सूत्रों पर चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करे तो अनुमान है कि उसके अन्तःकरण में कर्मों के आस्रव और बन्ध के प्रति विरक्ति, विरति और जागरूकता, सतर्कता और सावधानी उदित एवं जागृत हुए बिना रहेगी।

जैन कर्म-विज्ञान-जिज्ञासुओं को कर्म के अनन्तर और परम्परागत फल, इन दोनों प्रकार के फलों की अपेक्षा से कर्मफल पर मनन-मन्थन करना चाहिए।

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्म प्रकृतियों के फलभोग का निर्देश

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक जीव अपने द्वारा पूर्वकृत कर्म का फल (विपाक) तभी भोगता है, जब वह कृतकर्म उदय में आ जाए। संचित (सन्ता में) पड़े हुए कर्म तब तक अपना फल नहीं देते, जब तक उस कर्म का अबाधाकाल पूर्ण न हो जाए। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि प्रत्येक कर्म अपनी मूल प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार फल-विपाक देते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का फल विपाक है—उस कर्म के उदयकाल में जीव के ज्ञानगुण को आवृत करना। यह उदय भी दो प्रकार का होता है—सापेक्ष उदय (घातक पुद्गलों के आघात से, तथा इन्द्रियों के उपघात से) और निरपेक्ष उदय।^२ ज्ञानगुण के आवृत हो जाने पर उस जीव की बुद्धि, स्मृति, पढ़ने-लिखने की शक्ति, स्फुरणाशक्ति, निर्णयशक्ति, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति, वस्तुतत्त्व का विश्लेषण करने की शक्ति मन्द, मन्दतर, मन्दतम हो जाती है, कुण्ठित और लुप्त-सी हो जाती है। इस कर्म के उदय से

१. कर्म के विपाकानुसार फलों की जानकारी के लिए देखें—कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, गोम्वत्सार आदि ग्रन्थ।
२. देखें—प्रज्ञापना सूत्र (खण्ड-३) के २३वें कर्म प्रकृति पद में ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाव विषयक चर्चा, द्वार ५, सू. १६७९ विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. २१

जीव जानने योग्य (ज्ञातव्य) का ज्ञान नहीं कर पाता, जिज्ञासा होने पर भी जानने में समर्थ नहीं होता, अथवा पहले जानकर बाद में इस कर्म के उदय से नहीं जान पाता, उसका ज्ञान तिरोहित हो जाता है।^१

दर्शनावरणीय कर्म का फल विपाक है—उस कर्म के उदयकाल में जीव क्री (इन्द्रियों और मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण से) दर्शन (सामान्य ज्ञान या सामान्य अनुभव) करने की शक्ति को ढांक देना। आत्मा के दर्शनगुण के आवृत हो जाने पर जीव किसी भी सजीव-निजीव पदार्थ का बाह्यकरण और अन्तःकरण से सामान्यज्ञान (दर्शन करने, अनुभव करने) में मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम हो जाता है।^२ अधविदर्शनावरणीय एवं केवलदर्शनावरणीय ये दोनों आत्मा से होने वाले सामान्य ज्ञान को आवृत कर देते हैं।

वेदनीय कर्म का फल विपाक है—जीव को सुख और दुःख का संवेदन (अनुभव) कराना। असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर सुख के साधन विद्यमान होते हुए भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार सातावेदनीय का उदय होने पर दुःख के साधन विद्यमान होते हुए भी व्यक्ति दुःख का अनुभव नहीं करता, बल्कि सुखानुभव करता है।

मोहनीय कर्म का फल विपाक है—उदय में आने पर आत्मा के सम्यक्त्व गुण को कुण्ठित और अवरुद्ध कर डालता है, इससे किसी को मिथ्यात्व का, किसी को मिश्र का और किसी को प्रशमादि परिणामों का वेदन होता है। कषाय का वेदन होने पर क्रोधादि परिणामों का प्रादुर्भाव हो जाता है। नोकषाय का वेदन होने पर हास्यादि का परिणाम हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि मोहनीय कर्म का साक्षात् फल आत्मा के ज्ञान, दर्शन (सम्यक्त्व) और चारित्र्य गुणों का घात और कुण्ठित करना है।

आयुष्यकर्म का फलविपाक है—इस कर्म के उदय में आने पर परनिमित्त (शस्त्रादि से, अथवा विष, अन्न आदि) से अथवा स्वभावतः (शीत, उष्णादिरूप पुद्गल परिणामों से, अथवा रोग, आतंक, भय, चिन्ता, शोक आदि से) भुज्यमान आयु का अपवर्तन (ह्रास) होना। तथा नरकायु आदि कर्मों के उदय से नरकायु आदि कर्मों का स्वतः वेदन होना।

नामकर्म का फलविपाक है—नामकर्म के उदय में आने पर इष्ट शब्दादि १४ प्रकार के शुभ नामकर्म के फल का, और इसके विपरीत इन्हीं अनिष्टशब्दादि १४ प्रकार के अशुभ नामकर्म के फल का वेदन होना। ये दोनों स्वनिमित्तक एवं पर-निमित्तक दोनों प्रकार के होते हैं।

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेय बोधिनी टीका भाग ५, पृ. १८५-१८६

२. जिनवाणी, कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्मविपाक' लेख से भावांश ग्रहण, पृ. १२१

गोत्रकर्म का फलविपाक है—उच्च गोत्रकर्म के उदय में आने पर उच्चजाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य की विशिष्टता का, तथा नीचगोत्रकर्म के उदय में आने पर नीच जाति आदि की विशिष्टता का अनुभाव होना। तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्र कर्म के उदय में आने पर उस-उस द्रव्य के संयोग से या विशिष्ट पुरुष के संयोग से नीच जाति आदि में जन्मा या संयोग प्राप्त व्यक्ति भी कुल, बल आदि से सम्पन्न होकर लोकप्रियता का फल प्राप्त करता है, उसकी प्रसिद्धि, प्रशंसा एवं यशकीर्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत नीच गोत्र कर्म के उदय से उच्च जाति आदि में उत्पन्न या संयोग प्राप्त व्यक्ति भी बदनाम एवं अपकीर्ति भाजन, कलंकित बन जाता है, उस व्यक्ति को इस रूप में फल संवेदन होता है।

अन्तराय कर्म का फल विपाक है—इस कर्म के उदय में आने पर दान, लाभ, भोग, उपयोग एवं वीर्य में अन्तराय (विघ्न) आ जाना, दानादि की शक्ति कुण्ठित हो जाना, तपश्चर्या की शक्ति में बाधा पड़ना।^१

यह हुई सामान्य रूप से अष्टविध मूल कर्म प्रकृतियों के फल भोग की संक्षिप्त झँकी।^२

फलदान की दृष्टि से कर्मों का जातिगत अष्टविध वर्गीकरण

निष्कर्ष यह है कि संसार-अवस्था में कर्म फलदान की दृष्टि से जीव (आत्मा) की अनुजीवी और प्रतिजीवी, दोनों प्रकार की शक्तियों का घात करता है। इस दृष्टि से कर्म के अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। किन्तु कर्मविज्ञान-पुरस्कर्ता सर्वज्ञ तीर्थंकरों तथा उनके अनुगामी आचार्यों एवं मनीषी मुनिवरो ने जाति की अपेक्षा से कर्म का वर्गीकरण करके उसे आठ भागों में विभक्त कर दिया। वे आठ प्रकार ये हैं—

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय कर्म (५) आयुष्य कर्म, (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म और (८) अन्तराय कर्म।

१. देखें—प्रज्ञापनासूत्र के २३ वें कर्मप्रकृति पद के अनुभाव द्वार का विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) १०२० से २६ तक (तृतीय खण्ड)
२. देखें—“णाणावरणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेण बद्धस्स पुद्दस्स, बद्ध फास-पुद्दस्स, सचित्तस्स, धियस्स, उवचित्तस्स, आवागपत्तस्स, विवागपत्तस्स, फलपत्तस्स, उदयपत्तस्स, जीवेण कडस्स जीवेण णिव्वत्तियस्स, जीवेण परिणामियस्स, सयं वा उदिगणस्स, परेण वा उदीरियस्स, तदुभयेण वा उदीरिज्जमाणस्स, गतिं पप्य, ठितिं पप्य, भवं पप्य, पोग्गलं पप्य, पोग्गलपरिणामं पप्य कतिविहे अणुभावे पण्णते ?” —प्रज्ञापना सूत्र के २३वें कर्मप्रकृति पद के पंचम अनुभाव द्वार का ज्ञानावरणीयकर्मफलसम्बन्धी प्रश्न। इसी प्रकार के अष्ट कर्म सम्बन्धी प्रश्न के कर्मफल की विधिव्रता समझ लेनी चाहिए।—सं.

ये आठों ही कर्म फलदान की दृष्टि से आत्मा (जीव) की अनुजीवी या प्रतिजीवी किन-किन शक्तियों को आवृत, कुण्ठित, विकृत और विलुप्त कर देते हैं, इसका संक्षेप में निरूपण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणीय कर्म—जीव (आत्मा) की ज्ञानशक्ति को आवृत करता है, इस कारण इसकी ज्ञानावरणीय संज्ञा है। इसके मुख्यतया पांच भेद हैं।

दर्शनावरणीय कर्म—जीव (आत्मा) की दर्शन (सामान्य, निराकार ज्ञान) शक्ति को आवृत करता है, इस कारण इसकी दर्शनावरणीय संज्ञा है। इसके मुख्यतया नौ भेद हैं।

वेदनीय कर्म—जीव को सुख और दुःख का वेदन (अनुभव) कराता है, इस कारण इसकी वेदनीय संज्ञा है। इसके मुख्यतया दो भेद हैं।

मोहनीय कर्म—यह जीव में राग-द्वेष-मोह को उत्पन्न कराता है। तथा उसकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप की शक्ति को कुण्ठित, विलुप्त एवं विकृत कर देता है। इस कर्म के उदय से जीव मोहमूढ़ होकर यथार्थ रूप से वस्तु स्वरूप को जान नहीं पाता, मान नहीं पाता (उस पर श्रद्धा और रुचि नहीं कर पाता), तथा सम्यक् रूप से आचरण नहीं कर पाता अथवा आचरण शक्ति को यह कुण्ठित एवं विलुप्त कर देता है। इसी कारण इसकी मोहनीय संज्ञा है। इसके मुख्यतया दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के पच्चीस भेद हैं।

नामकर्म—यह जीव के शरीर, वचन, मन की, तथा गति, जाति, इन्द्रिय आदि की प्रतिजीवी शक्ति को विविध अवस्थाओं में, अनेक विध शुभ-अशुभरूपों में नमा-शुका देता है। इस प्रकार की विचित्र शुभाशुभ अवस्थाओं के कारणभूत कर्म की नामकर्म संज्ञा है। इसके १३ भेद हैं।

गोत्रकर्म—सदाचारियों या कदाचारियों की परम्परा में जन्म लेने, वैसा वातावरण मिलने अथवा स्वीकार करने का कारणभूत कर्म गोत्रकर्म है। जैन कर्मविज्ञान ज्ञातिकृत (कौम या वर्णकृत या आजीविकाकृत) उच्च नीच भेद को नहीं मानता। ये भेद गुणकृत या आचरणकृत माने जाते हैं। जो अच्छे आचार-विचार, एवं संस्कार वाले कुल या वंश की परम्परा में जन्म लेते हैं, शिष्ट आचार-विचार को धर्मयुक्त सुसंस्कृति का स्वीकार करके चलते हैं, ऐसे मनुष्यों की संगति को जीवन का उच्चतम कर्तव्य समझते हैं, और जीवन के संशोधन एवं सुसंस्करण में सहायक आचार-विचार का स्वीकार एवं क्रियान्वयन करते हैं, वे उच्चगोत्री कहलाते हैं और जो इनके विरुद्ध आचार-विचार वाले होते हैं, वे नीच गोत्री हो जाते हैं।

नीच गोत्री अपने जीवन में अशुभ आचार-विचार-संस्कार का त्याग करके उच्चगोत्री हो सकते हैं। ऐसे व्यक्ति गृहस्थ श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म के पालन के पूर्ण अधिकारी हो जाते हैं।

अन्तरायकर्म--जीव (आत्मा) की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच अनुजीवी शक्तियाँ हैं। इन्हें आवृत और कुण्ठित करने वाले कर्म को अन्तरायकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं।^१

कर्म के ये आठों ही भेद तथा प्रभेद फलदान की अपेक्षा से किये गए हैं। आठों ही कर्म अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, अनुभाग की तीव्रता-मन्दता को लेकर फलदान देते हैं।^२

ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों के फल की विचित्रता

प्रज्ञापनासूत्र के कर्म प्रकृति पद के पंचम अनुभाव द्वारा में ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का अनुभाव (विपाक या फल का वेदन-भोग) किस-किस निमित्त से, कैसे-कैसे और कितने-कितने प्रकार का होता है ? इसकी विस्तृत चर्चा की गई है।

अष्टविध कर्मों के विचित्र विपाक को हृदयंगम करने से लाभ

कर्मविपाक का जैनकर्मविज्ञान ने बहुत ही व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया है। कर्मविपाक के भी नियम होते हैं। उन नियमों को जो व्यक्ति भलीभाँति हृदयंगम कर लेता है, वह कर्मों की निर्जरा, संवर और क्षय करने की साधना और रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना अच्छी तरह कर सकता है। वह भविष्य में घटित होने वाले अथवा सम्भावित दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल सकता है, निकाचित रूप से बंधे हुए कर्मों को भी फलभोग के समय समभाव से सहर्ष भोगकर क्षीण कर सकता है, उदय में आने (फलोन्मुख होने) से पूर्व कर्मों की सजातीय प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश (मात्रा) को बदल सकता है। जाने वाली बुराइयों और विपदाओं से बच सकता है।^३

अष्टविध कर्मों के विचित्र एवं विभिन्न विपाक कैसे-कैसे, किन निमित्तों से

कर्मविपाक एक ही जीव के इस जन्म और पूर्वजन्म के विभिन्न और विचित्र प्रकार के हो सकते हैं। यह ध्यान रहे कि अष्टविध कर्मों के ये अनुभाव (कर्मफलभोग) उसी जीव के होते हैं, जिसके द्वारा वह-वह कर्म स्पृष्ट, बद्ध, बद्धस्पृष्ट, संचित, चित,

१. महाबंधो भाग २ की प्रस्तावना--(कर्म मीमांसा) (पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. १९-२०

२. इन आठों ही कर्मों की प्रकृति तथा स्वरूप आदि का विस्तृत निरूपण 'कर्मबंध का विराट् रूप' नामक खण्ड में देखें--सं.

३. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण, पृ. २२९

उपचित, आपाक (किञ्चित् पाक) को प्राप्त, विपाक-प्राप्त, फल को प्राप्त, तथा उदयप्राप्त, एवं कृत, निष्पादित और परिणामित हो, तथा वह कर्म या तो स्वयं के द्वारा उदीरित हो, या दूसरे के द्वारा उदीरित (उदीरणा-प्राप्त) हो, या फिर दोनों (स्व-पर) द्वारा उदीरणाप्राप्त हो। फिर वे कर्मविपाक (अनुभाव) गति, स्थिति, भव, पुद्गल और पुद्गलों के परिणाम (इन पंच विध निमित्तों) को पाकर विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फल) दस प्रकार का : कैसे-कैसे?

सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म को ही लें। ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फल-विपाक) पूर्वोक्त बद्ध से लेकर पुद्गल परिणाम के कारणों को लेकर १० प्रकार का बताया गया है—(१) श्रोत्रावरण, (२) श्रोत्र विज्ञानावरण, (३) नेत्रावरण, (४) नेत्र विज्ञानावरण, (५) घ्राणावरण, (६) घ्राणविज्ञानावरण, (७) रसावरण, (८) रस विज्ञानावरण, (९) स्पर्शावरण और (१०) स्पर्श विज्ञानावरण।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के बद्ध आदि कारणों से उदय में आने (फलोन्मुख होने पर) श्रोत्रावरण आदि १० प्रकार का आवरण रूप अनुभाव (फल-विपाक) बताया है।

इन दश विध आवरणों में दो प्रकार का आवरण है—एक है—लब्धि (क्षयोपशम) का आवरण, और दूसरा है—उपयोग का आवरण। श्रोत्र (कान) आदि पाँचों ही इन्द्रियों के क्षयोपशम (लब्धि) रूप और उपयोग रूप आवरण ही ज्ञानावरणीय कर्म का फल विशेष है। जिनका शरीर कुष्ठ आदि रोग से उपहत हो गया हो, उन्हें स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण रूप फल प्राप्त होता है। जो जीव जन्म से अन्धे, लूले, अंगड़े, बहरे, गूंगे या टूटे आदि हैं, या बाद में हो गए हों, उन्हें नेत्र, श्रोत्र, रसना, स्पर्श आदि इन्द्रियों से सम्बन्धित लब्धि और उपयोग का आवरण रूप फल प्राप्त हुआ है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, और रसनाविषयक लब्धि और उपयोग आवृत होता है। द्वीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र, नेत्र और घ्राण-सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। त्रीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र

१. बद्ध, स्पृष्ट आदि पदों के अर्थ के लिए देखें—प्रज्ञापना सूत्र।

२. देखें, प्रज्ञापनासूत्र (तृतीय खण्ड) के २३वें पद के पंचम अनुभाव द्वार के सूत्र १६७९ का अनुवाद एवं मूलपाठ (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. १४

३. (क) देखें—प्रज्ञापनासूत्र के २३वें पद के सू. १६७९ के उत्तरार्द्ध का अनुवाद एवं विवेचन (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. १४, २१

(ख) जैन तत्व कलिका, कलिका ६, पृ. १७७

और नेत्र विषयक लब्धि और उपयोग का, तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्रविषयक लब्धि और उपयोग आवरण होता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के त्रिविध उदय से प्राप्त निरपेक्ष एवं सापेक्ष फल

ज्ञानावरणीय का उदय तीन प्रकार से होता है—(१) स्वयं ही उदय को प्राप्त, (२) दूसरे के द्वारा उदीरित अथवा (३) स्व-पर दोनों के द्वारा उदीरित। इन तीनों में से किसी भी प्रकार से ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से इन्द्रियों की लब्धि और उपयोग का आवरण रूप फल प्राप्त होता है। यह उदय भी सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार होता है।

ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का निरपेक्ष उदय होने पर जीव अपने जानने योग्य (ज्ञातव्य) पदार्थ का ज्ञान नहीं कर पाता, जानने की इच्छा होने पर भी जानने में समर्थ नहीं होता; अथवा पहले जाने हुए पदार्थ को बाद में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से नहीं जान पाता; या फिर ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव का ज्ञान तिरोहित (लुप्त) हो जाता है।

सापेक्ष उदय कैसे होता है, इसे स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—ज्ञान का उपघात करने में समर्थ तथा दूसरे के द्वारा फेंके गए या प्रहार करने में सक्षम काष्ठ, खड्ग आदि एक पुद्गल या बहुत-से पुद्गलों से ज्ञान का, या ज्ञान परिणति का उपघात (नाश) हो जाता है। अथवा भक्षित आहार या सेवित पेय पदार्थ का परिणाम (पाचन आदि) अति दुःख जनक होता है; तब भी ज्ञानपरिणति का उपघात हो जाता है। या फिर स्वभावतः तीव्र शीत, तीव्र उष्ण या धूप आदि के रूप में परिणत पुद्गल-परिणाम का जब वेदन (अनुभव) किया जाता है, तब भी इन्द्रियों को क्षति पहुँचने से ज्ञानपरिणति का उपघात होता है। इन सापेक्ष कारणों से जीव इन्द्रियगोचर ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जान पाता। यह सब ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का फल (अनुभाव) है।^१

दर्शनावरणीय कर्म के नौ प्रकार के अनुभाव (फल)

इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के अनुभाव के भी बद्ध, स्पृष्ट आदि से लेकर पुद्गल-परिणाम तक के वे ही पूर्वोक्त कारण मूलपाठ में बताए गए हैं। दर्शनावरणीय कर्म के अनुभाव (फल) नौ प्रकार के बताए हैं—(१) निद्रा, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानर्द्धि, एवं (६) चक्षुदर्शनावरण, (७) अचक्षुदर्शनावरण, (८) अविधिदर्शनावरण और (९) केवल-दर्शनावरण।

पाँचों प्रकार की निद्राओं का वेदन दर्शनावरणीय कर्म के उदय होने पर इस कर्म के फल के रूप में होता है। निद्रा आदि में गति, स्थिति, भव, पुद्गल और पुद्गल-

१. देखें—प्रज्ञापना-तृतीय खण्ड के २३वें कर्म प्रकृति पद के अनुभाव द्वार के सू. १६७९ का विवेचन (जैनगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. २१

परिणाम के निमित्त से दर्शनावरण में तरतमता और विशेषता प्राप्त होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी निद्रा आदि पाँचों में विशिष्ट कारण होते हैं। जैसे—दही पीने पर नींद अधिक आती है, शीत प्रधान क्षेत्र में भी निद्रा अधिक आती है, इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में या रात्रि में नींद आने लगती है, प्रवचन या अरुचिकर विषय के श्रवण में दिलचस्पी न होने से नींद आने लगती है। शराब या नशीली वस्तु के या नींद की गोलियों के सेवन से भी निद्रा, या मूर्च्छा आ जाती है।^१

गति आदि के निमित्त से कर्मफल का तीव्र विपाक

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गति आदि विशिष्ट वस्तुओं के कारण, तथा स्व-पर एवं उभय से उदीरित ज्ञानावरणीय आदि कर्म स्वतः, परतः या स्व-पर उभयतः फलोन्मुख (उदय को प्राप्त) होता है। इसी दृष्टि से गतिपण्य—कोई कर्म किसी गतिविशेष को पाकर तीव्र अनुभाव (फल) वाला हो जाता है। जैसे—नरकगति को प्राप्त करके जीव असातावेदनीय का तीव्र अनुभाव (फल) प्राप्त करता है। नरकगति में नारकों के लिए असातावेदनीय जितना तीव्र होता है, उतना तिर्यचगति या मनुष्यगति वाले जीवों के लिए नहीं।

इसी प्रकार ठिड़पण्य—अर्थात्—स्थिति विशेष को—सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त अशुभ-कर्म बांधा हुआ जीव मिथ्यात्व के समान तीव्र अनुभाव (फल) का भागी होता है।

भवंपण्य—भव जन्म को प्राप्त करके। जैसे—मनुष्यभव या तिर्यञ्चभव को प्राप्त करके जीव निद्रारूप दर्शनावरणीय कर्म का विशेष अनुभाव (फल) प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय आदि बद्धकर्म उस-उस गति, स्थिति या भव को प्राप्त करके (पर-निरपेक्ष होकर) स्वयं फलाभिमुख (उदय को प्राप्त) होता है।

कहीं-कहीं पर-निमित्त से भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म फलाभिमुख (उदय को प्राप्त) हो जाते हैं।

पोगलं पण्य—किसी पुद्गल विशेष को प्राप्त करके। जैसे—किसी के द्वारा रोष वश या द्वेषवश फेंके काष्ठ, डंडा, ढेला, पत्थर या तलवार आदि के योग से या फिर काष्ठ, ढेला, पत्थर या तलवार आदि पुद्गलों के अकस्मात् गिरने से या प्रहार से, आघात से असातावेदनीय आदि कर्म का, अथवा, क्रोधादिरूप कषाय मोहनीय कर्म आदि के उदय से अनुभाव (फलभोग) होता है।

१. (क) प्रज्ञापना खण्ड ३, पद २३ के अनुभाव द्वार के सू. १६८० का मूलपाठ एवं विवेचन (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. १५, २१, २२

(ख) जैनतत्त्व कलिका, कलिका ६, पृ. १७८

पोगलपरिणामं पप्प-किसी पुद्गल के परिणाम को प्राप्त करके। अर्थात्-किसी पुद्गल-विशेष के परिणाम के योग से भी कोई कर्म उदय में आकर फल भुगवाता है। जैसे-मदिरापान के परिणामस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आकर निद्रा, मूर्च्छा या बुद्धि-भ्रष्टता रूप फल भुगवाता है। अथवा खाये हुए आहार का पाचन न होने से असातावेदनीय का उदय होकर अतिसार, अजीर्ण, ऊर्ध्ववात (गैस) आदि रोगों का अनुभाव (फलभोग) कराता है।^१

दर्शनावरणीय कर्म के नौ प्रकार के अनुभाव (फल) के विषय में इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। उनमें से निद्रादि पांच का स्वरूप इस प्रकार है-

निद्रा-जिस नींद से सुखपूर्वक जागा जा सके।

निद्रा-निद्रा-ऐसी गाढ़ी निद्रा, जो बड़ी कठिनाई से भंग हो।

प्रचला-बैठे-बैठे आने वाली ऊँघ।

प्रचला-प्रचला-चलते-फिरते आने वाली निद्रा।

स्त्यानर्द्धि-ऐसी प्रगाढ़ निद्रा या एक प्रकार की बेहोशी, जिसमें जीव अपनी शक्ति से अनेक गुणी शक्ति पाकर निद्रा ही निद्रा में प्रायः दिन में सोचे हुए असाधारण कार्य कर डालता है।^२

चक्षुदर्शनावरणीय आदि का स्वरूप-चक्षुदर्शनावरण-नेत्र के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य उपयोग) का आवृत्त हो जाना। अचक्षुदर्शनावरण-नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य उपयोग (ज्ञान) का आवृत्त हो जाना। अवधि-दर्शनावरण-अवधिदर्शन का आच्छादित हो जाना। केवल-दर्शनावरण-केवल दर्शन का आवृत्त हो जाना अर्थात्-केवलदर्शन को उत्पन्न न होने देना।

दर्शनावरणीय कर्म के फल प्रभाव-ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शनावरणीय कर्म में भी स्वयं उदय को प्राप्त अथवा दूसरे के द्वारा या दोनों के द्वारा उदीरित दर्शनावरणीय कर्म के उदय (फलोन्मुख होने) से इन्द्रियों के क्षयोपशम (लब्धि) और सामान्य उपयोग का आवरणरूप फल प्राप्त होता है। पूर्वोक्त ज्ञानावरणीय कर्म के समान

१. देखें, प्रज्ञापनासूत्र खण्ड ३, पद २३ के पंचम अनुभाव द्वार में दर्शनावरण-विषाक सूत्र १६८० का विवेचन (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. २०

२. (क) सुह पडिबोहा णिहा, णिहाणिहा य दुक्खपडिबोहा।
पयला होइ ठियस्स उ, पयला-पयला उ चंक्रमतो ॥१॥
धीणगिद्धि पुण अइसंकलिद्ध कम्माणुवेयणे होइ।
महिणिहा दिण-चित्थिय-यावार-पसाहणी पायं ॥२॥

(ख) प्रज्ञापना खण्ड ३, पद २३ सू. १६८० का विवेचन, पृ. २२

ही दर्शनावरणीय कर्मोदय से दर्शनगुण की विविध प्रकार से क्षति हो जाती है, जीव देखने योग्य या देखना चाहते हुए भी इन्द्रियगोचर या आत्मा से द्रष्टव्य पदार्थ को भी नहीं देख पाता, देखकर भी नहीं देखता, अथवा उसका दर्शनगुण तिरोहित हो जाता है। न ही आत्मा की दर्शनशक्ति के विषय में सोच सकता है, न ही दर्शनगुण का विकास कर पाता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से वह पुद्गल, पुद्गलों या पुद्गल-परिणामों के निमित्त से दर्शन आवृत्त हो जाता है।^१

सातावेदनीय कर्म के अष्टविध अनुभाव-वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—साता-वेदनीय और असातावेदनीय। वेदनीय कर्म के फलस्वरूप जीव सुख या दुःख का वेद करता है। सातावेदनीय के आठ अनुभाव (फल) हैं—(१) मनोज्ञ शब्द, (२) मनोज्ञ रूप, (३) मनोज्ञ गन्ध, (४) मनोज्ञ रस, (५) मनोज्ञ स्पर्श, (६) मन का सीख्य, (७) वचन का सीख्य और (८) काया का सीख्य।

तात्पर्य यह है कि जीव द्वारा बद्ध आदि सातावेदनीय कर्म के उदय से ८ प्रकार के सुखद फल की प्राप्ति होती है। (१) मनोज्ञ वेणु, वीणा आदि के शब्दों की प्राप्ति, (२) मनोज्ञ रूपों की प्राप्ति, (३) मनोज्ञ इत्र, चन्दन, फूल आदि सुगन्धों की प्राप्ति, (४) मनोज्ञ सुस्वादु रसों की प्राप्ति, (५) मनोज्ञ स्पर्शों की प्राप्ति, (६) मन में सुख की अनुभूति, (७) वचन में सुखानुभूति अथवा जिसका वचन श्रवण करने वाले के कान और मन में आल्हाद उत्पन्न करने वाला हो, और (८) काया से सुखानुभव करना। ये स्व-पर-निमित्तक अष्टविध अनुभाव हैं।

कभी-कभी सातावेदनीय कर्म के स्वतः उदय होने पर मनोज्ञ शब्दादि (पर-निमित्त) के बिना भी सुखसाता का संवेदन होता है। जैसे—तीर्थंकर भगवान् का जन्म होने पर नारक जीव भी किंचित् काल-पर्यन्त सुख का वेदन (अनुभव) करता है।

पर-निमित्तक सातावेदनीय कर्म के उदय प्राप्त अनुभाव (फल) का स्वरूप इस प्रकार है—जिन पुष्पमाला, चन्दन आदि एक या अनेक मनोज्ञ पुद्गलों का आसेवन (वेदन) किया जाता है, अथवा विशिष्ट देश, काल, वय एवं परिस्थिति के अनुरूप मनोज्ञ आहार-परिणतिरूप पुद्गल-परिणाम वेदा (भोगा) जाता है; अथवा स्वभाव से पुद्गलों के शीत, उष्ण, आतप आदि की वेदना के प्रतीकार के लिए यथावसर अभीष्ट पुद्गल-परिणाम (गर्म दवा, ठंडाई, कूलर, हीटर आदि) का सेवन किया जाता है। जिससे मन को समाधि-शान्ति (प्रसन्नता) प्राप्त होती है। यह पर-निमित्तक सातावेदनीय कर्मों के उदय से सातावेदनीय कर्म का अनुभाव है।^१

१. प्रज्ञापना सूत्र प्रमेय बोधिनी टीका भा. ५, पृ. १९०

२. देखें—प्रज्ञापना सूत्र खण्ड ३, पद २३, के पंचम अनुभाव द्वार का पाठ, पृ. १५, १६, २२, विवेचन। (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

असातावेदनीय कर्म के अष्टविध अनुभाव (फल)—इस कर्म का अष्टविध अनुभाव सातावेदनीय कर्म से विपरीत है। अर्थात्—अमनोज्ञ शब्दादि पांच, तथा मन-वचन-क्राया में दुःखानुभव ये ८ अनुभाव असातावेदनीय कर्मोदय से होते हैं। विष, शस्त्र, कण्टक आदि पुद्गल या पुद्गलों का जब वेदन किया जाता है, अथवा अपथ्य या नीरस आहारादि पुद्गल-परिणाम का अथवा स्वभाव से यथाकाल होने वाले शीत, उष्ण, आतप आदि रूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, तब मन को असमाधि होती है, शरीर को भी दुःखानुभव होता है। तथा तदनुरूप वाणी से भी असाता के उद्गार निकलते हैं। यह परतः असातावेदनीय कर्म का अनुभाव (विपाक) है। जहाँ किसी पर-निमित्त के बिना असातावेदनीय कर्मपुद्गलों के उदय से दुःखानुभव (दुःखवेदन) होता है, वहाँ स्वतः असातावेदनीय कर्म का अनुभाव (फल) प्राप्त होता है। निष्कर्ष यह है कि असातावेदनीय कर्म के उदय से असाता (दुःख) रूप फल प्राप्त होता है।^१

मोहनीय कर्म का पंचविध अनुभाव—जीव के द्वारा बद्ध, स्पृष्ट आदि से लेकर पुद्गल-परिणाम तक से युक्त स्वतः परतः या उभयतः उदीरित मोहनीय कर्म के उदय से पांच प्रकार का अनुभाव (फल) बताया गया है—(१) सम्यक्त्व वेदनीय, (२) मिथ्यात्व-वेदनीय, (३) सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, (४) कषाय वेदनीय और (५) नोकषाय वेदनीय।

सम्यक्त्ववेदनीय में सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में—प्रशम आदि परिणामों का वेदन किया जाता है। जिसका वेदन होने पर दृष्टि मिथ्या हो जाती है, अदेव, कुदेव, कुगुरु अघर्म कुशास्त्र आदि में देवादि की बुद्धि हो जाती है, वहाँ मिथ्यात्व वेदनीय होता है, तथा जिसका वेदन होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिला-जुला परिणाम उत्पन्न होता है, वहाँ सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय रूप अनुभाव होता है। जिसका वेदन क्रोधादि कषाय रूप परिणामों का कारण बन जाता है, वहाँ कषाय-वेदनीय रूप अनुभाव होता है। जिसका वेदन हास्यादि रूप नोकषायों के परिणाम का कारण हो, वहाँ नोकषाय-वेदनीय रूप अनुभाव होता है।^१

परतः मोहनीय कर्मोदय से होने वाला अनुभाव—जिस पुद्गल-विषय या जिन पुद्गलविषयों (मदिरा, ब्राह्मी, बादाम आदि) से मोहनीय कर्म का फल वेदन किया जाता है, अथवा जिस पुद्गल-परिणाम के योग से मोहादि का वेदन किया जाता है, या देशकाल के अनुरूप आहारादि का परिणाम मोहादि वृद्धि में सहायक हो, वहाँ भी मोहनीय कर्म के फल का वेदन होता है।

१. दही, मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन, सूत्र १६८२, पृ. १६, २३ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)
२. दही, मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन, सू. १६८२, पृ. १६, २३, (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

वस्तुतः मोहनीय कर्म का उदय होने पर मनुष्य मोहमुग्ध होकर सम्यक्त्व में पराक्रम नहीं कर पाता, उसके संवर-निर्जरा की, तथा संयम और चारित्र्य पालन के रुचि, श्रद्धा एवं क्षमता कुण्ठित एवं शिथिल हो जाती है। आत्मा को सम्यक्त्व एवं चाैत्रि गुणों के कारण जो आत्मिक सुख प्राप्त होना चाहिए उसमें मोहनीय कर्म बाधक बन्त है।^१

आयुर्कर्म का अनुभाव, प्रकार, स्वरूप और कारण—आयुर्कर्म का पूर्ववत् बद्ध-स्पृष्ट आदि से विशिष्ट अनुभाव (फलविपाक) चार प्रकार का होता है—(१) नारकायु, (२) तिर्यचायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु। यह भी स्वतः और परतः दो प्रकार से उदय में आकर फलप्रदान करता है। नारकायुर्कर्म आदि जिन आयुर्कर्म के पुद्गलों के उदय से नारकायु आदि कर्म का वेदन किया जाता है, वह स्वतः आयुर्कर्म के उदय का फल (अनुभाव) है। जिस पुद्गल या जिन पुद्गलों का अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभावतः पुद्गलों के परिणाम का वेदन किया जाता है, वहाँ परतः आयुर्कर्म के उदय का अनुभाव (फल) है।

तात्पर्य यह है कि आयु के अपवर्तन (हास) करने में समर्थ जिस या जिन शस्त्र, दण्ड, पाषाण आदि पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, अथवा विष, नशीली, मारक या शक्ति घातक दवा एवं अन्न आदि के परिणामरूप-पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, उससे भुज्यमान आयु का अपवर्तन (हास) होना आयुर्कर्म के परतः उदय से होने वाला फल (अनुभाव) है।^२

नामकर्म के अनुभावों का निरूपण—नामकर्म के मुख्यतया दो भेद हैं—शुभनामकर्म और अशुभ नामकर्म। पूर्वोक्त बद्ध, स्पृष्ट आदि से विशिष्ट शुभ गति आदि कारणों को लेकर शुभनामकर्म के उदय में आने पर १४ प्रकार का अनुभाव (फल-विपाक) होता है। यथा—(१) इष्ट शब्द, (२) इष्ट रूप, (३) इष्ट गन्ध, (४) इष्ट रस, (५) इष्ट स्पर्श, (६) इष्ट गति, (७) इष्ट स्थिति, (८) इष्ट लावण्य, (९) इष्ट यशोकीर्ति, (१०) इष्ट उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार (पौरुष)-पराक्रम, (११) इष्ट स्वरता, (१२) कान्तस्वरता, (१३) प्रिय स्वरता, और (१४) मनोज्ञ-स्वरता।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—इष्ट का अर्थ है—अभिलषित (मनचाहा)। इष्ट शब्दादि—नामकर्म का प्रकरण होने से यहाँ अपने ही अभीष्ट शब्द (वचन), रूप, रस,

१. देखें—प्रज्ञापना २३ वाँ पद के १६८३ सूत्र का विवेचन, पृ. १७, २४ (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)
२. देखें, वही, पद २३, के १६८३ सूत्र का मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन पृ. १७, २४ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

गन्ध और स्पर्श समझने चाहिए। इष्ट गति के दो अर्थ हैं—(१) देवगति या मनुष्यगति, अथवा (२) हाथी जैसी उत्तम चाल। इष्ट स्थिति का अर्थ है—इष्ट और सहज सिंहासन आदि पर आरोहण। इष्ट लावण्य का अर्थ है—अभीष्ट कान्ति-विशेष या शारीरिक सौन्दर्य। इष्टयशःकीर्ति—विशिष्ट पराक्रम प्रदर्शित करने से होने वाली ख्याति को यश कहते हैं, और दान, पुण्य, परोपकार आदि सत्कार्यों से होने वाली प्रसिद्धि को कीर्ति कहते हैं।^१

उत्थान आदि छह शब्दों का विशेषार्थ—शरीर संबंधी चेष्टा को उत्थान, भ्रमण आदि को कर्म, शारीरिक शक्ति को बल, आत्मा से उत्पन्न होने वाले सामर्थ्य को वीर्य, आत्मजन्य स्वाभिमान-विशेष को पुरुषकार और अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने वाले पुरुषार्थ को पराक्रम कहते हैं।

इष्टस्वर—वीणा आदि के समान वल्लभ स्वर। कान्तस्वर—कोयल आदि के स्वर के समान कमनीय स्वर। प्रिय-स्वर—इष्टसिद्धि आदि होने पर लोकप्रिय जय-जयकार का बार-बार अभिलषणीय स्वर। मनोज्ञ-स्वर—मनोवांछित लाभ आदि के तुल्य स्वाश्रय में प्रीति उत्पन्न कराने वाला स्वर।

शुभ नामकर्म के स्वतः परतः उदय से होने वाला अनुभाव (फल-विपाक)—जहाँ वीणा, वेणु, गन्ध, ताम्बूल, पट्टाम्बर, सारंगी, हारमोनियम, पालकी, सिंहासन आदि शुभ पुद्गल या पुद्गलों का वेदन (अनुभव) किया जाता है, तथा इन वस्तुओं के निमित्त से शुभ नामकर्मोदय से शब्दादि की अभीष्टता व्यक्त होती है, अथवा ब्राह्मी या अन्य औषधि, या आहार के परिणामन स्वरूप अभीष्ट पुद्गल परिणाम का वेदन होता है, वहाँ परतः शुभ नामकर्मोदय से होने वाला फलानुभव समझना चाहिए। अथवा स्वभावतः शुभ मेघ आदि की घटा की छटा को देखकर शुभ पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाए, जैसे कि वर्षाकालीन मेघघटा की छटा देखकर युवतियाँ इष्टस्वर में गान करने में प्रवृत्त हो जाती हैं। इस प्रकार के प्रभाव से शुभ नामकर्म का अनुभाव होता है। यह सब पर-निमित्तक शुभ नामकर्म के उदय से होने वाला फलविपाक है। जब शुभ नामकर्म के पुद्गलों के उदय से इष्टशब्दादि शुभ नामकर्म का वेदन हो, वहाँ स्वतः शुभनामकर्मोदय से होने वाला फलविपाक होता है।

अशुभ नामकर्म के स्वतः परतः उदय से होने वाला अनुभाव—शुभ नामकर्म के अनुभाव की तरह जीव के द्वारा बद्ध आदि विशेषणों से विशिष्ट अशुभ नामकर्म के भी

१. देखें, वही, पद २३ के १६८४ सूत्र का मूलपाठ, अनुवाद एवं धिवेचन, पृ. १७-१८, २४, २५ (आ. प्र. स. ब्यावर)

१४ प्रकार के अनुभाव होते हैं। किन्तु ये सब अनुभाव शुभ से विपरीत हैं। जैसे—अनिष्ट शब्दादि। गधा आदि के अनिष्ट शब्द, मृतकलेवर, दुर्गन्धपूर्ण नाली आदि से उत्पन्न अनिष्टगन्ध, कटु औषधि या अन्य कड़वी, तीखी वस्तु के स्वाद से अनिष्ट रस, अपने या दूसरे के काले कलूटे, कुबड़े, कुरूप, लंगड़े आदि को देखकर होने वाला अनिष्ट रस, तथा उष्ण, रूक्ष, भारी, कठोर वस्तु के छूने से अनिष्ट स्पर्श रूप अशुभ पुद्गल का पुद्गलों का वेदन होता है, यही अशुभ नामकर्म का अनुभाव है। अथवा विष जीव आहारपरिणाम रूप जिस पुद्गलपरिणाम का, अथवा स्वभावतः वज्रपात आदि रस जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, तथा उसके प्रभाव से अशुभ नामकर्म के फलस्वरूप अनिष्ट स्वरता आदि का अनुभव होता है। यह परतः अशुभ नामकर्मोदय से होने वाला अनुभाव (फलविपाक) है। जहाँ नामकर्म के उदय से अशुभ कर्म पुद्गलों से अनिष्ट शब्दादि का वेदन होता है, वहाँ स्वतः अशुभ नामकर्मोदयजनित अनुभाव समझना चाहिए।^१

उच्यगोत्र कर्म के अनुभाव—जीव के द्वारा बद्ध आदि से विशिष्ट उच्यगोत्र कर्म का अनुभाव (फल) आठ प्रकार का है—(१) जातिविशिष्टता, (२) कुलविशिष्टता, (३) बलविशिष्टता, (४) रूपविशिष्टता, (५) तपविशिष्टता, (६) श्रुतविशिष्टता (७) लाभविशिष्टता और (८) ऐश्वर्यविशिष्टता।^२

उच्यगोत्रानुभाव : कैसे-कैसे, किन-किन कारणों से ?—उस-उस शुभद्रव्य या मनोज्ञ द्रव्य के संयोग से अथवा राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के संयोग से नीच जाति और कुल में पैदा हुआ व्यक्ति भी जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न होकर इस कर्म के उदय से जातिविशिष्टता और कुलविशिष्टता का अनुभाव (फल) प्राप्त कर लेता है। मल्ल आदि किसी विशिष्ट पुरुष के संयोग से अथवा व्यायाम-प्राणायामादि के योग से, अथवा शक्तिवर्द्धक औषधि आदि के योग से उच्यगोत्रकर्मोदय होने पर शारीरिक-मानसिक बल सम्पन्न होकर व्यक्ति बल-विशेषता का अनुभाव प्राप्त कर लेता है। इस कर्म के उदय से विशेष प्रकार के वस्त्रों और अलंकारों से, शरीर के स्वाभाविक सौष्टव्य एवं डील-डौल से रूपसम्पन्नता प्राप्त करके व्यक्ति रूप-विशेषता का अनुभव करता है। पर्वत की चोटी पर खड़े होकर आतापना आदि तपश्चरण से तप की विशेषता का अनुभव करता है। धन, सत्ता, पद, प्रभुत्व आदि के संयोग से ऐश्वर्य-विशेषता का अनुभाव प्राप्त होता है। बहुमूल्य उत्तम रत्न आदि अथवा किसी मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति से लाभ की विशेषता का अनुभाव प्राप्त होता है। रमणीय, शान्त, एकान्त, पवित्र एवं जनसाधारण के आवागमन से रहित स्थान में स्वाध्याय करने से व्यक्ति को श्रुतविशेषता का अनुभाव प्राप्त होता है।

१. वही, खण्ड ३, पद २३, सू. १६८४ (१-२) का मूल, अर्थ और विवेचन, पृ. १८, २४, २५

२. वही, खण्ड ३, पद २३, सू. १६८५ (१), का मूलपाठ और अर्थ, पृ. १८

इस प्रकार बाह्यद्रव्यरूप शुभ पुद्गल या पुद्गलों का जो वेदन किया जाता है, अथवा दिव्यफल आदि के आहार-परिणाम रूप जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, या स्वभाव से जिन पुद्गलों का परिणाम अकस्मात् जलधारा के आगमन आदि के रूप में वेदन किया जाता है; वही है उच्चगोत्रकर्म के फल का वेदन। ये अनुभाव परतः उच्चगोत्रनामकर्मोदय के कारण होते हैं। स्वतः उच्चगोत्रीय नामकर्मोदय से होने वाले अनुभाव में तो उच्चगोत्रनामकर्म के पुद्गलों का उदय ही कारण है।^१

नीचगोत्रकर्म का अनुभाव : प्रकार, स्वरूप और कारण—जीव के द्वारा बद्ध आदि विशिष्ट कारणों से इस कर्म का उदय होने पर नीचगोत्र का अनुभाव होता है। यह भी आठ ही प्रकार का है, किन्तु उच्चगोत्रकर्म से यह विपरीत है। यथा—जातिविहीनता से लेकर ऐश्वर्यविहीनता।

नीच और कलंकित आचरण कृत्य के या अधम, दुर्जन, दुष्ट आदि के संसर्ग रूप नीचगोत्रीयकर्म पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, अर्थात् उत्तम कुल और जाति वाला व्यक्ति जब नीचकर्मवशात् अधम आजीविका अथवा चाण्डाल कन्या आदि के साथ अनाचार सेवन करता है, तब चाण्डाल के समान ही लोकनिन्दनीय बन जाता है। यह जातिकुल विहीनता है। सुख शय्या निश्चिन्ता आदि का योग न होने से बलहीनता उत्पन्न होती है। दूषित अन्न, खराब, गंदे वस्त्र आदि के योग से रूपहीनता होती है। देशकाल आदि के विरुद्ध माल खरीदने (कुक्रय) आदि से लाभहीनता होती है। निर्धनता, खराब मकान, खराब परिवार, कुलटा स्त्री आदि के संयोग से ऐश्वर्यहीनता होती है। शास्त्रों के अनभ्यास, अस्वाध्याय आदि के कारण श्रुतहीनता उत्पन्न होती है। इस कर्म के उदय से किसी वात-पित्त-कफव्याधिकारक आहारादि-परिणमनरूप पुद्गल परिणाम बल आदि की हीनता का वेदन किया जाता है, अथवा मांस, मद्य आदि अधम पुद्गल-परिणाम के प्रभाव से भी जातिहीनता-कुलहीनता आदि का अनुभाव होता है। यह परतः नीचगोत्रकर्मोदय से होने वाला अनुभाव है। स्वतः नीचगोत्रोदय में तो नीचगोत्रकर्म-पुद्गलों का उदय ही कारण रूप होता है। उसी से जाति विहीनता आदि का अनुभाव होता है।^२

अन्तराय कर्म का पंचविध अनुभाव : स्वरूप और कारण—जीव के द्वारा बद्ध आदि से विशिष्ट अन्तराय कर्म का अनुभाव पाँच प्रकार का है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, जीव की इन शक्तियों में विघ्न बाधा उपस्थित हो जाना

१. वही, पद २३, के सूत्र १६८५/१ का मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन, पृ. १८, २५

२. वही, पद २३, के सूत्र १६८५/२ का मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन, पृ. १९, २६

दानान्तराय आदि कर्मों का अनुभाव (फल) है। दानान्तराय कर्म के उदय से किसी उत्तम पुद्गल या पुद्गलों के अभाव से जो वेदन होता है। वह दानान्तराय कर्म का अनुष्व (फलविपाक) है। सेंध आदि लगाने के उपकरणों या चोरी, लूट आदि के उपकरण आदि से लाभान्तराय कर्म का उदय होता है। विशेष प्रकार के अभक्ष्य या कुपथ आहार या अग्राह्य अभोज्य पदार्थ के ग्रहण—सेवन से लोभ के कारण भोगान्तराय कर्म का उदय होता है। इसी प्रकार उपभोगान्तराय कर्म का उदय भी समझ लेना चाहिए। लाठी, शस्त्र दुर्घटना आदि की चोट से वीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है। अथवा जिस पुद्गल परिणाम का अर्थात्—कुपथ्य या गरिष्ठ या विशिष्ट आहार या औषधि आदि के परिणाम से भी वीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है।

इस पंचविध अन्तराय कर्म के उदय से जीव दान आदि में अन्तराय का वेदन करता है, यही इस कर्म का फलविपाक (अनुभाव) है। यह भी स्वतः परतः कर्मोदय के कारण होता है। जैसे—परतः दानान्तरायकर्म का अनुभाव (फल भोग) तब होता है, जो कोई किसी को वस्त्र देना चाहता है, मगर ग्रीष्मऋतु या शीतऋतु आदि का आवागमन होने से दान नहीं कर पाता; अदाता बन जाता है। यह परतः दानान्तरायकर्मोदयजनित फलविपाक है। स्वतः दानान्तराय कर्म का अनुभाव तब होता है, जब व्यक्ति किसी से दान के रूप में कुछ पाना चाहता है, किन्तु दानान्तरायकर्मवशात् प्राप्त नहीं कर पाता। यह स्वतः दानान्तराय कर्मोदयजनित फल विपाक है। इसी प्रकार शेष चारों अन्तरायों के अनुभाव के विषय में समझ लेना चाहिए।^१

यह अष्टविध कर्मों का फलविपाक (अनुभाव) तभी होता है, जब वह कर्म बंध से लेकर उदय तक की प्रक्रिया तक पहुँच गया हो। किसी भी कर्म को बांधे बिना तथा उसके उदय में आए बिना उसका फल नहीं मिलता, न ही तथाकथित फलभोग होता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि ये सभी अनुभाव बांधे हुए आठ प्रकार के कर्मों के प्रतिफल हैं, किन्तु उस जीव की गति, स्थिति, भव, पुद्गल और पुद्गल-परिणाम को लेकर भी उनके फलभोग में न्यूनधिकता, या तरतमता हो जाती है। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बन्ध के कारणों पर आगामी बन्ध खण्ड में प्रकाश डाला जाएगा।^२

फलविपाक की दृष्टि से कर्मों की विचित्रता : कर्मफल की विभिन्नता का आधार

इसी प्रकार इन पूर्वोक्त आठों ही कर्मों के फलविपाक में गति, स्थिति, भव,

१. (क) प्रज्ञापना सूत्र खण्ड ३, पद २३ के सूत्र १६८६/१-२ का मूलपाठ, अनुवाद और विवेचन, पृ. १९, २६
- (ख) जैन तत्त्व कलिका, कलिका ६ (आचार्य श्री आत्माराम जी) से पृ. १७८
२. देखें, प्रज्ञापना सूत्र खण्ड ३ पद २३ के सूत्र १६७९ का मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन, पृ. १४, १९

पुद्गल और पुद्गल-परिणाम को लेकर विभिन्नता और विचित्रता प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि कर्मग्रन्थ आदि में इन पूर्वोक्त आठ कर्मों के फलविपाक की दृष्टि से चार या पाँच भेद बताये गए हैं—

(१) जीव विपाकी, (२) पुद्गल-विपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी, (४) भव-विपाकी और (५) कालविपाकी।

जिन कर्मों का फलविपाक जीव में होता है, उनकी जीवविपाकी संज्ञा है। इन कर्मों के फलस्वरूप जीव को अज्ञान, अदर्शन, सुख, दुःख, राग, द्वेष और मोह आदि भावों की और नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव आदि पर्यायों की उपलब्धि होती है।

पुद्गलविपाकी कर्मफल वह है, जिनका विपाक जीव के साथ एक-क्षेत्रावगाह-सम्बन्ध को प्राप्त पुद्गलों में होता है। उन फलदायक कर्मों के विपाक स्वरूप जीव को विविध प्रकार के शरीर, वचन और मन की उपलब्धि होती है। उन्हें पुद्गल-विपाकी कहते हैं।

जिन कर्मों का विपाक नर-नारक आदि भव में होता है, उनको भवविपाकी कहते हैं। इन फलदायी कर्मों के फलस्वरूप जीव का नरकादि गतियों में अवस्थान होता है।

जिन कर्मों का विपाक (फल-भोग) किसी क्षेत्र विशेष में उपलब्ध होता है, उसे क्षेत्रविपाकी कर्म (फल) कहते हैं। इन कर्मों के फलस्वरूप जीव पुरातन शरीर का त्यागकर, नूतन शरीर को प्राप्त करने के लिए गमन करते हुए अन्तराल में पूर्व शरीर को भावी आकार में धारण करता है।'

फलदान शक्ति की मुख्यता की अपेक्षा पुण्य-पाप फल मधुर और कटु

इसके अतिरिक्त फलदान शक्ति की मुख्यता को लेकर इन सब कर्मों को पुण्यकर्म और पापकर्म के नाम से दो भेदों में विभक्त किया गया है। दान, भक्ति, मन्दकषाय, साधुसेवा, निर्लोभता (सन्तोष), जीवदया, परगुण-प्रशंसा (प्रमोद-भावना), सत्संगति, अतिथि सेवा, वैयावृत्य इत्यादि शुभ कर्मों के करने से तथा तदनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति होने से जिन कर्मों की गुड़, खांड, द्राक्षा, मधु, शर्करा एवं अमृत आदि के समान मधुर फलदानशक्ति उपलब्ध होती है उनकी पुण्यकर्म संज्ञा है।

इसके विपरीत मदिरापान, मांस-सेवन, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, (स्त्रियों के लिए परपुरुषगमन, वेश्याकर्म), शिकार, जूआ खेलना, रात्रि भोजन करना, निन्दा वगुणी करना, अतिथि के प्रति आदरभाव न होना, दुष्ट-दुर्जनों की संगति करना, परदोषदर्शन, कषाय की तीव्रता, लोभ की तीव्रता, सेवा भावना से शून्य वृत्ति इत्यादि

अशुभ कार्यों के करने से तथा तदनुकूल क्रूर और कठोर अन्तःकरण की वृत्ति होने से जिन कर्मों में नीम, कांजीर, विष और हलाहल के समान कटु फलदानशक्ति उपलब्ध होती है, उनकी पापकर्म संज्ञा है।^१

घाती और अघाती के भेद से कर्मों की विविध स्तर की फलदानशक्ति

इसके अतिरिक्त कर्मों की फलदानशक्ति घाती और अघाती के भेद से दो प्रकार की बताई गई है। घातीरूप फलदानशक्ति तीव्र-मन्द आदि स्तर की अपेक्षा से चार प्रकार की है—लता, दारू (लकड़ी), अस्थि (हड्डी) और शैल (पर्वत)। अनुभाग शक्ति की उत्तरोत्तर कठोरता सूचित करने हेतु लता आदि चारों की उपमा देकर फल के मन्द-तीव्र स्तर बताए गए हैं। इस प्रकार की फलदानशक्ति से युक्त सभी कर्म (घाती कर्म) पापरूप ही होते हैं। किन्तु अघातिरूप कर्मों की फलदानशक्ति पाप और पुण्य के भेद से दो प्रकार की होती है। वह भी प्रत्येक अनुभाग शक्ति की उत्तरोत्तर तीव्रता सूचित करने हेतु पूर्ववत् चार-चार प्रकार की होती है।^२

तात्पर्य यह है, संसारस्थ प्रत्येक जीव (आत्मा) में दो प्रकार के गुण होते हैं—अनुजीवी और प्रतिजीवी। जो गुण केवल जीव (आत्मा) में होते हैं, वे जीव के अनुजीवी गुण हैं और जो गुण जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में भी उपलब्ध होते हैं, वे उसके प्रतिजीवी गुण हैं। कर्मों का घाती और अघाती इन दो भेदों में वर्गीकृत करने का कारण मुख्यतया ये दो प्रकार के गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये जीव (आत्मा) के अनुजीवी गुण हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय; ये चार घातिकर्म इन गुणों को आवृत, कुण्ठित, हास युक्त और शक्तिहीन बना देते हैं। इसी कारण इनकी घाति संज्ञा है। इनके अतिरिक्त शेष कर्मों की अघातिसंज्ञा है।^३

पूर्वोक्त आठ कर्मों में से अमुक-अमुक कर्म से बाईस परीषहों में से अमुक-अमुक परीषह (धर्मपालन में दृढ़ रहने के लिए आने वाले कष्ट) भी आते हैं। इन परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने से कर्म-निर्जरा होती है। परन्तु परीषह सहन न करने के कारण तथा परीषहों के उपस्थित होने पर विषमभाव आने पर नये कर्म बन्ध जाते हैं, पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। इस दृष्टि से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बंध होने पर कौन-कौन से परीषह फलरूप में आते हैं? इसका संक्षेप में निरूपण तत्त्वार्थ सूत्र के नवौं अध्याय में किया गया है। वहाँ बताया गया है कि ज्ञानावरणरूप निमित्त कारण से प्रज्ञा

१. वही (प्रस्तावना) से पृ. २०

२. वही, (प्रस्तावना) से पृ. २०-२१

३. महाबंधो भा. २ (प्रस्तावना) से पृ. २१

परीषह और अज्ञान परीषह होते हैं। दर्शनमोहकर्म से अदर्शन और अन्तरायकर्म से अलाभ परीषह होते हैं। चारित्रमोह से नग्नत्व (अचेलकत्व), अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। शेष सभी परीषह वेदनीयकर्म से होते हैं।^१

कर्मवृक्ष से सम्बन्धित विशेष फल

यह तो हुई कर्मरूपी महावृक्ष के सामान्य फल की बात। कर्मवृक्ष के विशेष फल से सम्बन्धित कई तथ्य भी 'गौतमपृच्छा' तथा आगमों और ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गए हैं। गौतमपृच्छा में पुण्य और पापकर्म के विशेष फलों का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप से विस्तार-पूर्वक अंकित है।

सर्वज्ञ परम आप्त वीतराग तीर्थंकर भगवान् महावीर से गणधर गौतम स्वामी ने विनयपूर्वक कुछ प्रश्न पाप-पुण्यकर्म के सम्बन्ध में किये, जिनका उत्तर भगवान् महावीर ने कर्मविज्ञान की दृष्टि से दिया।

विभिन्न पापकर्मों का विशेष फल

प्रश्न १. प्रभो! किस पापकर्म के फलस्वरूप मनुष्य निर्धनता और दरिद्रता के दुःख का अनुभव करता है ?

उत्तर १. गौतम! जो व्यक्ति दूसरों के धन का हरण, चोरी, डकैती, लूट, ठगी और तस्करी आदि के रूप में करता है, तथा किसी दाता को दान देने से रोकता है, मना करता है; वह उक्त चौर्यरूप पापकर्म के उदय से निर्धनता और दरिद्रता का दुःख भोगता है। निष्कर्ष यह है कि दुर्भाग्य, दरिद्रता तथा गुलामी आदि चौर्यकर्म के फल हैं। चोरी, डकैती, तस्करी एवं लूटपाट करने वाले लाठी, धूँसे आदि खाते ही हैं, राज्य दण्डस्वरूप जेल भी भोगते हैं, परभव में भी नरक आदि की घोर यातनाएँ एवं वेदनाएँ भोगते हैं। व्यापार धन्धे में भी अनीति, अन्याय, ठगी आदि का आचरण, स्मगलिंग (तस्करी) द्वारा एक देश से दूसरे देश में माल ले जाना-लाना, चोरी के माल का क्रय-विक्रय, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु की मिलावट करना, नाप-तौल में कम देना, ज्यादा लेना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु दे देना, अत्यधिक मुनाफा लेना, जमाखोरी करना आदि सब चौर्यकर्म के प्रकार हैं।^२

१. देखें तत्त्वार्थ सूत्र अ. ९ के- ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१२॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारति स्त्री-निषद्याऽऽक्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्कारः ॥१५॥ वेदनीये शेषाः ॥१६॥

इन सूत्रों पर विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. २१७

२. (क) गौतम पृच्छा :- प्रश्नोत्तर १

(ख) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्मविपाक' लेख से भावांश ग्रहण पृ. ११९

वास्तव में लोभ समस्त पापों का मूल है और सभी चौर्यकर्म लोभवश ही होते हैं।

प्रश्न २. भगवन्! भोग-उपभोग की सभी सामग्री स्वाधीन होते हुए भी मनुष्य उन्हें आधि, व्याधि, उपाधि, उद्विग्नता, चिन्ता, शोक आदि के कारण भोग नहीं सकता, यह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर २. गौतम! जो मनुष्य दान, परोपकार, सेवा, सहायता आदि पुण्यकर्म करके फिर उसके लिये पश्चात्ताप करता है, अगले जन्म में धन तथा भोगोपभोग के साधन आहार वस्त्रादि तो मिलते हैं, पर वह पूर्वोक्त पापकर्म के फलस्वरूप उनका भोग-उपभोग नहीं कर पाता।

प्रश्न ३. भगवन्! किस पापकर्म के कारण स्त्री वन्ध्या हो जाती है ?

उत्तर ३. गौतम! गर्भ औषधियों आदि के द्वारा जो गर्भ गलाते हैं, या गिराते हैं या वृक्षों को काटते-कटवाते हैं तथा गर्भवती हिरणी आदि मादा जानवरों की शिकार करते हैं, मारते हैं और उनका मांस खाते हैं, वे इस पाप कर्म के उदय से निःसन्तान या वन्ध्या होकर दुःख पाते हैं। अथवा कंदमूल या कच्चे फल को खुश होकर तोड़ते-तुड़वाते हैं, तथा हंस-हंसकर उन्हें खाते हैं, वे गर्भ में ही मर जाते हैं, या अल्पायु होते हैं।

प्रश्न ४. भगवन्! किसी-किसी स्त्री के अधूरे गर्भ गिर जाते हैं अथवा बच्चे पैदा होते ही मर जाते हैं, ऐसा किस पापकर्म के उदय से होता है ?

उत्तर ४. गौतम! जो पापी स्त्री/पुरुष हंस-हंस कर अण्डों को खाते हैं, उनके बच्चा पैदा होते ही मर जाता है, अथवा वह स्त्री मृतवत्सा होती है। अथवा जो फलदार वृक्षों पर पत्थर फेंकते हैं, या उनके कच्चे फल तोड़ लेते हैं अथवा गर्भवती नारियों को मार-मार कर अथवा अन्य प्रकार से जो निर्दयी उन्हें सताते हैं, वे स्वयं गर्भ में ही तड़प-तड़प कर मर जाते हैं।

प्रश्न ५. भगवन्! व्यक्ति एक आँख से काना किस पापकर्म के उदय से होता है ?

उत्तर ५. जो अज्ञानी मानव परस्त्री की ओर कुदृष्टिपूर्वक देखता है, साधु-साध्वियों के दोष (अवगुण) देख-देखकर मन में हर्षित होता है, वह उक्त पापकर्म के उदय से एक आँख से काना होता है।

प्रश्न ६. भगवन्! मनुष्य किस पाप के कारण अन्धा होता है ?

उत्तर ६. गौतम! मधु-मक्खियों के छत्ते जलाने या तोड़ने, तुड़वाने व गिराने से मनुष्य अन्धा होता है।

प्रश्न ७. भगवन्! मनुष्य किस पापकर्म के उदय से गूंगा होता है ?

उत्तर ७. गौतम! जो मनुष्य अरिहन्त सिद्ध परमात्मा (देव), निर्ग्रन्थ गुरु की निन्दा करता है, उनकी अवज्ञा करता है, वह उक्त पापकर्म के फलस्वरूप गूंगा होता है।

प्रश्न ८. भगवन्! किस पापकर्म के उदय से मनुष्य बहरा होता है ?

उत्तर ८. गौतम! जो मनुष्य ऋषि-मुनियों की तथा महापुरुषों की निन्दा सुनकर मन ही मन प्रसन्न होता है, तथा लुक-छिपकर दूसरे की निन्दा सुनने में रत रहता है, जो मीठा-मीठा बोलकर दूसरे के हृदय का भेद पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा धर्मकथा होती हो, तब चालाकी से सो जाता है। ऐसा व्यक्ति उक्त पापकर्म के फलस्वरूप बहरा होता है।

प्रश्न ९. भगवन्! मनुष्य को कुष्ठ (कोढ़) रोग किस पापकर्म के कारण हो जाता है ?

उत्तर ९. गौतम! जो मनुष्य मोर, सांप, बिच्यू आदि जीवों को मारता है, तथा लोभवश जंगल में आग लगा देता है, वह मनुष्य मानव देह पाकर भी कोढ़ी हो जाता है, उसके रोम-रोम में कीड़े पड़ जाते हैं।

प्रश्न १०. भगवन्! गर्भ में तथा योनि के समीप अटककर जो जीव मर जाता है, वह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर १०. गौतम! दूसरों के अवगुणवाद बोलने तथा झूठ बोलने से जीव गर्भ में तथा योनि के निकट अटक कर मर जाता है। फिर उसके शरीर को शस्त्रादि से काट-काटकर बाहर निकाला जाता है।

प्रश्न ११. भगवन्! किसी-किसी मनुष्य के शरीर में अहर्निश जलन (दाह) होती रहती है ? ऐसा दाह ज्वर का रोग किस पापकर्म के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ११. जो मनुष्य अपने आश्रित घोड़े, बैल आदि पशुओं तथा तोते आदि पालतू पक्षियों को भूखे-प्यासे रखकर तड़पाता है तथा उनसे उनके बलबूते से अधिक काम लेता है, एवं उन पर निर्दयतापूर्वक अधिक बोझ लादता है; उक्त पापकर्म के फलस्वरूप वह मनुष्य दाहज्वर से पीड़ित रहता है।

प्रश्न १२. भगवन्! किसी-किसी मनुष्य के पेट में पथरी हो जाती है, वह किस पापकर्म के कारण होती है ?

उत्तर १२. गौतम! जो अपनी माँ, बहन, मौसी आदि के साथ गुप्त रूप से व्यभिचार करता है, उसके इस पापकर्म के फलस्वरूप पेट में पथरी हो जाती है, जिससे वह जिंदगी भर दुःख पाता है।

१. (क) लघु गौतम पृच्छा (भाषान्तर)

(ख) श्री गौतम पृच्छा (पद्यानुवाद) से पृ. २, ३ तथा ५, ६, ७

(ग) कर्मविपाक लेख (जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित) से पृ. ११९-१२०

प्रश्न १३. भगवन्! कोई-कोई मनुष्य रात-दिन किसी न किसी व्याधि से घिरा रहता है, वह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर १३. गौतम! जो मनुष्य बड़, पीपल के फलों एवं गुल्लरों को आसक्ति पूर्वक खाता है, तथा चूहे आदि जानवरों के पकड़ने के पींजरों तथा पक्षियों आदि को फंसाने के फंदों को बेचता है; वह मनुष्य उस पाप के फलस्वरूप आजीवन किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता है।

प्रश्न १४. भगवन्! किसी मनुष्य का शरीर इतना स्थूल और बेडील हो जाता है कि वह अपने हाथ से अपना शारीरिक कार्य भी नहीं कर पाता, ऐसा किस पापकर्म के उदय से होता है ?

उत्तर १४. गौतम! जो अपने मालिक के यहाँ चोरी करता है तथा स्वयं साहूकार बन कर दूसरों का माल हड़प जाता है, वह उस पाप कर्म के फलस्वरूप स्थूल और बेडील शरीर पाता है।

प्रश्न १५. भगवन्! किसी-किसी मनुष्य का चित्त भ्रान्त (विक्षिप्त) हो जाता है, वह पागल हो जाता है, ऐसा किस पापकर्म के उदय से होता है ?

उत्तर १५. गौतम! जाति आदि का मद (अहंकार) करने से तथा मर्दपान, मांसाहार, जीव-वध करने तथा बिना देखे-भाले लापरवाही से कदम बढ़ाने से एवं गुप्त रीति से अनाचार सेवन के पाप से मनुष्य का चित्त भ्रान्त एवं विक्षिप्त हो जाता है।

प्रश्न १६. भगवन्! किसी के स्त्री, पुरुष, पुत्र, पुत्री और शिष्य-शिष्या आदि किस पापकर्म के फलस्वरूप कुपात्र होते हैं, या मिलते हैं ?

उत्तर १६. गौतम! जो ईर्ष्यावश अकारण ही सगे-सम्बन्धियों तथा स्नेहीजनों में परस्पर वैर-विरोध, मनोमालिन्य या रंजिश खड़ा करवा देते हैं, या बढ़ा देते हैं, वे कुपात्र होते हैं, अथवा उन पापकर्मियों को कुपात्र जन मिलते हैं।

प्रश्न १७. भगवन्! किसी का बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा हुआ पुत्र युवावस्था में ही मर जाता है, वह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर १७. गौतम! जो दूसरों की रखी हुई अमानत (घरोहर) को हड़प जाते हैं, उस पापकर्म का पश्चात्ताप भी नहीं करते, उलटे उन दुःखियों को धमकाते हैं; ऐसे लोगों के पापकर्मवश जवान पुत्र अकाल में ही मर जाता है।

प्रश्न १८. भगवन्! किस पापकर्म के उदय से नारी बचपन में ही विधवा हो जाती है ?

१. (क) लघु गौतम पृच्छा (भाषान्तर)
- (ख) गौतम पृच्छा (पद्यानुवाद) से

उत्तर १८. गीतम! जो स्त्री ऊपर से तो सती (पतिव्रता) कहलाती है, परन्तु भीतर ही भीतर पति के साथ कपट करके परपुरुष के साथ रमण करती है। पति का अपमान करने में चूकती नहीं है; वह स्त्री उक्त पाप के फलस्वरूप बालविधवा हो जाती है।

प्रश्न १९. भगवन्! कोई स्त्री वेश्या किस पापकर्म के उदय से होती है ?

उत्तर १९. गीतम! उत्तम कुल की जो विधवा नारी सास-ससुर आदि की लज्जावश अनिच्छा से शील पालन करती है, मगर उसके मन में विषयभोग-सेवन करने की तीव्र अभिलाषा होती है; ऐसी स्त्री उक्त गुप्त मानसिक पाप के कारण मर कर आगामी जन्म में वेश्या होती है।

प्रश्न २०. भगवन्! किसी पुरुष की स्त्रियाँ बार-बार थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर मर जाती हैं, किस पापकर्म के उदय से ऐसा होता है ?

उत्तर २०. गीतम! जो मनुष्य गुरुदेव से लिये हुए त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम को भंग कर देता है, तथा चरती हुई गायों और भैंसों को निर्दयतापूर्वक जोर से पीटता है, उस मनुष्य की स्त्रियाँ उक्त पापकर्म के फलस्वरूप बार-बार थोड़े-थोड़े समय के बाद मर जाया करती हैं।

प्रश्न २१. भगवन्! किसी व्यक्ति के शरीर में कीड़े किस पापकर्म के कारण पड़ जाते हैं ?

उत्तर २१. गीतम! जो मनुष्य मछली, कैंकड़े आदि मूक जीवों को बेरहमी से तड़पा-तड़पाकर मारते हैं और खुश होकर खाते हैं, या खूब खाये हों, ऐसे व्यक्ति के शरीर में उक्त पापकर्म के फलस्वरूप कीड़े पड़ जाते हैं।

प्रश्न २२. भगवन्! किस दुष्कर्म के कारण कई-कई विवाह करने पर भी इन्सान को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती और वह पुत्रहीन होकर ही मर जाता है ?

उत्तर २२. गीतम! जो व्यक्ति रास्ते में खड़े हरे-भरे वृक्षों को कटवता है, उसे उस दुष्कर्म का फल आगामी जन्म में निष्पुत्र होने के रूप में मिलता है।

प्रश्न २३. भगवन्! किस घोर पापकर्म के उदय में मनुष्य के शरीर में एकाएक सोलह भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे वह तथा उसके परिजन भी दुःखी होते हैं ?

उत्तर २३. गीतम! जो दुष्ट मनुष्य दुर्भावना से प्रेरित होकर ग्राम नगर/नगरी में जाग लगाकर उसे भस्म कर डालता है, ऐसा पापी मानव उक्त पापकर्म के फलस्वरूप सोलह भयंकर रोगों से आक्रान्त होता है।

प्रश्न २४. भगवन्! मनुष्य को किस कारण से अत्यन्त दुबला-पतला और अशक्त शरीर मिलता है, जिसे देखकर वह अहर्निश झुरता रहता है, कोई भी महत्त्वपूर्ण, शक्तिशाली कार्य नहीं कर पाता ?

उत्तर २४. गीतम! जो मनुष्य सदैव अपनी शक्ति के अभिमान में चूर रहता है, जो जाति आदि का मद करके दूसरों पर अत्याचार करता है, उन्हें तिरस्कृत करता है, वह उस पापकर्म के फलस्वरूप अशक्त और दुर्बल शरीर पाता है, उसे शक्ति नहीं मिलती।

प्रश्न २५. भगवन्! किन दुष्कर्मों के कारण मनुष्य जन्म से या बाद में नपुंसक, नामर्द और कायर बनता है ?

उत्तर २५. गीतम! जो लोग निर्दयतापूर्वक बैलों को खस्सी करने-करवाने का धंधा करता है अथवा जो बैल, घोड़े आदि के अण्डकोषों का शस्त्र, पत्थर आदि से छेदन-भेदन करता है तथा स्वार्थान्ध-होकर मर्दों को औषधि आदि से नामर्द बनाता है, कपट करने में चूर रहता है; वह उस पापकर्म के फलस्वरूप नामर्द, हिजड़ा, नपुंसक और कायर बनता है।

प्रश्न २६. भगवन्! किसी नर या नारी के सिर पर झूठा कलंक या मिथ्या दोषारोपण किस पापकर्म के कारण आता है ?

उत्तर २६. गीतम! जो दूसरे के सिर पर ईर्ष्या-द्वेषवश झूठा कलंक लगाता है, मिथ्या दोषारोपण करता है, भविष्य में उसके सिर पर वैसा ही झूठा कलंक लग जाता है।

प्रश्न २७. भगवन्! किसी नर या नारी के शरीर में जलोदर का भयंकर उदर रोग किस पाप के कारण होता है ?

उत्तर २७. गीतम! जो पुरुष या स्त्री पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ मुनिवरों को द्वेष या ईर्ष्या से प्रेरित होकर नीरस, बासी, सड़ा हुआ या असाताकारी आहारादि देते हैं, उनके इस पापकर्म के उदय से जलोदर अथवा भयंकर उदर रोग उत्पन्न होता है।

प्रश्न २८. भगवन्! मनुष्य काला, कलूट, अदर्शनीय, अशोभनीय एवं विवर्ण किस पाप के कारण होता है ?

उत्तर २८. गीतम! जो मनुष्य कोतवाल या आरक्षक आदि किसी सत्ता या पद को पाकर निर्दोष लोगों पर झूठे (राज्यापराध के) इलजाम लगाकर उनके मार्मिक अंगों तथा हाथ, पैर, कान, नाक आदि अवयवों का छेदने-भेदन करता है, अथवा जो अपने सुन्दर रूप का अभिमान करता है; वह उस पापकर्म के फलस्वरूप भविष्य में काला, कुरूप और अशोभनीय होता है।

१. (क) लघु गीतम पृच्छा (भाषान्तर)

(ख) गीतम पृच्छा (पद्यानुवाद) से

प्रश्न २९. भगवन्! मनुष्य को फांसी की सजा किस पापकर्म के कारण मिलती है?

उत्तर २९. गीतम! जिसने पूर्वभव में अनेक जलचर जीवों का वध किया हो, उसे उक्त पाप कर्म के उदय से फांसी की सजा मिलती है।

प्रश्न ३०. भगवन्! कोई व्यक्ति अपने माता-पिता आदि को तथा अन्य संसारी जीवों को प्रिय नहीं लगते, यह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर ३०. गीतम! जिस व्यक्ति ने पूर्वजन्म में विकलेन्द्रिय (दो, तीन या चार इन्द्रियों वाले) जीवों का जान-बूझकर वध किया हो, वह व्यक्ति इस जन्म में सबको अप्रिय लगता है।

प्रश्न ३१. भगवन्! तरुण अवस्था में पत्नी-वियोग किस पाप के कारण होता है ?

उत्तर ३१. गीतम! जिस पुरुष ने बलात्कारपूर्वक कामभोग-सेवन किया हो वह जवानी में पत्नी-वियोगरूप पाप फल प्राप्त करता है।

प्रश्न ३२. भगवन्! तरुण अवस्था में स्त्री को पति का वियोग किस पापकर्म के कारण होता है ?

उत्तर ३२. गीतम! जो स्त्री अपने पति के साथ संयोग के लिए मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि मंत्रों या औषधियों का प्रयोग करती है, उसे इस अनिष्ट कर्मवश तरुणार्थ में पतिवियोग प्राप्त होता है।

प्रश्न ३३. भगवन्! पूर्वकृत किस पापकर्म के उदय से मनुष्य पराधीन, गुलाम एवं दास होकर रहते हैं ?

उत्तर ३३. गीतम! जो करोड़पति, राजा, योद्धा, शस्त्रधारी एवं महाबली न होते हुए अपने आप को करोड़पति, राजा, योद्धा एवं महाबली बताता है, महाबली आदि होने का अहंकार करता है, वह मनुष्य उक्त पापकर्म के फलस्वरूप पराधीन, गुलाम एवं दास होकर रहता है।

प्रश्न ३४. भगवन्! किस पापकर्म के उदय से बचपन में ही माता-पिता मर जाते हैं ?

उत्तर ३४. गीतम! जो व्यक्ति पशु-पक्षियों के बच्चों के माँ-बाप को निर्दय होकर मार डालते हैं, वे अगले जन्म में माता-पिता का जरा भी सुख नहीं पाते। ऐसे बालक माता-पिता के वियोग में रो-रोकर दुःखी होते हैं।

१. (क) लघु गीतम पृच्छा (भाषान्तर) से

(ख) गीतम पृच्छा (पद्यानुवाद) से

प्रश्न ३५. प्रभो! किसी-किसी के द्वारा मीठी वाणी बोलने पर भी वह कदु और अप्रिय मालूम होती है, नहीं सुहाती है, यह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर ३५. गीतम! जिसने स्वादलोलुप होकर पूर्वभव में पंचेन्द्रिय आदि जीवों का भक्षण किया हो, उसकी मिष्ट भाषा भी पूर्वोक्त पापकर्मोदय से अप्रिय लगती है।

प्रश्न ३६. प्रभो! जीव को अधिकाधिक रोग किस पापकर्म के कारण उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर ३६. गीतम! जिन जीवों ने पूर्वजन्म में अनन्तकायिक कन्द अत्यधिक आसक्ति पूर्वक खुश होकर खाये हैं, वह अगले जन्म में अधिकाधिक रोगों से ग्रस्त रहता है।

प्रश्न ३७. भगवन्! मनुष्य को अत्यधिक निद्रा किस पापकर्म के कारण आती है ?

उत्तर ३७. गीतम! जिसने पूर्वभव में मदिरापान किया है, उसे आगामी जन्म में अधिक नींद आती है, वह आलस्य, सुस्ती और प्रमाद से घिरा रहता है।

प्रश्न ३८. भगवन्! कण्ठमाला का रोग किस पापकर्म के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ३८. गीतम! जिसने पूर्वभव में जाल में मछलियों को पकड़कर उन्हें मारा है, मछलियों का शिकार किया है, अथवा जलचरों को पकड़कर उनका गला काटा है, वह उक्त पाप के कारण कण्ठमाला रोग से ग्रस्त होता है।

प्रश्न ३९. भगवन्! किसी-किसी के शरीर में प्रत्यक्ष कोई रोग नहीं दिखाई देता, फिर भी वह अनेक मानसिक रोगों, चिन्ताओं, संकटों और बहमों से घिरा रहकर दुःखित होता रहता है, यह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर ३९. जो मनुष्य रिश्वत (धूस) खाकर सच्चे को झूठा सिद्ध कर देता है, वह इस पाप के फलस्वरूप अनेक संकटों, बहमों, आधि-व्याधियों से ग्रस्त होकर दुःखी रहता है।

प्रश्न ४०. प्रभो! किसी के शरीर में नेहरूबाला रोग किस पाप के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ४०. गीतम! जो व्यक्ति बिना छना पानी पीते हैं, उन्हें उस पाप के फलस्वरूप यह रोग होता है।

प्रश्न ४१. भगवन्! मनुष्य आँखों से चूँधा (मंजर) किस पाप के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ४१. गीतम! जिसने पूर्वजन्म में सबको समदृष्टि से न देखकर पक्षपात किया हो, वे आँखों से मंजर होते हैं।

प्रश्न ४२. भगवन्! मनुष्य बीना (ठिगना) किस पाप के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ४२. गौतम! जिस मनुष्य ने पूर्वजन्म में अपने शरीर का अभिमान किया हो, वह मनुष्य अगले जन्म में उस पाप के फलस्वरूप बीना होता है।

प्रश्न ४३. भगवन्! जीव को नासूर रोग किस पाप के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ४३. गौतम! जिसने पूर्वजन्म में कसाई का धंधा करके पापकर्म कमाये हैं, उसके फलस्वरूप उसे आगामी जन्म में नासूर रोग उत्पन्न होता है।

प्रश्न ४४. भगवन्! मनुष्य पंगु (लूला) किस पापकर्म के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ४४. गौतम! जिसने पूर्वभव में अपने पैरों से अनेक प्राणी कुचलकर मारे हैं, वह उक्त पाप के कारण अगले जन्म में पंगु होता है।

प्रश्न ४५. भगवन्! किसी मनुष्य के शरीर में बार-बार फोड़े-फुंसी आदि होते हैं, वे किस पापकर्म के उदय से होते हैं ?

उत्तर ४५. गौतम! कच्चे फलों में जीव जन्तु (बिना देखे-भाले ही) मसाले भर-भरकर भड़ोते किये हो, तथा उन्हें तल-भूँजकर हंस-हंसकर खाये हों, उस व्यक्ति के शरीर में बार-बार फोड़े-फुंसी होते रहते हैं।

प्रश्न ४६. भगवन्! स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) में परस्पर वैमनस्य एवं वैर-विरोध किस पाप के कारण होता है ?

उत्तर ४६. गौतम! जिसने पूर्वभव में पति-पत्नी का या स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेमभाव तुड़वाया हो, दोनों में झगड़ा तथा वैर-विरोध पैदा कराया हो, तो उस पाप के फलस्वरूप अगले जन्म में वैर-विरोध रहता है।

प्रश्न ४७. भगवन्! कई-कई मनुष्यों को किसी भी प्रकार से आजीविका आदि की प्राप्ति नहीं होती, कोई न कोई विघ्न आकर खड़ा हो जाता है, यह किस पापकर्म का फल है ?

उत्तर ४७. गौतम! जिसने अन्य जीवों को प्राप्त होने वाली भोगोपभोग की सामग्री देने-दिलाने में रोड़े अटकए हों, तथा किसी के रोजी, कारखाने या व्यापार आदि में भी बाधा खड़ी की हो, उस मनुष्य को उक्त पापकर्म के फलस्वरूप प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति या कार्य में पद-पद पर विघ्न-बाधाएँ आ खड़ी होती हैं।

प्रश्न ४८. भगवन्! मनुष्य मरकर नरक में तथा नारकीय दुःखों से पीड़ित स्थान में किन पापों के कारण पैदा होता है ?

१. (क) वही (भाषान्तर)
- (ख) वही (पद्यानुवाद)

उत्तर ४८. गौतम! जुआ खेलने से, मांसाहार, मद्यपान, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन करने, शिकार (निर्दोष पशुओं का वध) एवं चोरी करने से धोर तामसाच्छत्र नाह उत्यन्न होकर वहाँ के भयंकर दुःख भोगता है।

प्रश्न ४९. भगवन्! किसी-किसी मनुष्य के द्वारा सत्य कहे जाने पर भी वह उसके वचनों पर विश्वास नहीं करता, न ही कोई उसके वचनों को सत्य समझता है। किस पापकर्म का फल है?

उत्तर ४९. गौतम! जिस मनुष्य ने झूठी साक्षी दी हो, उस पाप के फलस्वरूप नही उसके वचनों पर कोई विश्वास करता है, और न ही उसके वचनों को कोई सत्य समझता है।

प्रश्न ५०. भगवन्! दुःखमय दीर्घजीवन (लम्बा आयुष्य) किस दुर्भाग्यपूर्ण पापकर्म के फलस्वरूप मिलता है?

उत्तर ५०. गौतम! चलते-फिरते त्रस जीवों की हिंसा करने से, मिथ्या (असत्य) भाषण करने से और साधु-साध्वियों को (द्वेषवश) असाताकारी आहार-पानी देने से मनुष्य को दुःखमय दीर्घजीवन मिलता है।

प्रश्न ५१. प्रभो! हीन कुल में जन्म किस पापकर्म के फलस्वरूप होता है?

उत्तर ५१ गौतम! पूर्वजन्म में कुल का मद (अहंकार) करने से हीन कुल में मनुष्य का जन्म होता है।

प्रश्न ५२. भगवन्! नीच जाति में जन्म किस पाप के फलस्वरूप होता है?

उत्तर ५२. गौतम! पूर्वजन्म में जाति मद (जाति का अहंकार) करने से नीच जाति में जन्म होता है, जहाँ प्रायः उत्तम संस्कार, उत्तम शिक्षा-दीक्षा, धर्म-संस्कार आ नहीं मिलते।

प्रश्न ५३. भगवन्! किसी मनुष्य को बहुत परिश्रम करने पर भी एक पैसे का आय नहीं होती, इसके पीछे कौन-सा पापकर्म कारण है?

उत्तर ५३. गौतम! धन की प्रचुर आय (आमदनी) देखकर जिसने पूर्वजन्म में घमंड किया हो, उसे इस जन्म में मेहनत करने पर भी विशेष अर्थ की प्राप्ति नहीं होती

प्रश्न ५४. भगवन्! किसी-किसी मनुष्य को उपवासादि तप, त्याग-प्रत्याख्या करने में बहुत ही कष्ट होता है जिससे वह व्रत, उपवास आदि तप, त्याग बिलकुल न कर सकता, यह किस पापकर्म का फल है?

१. (क) वही (भाषान्तर)

(ख) वही (हिन्दी पद्यानुवाद)

उत्तर ५४. गौतम! मेरे बराबर तपस्या कौन कर सकता है? मेरे लिये तो तपस्या करना बाये हाथ का खेल है। मेरे लिये सात-आठ दिन की तपस्या तो उपवास की तरह है, इत्यादि रूप से तप का मद (अहंकार) करने से उक्त पापकर्म के फलस्वरूप उस व्यक्ति की तपःशक्ति कुण्ठित एवं अवरुद्ध हो जाती है।

प्रश्न ५५. भगवन्! कई व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करते हैं, शास्त्रों, सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभ्यास करते हैं, फिर भी उन्हें (श्रुत) ज्ञान प्राप्त नहीं होता, यह किस पापकर्म का फल है?

उत्तर ५५. गौतम! जिसने पूर्वजन्म में बहुत-सा ज्ञान अर्जित करने के पश्चात् उसका अहंकाररूप पापकर्म किया हो, उसको प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता, विसृष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि नपुंसकता, दुर्भाग्य, पशु-पक्षी-योनि की प्राप्ति इत्यादि अब्रह्मचर्य (कुशील) रूप पापकर्म के फल हैं तथैव असन्तोष, अविश्वास एवं महारम्भ आदि मूर्खारूप परिग्रह के कुफल हैं। पंगु, कोढ़ी, लूला, लंगड़ा, टूटा आदि अपंग अवस्था निरपराध त्रस जीवों की जान-बूझकर हिंसा करने का कुफल हैं। ये सब विविध पापकर्मों के विशेष फल बताए गए हैं।

विविध पुण्यकर्मों के विशेष फल

अब विविध पुण्यकर्मों के विशेष फल की ओर देखिये। गौतम पृच्छा में कुछ प्रश्नोत्तर इस सम्बन्ध में भी अंकित हैं—

प्रश्न १. भगवन्! किस शुभकर्म के उदय से मनुष्य को मनचाही भोगोपभोग सामग्री अनायास ही मिलती है और वह निश्चिंत, निर्द्वन्द्व होकर सुखानुभव करता है?

उत्तर १. गौतम! प्राणि मात्र पर दयाभाव रखने-रखाने से तथा निःस्वार्थभाव से परोपकार के कार्य करने से मनुष्य के मनोवाञ्छित सुख-शान्ति के मनोरथ सफल होते हैं।

प्रश्न २. भगवन्! किस पुण्यकर्म के फलस्वरूप मनुष्य को निर्मल तन-मन एवं बुद्धि तथा सुन्दर रूप, लावण्य और चतुरता आदि की प्राप्ति होती है, वह अपने कुल में प्रीतिष्ठा और शोभा पाता है, सर्वत्र लोग उसका आदर करते हैं?

उत्तर २. गौतम! जिसने जिनाज्ञापूर्वक विधि सहित नवबाड़ युक्त ब्रह्मचर्य का तन-मन-वचन से पालन किया है, बाह्य आभ्यन्तर तपस्या की हो, वह निर्मल, निरामय तन, मन आदि पाकर सुख-शान्ति का अनुभव करता है।

प्रश्न ३. भगवन्! किस पुण्यकर्म के प्रभाव से मनुष्य धन सम्पन्न होकर सुख-शान्ति का अनुभव करता है?

उत्तर ३. गौतम! जो सुपात्र (उत्कृष्ट पात्र साधु-साध्वी), पात्र (सम्यग्दर्शन श्रावक) और अनुकम्पापात्र (अल्पपात्र) को निर्दोष साताकारी आहार-पानी श्रद्धापूर्वक देता है, अनाथों, दीनों, अपाहिजों तथा दुःखियों एवं अनाश्रितों को भी समय-समय पर यथोचित दान देकर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करता है, वह भविष्य में नीति-न्यायपूर्ण आजीविका से धन सम्पन्न होकर सुख-शान्ति का अनुभव करता है।^१

प्रश्न ४. भगवन्! स्वर्ग और परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति किस उपाय से होती है ?

उत्तर ४. गौतम! जो मनुष्य सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रशस्तरागसहित तप-संयम की आराधना करता है, वह देवलोक प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो वीतरागतापूर्वक तप-संयम की आराधना करता है, वह समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

प्रश्न ५. भगवन्! सुखमय दीर्घजीवन किस पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होता है ?

उत्तर ५. गौतम! त्रस जीवों की रक्षा करने, सत्य बोलने से, साधु-साध्वियों को निर्दोष साताकारी आहार-पानी देने से मनुष्य को सुख-शान्तिमय दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

प्रश्न ६. भगवन्! कई लोगों के मन में भय नाम की कोई वस्तु नहीं होती। प्रभो! ऐसा किस पुण्यकर्म के फलस्वरूप होता है ?

उत्तर ६. गौतम! जिसने भयभीत जीवों को सान्त्वना, आश्वासन एवं आश्रय देकर निर्भय किया है, उन्हें अभयदान दिया है, वह मनुष्य उक्त पुण्यकर्म के फलस्वरूप निर्भयता की प्रतिभूर्ति हो जाता है।

प्रश्न ७. भगवन्! किस पुण्यकर्म के फलस्वरूप मनुष्य बलवान् होता है ?

उत्तर ७. गौतम! जिसने तपस्वी, रोगी, वृद्ध, अपंग आदि की जी-जान से सेवा (वैयावृत्य) की हो, वह मनुष्य उस पुण्य के फलस्वरूप बलवान् होता है।

प्रश्न ८. भगवन्! किस पुण्यकर्म के फलस्वरूप किसी के वचनों में माधुर्य होता है, सभी उसके वचनों को सुनकर प्रसन्न होते हैं ?

उत्तर ८. गौतम! अपने समग्र जीवन में जिसने सत्य भाषण ही किया हो, उस पुण्य के कारण उसका वचन सबको प्रिय एवं आनन्ददायक लगता है।

प्रश्न ९. भगवन्! कोई मनुष्य सबको वल्लभ लगता है, वह किस पुण्यकर्म का फल है ?

१. (क) वही (भाषांतर)
(ख) वही पद्यानुवाद)

उत्तर ९. जिसने श्रद्धाभक्तिपूर्वक अत्यन्त धर्मारोचना की हो, गीतम! वह मनुष्य उस पुण्य के फलस्वरूप सभी को बल्लभ लगता है।

प्रश्न १०. भगवन्! मनुष्य किस पुण्यकर्म के कारण सुर, असुर, देव, दानव, इन्द्र और नरेन्द्र आदि द्वारा पूजनीय हो जाता है।

उत्तर १०. गीतम! जिसने मन-वचन-काया से शुद्ध भावनापूर्वक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, वह मनुष्य इन्द्र-नरेन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय हो जाता है।

प्रश्न ११. भगवन्! मनुष्य को अनायास ही सुख-शान्तिदायिनी लक्ष्मी की प्राप्ति किस पुण्य से होती है ?

उत्तर ११. गीतम! जिसने गुप्तदान दिया हो, उसे अनायास ही सुखशान्तिदायिनी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

प्रश्न १२. भगवन्! मनुष्य सर्वमान्य किस पुण्य के कारण होता है ?

उत्तर १२. गीतम! परहित के कार्य करने से मनुष्य सर्वमान्य-सर्वप्रिय हो जाता है।

प्रश्न १३. भगवन्! मनुष्य का जन्म किस पुण्यकर्म से प्राप्त होता है ?

उत्तर १३. गीतम! जो जीव प्रकृति से भद्रिक हो, प्रकृति से विनीत हो, दयाभाव से युक्त हो तथा मात्सर्यभाव से रहित हो, उसे उक्त पुण्य के फलस्वरूप मनुष्यजन्म प्राप्त होता है।

ये ही कुछ पृच्छा सूत्र हैं, जो जीव के द्वारा पुण्य-पाप कर्म के विशेष फल की प्राप्ति के सूचक हैं। कर्मरूपी महावृक्ष के अनन्त सामान्य-विशेष फलों की यहाँ झाँकी दी गई है; जो समस्त मानव जाति को यथार्थ बोध देने के लिए पर्याप्त है।

१. (क) लघु गीतम पृच्छा (भाषान्तर)
- (ख) गीतम पृच्छा (हिन्दी पद्यानुवाद) से

विविध कर्मफल: विभिन्न नियमों से बंधे हुए

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिके नियमानुसार वनस्पतिजगत् में फलों की विविधता

वनस्पतिजगत् में हम देखते हैं, कि विभिन्न प्रकार के अनाज, पेड़, पौधे, तत्ता आदि अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव), अपने-अपने क्षेत्र, अपने-अपने काल (समय) और अपने-अपने प्रकार (द्रव्य) के नियमानुसार फलित होते हैं। वनस्पतिजगत् के किसी भी अंग (वृक्ष, पौधे, अन्न आदि) का द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव (स्वभाव) के विभिन्न नियमों के अनुसार परिपाक (परिपक्व) होने पर उनमें विचित्र प्रकार के फल लगते हैं या फसल होती है। उनमें से कई फल तो परिपक्व होने पर खट्टे, मीठे, फीके, कड़वे, चरपों आदि होते हैं, कई सरस होते हैं, कई नीरस, कई पुष्टिकारक और कई हानिकारक, कई अच्छे और कई खराब होते हैं। कई फल या फसल देर से, कई शीघ्र, कई वसन्तऋतु में, कई ग्रीष्म, वर्षा, या शरद् ऋतु में पकते हैं।

ये फल भी पेड़, पौधों या बेलों की पृथक्-पृथक् जाति और प्रकृति के अनुसार, तथा शीतप्रधान, उष्णताप्रधान अथवा समशीतोष्ण क्षेत्र के अनुसार, एवं पथरीली, रेतीली, ऊपर अथवा चिकनी मिट्टी वाली भूमि के अनुसार विभिन्न किस्म के होते हैं। एक ही जाति के वृक्षों के भी विभिन्न स्वभाव (प्रकृति), प्रकार, विभिन्न क्षेत्र एवं विभिन्न काल में तथा वृक्षारोपण या बीजारोपण करने वाले के कौशल, भाव, संरक्षण एवं संवर्धन के अनुसार विचित्र किस्म के फल आते हैं।

वनस्पतिजगत् में ऐसी विभिन्नता और विचित्रता क्यों दृष्टिगोचर होती है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्धित अमुक-अमुक नियम होते हैं। यह नियमबद्धता ही उनकी विभिन्नता, विविधता और विचित्रता के कारण है।

कर्मजगत् में भी द्रव्य-क्षेत्रादिके नियमानुसार कर्मफल की विभिन्नता

ठीक यही बात आध्यात्मिक जगत् में विविध कर्मरूपी वृक्ष के विभिन्न फलों के विषय में समझ लेनी चाहिए। ये कर्म भी अपनी आठ प्रकार की मूल प्रकृति के तथा

विभिन्न उत्तर (अंगोपांग) प्रकृतियों के रूप में होते हैं। इनमें से कई कर्म सुखद और कई दुःखद फल देते हैं। कई कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को, कई दर्शनगुण को आवृत कर देते हैं, कई कर्म आत्मा के चारित्र और तप रूप गुण को कुण्ठित और विकृत कर देते हैं। कई कर्म किसी क्षेत्र से प्रभावित होकर अपना फल देते हैं, कई काल के नियमानुसार तथा कई कर्म कर्ता के तीव्र-मन्द रागादि भावों के अनुसार फल प्रदान करते हैं।

कर्म-फल की यह पृथक्ता, विविधता एवं विचित्रता राग-द्वेषादि या क्रोधादि कषायों के तीव्र-मन्द भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों के अनुसार, तथा विभिन्न प्रकार की बन्ध-स्थिति (कालसीमा) के अनुसार तथा विभिन्न प्रकार की प्रकृति के नियमों को लेकर है। वनस्पतिजगत् में जैसे फलित होने के विभिन्न नियम हैं, वैसे ही कर्मजगत् में भी फलित होने के पृथक्-पृथक् नियम हैं।

जैनकर्म-विज्ञानमर्मज्ञों ने कर्मफल के इन विभिन्न नियमों का प्रतिपादन विभिन्न आगमों और ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। कर्मफल के इन विविध नियमों का परिज्ञान होना आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मार्थी साधक के लिए अतीव आवश्यक है।

विभिन्न नियमों के आधार पर विविध कर्मों के विचित्र फलों का निरूपण

जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्मकर्ता के तीव्र-मन्द रागादि परिणाम (भाव), कर्म करने के क्षेत्र, कर्मों की प्रकृति तथा कर्मों के परिपक्व होने के काल (स्थिति) एवं कर्मों के परिमाण (मात्रा या संख्या) के नियमों के अनुसार विभिन्न किस्म के कर्मों के पृथक्-पृथक् विचित्र फल निर्धारित किये हैं।

उन जैन कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्म के फल के विषय में मनोविज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान, योगविज्ञान आदि समस्त विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य में गहराई से चिन्तन-मनन करके कुछ नियमसूत्र प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि भारतीय धर्मों और दर्शनों ने कर्म और कर्मफल तक अपना-अपना चिन्तन प्रकट किया है। परन्तु जितना गहराई से, प्रत्येक पहलू से, विभिन्न दृष्टिकोणों से जैन कर्म-विज्ञान ने मन्तव्य प्रकट किया है, उतना अन्य दर्शनों और धर्मों की परम्परा में नहीं मिलता। यह तथ्य हमने पिछले पृष्ठों में स्पष्टतापूर्वक युक्ति, सूक्ति और अनुभूति के आधार पर प्रकट किया है।

कर्मफल का नियन्ता ईश्वर नहीं, स्वयं कर्मफल नियम

अन्य धर्म और दर्शन को मानने वाले लोग जहाँ ईश्वर को कर्मफल का नियन्ता मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं, ईश्वर के हाथों में कर्मफल सौंप देते हैं, वहाँ जैनदर्शन कर्मफल नियम के हाथों में सौंपता है। ईश्वर को कर्मफल का नियन्ता मानने वाला तो यह कहकर सुट्टी पा लेता है कि परमात्मा की ऐसी इच्छा थी, अतः ऐसा हो गया। किन्तु

कर्मवादी यह कहकर छुट्टी नहीं पा सकता कि कर्म का ऐसा ही विधान था, अथवा कर्म की ऐसी ही मर्जी थी।

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्मफल के साथ-साथ कर्मबन्ध के नियमों की गहराई से खोज की। यदि हम उन नियमों की दृष्टि से कर्मफल की छानबीन करते हैं, तो मन में एक प्रकार का सन्तोष, आश्वासन और फल को समभाव से भोगने का बल मिलता है।

इस विचित्र संसार में हर प्राणी के कर्म के तथा पदार्थ के, अणु-परमाणु के, शरीर और इन्द्रियों के, मन और वचन के अपने-अपने नियम हैं। वे सभी नियमानुसार अपना काम करते हैं।

कर्मफल विषयक ये सब नियम स्वयंकृत (ओटोमैटिक) हैं, प्राकृतिक हैं और सार्वभौम हैं। अतः इसके नियमन में बाहर से कृत या आरोपित व्यवस्था या नियन्त्रा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जैन कर्मविज्ञान-वेत्ता सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग महापुरुषों ने अपनी अनुभूति के आधार पर कर्मफल के नियमों की प्ररूपणा की। उन नियमों का जानना प्रत्येक आस्तिक-व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।^१

कर्मफल के नियमों को न जानने से हानि

कर्मफल के नियमों को न जानने के कारण कई बार व्यक्ति स्वयं उलझन में पड़ जाता है, अथवा कर्म के प्रति अश्रद्धा प्रकट कर बैठता है, कर्मों को आंशिकरूप से क्षय करने तथा उनसे सर्वथा मुक्त होने, नये कर्मों के प्रवेश (आस्रव) को रोकने पर उसका विश्वास उठ जाता है। कर्मविज्ञान पर अविश्वास के साथ-साथ वह बेखटके अशुभ कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, घातिकर्ममुक्त वीतराग जीवन्मुक्त परमात्मा के प्रति तथा घाति-अघाति-अष्टकर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा के प्रति भी अश्रद्धा प्रकट करता रहता है। अपनी आत्मा को कर्मफल भोग कर शुद्ध करने की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। कोई संकट आने, अक्समात् बीमारी आदि प्रसंगों पर उसे इस बात का बोध ही नहीं होता कि यह मेरे किस कर्म का फल है ?^२

कर्म-विज्ञान नियमों की खोज पर आधारित है

संसार का प्रत्येक भौतिकविज्ञान-वेत्ता पहले नियमों की खोज करता है, फिर

१. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. १०५

२. देखें-उत्तराध्ययनसूत्र अ. २ परिसहजस्ययणं में-

“से नूणं माए पुव्वं कम्माऽणाणफलाकडा।

जेणाऽहं नाभिजाणामि पुड्ढो केणइ कणहुइ।।

अह पच्छ उइज्जाति कम्माऽणाणफलाकडा।

एवमस्तासि अपाणं नच्चा कम्मविवागयं।।”

-उत्तराध्ययन. अ. २ गा. ४०-४१

प्रत्येक पदार्थ (Matter) के नियम के अनुसार वह अपना शोधकार्य आगे बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार जैनकर्म-विज्ञान-विशेषज्ञों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा के साथ कर्म के आप्रव, बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, कर्मफल तथा कर्मफलभोग की स्थिति, कर्मफल की तीव्रता-मन्दता आदि के नियमों की खोज करके कुछ नियम-सूत्रों का प्रतिपादन किया।

यद्यपि उन्होंने स्वानुभूति के आधार पर नियमों की खोज की, किन्तु सबके ज्ञान का क्षयोपशम, बौद्धिक क्षमता, अनुभूति आदि एक-सी नहीं होती। यदि सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति की तीव्रता, रुचि, प्रबल जिज्ञासा और शुद्ध भावना हो तो कर्म के नियमों की खोज भी सम्भव है और अनुभूति एवं बौद्धिक क्षमता का विकास भी।

अपने आप भी सत्य की खोज करो : द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के परिप्रेक्ष्य में

इसीलिए भगवान् महावीर ने सूत्र दिया—अप्पणा सच्चमेसेज्जा—“अपने आप (आत्मा) से सत्य का अन्वेषण (खोज) करो।” जिसमें पूर्वाग्रह हो, जो हठाग्रही हो, अथवा ज्ञानप्राप्ति के लिए उत्सुक न हो, हृदय में वस्तुतत्त्व को जानने की तड़पन न हो, वह सत्य की खोज नहीं कर पाता। सत्य की खोज को ही दूसरे शब्दों में नियम की खोज कह सकते हैं।

भगवान् महावीर ने सत्य की खोज के लिए चार मुख्य नियमों का प्ररूपण किया। उन्होंने बताया कि किसी भी घटना, अथवा वस्तुतत्त्व का सम्यक्परिज्ञान करना हो तो कम से कम इन चार नियमों से उसका समीक्षण-अनुप्रेक्षण करो। उसके पश्चात् ही उस विषय में निर्णय करो। जैनदर्शन ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों के आधार पर नियमों का अन्वेषण किया है। द्रव्यादेश, क्षेत्रादेश, कालादेश और भावादेश, इन चार आदेशों के अनुसार उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया और कर्म से सम्बन्धित नियमों का विस्तार से प्रतिपादन किया।^१

सत्य की खोज के लिए अनुयोगद्वार में उपक्रम और अनुयोग का आश्रय

इसके अतिरिक्त सत्य की खोज के लिए उन्होंने अनुयोगद्वार में उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, ये चार द्वार बताए गये हैं। इन्हीं के आधार पर वहाँ और भी द्वार सत्य (वस्तुतत्त्व के ज्ञान) के लिये प्रतिपादित किये गए हैं—निर्देश, पुरुष (स्वामित्व), कारण, (साधन), कर्हों (अधिकरण), किनमें, काल (स्थिति), कितने प्रकार (विधान)। इसी प्रकार वहाँ इसी सन्दर्भ में नौ प्रकार के अनुगम बताए हैं, यथा—(१) सत्यदप्ररूपणा

१. (क) जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. २२८

(ख) उत्तराध्ययन अ. ६ गा. २

(सत्) (२) द्रव्यप्रमाण (संख्या), (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शना (स्पर्शन), (५) काल, (६) अन्तर, (७) भाग, (८) भाव और (९) अल्प-बहुत्वा तत्त्वार्थसूत्र में भी इसी प्रकार बताया गया है। यहाँ हम इनकी गहराई में जाना नहीं चाहते।^१

कर्मविपाक के नियम भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की परिधि में

विपाक (कर्मफल) के सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नियमों की झांकी देनी है। सर्वार्थसिद्धि और 'कसायपाहुड' में स्पष्ट कहा है—कर्मों का फल प्रदान करना बाह्य सामग्री पर आधारित है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म मुख्यतया द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ही फल देते हैं।^२

कर्मफल के नियमों के जानने और न जानने के परिणाम

कर्मफल के नियमों को इन्हीं अनुगमों के आधार पर जाना जा सकता है। जो कर्म के तथा कर्मफल के किस्मों को नहीं जानता, वह अध्यात्म को नहीं जान सकता और न ही आध्यात्मिक उच्चान्ति कर सकता है। आध्यात्मिक उच्चान्ति के लिये कर्म के बन्ध, कारण, कर्ता, फलभोक्ता के साथ-साथ कर्मफल (कर्म-विपाक) के नियमों को समझना भी आवश्यक है। कर्मफल (विपाक) के नियमों को न जानने के कारण व्यक्ति प्रमादवश उद्धत एवं स्वच्छन्द होकर कर्मों को बांधता जाता है, किन्तु जब वे कर्म सत्ता (संचित) से निकलकर उदय में आते हैं, फल भुगवाने के लिए उन्मुख होते हैं, और कटु फल भोगना पड़ता है, तब दुःख और पश्चात्ताप का पार नहीं रहता।

कई सीधे-सादे प्रकृति-भद्र मनुष्यों को पक्षाघात जैसा दुःसाध्य रोग घेर लेता है, वह पराधीन हो जाता है। उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय बन जाती है। उस समय वह किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है।^३ अगर कर्मफल के नियमों का वह जानकार होता तो पहले से ही अपने कृत, संचित एवं उपचित कर्म के प्रति सजग हो जाता और उदय में आने से पहले ही अपने द्वारा जाने-अनजाने पूर्वकृत कर्मों, का क्षय या संक्रमण करने का विचार

१. (क) "निहेसे पुरिसे कारणं कहिं केसु कालं कइविहं।" —अनुयोगद्वार सूत्र सू. १५१
- (ख) "निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः।" —तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. ७
- (ग) अणुगमे नवविधे पण्णत्ते तं जहा—संतपयपरुवणया १, दक्खपमाण २, खित्त ३, फुसणा य ४, कालो य ५, अंतर ६, भाग ७, भाव ८, अप्पाबहुं ९, चेव ॥

—अनुयोगद्वार सू. ८०

- (घ) 'ससंख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च।' —तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. ८
२. (क) सर्वार्थसिद्धि (आचार्य पूज्यपाद) ८/२१ पृ. ३९८
- (ख) कसायपाहुड, गा. ५९/४६५
३. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण पृ. २२८

करता। अथवा कर्मफलनियमों का ज्ञाता होता तो वह उद्धत, निर्दय, कठोर एवं निर्मम होकर दूसरे प्राणियों के प्रति हिंसा, असत्य, ठगी, बेईमानी, अन्याय-अत्याचार, क्रूरता, बलि, हत्या, बलात्कार, संग्रहखोरी आदि का व्यवहार करके अशुभ (पाप) कर्म का बन्धन करता।

वह यही सोचता कि मैं जो दूसरे प्राणियों के प्रति क्रूर और कठोर व्यवहार कर रहा हूँ, दूसरों को पीड़ा दे रहा हूँ, सता रहा हूँ, गुलाम बना कर उनसे मनमाना काम ले रहा हूँ, उन्हें डरा-धमका रहा हूँ, दूसरों को यातना दे रहा हूँ, क्या उन क्रूर पापकर्मों का फल मुझे नहीं भोगना पड़ेगा? दूसरों को पीड़ा, दुःख एवं यातना देकर, संतप्त और संतस्त करके क्या मैं अपने लिये ही दुःख के बीज नहीं बो रहा हूँ।

भगवान् महावीर ने आत्मौपम्य की भाषा में अध्यात्म-विकास के साधकों को यही उपदेश दिया था—

“तू वही है, जिसे तू मारने योग्य जानता है; तू वही है, जिसे तू अपनी आज्ञा में रखने योग्य मानता है; तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है; तू वही है, जिसे तू गुलाम बनाने के लिये पकड़ने योग्य मानता है; तू वही है जिसे तू डराना-धमकाना चाहता है।”

कर्मफल का प्रथम नियम : द्रव्य दृष्टि से

अतः कर्मफल का प्रथम नियम यह है—कृतकर्म के अनुरूप स्वयं को ही उसका फल भोगना पड़ता है। सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—“जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका फलभोग होता है।” “अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में फल देने हेतु उपस्थित होता है।”

द्रव्यदृष्टि से शुभ या अशुभ कर्म का फल वही भोगता है, जिसने वह कर्म किया है। एक के बदले दूसरा उस कर्म का फल नहीं भोग पाता। कर्मविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि कर्मकर्ता ही उसका फलभोक्ता होता है, कर्म-बन्धन करने वाला ही उस कर्म के फल भोगने अथवा कर्म का क्षय (आंशिक निर्जरा), उपशम, क्षयोपशम अथवा संवर करने का अधिकारी है। एक के बाधे हुए या किये हुए कर्म का क्षय भी उसके बदले दूसरा नहीं कर सकता और न ही दूसरा संवर कर सकता है। दूसरा कर्मक्षय में, कर्मफल भोग में निमित्त बन सकता है।

१. तुमसि नाम सच्चेव जं हंतव्यं ति मत्रसि, तुमसि नाम सच्चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मत्रसि, तुमसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मत्रसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परिधेतव्वं ति मत्रसि, तुमसि नाम सच्चेव, जं उद्देवेयव्वं ति मत्रसि।”
—आचारांग १/५/५ सू. १७०

२.. सूत्रकृतांग १/५/१२५, १/५/२२३

कर्मफल स्वेच्छा से शीघ्र भोगने और अनिच्छा से बाद में भोगने में अन्तर

इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है—“स्वकृतकर्मों के बन्ध का विपाक (फल) बंध रहित होकर अभी नहीं सहन करोगे (नहीं भोगोगे) तो फिर कभी न कभी सहन करना ही पड़ेगा। यदि वह कर्मफल स्वेच्छा से स्वयं भोग लोगे तो दुःख से शीघ्र छुटकारा हो जाएगा। यदि अनिच्छा से भोगोगे तो वह सौ भवों में गमन का कारण भी हो जाएगा।”

द्रव्यदृष्टि से कर्मफल-नियम का विविध पहलुओं से विचार

द्रव्यदृष्टि से कर्मफल का यह नियम भी है—मनुष्य जिस प्रकार की प्रकृति का है, जैसे स्वभाव या संस्कार का है, कर्म का बन्ध भी वह उसी प्रकार का— तीव्र या मन्दरूप से करेगा, और फिर कर्म का फल भी तीव्र या मन्दरूप से भोगेगा। अगर कर्मकर्ता विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, जाग्रत है और अप्रमत्त है तो निरर्थक कर्म नहीं करेगा, जिस कर्म का करना अनिवार्य होगा, अथवा मन से, वचन से या काया से जिस कर्म को करना आवश्यक होगा, उसे भी मन्द राग, मन्द क्रोधादिवश फूंक फूंक कर करेगा, प्रशस्त रागवश करेगा, अप्रशस्त राग-द्वेष से या तीव्र कषायभाव से नहीं करेगा। इस कारण कर्मबन्ध भी बहुत हलका होगा और उक्त कर्म का फल भोग (विपाक) भी शुभ, सुखद और प्रशस्त होगा।

अगर कर्मकर्ता अविवेकी है, मिथ्यादृष्टि है, प्रमादी है, अजाग्रत है तो या तो वह उद्धत या धृष्ट होकर स्वेच्छाचारितापूर्वक बेरोक-टोक कर्म करेगा, वह आसुरी शक्तियुक्त व्यक्ति मद, अहंकार और अहंकर्तृत्व से प्रेरित होकर कर्म करेगा, निरर्थक या हिंसादिजन्य कर्म भी करेगा, उसको अपने जीवन में यह बोध प्रायः नहीं होगा, कि मैं जो कुछ कर्म कर रहा हूँ, उसका कितना कटुफल भोगना पड़ेगा? कर्म करते समय उसका कषाय भी प्रायः मन्द नहीं होगा, रागद्वेष भी मन्द नहीं होगा। फलतः उस कर्म का फल भी दुःखद ही होगा। एक ही समय में एक ही कर्म करने वाले दो व्यक्तियों के कर्मफल में द्रव्यदृष्टि से काफी अन्तर आ जाएगा।

द्रव्यदृष्टि से कर्मफल के नियम का एक फलितार्थ यह भी सम्भव है—कि एक कर्म दूसरे विजातीय कर्म का फल नहीं दे सकता। जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र आदि कर्मों का फल नहीं दे सकता। ज्ञानावरणीय कर्म बंधा हुआ है, तो वह ज्ञानगुण को ही आवृत करेगा, आयुष्य कर्म या नाम गोत्र आदि कर्मों का फलभोग नहीं करायेगा। अर्थात्—जिस-जिस कर्म का बन्ध है, उस-उस कर्म का ही जो फलानुभाव है, वही फल वह कर्म दे सकता है। अन्य कर्म का फल अन्य कर्म नहीं दे सकता।

१. “स्वकृत-परिणामानां दुर्नयानां विपाकः। पुनरपि सहनीयोऽत्र ते निर्गुणस्य। स्वयमनुभवताऽसौ दुःखक्षयाय सद्यो, भवशतगतिहेतुर्जायते ऽनिच्छतस्ते॥” —एक जैनाचार्य

इसी प्रकार जो घातिकर्म हैं, वे आत्मगुणों के विघातक तथा विकृतिकारक होने का फलानुभाव करा सकते हैं, किन्तु अघातीकर्मों का जो फल विशेष है, उसे वे नहीं दे सकते। अघाती कर्म भी अपने-अपने फलविशेष का अनुभाव (वेदन) करा सकते हैं। इसी प्रकार घाती कर्म भी अपने-अपने फलविशेष का वेदन करा सकते हैं।

एक नियम : सजातीय कर्मप्रकृति का सजातीय कर्मप्रकृति में संक्रमण हो सकता है

द्रव्यदृष्टि से कर्मफल के नियम का आशय यह भी सम्भव है कि कर्म की मूल प्रकृति आठ हैं, और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ अथवा १५८ हैं। संक्रमण का सिद्धान्त जैन-कर्मविज्ञान की मौलिक देन है। संक्रमण में अशुभ कर्म प्रकृति का शुभ कर्म प्रकृति में और शुभ कर्म प्रकृति का अशुभ कर्म प्रकृति में रूपान्तरण हो जाता है।

इसे आधुनिक मनोविज्ञान में रूपान्तरणीकरण या मार्गान्तरणीकरण कहते हैं। यह रूपान्तरण या मार्गान्तरणीकरण का संक्रमण आयुष्य एवं मोहनीय कर्म के सिवाय केवल सजातीय कर्म प्रकृतियों में ही सम्भव है। फिर वह सजातीय कर्म प्रकृति मूल प्रकृति हो, या उत्तर प्रकृति हो।

मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों (वृत्तियों-प्रवृत्तियों) में ही सम्भव माना गया है। मनोविज्ञान और कर्मविज्ञान दोनों ही विजातीय प्रकृतियों (अथवा वृत्ति-प्रवृत्तियों) के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते। कर्मविज्ञान के अनुसार पाप (अशुभ) कर्मों (अशुभ-कर्म प्रकृतियों) के बन्ध के फलस्वरूप होने वाले दुःख, अशान्ति, वेदना आदि से छुटकारा दया, दान, परोपकार, जनसेवा, आदि पुण्य (शुभ) कर्मों (शुभ कर्मप्रकृतियों) से पाया जा सकता है। परन्तु यह रूपान्तरण या मार्गान्तरणीकरण केवल सजातीय कर्मप्रकृतियों में ही हो सकता है। जैसे-असातावेदनीय का सातावेदनीय में, तथैव सातावेदनीय का असातावेदनीय में, अशुभ नाम कर्म की विशिष्ट कर्मप्रकृतियों का अपनी-अपनी सजातीय शुभ नाम कर्म प्रकृतियों में, नीचगोत्र का उच्चगोत्र में, तथैव उच्चगोत्र का नीचगोत्र में संक्रमण (रूपान्तरण या मार्गान्तरणीकरण) संभव है।^१

कर्मविपाक शब्द के शब्दशः दो अर्थ होते हैं-विविध पाक या विशिष्ट पाक। इसका फलितार्थ है-विशिष्ट रूप से कर्मों का पकना। अर्थात्-कषायादि की तीव्रता-मृदा के अनुसार कर्मों की विविध सुख-दुःखरूप फल देने की शक्ति का निहित होना कर्मविपाक कहलाता है। आगमिक परिभाषा में विपाक अनुभाव को कहते हैं। संक्षेप में

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित-'करण सिद्धान्तः भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' से पृ. ८२-८३

अर्थ है—उदय या उदीरणा के द्वारा कर्मों का फलभोग प्राप्त होना विपाक है^१। विपाक के स्वरूप को जान लेने से कर्मफल के नियमों का जानना आसान हो जाता है।

सोलह विशेषताओं से युक्त कर्म ही विपाक (फलप्रदान) के योग्य

द्रव्यदृष्टि से यह नियम भी जानना आवश्यक है कि कौन-कौन से कर्म फल देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो किन विशेषताओं से युक्त कर्म फल भुगवाने योग्य होते हैं? प्रज्ञापनासूत्र के २३वें पद में कर्मफल भोग (अनुभाव) के योग्य आठ ही कर्मों के अनुभाव (फलविपाक) के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

प्रत्येक कर्म के फल (विपाक) का विचार करते समय उसके विपाक योग्य होने के निम्नोक्त सोलह उपनियमों का जानना आवश्यक है—(१) बद्ध, (२) स्पृष्ट, (३) बद्धस्पर्श-स्पृष्ट, (४) संचित, (५) चित, (६) उपचित, (७) आपाकप्राप्त, (८) विपाक-प्राप्त, (९) फल-प्राप्त, (१०) उदय-प्राप्त, (११) जीव के द्वारा कृत, (१२) जीव के द्वारा निष्पादित, (१३) जीव के द्वारा परिणामित, (१४) स्वयं उदीर्ण, (१५) दूसरे के द्वारा उदीरित अथवा (१६) स्व-पर द्वारा उदीर्यमाण।

इन्हें स्पष्टरूप से समझने के लिए इनकी संक्षिप्त व्याख्या करनी आवश्यक है—

(१) बद्ध—जो कर्म पहले बंधे हुए हों, वे ही फल देने योग्य होते हैं। आशय यह है कि जीव के राग-द्वेषादि या कषायादि परिणामों से आकृष्ट होकर जो कर्मपरमाणु आत्मप्रदेशों से बंध-श्लिष्ट हो गए हों, वे बद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार से बद्ध कर्म ही अनुभाव (विपाक=फलभोग) के योग्य होते हैं।

ऐर्यापथिक आम्रव के रूप में जो कर्म आते हैं रागद्वेषादि की स्निग्धता न होने से आत्मप्रदेशों से चिपकते नहीं हैं, वे आते हैं प्रथम समय में सामान्य बद्ध होते हैं, दूसरे

१. (क) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण पृ. २१५

(ख) सर्वार्थसिद्धि ८/२१

२. (क) देखें प्रज्ञापनासूत्र के २३वें कर्मप्रकृतिपद के पंचमद्वार के सूत्र १६७९ का मूल पाठ—
“ कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स, पुइस्स, बद्ध-फास-पुइस्स, संचितस्स, चियस्स, उयचितस्स, आवागपत्तस्स, विवागपत्तस्स, फलपत्तस्स, उदयपत्तस्स, जीवेणं कडस्स, जीवेणं निव्वनियस्स जीवेणं परिणामियस्स, सयं वा उदिण्णस्स, परेण वा उदीरियस्स, तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स।

(ख) देखें—इसी सूत्र १६७९ के मूल पाठ का विशेषार्थ (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) खण्ड ३, पद २३/ पृ. १९

(ग) ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पदम समए बद्धं, विइयसमए वेइयं, तइय समए निज्जिण्णं।

—उत्तराध्ययन अ. २९ सू. ७१ का मूल पाठ।

समय में वेदन होता है तीसरे समय में निर्जीर्ण होकर बिना फल दिये ही वापस चले जाते हैं। वीतराग घातिकर्मरहित केवली महापुरुषों के वे कर्म चिपकते नहीं, इसलिए सिर्फ सुख-स्पर्श करके वापस चले जाते हैं।

अथवा पाषाण सोना आदि जो आपस में मिलकर श्लिष्ट हो जाते हैं, एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं, वे बद्ध तो हैं, किन्तु जीव के रागद्वेषादि परिणामों से बद्ध नहीं हैं, कर्मरूप में बद्ध नहीं है। अतएव वे कर्मफल के योग्य नहीं होते हैं।

(२) स्पृष्ट-आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध को स्पृष्ट कहते हैं। अर्थात्-जो कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ पूर्वोक्तरूप से बद्ध तो नहीं हैं, किन्तु जीव के कषायादि परिणामों से आकृष्ट कर्मपरमाणु साम्प्रदायिक आम्रव के रूप में जीव के आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट हो गए हैं, वे स्पृष्ट कहलाते हैं।

वीतराग केवली भगवन्तों के चार घाती कर्म तो नष्ट हो गए हैं, किन्तु भवोपग्राही चार अघाती कर्म शेष रहते हैं, किन्तु कषाय न होने से वे कर्मपरमाणु ऐर्यापथिक आम्रव के रूप में आते अवश्य हैं, मगर दो-तीन समय के लिए स्पर्श करके बिना फल दिये ही वापस चले जाते हैं। वे कर्म अबन्धक (शुद्ध) कहलाते हैं, इसलिए फल देने (विपाक) के योग्य नहीं होते।

अथवा पाषाण, स्वर्ण, आदि जो एक-दूसरे से केवल स्पृष्ट हैं, उनके पीछे कोई राग-द्वेषादि नहीं है, न ही कर्मपुद्गलों से उनका कोई वास्ता है, अतः ऐसे अजीव (पौद्गलिक) स्पर्श से स्पृष्ट पुद्गल कर्मफल के योग्य नहीं होते।

(३) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट-जो कर्म पुद्गल जीव के तीव्र रागद्वेषादि या तीव्र कषाय परिणामों से गाढतर रूप से बद्ध हैं, परस्पर एक दूसरे के साथ गाढतर रूप से स्पृष्ट (श्लिष्ट) हैं, वे बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट कहलाते हैं। अर्थात् जो कर्म आवेष्टन-परिवेष्टन रूप से अत्यन्त गाढतरबद्ध हैं। ऐसे कर्म ही फल देने (विपाक के) योग्य होते हैं। कई कर्म ऐसे होते हैं, जो निकाचित रूप में बंधे हुए होते हैं, रागादि की अत्यन्त स्निग्धता के कारण जो आत्मप्रदेशों के साथ गाढतम रूप से श्लिष्ट हो गए हैं, उनका फल जीव को अवश्य ही भोगना पड़ता है।

(४) संचित-जो कर्म बंधने के पश्चात् अभी सत्ता में पड़े हुए हैं, ऐसे संचित कर्म अबाधाकाल पूर्ण होने के पश्चात् ही फल देने योग्य होते हैं। संचित कर्म जब तक उदय में न आएँ, अथवा फल देने से पहले उनकी उदीरणा न की हो, तब तक वे कर्म फल देने के योग्य होते हुए भी कर्मफल नहीं दे पाते हैं।

संचित कर्मों को कर्मफल देने के योग्य इसलिए माना गया है कि अगर जीव जाग्रत होकर उदय में आने से पूर्व ही उन कर्मों की उदीरणा करके (उदयकाल से पूर्व ही)

भोगकर क्षय करने का कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता है तो वे संचित कर्म उदय में आते ही फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

(५) चित-जो कर्म चय को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात्-उत्तरोत्तर स्थितियों में प्रदेश-हानि और रसवृद्धि करके स्थापित किये गए हैं, वे कर्म चित कहलाते हैं। चय-प्राप्त कर्म भी समय आने पर फल देते ही हैं, क्योंकि बद्ध, स्पृष्ट और संचित होने के पश्चात् ही कर्म चित होते हैं। कर्म के जत्थों का जमा हो जाना ही उनका चित होना है।

(६) उपचित-जो कर्म समानजातीय अन्य प्रकृतियों के दलिकों में संक्रमण करके उपचय को प्राप्त हैं। अर्थात्-जो कर्म समान जातीय अन्य कर्मदलिकों से मिलकर वृद्धिगत हो गए हैं। वे उपचित हैं, ऐसे कर्म भी समय आने पर फल देते हैं।

(७) आपाक-प्राप्त-जो कर्म अभी थोड़ा-सा फल देने के अभिमुख हुआ है, वह आपाक-प्राप्त कहलाता है। जिस प्रकार आम्र के वृक्ष में आम का फल तो लग जाता है, परन्तु अभी पूर्ण रूप से पका नहीं है; अभी कुछ कच्चा है, कुछ पका है। इसी प्रकार जिस कर्म का अभी थोड़ा-सा परिपाक हुआ है, वह जरा-सा फलोन्मुख हुआ है। जैसे-ज्वर आने से पहले हाथ-पैर टूटने लगते हैं, मस्तक भारी-भारी हो जाता है। शरीर में गर्मी आ जाती है, यह ज्वर का प्रारम्भिक रूप है। ज्वर का पूर्णतया परिपाक तब होता है, जब शरीर पूरा तप जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, मनुष्य शिथिल होकर शय्या पर लेटने को विवश हो जाता है। इसी प्रकार आपाक-प्राप्त कर्म भी थोड़ा-सा फलोन्मुख हो जाता है। आपाक-प्राप्त होने पर वह कर्म समय आने पर फल भुगवाता ही है।

(८) विपाक-प्राप्त-ऐसा कर्म जो विपाक को प्राप्त हुआ है, अर्थात्-विशेष फल देने को अभिमुख हुआ है, वह विपाक-प्राप्त है। विपाक-प्राप्त होने पर कर्म अपना फल यथासमय देता ही है।

(९) फल-प्राप्त-जो कर्म फल देने को अभिमुख हुआ है, वह फल-प्राप्त है। ऐसा कर्म भी फल देने योग्य होता है।

(१०) उदय-प्राप्त-जो कर्म समग्र-सामग्री वशात् उदय को प्राप्त है, वह उदय-प्राप्त है। वह तो अवश्य ही फल देता है।

(११, १२, १३) जीव के द्वारा कृत, निष्पादित, परिणामित-जीव के द्वारा कृत का अर्थ है-कर्मबन्धन-बद्ध जीव के द्वारा कृत। क्योंकि रागादि परिणाम कर्मबन्धन से बद्ध जीव के ही होता है, कर्मबन्धनमुक्त सिद्ध जीव के नहीं। वीतराग के सिवाय संसारी जीव उपयोग स्वभाव वाला हो तो वही रागादि परिणामों से युक्त होता है, अन्य नहीं। कर्मबन्धन से बद्ध जीव के द्वारा उपार्जित कर्म ही फल विपाक के योग्य होता है।

जीव के द्वारा निष्पादित का अर्थ है—जीव के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि के रूप में व्यवस्थापित किया गया ज्ञानावरणीय आदि कर्म। आशय यह है कि कर्मबन्ध के समय जीव सर्वप्रथम कर्मवर्गणा के साधारण (अविशिष्ट) पुद्गलों को ग्रहण करता है। अर्थात् उस समय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि भेद नहीं होता। तत्पश्चात् वह अनाभोगिक वीर्य के द्वारा उसी कर्मबन्ध के समय ज्ञानावरणीय आदि कर्म को पृथक् पृथक् विशेष रूप से परिणत—व्यवस्थापित करता है।

जैसे—विभिन्न प्रकार आहार के पुद्गल उदर में जाने पर रसादि रूप धातुओं के रूप में परिणत किया जाता है। इसी प्रकार साधारण कर्म वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके ज्ञानावरणीय आदि विशिष्ट रूपों में परिणत करना—निर्वर्तन (निष्पादित) करना कहलाता है।

जीव के द्वारा परिणामित का अर्थ है—प्रत्येक कर्म के विशिष्ट कारणों से उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त किया गया कर्म। जैसे—ज्ञानप्रदेष, ज्ञाननिह्व आदि विशिष्ट कारणों से उत्तरोत्तर परिणाम-प्राप्त ज्ञानावरणीय कर्म। पूर्वोक्त तीनों प्रकार के कर्म फल देने योग्य होते हैं।^१

फल देने (विपाक) योग्य कर्म : स्वयं उदीर्ण, परेण उदीरित तथा उभयेन उदीर्यमाण

(१४, १५, १६) स्वयं उदीर्ण, पर के द्वारा उदीरित या स्व-पर दोनों के द्वारा उदीरित—स्वयं उदीरणा करके जो कर्म उदय को प्राप्त कराया गया है, वह स्वयं उदीर्ण कर्म कहलाता है। जैसे—भगवान् महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश में देखा कि कर्मों का जत्था बहुत अधिक है और आयुष्य कर्म बहुत थोड़ा है, अतः उतने समय में ही कर्मों को समभाव से भोग कर क्षय करने हेतु उन्होंने अनार्य देश में विहार किया। वहाँ उन पर आए हुए घोर उपसर्गों तथा परीषहों को उन्होंने समभाव से सहन करके अधिकांश अवशिष्ट अघातिकर्मों का क्षय किया। फिर भी शेष बचे हुए कर्मों को उन्होंने रक्तिसार व्याधि, गोशालक द्वारा कृत आतंक, सर्वानुभूति और सुनक्षत्र इन मुनिद्वय का उसके द्वारा घात आदि प्रसर्गों पर समभाव से सहकर उन कर्मों का क्षय किया। इन प्रकार भगवान् महावीर ने स्वयं उदीर्ण करके, तथा गोशालक आदि द्वारा परेण उदीरित करके कर्मों को उदयावस्था में प्राप्त होते ही समभाव से भोग कर क्षय किया।

पर के द्वारा उदीरित वे कर्म हैं, जो दूसरे के निमित्त से उदीरणा कर उदय को प्राप्त कराये जाते हैं। कई आदमी विमान से यात्रा कर रहे थे। अक्समात् विमान में आग

१. देखें—ब्रह्मपना सूत्र पद २३ के पंचम अनुभावद्वार का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १९-२०

लगी। वह भस्म होकर नीचे गिर पड़ा। उसमें जितने यात्री थे, सभी मर गये। इस घटना में आयुष्यकर्म जो बाद में भोगकर क्षय किया जाने वाला था, वह इस विमान दुर्घटना के कारण शीघ्र उदीरणा होने से अर्थात्-आयुष्य कर्म उदय को प्राप्त होने से शीघ्र क्षय हो गया। यह भी परेण उदीरित कर्म हैं।

स्व-पर-उभय द्वारा उदीर्यमाण-वे कर्म हैं, जिनमें अपने द्वारा और दूसरे के द्वारा उदीरणा करके जो कर्म उदय को प्राप्त कराये जा रहे हों। जैसे-एक साधक को अक्समात् दुःसाध्य व्याधि ने आ घेरा, साध ही साधक ने अपने शरीर की अंशक्ति, शिथिलता आदि जानकर स्वयं आजीवन भक्तप्रत्याख्यान नामक चौदहवार अनशन (संधारा) कर लिया। इस घटना में वेदनीय और आयुष्य दोनों कर्मों को स्व-पर द्वारा उदीरित-उदयप्राप्त किया गया है।

उपर्युक्त सोलह प्रकार की विशेषताओं से युक्त कर्म ही विपाक (फलभोग) के योग्य होते हैं।

उदय को प्राप्त (उदीर्ण) होने के पांच निमित्त

इनके अतिरिक्त विविध कर्मों के उदय को प्राप्त (उदीर्ण) होने के पाँच आलम्बन (निमित्त) प्रज्ञापनासूत्र में और बताये गये हैं—(१) गति को प्राप्त करके, (२) स्थिति को प्राप्त करके, (३) भव को प्राप्त करके, तथा (४) पुद्गल को प्राप्त करके एवं (५) पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके। इनमें से प्रथम तीन स्वतः उदीरणा के निमित्त हैं, और शेष दो परतः उदीरणा के निमित्त हैं।

स्वनिमित्त से उदय को प्राप्त में सर्वप्रथम निमित्त हैं—गति। चार गतियाँ हैं—नारक, तिर्यज्य, मनुष्य और देव। इन चारों में से किसी एक गति को पाकर कोई कर्म तीव्र अनुभाव (विपाक) वाला हो जाता है। अर्थात्—शीघ्र उदय को प्राप्त हो जाता है। जैसे-असातावेदनीय कर्म नरकगति को प्राप्त करके शीघ्र उदय में आकर तीव्र अनुभाव (फल भोग) वाला हो जाता है। नारकों के लिए नरकगति में असातावेदनीय कर्म जितना तीव्र असातारूप फल वेदन का निमित्त होता है, उतना तिर्यज्यों आदि के लिए तिर्यज्यगति आदि में नहीं होता।

कर्म के शीघ्र उदय को प्राप्त होने में दूसरा निमित्त है—स्थिति। सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त अशुभ कर्म मिथ्यात्व के समान तीव्र अनुभाव वाला होता है।

तीसरा निमित्त है—भव (जन्म)। आशय यह है कि कोई-कोई कर्म किसी भव (मनुष्यादि जन्म) को पाकर शीघ्र उदय में आकर अपना विपाक विशेष रूप से प्राप्त

१. देखें, प्रज्ञापनासूत्र पद २३, सू. १६७९ के 'सयं वा उदिग्णस्स, परेण वा उदीरियस्स तुभण्ण वा उदीरिज्जमाणस्स' मूल पाठ का विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. २०

करता है। जैसे—मनुष्य भव या तिर्यञ्चभव को पाकर निद्रारूप दर्शनावरणीय कर्म अपना विशिष्ट अनुभाव (फल) प्रकट करता है।

तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट गति, स्थिति और भव के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि कर्म उस-उस गति, स्थिति या भव को प्राप्त करके शीघ्र ही स्वयं उदय को प्राप्त (फलाभिमुख) हो जाते हैं।^१

परनिमित्त से उदय को प्राप्त होने के दो निमित्त

परनिमित्त से उदय को प्राप्त में सर्वप्रथम निमित्त है—पुद्गल। पुद्गल को प्राप्त करके असातावेदनीय अथवा क्रोधादिरूप कषायमोहनीय कर्म आदि शीघ्र उदय को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् इनकी उदीरणा हो जाती है। जैसे—किसी ने पत्थर, ढेला आदि किसी पर फेंका, अथवा तलवार आदि शस्त्र से प्रहार किया, ऐसे समय में इनमें से किसी पुद्गल (जड़पदार्थ) के निमित्त से मनुष्य घायल या मूर्च्छित हो जाता है, तो असाता-वेदनीय कर्म का शीघ्र उदय हो जाता है, अथवा व्यक्ति शस्त्रादि के प्रहार से शीघ्र ही मर जाता है, इसमें आयुष्य कर्म की शीघ्र उदीरणा हो गई, या प्रहार करने वाले के प्रति मन में तीव्र क्रोधादि कषायमोहनीय कर्म का उदय होता है और व्यक्ति तुरंत प्रतिप्रहार करने को उद्यत हो जाता है।

परनिमित्त से उदय को प्राप्त कर्म में दूसरा निमित्त है—पुद्गलपरिणाम अर्थात्—पुद्गलों के परिणामन के निमित्त से भी व्यक्ति के कोई कर्म शीघ्र उदय में आ जाता है। जैसे—किसी ने मद्यपान किया। उसका नशा चढ़ते ही ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो गया; उसकी बुद्धि, विवेक एवं जानने की शक्ति पर आवरण आ गया।^२

इस प्रकार गतिहेतुक, स्थितिहेतुक एवं भवहेतुक ये तीन विपाकोदय स्वतः उदय में आने वाले कर्म के हेतु हैं, जबकि पुद्गल हेतुक एवं पुद्गल-परिणाम-हेतुक ये दो विपाकोदय परतः उदय में आने वाले कर्म के हेतु हैं।^३

पुद्गल और पुद्गल-परिणाम से उदय को प्राप्त कर्म विपाक

इसे विशेष स्वरूप से समझने के लिए एक उदाहरण ले लें—वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। इन दोनों से क्रमशः सुख और दुःख का

१. देखें, वही, सू. १६७९ के मूल पाठ "गतिं पप्य, ठितिपप्य, भवं पप्य, पोगलं पप्य, पोगलपरिणामं पप्य," का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. २०
२. देखें—प्रज्ञापना सूत्र पद २३, द्वार ५ सू. १६७९ के 'पोगलं पप्य, पोगलपरिणामं पप्य' का विवेचन (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. २०
३. विपाक सूत्र प्रस्तावना (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) से पृ. ३३

वेदन (अनुभव) होता है। असातावेदनीय कर्म के शीघ्र उदय को प्राप्त (उदीरणा) होने में एक निमित्त है—पुद्गल।

एक व्यक्ति हिमाचल की पहाड़ियों के पास बनी सड़क से जा रहा था। दोनों ओर पहाड़ियाँ थीं। अचानक पहाड़ से टूटकर एक पाषाण उस पर पड़ा। ऐसी चोट लगी कि वह धायल हो गया। उसको असह्य पीड़ा हो गई। अक्समात् आसातावेदनीय कर्म का उदय हो गया। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

प्रज्ञापना सूत्र में ज्ञानावरणीय से लेकर अन्तराय कर्म तक के अनुभावों (विपाकों) का विस्तृत वर्णन है। 'कर्ममहावृक्ष के सामान्य और विशेष फल' नामक निबन्ध में हम उन सबकी चर्चा कर आए हैं।

असातावेदनीय के शीघ्र उदय का एक निमित्त कारण है—पुद्गलपरिणाम। जैसे-किसी व्यक्ति ने दूँस दूँस कर सरस भोजन खा लिया। इस कारण अजीर्ण हो गया, ऊर्ध्वदात (गैस) होने लगा। पेट में उदरशूल हो गया। यह है—आहार के पुद्गलों के निमित्त से असातावेदनीय कर्म का शीघ्र विपाक।

किसी साधक ने दही खूब खा लिया। वह ध्यान करने बैठा। परन्तु ध्यान जमता ही नहीं, उसे बहुत नींद आने लगी। यह है—दर्शनावरणीय कर्म का शीघ्र उदय में आकर विपाक (फल भोग) के सम्मुख हो जाना।

किसी ने मांसादि का या अत्यधिक मिर्च मसाले से संस्कारित तामसिक भोजन किया। फिर वह ध्यान में बैठेगा तो क्या धर्मध्यान में मन जमेगा? यह निश्चित है कि उसका मन उचट जाएगा। मन में विकारों का, उत्तेजनाओं का अन्धड़ उभड़ने लगेगा। इस प्रकार चारित्र-मोहनीय कर्म के शीघ्र उदय होने में निमित्त बना उस तामसिक आहार के पुद्गलों का परिणाम।

उदय को प्राप्त कर्म ही विपाक (फलप्रदान) के योग्य होता है

कर्म आठ हैं, और आठ कर्मों के अनेक विपाक (अनुभाव) हैं। संक्षेप में कर्मफल के नियम की दृष्टि से हमने विपाक की चर्चा कर दी है। इसके नियम का हार्द समझ में आ जाएगा कि कर्म विपाक के यानी फल देने योग्य तभी होता है, जब वह उदय को प्राप्त हो जाए। उदय को प्राप्त हुए बिना कोई भी कर्म फलोन्मुख नहीं होता। अमुक-अमुक विशिष्ट कारणों से अमुक-अमुक कर्म का बन्ध होता है, किन्तु बन्ध होते ही तत्काल वह कर्म

१. आठों ही कर्मों के विविध अनुभावों (विपाकों) के विषय में देखें—“कर्ममहावृक्ष के सामान्य और विशेष फल” नामक निबन्ध।

२. कर्मवाद से भावांश ग्रहण, पृ. ७९

फलोन्मुख नहीं होता। विवेकी साधक चाहे तो निकाचित रूप से बद्ध कर्म को छोड़कर शेष बद्ध कर्मों को उदय में आने से पहले भोग सकता है।

विपाकविचय (कर्मफल का अनुप्रेक्षण) : धर्मध्यान का एक अंग

धर्मध्यान के चार चरण बताये गए हैं। उनमें से तीसरा है—विपाक-विचय। उसका अर्थ है—विपाक का अनुप्रेक्षण। विपाक को बारीकी से देखना।

मनुष्य प्रायः अन्याधुन्ध प्रवृत्ति करता चला जाता है। वह उसके विपाक पर ध्यान नहीं देता। प्रत्येक प्रवृत्ति के विपाक (परिणाम) पर ध्यान दिया जाए और बारीकी से देखने का प्रयत्न किया जाए कि इस प्रवृत्ति से उपार्जित कर्म का क्या विपाक (फल) होगा? अथवा इस समय कौन-से कर्म का विपाक (फल) चल रहा है? तो प्रवृत्तियाँ भी यतनापूर्वक होंगी, आवेश, आवेग और उच्छृंखलता के साथ कोई भी प्रवृत्ति नहीं होगी।

जो व्यक्ति विचार, विवेक एवं उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह बहुत ही संतुलन और यतना के साथ कार्य करेगा। इससे कर्मबन्ध भी तीव्र रूप से नहीं होगा, हो सकता है, कर्म की निर्जरा भी हो जाए। अथवा आते हुए कर्म का निरोध भी हो जाए। यदि व्यक्ति विवेक और यतना से विमुख होकर, कर्म के विपाक और फल से आँखें मूंद कर कार्य करता चला जाता है, तो उससे अनिष्टकर, अवाञ्छनीय और अहितकर कार्य भी हो जाते हैं, जिनके लिए उसे पीछे पछताना पड़ता है। अतः अन्तर् की गहराई में उतरकर देखना चाहिए कि बुद्धिमन्दता है तो किस कर्म का विपाक है? अधिक नींद सताती है तो किस कर्म का विपाक है? रोग या व्याधि किस कर्म का विपाक है? क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार या कपट आया, वह किस कर्म का विपाक है?"

विपाकविचय का सुगम उपाय

यदि हमारे इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान की शक्ति आवृत एवं कुण्ठित होने लगे तो समझना चाहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म विपाक में (फलोन्मुख) आया है। यदि हमारी आँखों से तथा अन्य इन्द्रियों से सूक्ष्मरूप से देखने (सोचने-विचारने) की शक्ति आवृत या कुण्ठित हो जाए, अथवा गहरी नींद आने लगे, हर अच्छा कार्य करते समय निद्रा सताने लगे तो समझना चाहिए, दर्शनावरणीय कर्म के फलोन्मुख होने (विपाक) से ऐसा होता है। यदि हमारे तन-मन-वचन और इन्द्रियों में राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय, अहंकार आदि आवेगों और वासनाओं-कामनाओं का चक्र चलने लगे तो समझना चाहिए मोहनीय कर्म फलोन्मुख हो रहा है, विपाक में आया है। रोग, संकट,

दुःख आदि का वेदना होने लगे तो समझना चाहिए असातावेदनीय कर्म का विपाक है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विपाक (फलोन्मुख) होने को पहचानना चाहिए।^१

कर्मविपाक को परिवर्तित करने या रोकने से लाभ

यदि व्यक्ति प्रत्येक कर्म के विपाक (अनुभाव) से सावधान रहे तो वह विपाक से परिवर्तन भी ला सकता है, अथवा विपाक में आने से पहले ही उक्त कर्म का फल उदीरणा द्वारा, तपस्या द्वारा भोग कर उसे क्षय कर सकता है, उस कर्म की निर्जा कर सकता है।

अनाथी मुनि ने जब देख लिया कि मेरी चक्षुवेदना इतने-इतने प्रयत्नों और उपचारों के बाद भी मिट नहीं रही है, बल्कि वह अधिकाधिक बढ़ती जा रही है, तब उन्होंने अन्तर की गहराई में उतरकर चिन्तन किया। जैन पारिभाषिक शब्दों में कहें तो विपाक-विचय ध्यान किया, विपाक का अनुप्रेक्षण किया कि मेरे किस कर्म का विपाक हो रहा है, यानी कौन-सा कर्म उदय में आया है? उन्होंने जब जान लिया कि असातावेदनीय कर्म उदय में आया है, वही फलोन्मुख हो रहा है, तब उस कर्म के विपाक को रोकने का, उसे निटाने का एक संकल्प किया। शरीर और आत्मा का यथार्थ भेदविज्ञान उन्होंने किया, अन्यत्वानुप्रेक्षा की,—मैं (आत्मा) एकाकी हूँ, ये सगे सम्बन्धी, आदि या शरीर, इन्द्रियाँ, मन, आदि मेरे नहीं हैं, यह शरीर को होने वाली पीड़ा मेरी नहीं है। शरीर पर ममत्व के कारण मुझे यह पीड़ा महसूस हो रही है। साथ ही उन्होंने अशरणानुप्रेक्षा भी की—‘ये स्वजनादि, शरीरादि, या धन, साधन, आदि कोई भी पर-पदार्थ शरणदाता नहीं है। आत्मा ही एक मात्र आत्मा का नाथ है, वही शरणदाता है।’

इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करने के पश्चात् उन्होंने मन ही मन संकल्प किया—‘क्षान्त, दान्त, निरारम्भ होकर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने पर ही असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप होने वाली यह विपुल वेदना मिट सकती है। अतः मैं वेदना से मुक्त होते ही क्षान्त, दान्त, निरारम्भ होकर अनगार धर्म में प्रव्रजित हो जाऊँगा।’^२ ऐसा संकल्प और अनुप्रेक्षण करते ही उनकी वह वेदना गायब हो गई। और वे अपने संकल्प के अनुसार अनगार धर्म में प्रव्रजित हो गए।^३

१. वही, से भावांश ग्रहण पृ. ७८

२. देखें—उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी मुनि का संकल्प —उत्तरा. अ. २० गा. ३१, ३२, ३३

तओ हं एवमाहंसु दुस्खमाहु पुणो पुणो।

वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्भि अणंतए॥

सयं च जइ भुक्खेज्जा, वेयणा थिउलाइओ। खतो दंतो निरारंभो पव्वए अणपरियं॥

एवं च चित्तइत्ताणं पासुत्तो भि नराहिव। परीयतंतीए राईए, वेयणा मे खयं गया॥

कर्मविपाक बदला जा सकता है

इसी प्रकार जो कर्म विपाक में आने वाले हैं यदि उनके प्रति व्यक्ति पहले से ही जागरूक हो जाए तो विपाकों में परिवर्तन ला सकता है, अथवा विपाक को आने से पहले ही रोक सकता है। मान लीजिए—अज्ञानतावश, प्रमादवश, अपनी ही भूलों के कारण किसी ने कर्म बांध लिये। कर्म आकर उसके आत्म-प्रदेशों से चिपक गए, वे फलोन्मुख होने वाले हैं, उनका विपाककाल निकट ही है, उसी समय यदि सावधान और जाग्रत होकर उन बद्ध कर्मों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप) गर्हणा, क्षमापना, अनुप्रेक्षा, भावना, प्रायश्चित्त आदि करे तो उनकी दीर्घकालिक स्थिति (कालसीमा) ह्रस्वकालिक हो सकती है, तथा कषायदि रस में मन्दता होने से उनका अनुभाव (रस) भी मन्द हो सकता है। इस कारण वह अशुभ कर्म को शुभ में परिणत कर सकता है, अशुभ कर्म-विपाक को शुभ कर्मविपाक में बदल सकता है। कदाचित् उत्कृष्ट पश्चात्ताप और तीव्र परिणाम हों तो उन कर्मों का क्षय भी हो सकता है। अर्थात्—विपाकोन्मुख कर्मों की शक्ति में व्यक्ति स्वयं ऐसा परिवर्तन ला सकता है, जिससे उन कर्मों का विपाक ही न हो सके। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है,^१ विपाकविचय नामक धर्मध्यान से यह सुसाध्य भी है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने कर्मविपाक में परिवर्तन करके उसे रोक लिया

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यानमुद्रा में खड़े थे। मगधनरेश श्रेणिक के दो सेवक उस रास्ते से जा रहे थे। उनमें से एक ने इनकी शान्त, दान्त, प्रसन्न मुद्रा की प्रशंसा की, दूसरे ने उनकी निन्दा करते हुए कहा—“यह काहे का साधु है! ढोंगी है, भगोड़ा है! जिन सामन्तों के हाथों में पुत्र को सौंपकर आया है, वे सामन्त शत्रु राजा से मिलकर राज्य हथियाने को उद्यत हो रहे हैं। भयंकर संग्राम हो रहा है। इनका पुत्र परेशान है, प्रजा भी पीड़ित है।”

यह सुनते ही राजर्षि अत्यन्त रोष और आवेश में आकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए। मन ही मन शस्त्रास्त्रों की रचना करके शत्रुसेना का मन से ही संसार करने लगे। अभी सबको परास्त करके विजय प्राप्त करूँगा। उनका धर्मध्यान रौद्रध्यान में परिणत हो गया। अपनी इस रौद्र एवं घोर हिंसात्मक मनःस्थिति से राजर्षि सप्तम नरक में जाने योग्य कर्मबन्ध करने लगे।

जब स्वमनोरचित शस्त्रास्त्र समाप्त हो गए तो अपने मुकुट से शत्रु पर प्रहार करने हेतु मस्तक पर हाथ ले गए; परन्तु मस्तक पर हाथ जाते ही चौंकि—अरे! मेरे मस्तक पर मुकुट कहाँ? मैं तो साधु हूँ, समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझने वाला, सारे विश्व

१. (क) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करण सिद्धान्तः भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' लेख से, पृ. ८८

(ख) कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. ७८

का मित्र! मैं हिंसा का तीन करण तीन योग से त्यागी हूँ, मेरे द्वारा इतनी घोर हिंसा, मानसिक हिंसा !! अर र! इस हिंसा का मुझे कितना कुफल भोगना पड़ेगा?"

पश्चात्ताप की पावनधारा अन्तर् में तीव्रगति से बहने लगी। राजर्षि के नरक के बन्धन क्रमशः टूटने लगे। राजर्षि का रोष और रौद्रध्यान कम होता गया। ज्यों-ज्यों रौद्रध्यान एवं रोष मन्द-मन्दतर होता गया, त्यों-त्यों नारकीय बन्ध भी घटता गया। साथ ही पूर्वबद्ध सातवीं आदि नरकों के बंध की स्थिति तथा अनुभाग कम होकर पहली नरक में अपवर्तित हो गए।

तत्पश्चात् परिणामों में और विशुद्धि आई। वे मन ही मन पश्चात्ताप के साथ सबसे क्षमायाचना करने लगे। रोष, जोश शान्त हुआ, सन्तोष और मैत्रीभाव बढ़ा। अतः पूर्वबद्ध नरकगति का बन्ध देवगति में रूपान्तरित हो गया; संक्रमित हो गया। फिर गुणस्थान की श्रेणी क्रमशः चढ़ते-चढ़ते भावों में अत्यन्त विशुद्धि हुई, कषायों का उपशमन हुआ। अतः अनुत्तरविमान-देवगति का बन्ध हुआ। तत्पश्चात् भावों की विशेष विशुद्धि तथा स्वरूप-रमणता तीव्र होने से पर-भावों एवं विभावों से किनाराकशी कर ली। फलतः पापकर्मों का स्थितिघात और रसघात हो गया। कर्मों की तीव्रतापूर्वक उदीरणा हुई। फिर कषायों का सर्वथा क्षय होने से वीतरागता और केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त हुई।

इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि विपाक-विचय की साधना से, तथा वर्तमान में प्रचलित, भावों की विशुद्धि के पुरुषार्थ से तथा पूर्वबद्ध कर्मों का उत्खनन, अपकर्षण, संक्रमण एवं उदीरणा आदि क्रियाएं (करण) होने से कृतकृत्य हो गए। शीघ्र ही सर्वकर्म-क्षय करके वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।

यह है विपाकविचय के अनुप्रेक्षण का सुफल।

पूर्वबद्ध पाप-पुण्य कर्मों की स्थिति और अनुभाग में संक्रमण का नियम

अतः कर्मफल का यह नियम प्रतिफलित हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजन्म में बद्ध या इस जन्म में पूर्वकृत अशुभ एवं दुःखद पापकर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों से शुभकर्म बांधकर घटा सकता है और शुभ तथा सुखद पुण्यकर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वर्तमान में अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ पापकर्म बांधकर पूर्वबद्ध शुभ-सुखद कर्मों को अशुभ-दुःखद कर्मों के रूप में संक्रमित कर सकता है।

१. (क) देखें, तीर्थंकर महावीर (श्रीचन्द्र सुराना) में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि वृत्त
(ख) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित "करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया" लेख से भावांश ग्रहण पृ. ८८-८९
२. वही, पृ. ८९

कर्मों का फलभोग दो प्रकार से : तथाविपाक और अन्यथाविपाक के रूप में

इस नियम के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि पूर्वबद्ध कर्मों का फल उसी रूप में भोगना पड़े। इसके आपवादिक नियम भी हैं। कर्मविपाक दो प्रकार से होता है— तथाविपाक और अन्यथाविपाक

तथाविपाक का अर्थ है—जिस रूप में कर्म बांधा है, उसी रूप में उसका फल भोगना। मान लो, किसी व्यक्ति ने किसी के पिता की हत्या कर दी; अगले जन्म में उसने उसके पिता की हत्या कर दी। यह तथाविपाक है। अफगानिस्तान आदि के पठानों में प्रायः ऐसी प्रथा है कि किसी ने किसी के पुत्र का सिर तलवार से काट डाला तो उसका पुत्र या पिता उसी प्रकार से उसका सिर तलवार से काट डालता है।

दूसरा प्रकार है—अन्यथाविपाक। उसका अर्थ है, जिस रूप में कर्म बांधा है, उसी रूप में उसका फल न भोगकर अन्यथा रूप में भोगना। जैसे—किसी व्यक्ति ने किसी का धन चुरा लिया, सामने वाला व्यक्ति उसकी हत्या कर देता है, या उसे पीट-पीट कर अधमरा कर देता है। यह अन्यथारूप से कर्म का फलभोग हुआ।

कर्मफल के सम्बन्ध में इतने विवेचन के पश्चात् चार नियम प्रतिफलित होते हैं— (१) कर्म का फल अवश्य ही मिलता है। (२) वह सर्वथा हमारी इच्छानुकूल ही हो, यह आवश्यक नहीं; कभी कम प्राप्त होता है, कभी अधिक और कभी विपरीत। (३) कर्म करने के बाद फल-प्राप्ति कर्तृत्व के अधीन न होकर भोक्तृत्व के अधीन होती है। फल-प्राप्ति होती है, की नहीं जाती। बीज बोना और उसे सिंचित करने का कार्य बागवान के अधीन है, किन्तु आम उत्पन्न करना उसका काम नहीं। (४) कर्म वर्तमान में होता है, उसका फल भोग भविष्य में और कभी-कभी सुदूर भविष्य में भी होता है।

कर्मफलवेदन एवम्भूत या अनेवम्भूत?

इस सम्बन्ध में भगवती सूत्र में एक प्रश्नोत्तरी भी है। गणधर गीतम ने भ. महावीर से पूछा—भगवन् ! अन्ययूथिकों का यह अभिमत है कि सभी जीव एवम्भूतवेदना (जिस प्रकार से कर्म बांधा है, उसी प्रकार) भोगते हैं, क्या यह कथन उचित है ?”

भगवान् ने कहा—“गीतम ! अन्ययूथिकों का यह एकान्तकथन मिथ्या है। मेरा यह अभिमत है कि कितने ही जीव एवम्भूतवेदना भोगते हैं और कितने ही जीव अनेवम्भूतवेदना भी भोगते हैं।”

गीतम ने पुनः प्रश्न किया—“भगवन् ! यह कैसे ?”

१. (क) जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण पृ. २२८

(ख) भगवतीसूत्र

भगवान् ने कहा—“गौतम! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना (फल) भोगते हैं, वे एवम्भूतवेदना भोगते हैं और जो जीव किये हुए कर्मों से अन्यथा वेदना (फल) भोगते हैं, वे अनेवम्भूत वेदना भोगते हैं।”

उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण के द्वारा भी नियमानुसार कर्मविपाक बदला जा सकता है

जो लोग कहते हैं कि कर्म करने के बाद जागरूक होने से क्या लाभ? उसका फल तो उसी रूप में भोगना पड़ेगा, उनकी एकान्त धारणा यथार्थ नहीं है। कर्मविपाक के विचित्र नियम हैं। उनमें से एक नियम यह भी है कि मनुष्य यदि कृतकर्म के प्रति सावधान हो जाए और अशुभ को शुभ में परिणत करने का पुरुषार्थ करे तो कर्म के विपाक को बदला जा सकता है।

उद्वर्तनाकरण एवं अपवर्तनाकरण कर्मविज्ञान के द्वारा प्ररूपित ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनमें से उद्वर्तनाकरण से पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप अधिकाधिक प्रवृत्ति करने से, अधिक रस लेने से कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अपवर्तनाकरण से पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्मों की स्थिति और रस में कमी आ जाती है।

उद्वर्तनाकरण को एक उदाहरण से स्पष्ट समझ लें—एक लड़का पहले पाठशाला में किसी की स्लेट, पुस्तक चुराने लगा। उसका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उसकी मां भी उसके द्वारा चुराई गई वस्तुएँ रख लेती। उसकी चोरी की आदत को प्रोत्साहन मिलने लगा। अब वह चोरों के गिरोह में मिलकर बड़ी-बड़ी चोरियाँ अधिकाधिक करने लगा। इस प्रकार लाभ की वृत्ति-प्रवृत्ति के कारण छोटी चोरी के कारण पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग (रस) में अब बड़ी चोरी अधिकाधिक रूप से करने से वृद्धि होती गई। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि होना उद्वर्तना है।

आशय यह है कि पूर्वबद्ध कर्मों को, उससे अधिक तीव्र रस, तीव्र राग-द्वेष एवं प्रबल कषाय का निमित्त मिलने से उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति पहले से अधिक बढ़ जाती है। कषाय की वृद्धि से आयुर्कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों की स्थिति का तथा समस्त पापकर्मों के रस (अनुभाग) में उद्वर्तन होता है। इसके विपरीत विशुद्धि (शुभभावों) से पुण्यप्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है।

इसी प्रकार अपवर्तनाकरण से पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्मों की स्थिति एवं रस में कमी आ जाती है। किसी व्यक्ति ने पहले किसी अशुभ कर्म का बंध कर लिया, किन्तु बाद में

वह संभल कर शुभ कर्म (कार्य) करता है, तो उसके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एवं फलदान शक्ति घट जाती है।

जैसे—मगध सम्राट, श्रेणिक ने भ. महावीर के सम्पर्क में आने से पूर्व, क्रूर कर्म करके सप्तम नरक का आयुष्य बांध लिया था, किन्तु बाद में भ. महावीर की शरण में आने तथा उनकी पर्यपासना करने से उसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ। अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों पर पश्चात्ताप करने से, शुभ भावों के निमित्त से उसके द्वारा पूर्वबद्ध सप्तम नरक का आयुष्य कर्म घटकर प्रथम नरक का ही रह गया।

इसी प्रकार कोई पहले अच्छे कर्म करे उससे उच्चस्तरीय देवगति का बन्ध हो जाए, किन्तु बाद में उसके शुभभावों में गिरावट आ जाए तो उसके उच्चस्तरीय देवगति का बन्ध घटकर निम्नस्तरीय देवगति का हो जाता है।

जैसे—खेत में उगाए हुए पौधे को अनुकूल खाद, पानी, ताप व जलवायु न मिले तो उसकी आयु एवं फलदान शक्ति घट जाती है, इसी प्रकार पूर्वबद्ध तथा सत्ता में स्थित (संचित) अशुभ कर्म के बन्ध को उसके प्रतिकूल प्रतीकारक संवर एवं आलोचना, प्रायश्चित आदि करने से उसकी स्थिति एवं फलदान शक्ति घट जाती है।^१ इस प्रकार कर्मफल-भोग (विपाक) के अनेक आपवादिक नियम हैं।

चतुर्विध-संक्रमण के नियम भी कर्मफल के नियम हैं।

इसी प्रकार प्रकृति-संक्रमण, स्थिति-संक्रमण, अनुभाग-संक्रमण और प्रदेश-संक्रमण के भी विभिन्न नियम हैं। उन नियमों के अनुसार कर्मफल (विपाक) में काफी परिवर्तन एवं रूपान्तरण किया जा सकता है। यह संक्रमण या रूपान्तरण कर्म की मूलप्रकृतियों में परस्पर नहीं होता, केवल अपनी सजातीय उत्तरप्रकृतियों में ही यह सम्भव है।^२

कर्मों का उपशमन : फल प्रदान करने में अमुक काल तक अक्षम : एक नियम

कर्मों का उपशमन भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देता है। अथवा उन्हें अमुक काल-विशेष तक फल देने में अक्षम बना दिया जाता है। उपशमन एक प्रकार से कर्म को ढकी हुई अग्नि के समान बना देना है। जिस प्रकार राख से ढकी हुई आग हवा आदि से उस आवरण के दूर होते ही पुनः प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार कर्मों के उपशमन की अवस्था किसी निमित्त से हटते ही कर्म पुनः उदय में आकर

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' लेख से सारांश ग्रहण, पृष्ठ ८०-८१

२. देखें—स्थानांगसूत्र स्थान ४ उ. ४ सू. २१६

फल दे सकता है। उपशमन से कर्म की सत्ता नष्ट नहीं होती, सिर्फ अमुक कालविशेष तक वह फल देने में अक्षम रहता है।

उपशमन केवल मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में हो सकता है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जमीन पर पपड़ी आ जाने से भूमि में स्थित पौधे दब जाते हैं, उनका बढ़ना रुक जाता है, वैसे ही कर्मों को ज्ञानबल या संयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। ऑपरेशन करते समय पीड़ा या कष्ट का अनुभव न हो, इसके लिए डॉक्टर इंजेक्शन देते हैं, या गैस या क्लोरोफार्म सूँघाते हैं। इससे पीड़ा या दर्द का शमन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से मोहनीय कर्म प्रकृतियों के कुफल का शमन किया जाता है। किन्तु जिस प्रकार इंजेक्शन या दवा से दर्द का शमन होने पर घाव भरता जाता है, घाव भरने का समय भी कम होता जाता है, उसी प्रकार मोह-कर्म प्रकृतियों के फलभोग का उपशमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग, एवं प्रदेश घटने की सम्भावना हो जाती है। वस्तुतः उपशमन आत्मशान्ति एवं आत्मशक्ति के प्रकटीकरण में सहायक होता है।

नियतविपाक और अनियतविपाक : एक चिन्तन

कर्मफल के सम्बन्ध में विचार करते समय यह नियम ध्यान में रखना चाहिए कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाक (फलभोग) नियत होता है, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, उसे उसी रूप में अवश्य भोगना ही पड़ता है। जैसे कैंसर आदि असाध्य रोगों की पीड़ा को भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता, वैसे जिस कर्म के फल को भोगे बिना छुटकारा न हो सके, वह नियतविपाक रूप निकाचित कर्म है। निकाचित कर्म में संक्रमण, उदीरणा, उद्वर्तन या अपवर्तनकरण के रूप में परिवर्तन नहीं हो सकता। दूसरा कर्म अनियतविपाक रूप है, जिसमें संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन आदि के रूप में कर्मफल में परिवर्तन हो सकता है।

जैन परिभाषा में इन दोनों को क्रमशः निकाचित (जिसका विपाक अन्यथा न हो सके) और अनिकाचित (जिसका विपाक अन्यथा भी हो सकता है, ऐसा) कर्म। इन्हें ही दूसरे शब्दों में इन्हें निरुपक्रम (जिसका कोई प्रतीकार न हो सके, उदय अन्यथा न हो सके) और सोपक्रम (जो उपचार-साध्य हो) कहा गया है।

निकाचित कर्म का लक्षण यह है कि जिनका बन्ध जिस विपाक को लेकर होता है, उसी विपाक के द्वारा वे क्षय (निर्जरित) होते हैं। दूसरे अनिकाचित कर्म होते हैं, जिनका

१. (क) जैन बौद्ध गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा. १ (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ३२०
- (ख) जिनवाणी : कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करणसिद्धान्त : भाग्य निर्माण की प्रक्रिया' लेख से पृ. ८७

विपाक उसी रूप में अनिवार्य नहीं होता। उनके विपाक के स्वरूप, मात्रा, कालावधि, एवं तीव्रता आदि में परिवर्तन किया जा सकता है।

वस्तुतः कर्मों के अर्जन के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता-मन्दता के आधार पर ही क्रमशः नियतविपाकी और अनियतविपाकी कर्मों का बन्ध होता है। तीव्र कषाय के कारण हुए तीव्र एवं प्रगाढ़ बन्ध वाले कर्मों का विपाक नियत होता है, अल्पकषाय वाले कर्मों का बन्ध भी शिथिल होता है और विपाक भी अनियत।

बौद्धदर्शन में भी नियतविपाकी और अनियतविपाकी दोनों प्रकार के कर्म माने हैं। जिन कर्मों का फलभोग तथा प्रतिसंवेदन अनिवार्य हो, वह नियतविपाकी हैं तथा जिनका फलभोग एवं प्रतिसंवेदन अनिवार्य न हो, वे कर्म अनियतविपाकी हैं। नियतविपाक के चार भेद हैं—(१) दृष्ट धर्म वेदनीय (इसी जन्म में अनिवार्य फल देनेवाला), (२) उपपद्यवेदनीय (उपपन्न होकर अनन्तर जन्म में अनिवार्य फल देने वाला), (३) अपरापर्य वेदनीय (विलम्ब से अनिवार्य फल प्रदाता कर्म), (४) अनियत वेदनीय (स्वभाव बदला जा सकता है, किन्तु फल भोगना अनिवार्य है)।

इसके विपरीत अनियत विपाक कर्म के भी चार भेद इन्हीं रूपों वाले हैं।^१ किन्तु चारों में फलभोग आवश्यक नहीं हैं।

वैदिक परम्परा में भी कर्मविपाक की नियतता और अनियतता दोनों मानी गई हैं। 'ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को नष्ट कर देती है'^२ गीता का यह वाक्य कर्मों के विपाक की अनियतता को सूचित करत है। इसी प्रकार 'प्रारब्ध कर्मों का भोग अनिवार्य है,' इस वाक्य द्वारा कर्मविपाक की नियतता स्वीकृत की गई है।

कर्मविपाक में उपादान की अपेक्षा निमित्त का महत्त्व अधिक

जैनदर्शन में निमित्त और उपादान दोनों को महत्त्व दिया गया है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। विपाक (कर्मफल) के सम्बन्ध में उपादान की अपेक्षा निमित्तों का अधिक महत्त्व है। प्रज्ञापनासूत्र में विपाक के निमित्तों का विशेष निरूपण किया है। प्रत्येक कर्म के विपाक में वहाँ गति, स्थिति, भव, पुद्गल और पुद्गल-परिणाम, ये ५ मुख्य निमित्त बताए गए हैं, जिनका विश्लेषण हम पूर्वपृष्ठों में कर आए हैं।

जैनकर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने कर्मविपाक के लिए पांच मुख्य निमित्त बताए हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। इन पांच निमित्तों—आलम्बनों के आधार पर कर्मविपाक का

१. ये ही दोनों क्रमशः पृ. ३२२, ३२३ तथा ७९

२. 'ज्ञानाग्निः सद्यकर्मणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!

प्रासाद खड़ा किया है। इसी आधार पर कर्मप्रकृतियों को विपाक (फलदान) की दृष्टि से चार भागों में बांटा गया है। वे इस प्रकार हैं—क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, और भवविपाकी। कर्मविपाक के नियम द्रव्यादि चारों या पांचों पर अथवा क्षेत्रविपाकी आदि चारों बुनियादों पर आधारित हैं।^१

कर्मविपाक का द्रव्यगत नियम

कर्मविपाक का एक निमित्त है—द्रव्य। द्रव्यरूप निमित्त पर भी कर्मफल (विपाक) के नियमों का दारोमदार है। प्रज्ञापनासूत्र में द्रव्यरूप निमित्त में पुद्गल और पुद्गल-परिणाम को बताया है। किसी व्यक्ति ने अहितकर, अमनोज्ञ या दूषित अथवा विष-मिश्रित भोजन किया। उससे रोग हो गया। रोग होने से असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ। यहाँ असातावेदनीय कर्म के फलोन्मुख होने में अहितकर भोजनरूप पुद्गल का परिणाम निमित्त बना।

क्षेत्र के निमित्त से होने वाले कर्मविपाक के नियम

कर्म के विपाक का एक निमित्त है—क्षेत्र। किसी क्षेत्र में किसी कर्म का विपाक होता है, वह कर्म उदय में आकर फलोन्मुख हो जाता है, जबकि दूसरे क्षेत्र में उस कर्म का विपाक नहीं होता। जैसे उटकमण्ड (ऊटी), आदि शीतप्रधान क्षेत्र हैं, जबकि राजस्थान, अफ्रीका, मद्रास आदि उष्णप्रधान क्षेत्र हैं। शीतप्रधान देश में शीतजन्य रोग अधिक होते हैं, उष्णता-प्रधान देश में उष्णताजन्य रोग अधिक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का भौगोलिक (क्षेत्रगत) तथा द्रव्यगत कारण भिन्न भिन्न होता है, उसी के अनुरूप कर्मों के विपाक में भिन्नता एवं तरतमता होती है। जिस क्षेत्र में गर्मी का प्रकोप अधिक होता है, वहाँ लू लगती है, जहाँ सर्दी का प्रकोप अधिक होता है, वहाँ जुकाम, पलू, आदि रोगों का आधिक्य होता है।

क्षेत्रगत भिन्नता के कारण विपाक में परिवर्तन हो जाता है। तमिलनाडु में रहने वाले व्यक्तियों को हाथीपगा रोग हो जाता है, उनके पैर हाथी के पैर की तरह सूज जाते हैं, परन्तु राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि में ऐसा नहीं होता। क्षेत्रगत निमित्त के कारण कर्म के विपाक (फलभोग) में यह अन्तर आ जाता है। बम्बई में रहने वाले अधिकांश लोगों को स्निग्ध वायु के कारण दमा, श्वास आदि की बीमारी हो जाती है, किन्तु राजस्थान में वैसा नहीं होता।

इस प्रकार कुछ लोगों ने ऐसे क्षेत्र को छोड़ दिया और अपना कारोबार मध्यप्रदेश

१. (क) कर्मविज्ञान भा. १ खण्ड ३ में देखें—क्षेत्रविपाकी आदि कर्मप्रकृतियों का स्वरूप, पृ. ४९७
(ख) कर्मवाद से भावांश ग्रहण पृ. ७८

एवं राजस्थान में कर लिया। वहाँ रहने से क्षेत्रान्तर होने से कर्म का विपाक भी बदल गया। वहाँ उनके वह बीमारी न होने से असातावेदनीय कर्म का विपाक नहीं हुआ।^१

स्थानविशेष भी कर्मविपाक में कारण बन जाता है। श्रवणकुमार जब अपने माता-पिता को कावड़ में बैठाकर कुरुक्षेत्र की भूमि से गुजर रहा था, तब उसके परिणामों में अकस्मात् क्रूरता आ गई। वह आवेश में आकर माता-पिता के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने लगा; किन्तु उस स्थान को छोड़कर जब वह दूसरे क्षेत्र की भूमि में पहुँचा तो उसके परिणाम पुनः शुद्ध हो गए, वह पश्चात्तापपूर्वक क्षमायाचना करने लगा। यह क्षेत्र विशेष का प्रभाव था। उसके कारण क्रोधादि कषायमोहनीय कर्म के विपाक में भी अन्तर आ गया।^२

भगवान्-महावीर जब लाटदेश के वज्रभूमि (वडरभूमि), सिंहभूमि, आदि अत्यंत प्रदेशों में विचरण कर रहे थे, तो वहाँ के निवासियों के स्वभाव में अत्यन्त रुक्षता, कठोरता एवं निर्दयता थी। उसका कारण शास्त्रकार बताते हैं कि वहाँ घी, दूध, दही आदि स्निग्ध पदार्थों का बिल्कुल अभाव था। वे भी रुखा-सूखा भोजन करते थे इसलिए रुखा-सूखा अनाज ही खाने को मिलता था। इसी कारण उन लोगों के स्वभाव में स्निग्धता, कोमलता, एवं दयालुता बहुत कम थी। यह क्षेत्रगत कर्मविपाक समझना चाहिए।^३

एक क्षेत्र में कर्म का उदय, दूसरे क्षेत्र में कर्म का क्षय

इसी प्रकार एक क्षेत्र (स्थान-विशेष) में कर्म का उदय हो जाता है, दूसरे क्षेत्र में कर्म का क्षय हो जाता है। भरत चक्रवर्ती का चरित्र लिखने वाले कुछ लेखकों ने उनके राजमहलों का उल्लेख करते हुए लिखा है—जिस महल में भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान हुआ था, वह शीशमहल था। उस शीशमहल में भरत चक्रवर्ती के अतिरिक्त और सात राजाओं को भी केवलज्ञान हो गया था।

१. वही, भावांश ग्रहण, पृ. ९२

२. 'कुछ देखीं, कुछ सुनी' (स्व. मुनिश्री लाभचन्द्रजी म.) से

३. देखें, आचारंग श्रु. १ अ. ९ 'उपधानश्रुत' में—

अह दुच्चरलाटमचारी वज्रभूमिं सुम्भभूमिं च।

पतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाईं येव पंताइं॥

"अह लूहं-देसिए भते!"

"एलिकखए जणे भुज्जे बहवे वज्रभूमिं फरुसासी।"

"दुच्चरणाणि तस्य लाटोहिं।" १/९/३/८९, ८२, ८४ का विवेचन

नीचें राजा ने सोचा—“इस शीशमहल में जो भी राजा प्रवेश करके ध्यान में बैठे हैं, उसे संसार से विरक्ति हो जाती है। अतः ऐसा होना ठीक नहीं है। इस शीशमहल को तुड़वा दो, ताकि फिर किसी को इस प्रकार संसार से वैराग्य न हो।”

बस, केवलज्ञान की उपलब्धि वाले इस सुन्दर एवं प्रभावशाली स्थान (क्षेत्र) को नेस्तनाबूद करवा दिया उस नीचें राजा ने। निष्कर्ष यह है कि किसी-किसी क्षेत्र के निमित्त से शुभ कर्म-विपाक के बदले कर्मक्षय भी हो जाता है।

कर्मविपाक का नियम काल से भी बँधा हुआ है

काल भी कर्मफल (विपाक) में निमित्त होता है। यह कर्मविपाक में मुख्य निमित्त है। काल का प्रभाव भी कर्मफल पर पड़ता है। कर्मविपाक का एक नियम काल से भी बंधा हुआ है। शास्त्र में बताया है—स्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना चाहिए, अस्वाध्यायकाल में नहीं। स्वाध्याय के लिए दिन का प्रथम प्रहर नियत किया गया है, दिन के दूसरे प्रहर में ध्यान का नियम बताया गया है।

उसके कारणों की गहराई से छानबीन करने से ज्ञात होता है कि स्मरण करने का कार्य नी बजे से पूर्व तक अच्छा होता है। और चिन्तन-मनन एवं बौद्धिक स्फुरणा का जो कार्य है, वह नौ बजे के पश्चात् अच्छा होता है। अगर किसी विषय में विशेष खोजबीन करनी हो, शोधकार्य करना हो तो दो बजे के बाद का समय उत्तम होता है।

स्वाध्यायादि के काल का यह नियम इसलिए बनाया गया है कि अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने से, तथा ध्यानकाल को छोड़कर ध्यान करने से प्रतिकूल परिणाम आता है; ज्ञानावरणीय कर्म का विपाकोदय होने की सम्भावना है। नियम को समझकर कार्य करने वाला लाभ उठाता है, और नियम के विपरीत चलने वाला हानि। अतएव कर्मविपाक के कालनिमित्तक नियमों को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

ज्योतिर्विज्ञान ने स्पष्ट बतलाया है कि किस महीने में, किस ऋतु में, किस वार और किस राशि में चन्द्र, सूर्य आदि ग्रहों की गति और उनके विकिरण किस प्रकार के होते हैं, वे व्यक्ति के तन, मन को कैसे प्रभावित करते हैं? शरीर के प्रत्येक अवयव के साथ राशि, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। ज्ञान को विकसित करने, हृदय और मस्तिष्क को सम्पुष्ट करने के लिए राशि और नक्षत्र का निर्देश आगमों एवं ग्रन्थों में किया गया है।^१

१. जैनधर्म : अर्हत और अर्हताएं से भावांश ग्रहण पृ. २३०

२. (क) वही से भावांश ग्रहण पृ. २३०

(ख) पदमं पोरिसि सञ्जायं, बीयं ज्ञाणं झियायई।

तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सञ्जायं॥

—उत्तरा.२६/१२

(ग) जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. १२२

(घ) असञ्जाए सञ्जाइयं, सञ्जाए न सञ्जाइयं।

—आवश्यक सूत्र

ज्ञानवृद्धि करने के निमित्त : दस नक्षत्र तथा अन्य ग्रहादि भी

स्थानांग सूत्र में “ज्ञान की वृद्धि करने में हेतुभूत दस नक्षत्र बताये गए हैं—(१) मृगशिरा, (२) आर्द्रा, (३) पुष्य, (४) पूर्वाषाढा, (५) पूर्वाभाद्रप्रदा, (६) पूर्वाफाल्गुनी, (७) मूल, (८) अश्लेषा, (९) हस्त, और (१०) चित्रानक्षत्र, ये दस नक्षत्र ज्ञानवृद्धिकारक हैं।”

अमुक काल में अमुक नक्षत्र आता है। नक्षत्रों और ग्रहों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर और उसके कार्यकलापों पर पड़ता है—यह आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया है।

शास्त्रकारों की दृष्टि बहुत दूरदर्शी थी। कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम हो तथा कर्मों का विपाक भी हो तो शुभ हो, इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर उन्होंने कालकृत अमुक-अमुक नियम बताये थे। इन नियमों को जानने वाला साधक आसानी से निर्विघ्नतापूर्वक अपनी संयमसाधना कर सकता है।

ज्योतिर्विदों ने मुहूर्त देखकर कार्य करने का विधान किया है, उसके पीछे यही दृष्टिकोण है कि यात्रा, दीक्षा, तथा गृहप्रवेश, चातुर्मासिक प्रवेश आदि जो भी शुभ कार्य किये जाएँ, वे शुभ-मुहूर्त, शुभ नक्षत्र, योग, करण, तिथि, वार, चौघड़िया, चन्द्रमा आदि देखकर किये जाएँ, ताकि रोग, उद्वेग, पीड़ा, तथा अन्य अनिष्टों के कारण असाता-वेदनीय आदि कर्मों का विपाकोदय न हो जाए। कर्मों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम अथवा शुभ कर्मों का उपार्जन होने से शुभकार्य में विघ्न-बाधा, अनिष्ट या उपद्रव होने की आशंका कम रहती है।^१

प्रत्येक चर्या नियत काल में करने, न करने से लाभ-हानि

दशद्वैकालिक सूत्र में कहा गया है—‘काले कालं समाचरे’ अर्थात्—जिस चर्या या कार्य के लिये जो काल नियत किया है, अथवा जो काल लोकव्यवहार में प्रचलित है, उसे उसी काल (समय) में करना चाहिए। साधकों को अकाल में चर्या करने से क्या-क्या हानि होती है, इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है—‘हे भिक्षु! तू अकाल में चर्या करेगा, काल का प्रतिलेखन-परिप्रेक्षण नहीं करेगा, तो स्वयं तो संक्लेश पाएगा ही, साथ

१. दसणकखत्ता णाणस्स बुद्धिकरा षण्णत्ता, तं जहा—

मिगसिर भद्दा पुस्सो, तिण्णि य पुब्बाइं मूलमस्सेसा।

हस्यो चित्ता य तथा, दस बुद्धिकराइं णाणिस्स॥

—स्थानांग म्था. १०/१८१

२. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. १२२

ही उस सत्रिवेश (मोहल्ले या प्रदेश) की भी निन्दा करने लगेगा।” यहाँ से कर्मविपाक ब सिलसिला शुरू हो जाएगा।’

आत्मसम्प्रेक्षण का समय : कालकृत नियम से बंधा हुआ

दशवैकालिक सूत्र में आत्म-सम्प्रेक्षण की विधि और काल का उल्लेख किया गया है—“जो व्यक्ति पूर्व रात्रि और अपर रात्रि के सन्धिकाल में अपनी आत्मा का अपने आप सम्प्रेक्षण करता है कि मैंने क्या किया है? कौन-सा सत्कार्य करना बाकी है? तब कौन-सा ऐसा शक्य कार्य है, जिसे मैं नहीं कर रहा हूँ? मुझे दूसरे किस दृष्टि से देखते हैं? मेरी आत्मा क्या सोचती है, अपने बारे में? कौन-सी ऐसी स्वलना (दोष) है, जिसे मैं वर्जित नहीं कर रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् अनुप्रेक्षण करने वाला साधक भविष्य में होने वाले कर्मबन्ध से बच जाता है।” इस प्रकार आत्मावलोकन का काल और उससे होने वाले लाभ का निरूपण करके शास्त्रकार ने भावी कर्मविपाक से बचने की युक्ति बता दी है।’

स्वरोदयशास्त्र भी कालकृत नियम की सम्पुष्टि करता है

कर्मविपाक के नियम को समझने के लिए स्वरोदयशास्त्र भी बहुत उपयोगी है। यदि चन्द्र-स्वर और सूर्य-स्वर के नियम के आधार पर अमुक-अमुक कार्य करने-न करने का सकेत समझा जाए तो कर्म-विपाकोदय से बचा जा सकता है। स्वरोदय शास्त्र में बताया गया है कि “सूर्यकाल में यदि चन्द्रस्वर चलता है, या चन्द्रकाल में सूर्य स्वर चलता है तो उद्वेग, कलह और हानि की संभावना है। अतः विपरीत स्वर चल रहा हो, उस समय समस्त शुभ कार्य नहीं करने चाहिए।”^३

फलितार्थ यह है कि चन्द्रकाल में चन्द्रस्वर और सूर्यकाल में सूर्यस्वर चले तथा सुषुम्नाकाल में सुषुम्नास्वर चले तो शुभ कार्यों में विघ्न-बाधाएँ नहीं पहुँचतीं। साथ ही,

१. (क) कालेण निक्खमे भिक्खु, कालेण य पडिक्खे।
अकालं च दिवग्जिता, काले कालं समायरे ॥४॥
- (ख) अकाले चरसि भिक्खु, कालं न पडिलेहीसि।
अप्पाणं च किलामेसि, सत्रिवेसं च गरिहसि ॥५॥ -दशवै. ५/२/४-५
२. जो पुत्र रत्ता वररत्तकाले, सपिक्खए-अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न सभायरामि?
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाहं खलिअं न दिवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुञ्जा।
-दसवेयालिय, विधित्तचरिया, चू. २, गाथा १२-१३
३. चन्द्रकाले यदा सूर्यः, सूर्यश्चन्द्रोदये भवेत्।
उद्वेगः कलहो हानिः, शुभं सर्वं निवारयेत् ॥
-स्वरोदय शास्त्र

स्वरोदयशास्त्र में प्रत्येक स्वर के लिए ढाई-ढाई घड़ी (एक-एक घण्टा) का समय नियत किया गया है। सूर्योदय से लेकर प्रति ढाई घड़ी के पश्चात् स्वर बदल जाता है। सूर्यस्वर चलता हो, उस समय पिंगला नाड़ी सक्रिय होती है, जो तदनुसार कठोर कार्य करने वाले को शक्ति और क्षमता प्रदान करती है। जब चन्द्रस्वर चलता हो, उस समय इड़ा नाड़ी सक्रिय होती है, जो सौम्यकार्य तथा शान्ति एवं शीतलताजनक कार्यों में सहायक होती है।

इसलिए वहाँ कहा गया—“चन्द्र नाड़ी चल रही हो, उस समय सौम्यकार्य करने चाहिए, तथा सूर्यनाड़ी प्रवाहित हो रही हो, उस समय कठोर, कठिन तथा दुष्कर श्रमसाध्य कार्य करने चाहिए, एवं सुषुम्ना (दोनों के बीच) का प्रवाह चल रहा हो उस समय भुक्ति (भोजन या उपभोग) एवं मुक्ति का फल देने वाले कार्य करने चाहिए।”

आशय यह है कि सूर्यस्वर में निर्दिष्ट कार्य करने से या तो अन्तराय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होना सम्भव है, या फिर सातावेदनीय कर्म का या शुभ नामकर्म का विपाक (फलोन्मुख) होना सम्भव है। इसी प्रकार चन्द्रस्वर में निर्दिष्ट कार्य करने से या तो ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम का अवसर मिलेगा, या फिर क्रोधादि मन्द होने से मोहनीय कर्म का उपशम भी सम्भव है, कर्म विपाक भी होगा तो शुभ कर्मों का होगा।

इसी आधार पर शास्त्र में बताया गया है कि किस समय स्वाध्याय करना चाहिए, किस समय नहीं? ध्यान और आत्मसम्प्रेक्षण के समय का निर्देश भी इसी दृष्टि से किया गया है। अतः आत्मसम्प्रेक्षण धर्म जागरणा आदि के जितने भी नियम बताए गए हैं। उनके साथ काल को मुख्य आधार माना गया है।”

कालगत नियमों पर अन्धविश्वास, अविश्वास और विश्वास का परिणाम

किस समय में, किस काल में, किस कर्म का विपाक होता है? इसी तथ्य के आधार पर अनेक नियम बनाये गए हैं। नियमों को नहीं जानने वाले लोग यही कह बैठते हैं—“यह सब अन्धविश्वास है। हम समय में बंधते नहीं, अपनी इच्छा हुई, जब कोई काम कर लिया, इसमें समय क्या करेगा?”

परन्तु ऐसा कहने वाले लोग अनेक कार्यों में विघ्न, संकट, उपद्रव, विलम्ब आदि होने पर महसूस करते हैं कि कालनिर्दिष्ट नियमों को अन्धविश्वास कहकर टुकराने से हमें बहुत हानि हुई है। नियमों को जानने वाले और तदनुसार चलने वाले सब प्रकार से

१. (क) जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण, पृ. २३१

(ख) चन्द्रनाड़ी-प्रवाहेण सौम्यकार्याणि कारयेत्। सूर्यनाड़ी-प्रवाहेण रौद्र कर्माणि कारयेत्।

सुषुम्नायाः प्रवाहेण भुक्ति-भुक्ति-फलानि च ॥

—स्वरोदय शास्त्र

लाभान्वित होते हैं। अवसर को चूकने वाला पछताता है और अवसर से लाभ उठाने वाला प्रसन्न रहता है।

मुर्शिदाबाद के जगत्सेठ के विषय में सुना है कि उनके पास एक दिन अजीबिका का कोई भी साधन नहीं था। जीवन में निर्धनता और विपन्नता छाई हुई थी। वे एक जैन मुनि के पास पहुँचे। जैन मुनि ने स्वरोदय के आधार पर कहा—“श्रावकजी! मंगलपद सुन तो, यह समय बहुत श्रेष्ठ है।”

जगत्सेठ मांगलिक सुनकर मुनि को वन्दन करके सीधा व्यापार के लिए चल पड़ा। जो भी व्यापार किया, उसमें वारे-न्यारे हो गये। उसके यहाँ लक्ष्मी क्रीड़ा करने लगी। श्रेष्ठ व्यापारियों में उसकी गणना होने लगी।

यह था—कालकृत नियम के अनुसार चलने से लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से अवसर को न चूकने का सुपरिणाम!१

नया सम्बन्ध बांधने में कालगत नियमों का उपयोग

क्रिमी के साथ नया सम्बन्ध स्थापित करने में भी कालकृत नियम बहुत उपयोगी होता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध जोड़ने में, दीक्षा देने में भी मूर्हत का, चौघडिये का, तथा समय का विचार किया जाता है।

देखा गया है कि अशुभ समय में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जुड़ा है तो वह अधिक निभने वाला नहीं हुआ, वह टूट ही गया। इसके विपरीत शुभ समय में गुरु शिष्य का सम्बन्ध जुड़ गया तो वह घिरकाल स्थायी रहा, परस्पर धर्म-स्नेह-वर्द्धक रहा, अमुक कर्मों का क्षयोपशम हुआ, अथवा सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों का विपाक हुआ।

मागाजिक सम्बन्धों को जोड़ने के समय भी काल सम्बद्ध नियमों का विचार किया जाना है। इसके फलस्वरूप अमुक समय में अमुक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध जुड़ा और वह घिरस्थायी एवं अच्छा रहा। इसके विपरीत, समय न देखकर जैसे-तैसे सम्बन्ध जोड़ लिया, वह दो-चार वर्ष निभा, फिर टूट गया। दोनों पक्षों के दिल टूट गए, मनोमालिन्य बढ़ गया। अशुभ कर्मों का विपाक दृष्टिगोचर होने लगा। किस समय कौन-सा कार्य करना चाहिए, जिससे या तो शुभ कर्मों का विपाक हो, या फिर कर्मक्षयोपशम का लाभ हो, इसके सन्दर्भ में अनेक नियम बने हैं।२

जीवन के तीन अवस्थागत नियम भी कर्मविपाक को प्रभावित करते हैं

प्रत्येक जीव के जीवन की तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं—बाल्यावस्था, युवावस्था और

१. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण, पृ. २२२

२. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. १२४

बृद्धावस्था। इन तीनों अवस्थाओं में भी कालगत कर्मविपाक के नियम पृथक् पृथक् होते हैं। यद्यपि इन तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के पूर्वजन्मगत और इस जन्म के संस्कार, वातावरण आदि का भी प्रभाव होता है; फिर भी सामान्यतया बचपन में प्रायः कोमल मन, भोला भद्र स्वभाव और अल्प बौद्धिक विकास होता है। इसके कारण कर्मविपाक भी मन्द और प्रायः शुभ होता है।

युवावस्था में तन, मन, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, आदि सब सशक्त, कठिन कार्यक्षम, साहसतत्पर, उत्साहयुक्त एवं बलिष्ठ हो जाते हैं। युवक वर्ग के लिए कोई भी कठिन कार्य करना प्रायः आसान होता है। परन्तु युवावस्था में वासना कामना उद्दाम हो जाती हैं, किसी-किसी में लोभ, मोह तथा सन्मान, धन, साधनों आदि के प्रति आसक्ति या मूर्च्छा अत्यधिक हो जाती है। व्यक्ति विषय-वासनाओं के भंवरजाल में फँस जाता है और अपने लक्ष्य को भूल जाता है। इसलिए कर्मों का सर्वाधिक विपाक इसी अवस्था में होता है।

इसके पश्चात् आता है बुढ़ापा। बुढ़ापे में तो इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। आँख, कान आदि से देखना-सुनना कम हो जाता है, किसी किसी के तो दोनों ही जबाब दे देते हैं। तन-मन की शक्ति क्षीण हो जाती है, किसी कार्य को करने का, धर्माचरण, तप, जप, सेवा आदि करने का उत्साह नहीं रहता। यदि स्निग्ध काल और स्निग्धक्षेत्र हो तो आयु बहुत लम्बी होगी, बुढ़ापा जल्दी नहीं आएगा, जबकि रुक्षकाल और रुक्षक्षेत्र में आयु थोड़ी हो जाएगी, बुढ़ापा भी जल्दी आ जाएगा।

बुढ़ापा यों तो ४० वर्ष के बाद प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों उम्र ढलने लगती है, त्यों-त्यों शरीर, मन और इन्द्रियों की शक्तियाँ घटती जाती हैं। पचास वर्ष की उम्र में केश पकने लग जाते हैं। साठ में तो वह थक जाता है। सत्तर वर्ष के बाद तो आदमी नितान्त बूढ़ा हो जाता है। दाँत भी गिरने लगते हैं, केश सारे रूई की पूनी की तरह सफेद हो जाते हैं, घुटनों और टँगों में दर्द रहने लगता है। यह बुढ़ापा कालकृत है, स्वाभाविक है।

इसीलिए 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है—“जब तक बुढ़ापा पीड़ित नहीं करे, जब तक शरीर में कोई व्याधि न बढ़े, और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हों तब तक धर्माचरण कर लो।”

शीघ्र बुढ़ापा आने का एक कारण है मनोभाव। बुढ़ापे में मनोभावों में उदासी, चिन्ता, निराशा, घबराहट, तथा कषाय की प्रबलता है, तो वह शायद चालीस या पचास वर्ष में ही आ जाए। बुढ़ापा आने पर असातावेदनीय तथा आयुष्य कर्म के विपाक की अधिक सम्भावना होती है।^१

१. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न चड्ढइ।
जायिदिया न हायति, ताव धम्मं समायेरि ॥

-दशवैकालिक ८/३६

२. जैन दर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. ११८

निद्रा भी कालगत नियम से सम्बद्ध, कर्मविपाक की कारण

निद्रा भी काल के नियम से सम्बन्धित है। बहुत-से लोगों को ध्यान और स्वाध्याय आदि के समय में नींद आने लगती है और नींद का समय होता है, रात्रि को बिछौने पर लेटते हैं तो नींद नहीं आती। दिवस निद्रा का काल नहीं है पर उस समय कई लोगों को नींद आती है। दर्शनावरणीय कर्म के परमाणु प्रभावित करते हैं तब व्यक्ति को निद्रा आती है। प्रातःकाल नौ या दस बजे का समय दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का समय नहीं, क्योंकि वह प्रायः निद्रा का समय नहीं है। निद्रा का समय प्रायः रात्रि को नौ-दस बजे का है, अतः वह दर्शनावरण कर्म के विपाक का समय है।^१

फल दिये बिना भी कर्म आत्मा से अलग हो सकते हैं : कैसे और किस नियम से ?

पूर्वोक्त द्रव्यादि-निमित्तक कर्मफल नियमों में से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म अपना फल दिये बिना ही आत्मा से अलग हो सकते हैं या नहीं ?

इसका समाधान करते हुए भगवती-आराधना में कहा गया है—यदि उदीयमान कर्मों को अनुकूल सामग्री नहीं मिलती है, तो बिना फल दिये ही उदय होकर कर्म आत्मप्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार दण्डचक्रादि निमित्त कारणों के अभाव में केवल मिट्टी से घड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार सहकारी कारणों (द्रव्यक्षेत्रादि निमित्तों) के अभाव में कर्म भी फल नहीं दे सकते।^२

स्थितिकाल पूरा होने से पहले भी कर्म फलप्रदान कर सकते हैं : कैसे और किस नियम से ?

इसी से सम्बन्धित एक प्रश्न और उभरता है कि क्या कर्म अपना स्थितिकाल पूरा होने पर ही फल देते हैं या स्थितिकाल पूरा होने से पहले भी फल दे सकते हैं ?

‘ज्ञानार्णव’ आदि में इस प्रश्न का समाधान यों किया गया है—सामान्य नियम यह है कि कर्म का बन्ध होते ही उसमें उसी समय फल (विपाक) प्रदान का प्रारम्भ नहीं हो जाता, वह निश्चित अवधि (स्थिति) के पश्चात् ही फल देता है। अर्थात्—स्थितिबन्ध (कालावधि) समाप्त होने के पश्चात् ही फल प्रदान करता है। किन्तु जिस प्रकार असमय में आम आदि फलों को पाल आदि के द्वारा पकाकर रस देने योग्य कर दिया जाता है। उसी प्रकार स्थिति पूरी होने से पहले ही तपश्चरणादि के द्वारा कर्मों को पका देने पर वे

१. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण पृ. ११९

२. (क) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. २१६

(ख) भगवती आराधना (विजयोदया वृत्ति) गा. ११७० पृ. ११५९

अकाल में भी फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। अतः कर्म यथाकाल और अयथाकाल रूप से फल प्रदान करते हैं।^१

कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—प्राप्तकाल कर्मोदय एवं अप्राप्तकाल कर्मोदय। दीर्घकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तप आदि साधना द्वारा विफल बनाकर स्वल्प समय में ही भोग लिये जाते हैं, ऐसे कर्मों का उदय अप्राप्तकाल में हो जाता है। इसी प्रकार अपवर्तना से भी अप्राप्तकाल कर्मोदय होता है; उससे कर्मों की उदीरणा भी हो जाती है। सामान्यतया तो स्थितिबन्ध समाप्त होने पर स्वाभाविक रूप से कर्मोदय होता है, उसे प्राप्तकाल कर्मोदय कहते हैं।

इस सम्बन्ध में एक नियम और समझ लेना चाहिए—एक ही समय में बंधे हुए समस्त कर्म एक ही समय में फल प्रदान नहीं करते, किन्तु जिस क्रम से उनका उदय होता है, उसी क्रम से ही वे फल प्रदान करते हैं।^२

भावों के निमित्त से शुभाशुभ कर्मफल या कर्मक्षय भी

कर्मविपाक में भाव भी एक निमित्त है। जब मनुष्य के मन में रागादि भावों की या कषाय-भावों की तीव्रता होती है तो कर्मों का विपाक अत्यधिक तीव्र और शीघ्र फलदायक होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि मनोभाव व्यक्ति में सदा एक-से नहीं रहते, वे बदलते रहते हैं।

एक व्यक्ति को किसी संगीत को सुनकर कामोत्तेजना के भाव आते हैं, किसी को कामोत्तेजक दृश्य फिल्म में देखकर कामवासना के भाव उमड़ते हैं। किसी व्यक्ति को देशया या कुलटाओं के यहाँ शृंगार, सौन्दर्य एवं साजसज्जा का वातावरण देख कर कामवासना भड़क उठती है। इसी प्रकार किसी अवांछनीय व्यक्ति, प्रतिकूल परिस्थिति अथवा किसी स्थान विशेष के निमित्त से क्रोध भड़क उठता है। किसी क्षेत्र के निमित्त से भी आदमी के भाव बिगड़ जाते हैं, जबकि किसी क्षेत्र में जाते ही कषाय-भाव शान्त हो जाते हैं। मनुष्य का मूड बिगड़ने में काल भी एक निमित्त बनता है। सुबह-सुबह मूड कम बिगड़ता है, दोपहर में या गर्मी के समय में प्रायः शीघ्र ही मूड बिगड़ जाया करता है। एक समय ऐसा होता है, जब व्यक्ति का मूड (मनोभाव) अच्छा रहता है, जबकि दूसरे समय में उसी व्यक्ति का मूड ऑफ हो जाता है। एक व्यक्ति एक समय जो सरल सरस सञ्जन

१. (क) ज्ञानार्णव ३५/२६-७,

(ख) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक २/५३/२

(ग) विपाक सूत्र—प्रस्तावना, (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ३२-३३

२. जैनदर्शन और अनेकान्त से भावांश ग्रहण, पृ. १२३

था, अच्छे भावों का धनी था, किन्तु दूसरे समय में उसी व्यक्ति का मनोभाव बदला हुआ होता है, वह चिढ़कर झुंझलाकर चोल्ता है।

एक ही व्यक्ति ऐसा क्यों हुआ ? इसका समाधान भावों के निमित्त से कर्मविपाक के नियमों को जानने से ही हो सकता है। किन भावों के निमित्त से कौन-से कर्म का विपाक (फलोदय) होता है, इसके विभिन्न नियम जैन-कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों के द्वारा प्ररूपित आगमों तथा ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। अपने अनुभवों से कर्मविज्ञानरसिक उन नियमों को हृदयंगम कर सकता है। और फिर संवर-निर्जरारूप धर्म की सम्यक् आराधना और बाह्यान्तर तपःसाधना कर सकता है। ऐसा करके वह अशुभ कर्म-विपाक को शुभ कर्म-विपाक में बदल सकता है और आने वाली बुराइयों और विपत्तियों से अपनी रक्षा कर सकता है।

अर्जुन मुनि ने भावों के संक्रमण एवं परिवर्तन द्वारा इस सत्य को साकार कर दिया

अर्जुनमाली एक दिन हत्यारा था। प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने की दुर्भावना संजोए हुए था; किन्तु सुदर्शन श्रमणोपासक के निमित्त से उसके भावों में परिवर्तन हुआ, फिर भगवान् महावीर के पास जाने पर उसके भावों में हार्दिक परिवर्तन हुआ, सारी परिस्थिति ही फिर तो बदल गई। अर्जुनमाली से वह अर्जुन मुनि बना। आजीवन छट्ट (दो) उपवास के अनन्तर पारणा करने का संकल्प किया। जिस राजगृह के लोगों के सम्बन्धियों को उसने मारा था, प्रायः उन्हीं के घरों में पारणे के दिन भिक्षा के लिए जाते थे। लोगों ने उनकी भर्त्सना की। डंडों, मुक्कों, लाठियों आदि का प्रहार किया। किसी ने गाली दी, किसी ने टंडा, बासी, रूखा-सूखा आहार-दिया, तो प्रासुक पानी नहीं दिया। किसी ने सिर्फ प्रासुक पानी दिया तो आहार न दिया।

इन सब कठोर परीषहों और उपसर्गों के प्रसंग पर दूसरा होता तो तुरन्त भड़क उठता, क्रोधादि कषायभाव से ओतप्रोत होकर कषायमोहनीय कर्मों का विपाक तीव्र कर लेता।

मगर अर्जुनमुनि ने समता और क्षमा का अमोघशस्त्र अपनाया, कषाय-आम्रव के बदले अकषाय-संवर का आश्रय लिया, आहार-पानी न मिला तो भावपूर्वक बाह्य आभ्यन्तर तप का आश्रय लिया। भेदविज्ञान और कायोत्सर्ग की भावना को साकार कर दिया। फलतः जो नरक गति का कर्म दीर्घतर स्थितिबन्ध तथा तीव्र अनुभाव-बन्ध था, उससे नरकगति का कर्मविपाक (फल) प्राप्त होने वाला था, उसके बदले चार घाती रूप और चार अघातीरूप, आठ ही कर्मों को केवल छह महीनों में ही क्षय करके वे सिद्ध बुद्ध एवं सर्वकर्म मुक्त हो गए।^१

१. देखें-अन्तकृद्दशा सूत्र में अर्जुनमालाकार का वर्णन

कर्मफल भोगते समय न तो दीन बनो, न ही मदान्ध बनो, किन्तु समभावस्थ रहो

एक आचार्य ने कर्मफल समभाव से भोगने की प्रेरणा देते हुए कहा—“सारा जगत् कर्मविपाक के अधीन है यह जानकर मुनि न तो दुःख में दीन बनता है और न ही सुख पाकर विस्मित होता है।”

कर्मों के सुख-दुःख रूप फल पाकर समभाव में स्थिर रहना ही सच्ची जीवन साधना है। सुखरूप फल पाकर उन्मत्त एवं मदान्ध हो जाना तथा दुःखरूप फल पाकर दीन-हीन एवं निराश हो जाना अज्ञानता है। ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि तो यही सोचता है, कि कर्म बांधते समय मुझे सौ बार विचार करना चाहिए था, परन्तु नहीं किया, अब उसका फल भोगते समय दीनता-विषमता मन में क्यों लाऊँ और क्यों दिखाऊँ? ऐसा ज्ञानी पुरुष कषायादि भावों के निमित्त से हो जाने वाले कषायमोहनीय के तीव्र विपाक से बचकर सर्वकर्म क्षय करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाता है। ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि तो शुभकर्म के उदय में भी विस्मित, हर्षित, उन्मत्त एवं अहंकारग्रस्त नहीं होता। वह जानता है कि तात्त्विक दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा को आवृत विकृत व कुण्ठित करते हैं। सूर्य काले कजरारे मेघों में छिपे या सफेद मेघों में, उसके प्रकाश में अवश्य ही अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के गुणों को आच्छादित करने वाले होने से हेय ही हैं। साधक दशा में भले ही शुभ उपादेय रहे, परन्तु मोक्ष तो दोनों के क्षय से ही होगा।^१

निष्कर्ष यह है कि विभिन्न कर्मफलों के विपाकों में निमित्तभूत द्रव्य-क्षेत्रादि से प्रतिबद्ध नियमों को जानकर उनसे लाभ उठाना चाहिए।

१. (क) दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः।

मुनिः कर्मविपाकस्थ, जानन् परवशं जगत्॥

(ख) जिनवाणी कर्म-सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित कर्मविपाक (तालचन्द्रजैन) लेख से, पृ.

१२२

पुण्य-पापकर्म का फल : एक अनुचिन्तन

संसार का चक्र कर्म की धुरी पर चलता है

यह संसार अनादिकाल से कर्म की धुरी पर घूमता चला आ रहा है। इसके घ्रमण का व्यक्तिशः रूप से भले ही अन्त हो जाता हो, किन्तु प्रवाह रूप से कभी अन्त नहीं होता। वस्तुतः यह संसार ही कर्म के आधार पर टिका हुआ है। भारतीय लोगों के मुख पर तो यह वाक्य रमा हुआ है—“कर्मप्रधान विश्व रचि राखा।”

यह संसार कर्मभूमि है। कर्म, उसका फल और फलभोग, फिर कर्म, उसका फल और फलभोग; इस प्रकार संसार का चक्र कर्म की धुरी पर चल रहा है। जो जैसा कर्म करता है, उसे उसी के अनुरूप फल मिलता है, जो उसे देर-सबेर भोगना पड़ता है।

जीवरूपी क्षेत्र में बोया गया जैसा बीज, वैसा ही फल

संसारी जीव (आत्मा) कर्मरूपी बीज बोने का क्षेत्र (खेत) है। वही कर्म-बीज कभी तत्काल, कभी उसी जन्म में और कभी जन्मान्तर में फलित होते हैं। व्यक्ति मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप में राग-द्वेष-कषाय की तीव्रता-मन्दतापूर्वक जिस प्रकार से जिस कर्म के बीज बोता है, कालान्तर में वे ही बीज उसी रूप में पुष्पित-फलित होते हैं।

जिस प्रकार कोई कृषक अपने खेत में धान (चावल) बोये और गेहूँ की फसल काटना चाहे, यह कदापि सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार पाप कर्म करके पुण्यफल प्राप्त करना चाहे, यह भी असम्भव है।

इसीलिए वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट कहा गया है—“हे कल्याणि! कर्ता शुभ अथवा अशुभ जैसा भी आचरण (कर्म) करता है, उस कर्म का फल उसी रूप में वह पाता है।” सूत्रकृतांग सूत्र भी इस तथ्य का साक्षी है—“जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका फलभोग प्राप्त होता है।” तथैव अतीत में जैसा भी, जो भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह (उसी प्रकार के फल-रूप में) उपस्थित होता है। महाभारत वनपर्व में भी इसी सत्य का समर्थन किया गया है—“हे पुरुषोत्तम! जो व्यक्ति जैसा भी शुभ या अशुभ

कर्म करता है, उसका तथारूप फल अवश्य ही प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।^१

पुण्य और पाप का फल : सुख और दुःख

निष्कर्ष यह है कि आत्मा रूपी कर्मक्षेत्र में व्यक्ति जैसा शुभ या अशुभ कर्म-बीज बोता है, उसका फल भी शुभ या अशुभ रूप में प्राप्त करता है। जैन, बौद्ध, वैदिक दर्शनों में शुभ या कुशल कर्म को पुण्य और अशुभ या अकुशल कर्म को पाप कहा गया है। व्यक्ति पुण्य कर्म का शुभ फल पाता है, उससे मन में सुखानुभूति प्राप्त होती है, पुण्य का फल भोगने में सुखदायक प्रतीत होता है।

‘योगदर्शन’ में पुण्य-पाप का साक्षात् फल बताते हुए कहा गया है—“वे जन्म, आयु और भोग (क्रमशः) पुण्य-पाप हेतुक होने से आल्हाद और परितापरूप (सुख-दुःखरूप) फल वाले होते हैं। अर्थात्—पुण्य हेतु वाले जाति (जन्म), आयु और भोग सुखमय तथा पाप हेतु वाले जाति, आयु और भोग दुःखरूप होते हैं। निष्कर्ष यह है कि पुण्य का फल सुख-शान्ति और पाप का फल दुःख और अशान्ति है।^२ पुण्यकर्म लोक-परलोक, जन्म-जन्मान्तर, सर्वत्र तथा आदि, मध्य और अन्त तीनों कालों में सदैव सुखदायक होते हैं।

पुण्यपरमार्थ के फलस्वरूप व्यक्ति को अच्छी-बुरी जो भी साधन, सामग्री, सम्पदा, समृद्धि आदि मिलती है, उसमें सुख-शान्ति और सन्तोषवृत्ति प्राप्त होती है। जो शुभ विचार, शुभ वचन और शुभ कार्य के साथ पुण्यकर्म में रत रहता है, उसे राज्य, समाज और जाति का भय नहीं रहता।^३ उसे न ही लोक की चिन्ता करनी पड़ती है और न परलोक की। सचमुच, पुण्यशाली का हृदय प्रसन्नता, प्रफुल्लता तथा सुख-शान्ति से ओतप्रोत रहता है। वह चैन की नींद सोता है, और निश्चिन्त होकर विचरण करता है। यही पुण्य का वास्तविक फल है।

१. (क) यदाचरति कल्याणि! शुभं वा यदि वाऽशुभम्।

तदेव लभते भद्रे! कर्ता कर्मजमालनः॥ —चाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड ६/६

(ख) ‘जहा कड कम्म तहासि भारे।’ —सूत्रकृतांग १/५/१/२६

(ग) जं जारिसं पुब्बमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति सम्पराए। —वही, १/५/२/२३

(घ) यत्करोत्यशुभं कर्म, शुभं वा यदि सत्तम।

अवश्यं तत्समानोति, पुरुषो नाऽत्र संशयः॥ —महाभारत, वनपर्व, अ. २०८

२. देखें—ते आल्हाद-परिताप फलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात्।—योगदर्शन २/१४ पर विवेचन, (डॉ. उदयवीर शास्त्री) पृ. १०५

३. केवल अपने लिए ही न जीएं (श्रीराम शर्मा आचार्य) से पृ. १११

पुण्य और पाप का अस्तित्व : एक अनुचिन्तन

सूत्रकृतांग सूत्र में पुण्य-पाप के अस्तित्व के सम्बन्ध में अन्यतीर्थिकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके उनका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। कई अन्यतीर्थिकों का कथन है—इस जगत् में पुण्य नाम का कोई पदार्थ नहीं, एकमात्र पाप ही है। पाप कम हो जाने पर सुख उत्पन्न होता है, बढ़ जाने पर दुःख।

दूसरे दार्शनिक कहते हैं—जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पुण्य ही है। पुण्य घट जाता है, तब दुःख उत्पन्न होता है और बढ़ जाता है, तब सुख उत्पन्न होता है।

तीसरे मतवादी कहते हैं—पुण्य या पाप दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि जगत् की विचित्रता, नियति, स्वभाव आदि के कारण होती है।

इसका समाधान शास्त्रकार करते हैं—चे सभी दार्शनिक भ्रम में हैं। पुण्य और पाप दोनों का नियत सम्बन्ध है। एक का अस्तित्व मानने पर दूसरे का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। यदि सब कुछ नियति या स्वभाव आदि से होने लगे तो क्यों कोई सत्कार्य में प्रवृत्त होगा? फिर तो किसी को अपने द्वारा कृत शुभाशुभ क्रिया का फल भी प्राप्त नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः पुण्य और पाप दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही ठीक है।^१

पुण्य की महिमा

पुण्यशाली के मन में किसी भी स्थान या किसी भी काल में दुःख का कोई कारण उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि स्थूल दृष्टि वाले लोगों की दृष्टि में उसका जीवन दुःख और अभाव से पीड़ित मालूम देगा, फिर भी उसकी आत्मा में भरी पुण्यराशि उसके तन-मन पर दुःख का प्रभाव नहीं पड़ने देगी। पुण्यपरमार्थी सत्कर्मी कदाचित् धनहीन रहता है, तब भी उसका धैर्य उसे सदैव प्रसन्न एवं आन्तरिक सम्पन्नता से ओतप्रोत ही रखता है। बाह्य धन रहे या जाए, उसकी आत्मिक प्रसन्नता और मस्ती में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः पुण्यकर्म का निश्चित फल आत्मिक सुख एवं आत्मसन्तोष है।^२

१. देखें—'णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।

अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं निवेसए॥'

—सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५ सू. ७६९ का मूलपाठ, अनुवाद एवं विवेचन

(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १५३, १५४

२. केवल अपने लिए ही न जीएं (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. १११

पुण्यकर्म का सुफल : वैदिक वाङ्मय में

पुण्यक्रिया के सुफल की चर्चा करते हुए 'योगवशिष्ठ' में कहा गया है—“हे सज्जन! मानसिक व्याधाएँ (आधि) और शारीरिक व्याधियाँ भी शुद्ध पुण्यक्रिया और साधुसेवा से नष्ट हो जाती हैं। पुण्य से मन उसी प्रकार निर्मल (पवित्र) हो जाता है, जिस प्रकार कसौटी पर कसने से सोना निर्मल हो (निखर) जाता है। हे राघव! पुण्यकर्म से देह शुद्ध होने पर चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है। सत्त्व (अन्तःकरण) की शुद्धि से प्राणवायु व्यवस्थित रूप से शरीर में प्रवाहित होती है। अन्न का पाचन ठीक तरह से होता है, इसके कारण व्याधि नष्ट हो जाती है।”

छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि “वास्तव में, यह जीव पुण्यकर्म से पुण्यशाली होता है, अर्थात् पुण्य-योनि में जन्म पाता है, और पापकर्म से पापात्मा होता है, अर्थात्—पाप-योनि में जन्म ग्रहण करके दुःख उठाता है।”

अच्छे कर्म करने वाला अच्छा होता है, सुखी एवं सदाचारी कुल में जन्म पाता है, और पाप करने वाला पापात्मा होता है, पापी कुल में जन्म लेकर पापाचार में वृद्धि के फलस्वरूप दुःख पाता है।

‘छान्दोग्य-उपनिषद्’ भी इस तथ्य की साक्षी है कि “अच्छे आचरण करने वाले उत्तम योनि (ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य योनि) प्राप्त करते हैं और नीच आचरण (पापकर्म) करने वाले नीच योनियों (नरक, तिर्यञ्च या अन्त्यज, म्लेच्छ, अनार्य) योनियों में जन्मते हैं।”

जैनदृष्टि से पुण्यफल की चर्चा

इसी तथ्य का समर्थन ‘धवला’ में किया गया है—वहाँ प्रश्न किया गया है—पुण्य के

१. (क) आधिक्षयेणाधि भवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम्।

शुद्धया पुण्यया साधो! क्रियया साधुसेवया ॥

मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव कांचनम्।

आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव! ॥

सत्त्वशुद्धया वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः।

जरयन्ति तथाऽन्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति ॥

—योगवशिष्ठ

(ख) “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन ॥

साधुकारी साधु भवति, पापकारी पापो भवति ॥

—छान्दोग्य उपनिषद्

(ग) तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापधेरन्। ब्राह्मण योनि क्षत्रिययोनि वैश्ययोनि वा। अथ य इह कपूय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापधेरन्।

—छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/७

फल कौन-कौन से हैं? उत्तर दिया गया है—“तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।”

पुण्य का महिमागान करते हुए ‘कुरल काव्य’ में कहा गया है—“धर्म से मनुष्य को स्वर्गप्रद पुण्य प्राप्त होता है, तथा अन्त में सुदुर्लभ निर्वाण की भी प्राप्ति होती है। फिर भला मनुष्यों के लिए धर्म से बढ़कर लाभदायक कौन-सी वस्तु है? धर्म (पुण्य) से बढ़कर देहधारियों के लिए कोई सुकृति नहीं है और उसको छोड़ देने से बढ़कर कोई दुष्कृति (बुराई) नहीं है।”

महापुराण में कहा गया है—“पुण्य के बिना चक्रवर्ती आदि के समान अनुपम रूप, सम्पदा, अभेद्य शरीर का गठन, अतिशय उत्कट निधि, रत्नऋद्धि, हाथी, घोड़े आदि का परिवार तथा अन्तःपुर का वैभव, भोगोपभोग, द्वीप समुद्रों पर आधिपत्य एवं ऐश्वर्य आदि सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं?”

पुण्य की महिमा और सुफलता

आगारधर्मांमृत में कहा गया है—“यदि पूर्वोपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीरादि भी यथेष्ट प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो स्वयं को कष्ट देने पर भी वह बिलकुल प्राप्त नहीं हो सकता।”

अनगारधर्मांमृत में भी कहा गया है—“पुण्य यदि उदय के सम्मुख है तो दूसरे उपाय करने से क्या प्रयोजन है और यदि वह सम्मुख नहीं है, तो भी तुम्हें दूसरे सुख के उपाय करने से भी क्या प्रयोजन है?”

परमानन्द पंचविंशति में पुण्य की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है—“पुण्य के प्रभाव से कोई अन्धा प्राणी भी निर्मल नेत्रधारक हो जाता है; वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो

१. (क) (प्र.) “काणि युष्णकाणि ?

(उ.) तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्रवर्ती-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर-रिद्धीओ॥”

—धवला १/११२/१०५

(ख) धर्मात्साधुतरः कोऽन्यो, यतोयिन्दन्ति मानवाः।

पुण्यं स्वर्गपदं नित्यं निर्वाणं च सुदुर्लभम्॥१॥

धर्मात्रास्त्वपरा काचित् सुकृतिर्देहधारिणाम्।

तत्त्यागात्र परा काचिद् दुष्कृतिर्देहधारिणाम्॥२॥

—कुरलकाव्य ४/१-२

(ग) पुण्याद् विना कुतस्तादृग् रूपसम्पदनैदृशौ।

पुण्याद् विना कुतस्तादृङ् निधि-रत्नर्द्धिर्बर्जिता ?

पुण्याद् विना कुतस्तादृग् इभात्रादिपरिच्छदः।

पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अभेद्य-गात्रबन्धनम् ?

—महापुराण ३७/१११-११९

जाता है, निर्बल भी सिंह सा बलिष्ठ हो जाता है; विकृत (बेडौल) शरीर भी कामदेव के समान सुन्दर सुडौल हो जाता है। इस जगत् में जो भी प्रशंसनीय अन्य सब दुर्लभ पदार्थ हैं, वे सब (पुण्यफलस्वरूप) पुण्योदय से प्राप्त हो जाते हैं।”

पुण्यफल भोगने के ४२ प्रकार

इसके अतिरिक्त नवतत्त्व प्रकरण में पुण्य फल भोगने के ४२ प्रकार बताए हैं। अर्थात्—नौ प्रकार से बांधे हुए पुण्य, ४२ प्रकार से भोगे जाते हैं—(१) सातावेदनीय, (२) उच्चगोत्र, (३) मनुष्य गति, (४) मनुष्यानुपूर्वी, (५) देवगति, (६) देवानुपूर्वी, (७) पंचेन्द्रिय-जाति, (८) औदारिक शरीर, (९) वैक्रियशरीर (१०) आहारक शरीर, (११) तैजस शरीर (१२) कर्मण शरीर, (१३) औदारिक शरीर के अंगोपांग, (१४) वैक्रियशरीर के अंगोपांग, (१५) आहारक शरीर के अंगोपांग, (१६) वज्ररूपम नाराचसंहनन, (१७) समचतुस्त्र संस्थान, (१८) शुभ वर्ण, (१९) शुभ गन्ध, (२०) शुभ रस, (२१) शुभ स्पर्श, (२२) अगुरुलघुत्व, (२३) पराघातनाम (दूसरों से पराजित न होना), (२४) उच्छ्वास नाम, (२५) आतपनाम, (२६) उद्योतनाम (तेजस्वी होना), (२७) शुभविहायोगति, (२८) शुभनिर्माणनाम, (२९) त्रसनाम, (३०) बादरनाम, (३१) पर्याप्तनाम, (३२) प्रत्येकनाम, (३३) स्थिरनाम, (३४) शुभनाम, (३५) सुभगनाम, (३६) सुस्वरनाम, (३७) आदेयनाम, (३८) यशःकीर्तिनाम, (३९) देवायु, (४०) मनुष्यायु (४१) तिर्यञ्चायु और (४२) तीर्थकरनाम।

पुण्यफल प्राप्त करने के मुख्यस्रोत : नौ प्रकार के पुण्यकर्म

इस प्रकार अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्यकर्मों से उपर्युक्त ४२ प्रकार के पुण्यफल प्राप्त होते हैं, जिनका उपभोग पुण्यशाली व्यक्ति अनायास ही और कई-कई अनासक्त भाव से भी करते हैं।

१. (क). “आयुः श्रीर्वपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितम्।
स्यात् सर्वं भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि॥” —आगार धर्माभूत ३७
- (ख) पुण्यं हि सम्मुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम्?
न पुण्यं सम्मुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम्? —आगार धर्माभूत १/६०/४३६
- (ग) कोऽयन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्।
निष्प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याद्युष्यते मन्मथः।
उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया।
पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यददुर्घटम्॥ —प. वि. १/१८९
२. (क) देखें—अन्नपुण्ये आदि नौ प्रकार के पुण्यबन्ध के कारण, स्थानांग स्थान ९
- (ख) नवतत्त्व प्रकरण गाथा १५-१६

पूर्वकृत अतिशय पुण्य से सम्पन्न जीव को मनुष्यजन्म में दशविध भोगसामग्री

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि उच्च देवलोक की स्थिति पूर्ण करके वे पुण्यशाली जीव मनुष्ययोनि पाकर दशविध भोगसामग्री से युक्त स्थान में जन्म लेते हैं। वे दस स्थान इस प्रकार हैं—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु (गृह प्रासाद), (३) स्वर्ण, (४) पशु-समूह ये चार कामस्कन्ध तथा (१) दास-पोष्य (२) मित्रवान् (३) उत्तम ज्ञाति सम्पन्न, (४) उच्चगोत्र, (५) सुरूप, (६) स्वस्थ, (७) महाप्रज्ञ, (८) अभिजात (कुलीन), (९) यशस्वी और (१०) बलवान्।

वस्तुतः ये सब पूर्वोपार्जित पुण्यराशि के फल हैं, जिनका उपभोग अगले (मनुष्य) जन्म में मनुष्य करता है।

पापकर्म करने में अन्तरात्मा को कितना दुःख, कितना सुख?

इसके विपरीत पापकर्म का फल दुःखकारक है, कटु है, भोगने में बहुत दुःखद एवं कष्टकारक है। पापकर्म पुण्यकर्म का विरोधी है। जीव को दुःख भोगने में कारणभूत जो अशुभकर्म है, वह द्रव्यपाप है और उस अशुभकर्म को उत्पन्न करने में कारणभूत अशुभ या मलिन अध्यवसाय (परिणाम) भावपाप है।

पापकर्म करना आसान है, मनुष्य अन्तरात्मा की आवाज को दबाकर, क्रूर-हृदय बनकर हिंसादि पापकर्मों में प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्त होता है, तब अंदर से तो आत्मा बार-बार कचोटती रहती है, वह इस कुकृत्य को न करने के लिए कहती है, तब उसे थोड़ा कष्ट नहीं भोगना पड़ता। समाज से, राज्य से छिपने में; एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ-फरेब करने में; राजदण्ड से, सामाजिक निन्दा व बदनामी से डरने में; अपयश, और कलंक से बचने के लिए उलट-फेर करने और उलटा-सीधा प्रयास करने में उस पापाचारणपरायण व्यक्ति के अन्तःकरण को कितना कष्ट होता होगा? इसका अनुमान किया जा सकता है।

बेईमानी, भ्रष्टाचार, तस्कर व्यापार एवं चोरी-डकैती से, ठगी से या धोखेबाजी से धन कमाने तथा सुख-साधन बढ़ाने वाले कभी सुख-चैन की सांस लेते नहीं दिखाई

१. तस्य ठिच्चा जहाठाणं जस्खा आउक्खाए चुया।
उवेति माणुसं जोषिं से दसंगेऽभिजायई ॥
खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो, दासपोरुत्तं।
चत्तारि कामखंधाणि तस्य से उवज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्यायके महापत्ते अभिजाए जसोबत्ते ॥

—उत्तराध्ययन ३/१६, १७, १८

देते। क्या किसी चोर, डाकू, उचके, ठग आदि को अपहरण की हुई वस्तु को निश्चिंत होकर भोगते देखा है? चोरी-डकैती का माल उसकी छाती पर बैठे साँप की तरह उसे हर समय डराता रहता है।

पापकर्म के प्रभाव से जीव नाना प्रकार के दुःख भोगता है। पापकर्मी यहाँ भी दुःख उठाता है, और परलोक में उसे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। पापकर्म के फलस्वरूप उसे यहाँ तथा आगे भी प्रिय वस्तुओं का वियोग और अप्रिय वस्तुओं का संयोग मिलता है।^१

जैन दृष्टि से पापकर्म के फल

‘धवला’ में पापफल के विषय में प्रश्न उठाकर समाधान किया गया है—“(प्र.) पापकर्म के फल कौन-कौन से हैं?, (उ.) “नरक में, तिर्यञ्च में तथा कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, वेदना और दरिद्रता आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।” ‘प्रवचनसार’ में कहा गया है—“अशुभ (पापकर्म) के उदय से कुमानुष, तिर्यच और नरक होकर सदैव हजारों दुःखों से पीड़ित होता हुआ जीव अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है।” इसलिए हिंसादि सभी पापकर्म दुःख और अनिष्ट संयोग पैदा करने वाले हैं।^२

इहलोक में भी पापकर्म का फल अतीव भयंकर दुःखरूप

पापकर्म कितना ही छिपाकर करें, कभी न कभी तो वह खुल ही जाता है। पापकर्म जब खुलते हैं, तब जेल, कैद, कचहरी में कलंकित; पुलिस द्वारा मार-पीट आदि नाना प्रकार के कठोर दण्ड भोगने पड़ते हैं। लोकापवाद, लांछना और बदनामी की आग में जलना पड़ता है। बहुत बार तो बेईमानी और अनैतिक कमाई घर की रही सही सत्सम्पत्ति को भी ले डूबती है और मनुष्य को दरिद्र एवं फटेहाल बना देती है।

पापकर्म परायण मनुष्य की समस्त वृत्तियाँ चोर जैसी ही निकृष्ट एवं निम्न कोटि की हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में पापकर्मी की कौन-सी दुर्दशा नहीं होती होगी। पापकर्म

१. केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण, पृ. ११०

२. (क) (प्र.) काणि पावफलाणि?

(उ.) गिरय-तिरिय-कुमानुस-जोणीसु जाइ-मरण-जरा-वाहि-वेयणा-दालिहादीणि।”

—धवला १/१, १, २/१०५/५

(ख) असुहोदण आदा कुणतो तिरियो भवीय गेरइयो।

दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमति अच्चंतग।”

—प्रवचनसार (सू.) १२

(ग) हिंसादिष्विह्यमुत्रचापायावघटदर्शनम्।”

—तत्त्वार्थसूत्र ७/९

करके अर्जित जिस साधन, सुविधा, धन और वैभव से सुख-शान्ति नहीं, प्रसन्नता और प्रफुल्लता नहीं, उसका होना, न होना बराबर है, बल्कि असुखकारी सम्पत्ति की विद्यमानता भयंकर रूप से दुःखदायी बन जाती है। पाप अपने स्वभाव के अनुसार अपने आश्रयदाता को न केवल इसी जन्म में खाता रहता है, बल्कि जन्म-जन्मान्तर में साथ लगकर लोक-परलोक को बिगाड़ता रहता है। अतः पापकर्म मनुष्य को आदि, अन्त और वर्तमान तीनों कालों में दुःखी बनाता है। उसकी अन्तरात्मा उसे बार बार धिक्कारती और भर्त्सना करती है।

इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—“पापकर्म-कर्ता अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है।” इससे आगे बढ़कर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—जो आत्मा प्रदुष्टचित्त (राग-द्वेष से कलुषित) होकर कर्मों का संचय करता है, वे कर्म विपाक (फलभोग) में बहुत ही दुःखदायी होते हैं।

‘चाणक्यनीति’ में स्पष्ट कहा है—“दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन एवं विपत्तियाँ—ये सब शरीरधारियों के अपने अपराध (पाप) रूपी वृक्ष के फल हैं।” क्योंकि—“पापकर्म के आचरण से व्याधि होती है, पाप कर्म से बुद्धापा शीघ्र आता है, पापकर्म से दीनता-हीनता, भयंकर दुःख एवं शोक प्राप्त होते हैं।” मनुस्मृति में कहा है—“दुराचारी पापात्मा व्यक्ति इस लोक में निन्दित, दुःखभाजन, रोगी और अल्पायु होता है।” “इसके विपरीत श्रेष्ठ आचरण करने वाला दीर्घजीवी होता है, वह श्रेष्ठ सन्तान और सुसम्पन्नता प्राप्त करता है। सदाचारी पुरुष दुराचारी को भी सुधार देता है।”

वास्तव में, शारीरिक मानसिक रोग, सन्ताप, दरिद्रता, दुर्घटना, मानसिक विक्षेप, अकाल मृत्यु, विपत्ति, संकट आदि अनेकों आकस्मिक विपदाओं के मूल कारण

१. (क) “सकम्पुणा किच्चिद् पावकारी।” —उत्तराध्ययन ४३
- (ख) एदुद्धचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं ते पुणो होइ दुहं विवागे॥ —उत्तराध्ययन ३२/४६
- (ग) केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. ११२
२. (क) “आत्साऽपराध वृक्षस्य फलान्तेतानि देहिनाम्।
दारिद्र्य-दुःख-रोगानि बन्धन-व्यसनानि च॥” —चाणक्यनीति
- (ख) पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा।
पापेन जायते दैन्यं, दुःखं शोको भयंकरः॥ —चाणक्यनीति
- (ग) दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सतते व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
पाचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सितः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्याचारो हन्त्यलक्षणम्॥ —मनुस्मृति

पूर्वकृत पापकर्म ही होते हैं। फिर वे पापकर्म इस जन्म में किये हों, अथवा पूर्वजन्मों में। मृत्यु के पश्चात् नरकगति, प्रेतयोनि (आसुरी योनि) तथा अन्य निकृष्ट योनियों में जन्म जैसी दुर्गतियों का कारण भी पूर्वसंचित पापकर्म हैं, जो अपने समय पर फल भुगवाकर ही रहते हैं।

“मार्कण्डेय पुराण” में तो यहाँ तक कहा गया है कि “पैर में कांटा लगने पर तो वह एक ही जगह पीड़ा देता है, किन्तु पापकर्म तो मोटे खीले के समान अनेकों जगह अत्यन्त पीड़ा देता है। जिनमें मस्तकपीड़ा, आदि दुःसह व्याधियाँ तथा कुपथ्य भोजन, ठंड, गर्मी, थकान, सन्ताप आदि पैदा करने वाले रोग मुख्य हैं।”

गरुड़पुराण भी इस तथ्य का साक्षी है—“कलियुग में मनुष्यों के रहन-सहन अशुद्ध हो जाने से वे प्रेत योनि को प्राप्त होते हैं। सतयुग एवं द्वापर आदि युग में तो कोई प्रेत नहीं होता था, न ही किसी को प्रेत-सम्बन्धी पीड़ा होती थी।”

पापकर्मी जैसे-जैसे पाप करते हैं, उन्हीं रूपों में उन्हें उनका प्रतिफल मिलता है। मार्कण्डेय पुराण में कहा है—“जो दूसरों को भूखे मारकर दुर्मिक्ष पैदा करते हैं, वे स्वयं दुर्मिक्ष के शिकार होते हैं, जो दूसरों को क्लेश (कष्ट) देते हैं, वे क्लेश पाते हैं, दूसरों को डराने वाले स्वयं भयभीत रहते हैं और दूसरों को मारने वाले स्वयं बेभीत मरते हैं, दूसरों का शोषण करके उन्हें दरिद्र बना देने वाले स्वयं दरिद्रता से पीड़ित होते हैं। पापकर्म के फलस्वरूप वे नानाविध कुगतियों में भ्रमण करते रहते हैं।”

पापकर्मी मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विवेकमूढ़ बनकर उसका मन बेकाबू हो जाता है। उसमें तीव्र पाप वासनाएँ उठती हैं, जिन्हें पूरी करने के लिए वह अखाद्य खाता है, अपेय वस्तु का पान करता है, अगम्य गमन (अनुचित अमर्याद काम-सेवन) करता है। दुष्टों की सोहबत में रहता है, जूआ आदि दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है। उसके मस्तिष्क में बुरे विचारों के तूफान उमड़-धुमड़ कर आते रहते हैं। वह रौद्रध्यान-परायण होकर हिंसा, झूठ, फरेब, दूसरों का धन हड़पने और दूसरों की चल-अचल सम्पत्ति को अपने कब्जे में करने का प्लान बनाता रहता है। वह अपनी दैनिक चर्चा में अस्तव्यस्त और अनियमित रहता है। आलस्य और प्रमाद से घिरा रहता है।

१. (क) पादन्यासकृतं दुःखं कण्टकोत्थं प्रपच्छति।
तत्रभूततर-स्यूल-शंकु-कीलकसम्भवम्॥
दुःखं यच्छति तद्वच्च शिरोरोगादि दुःसहम्।
अपध्याशन-शीतोष्ण-श्रम-तापादिकारकम्॥ —मार्कण्डेय पुराण
 - (ख) कलौ प्रेतत्वमान्नेति तार्क्ष्याशुद्ध क्रिया-परः।
रूतादौ द्वापरं यावन्न, प्रेतो नैव पीडनम्॥ —गरुड़ पुराण
 - (ग) दुर्मिक्षादेव दुर्मिक्षं, क्लेशात्क्लेशं, भयाद्भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः॥ —मार्कण्डेय पुराण १८
२. केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. ११७

पापकर्मरत मानवों की बुद्धि तीन मिथ्या मान्यताओं से भ्रष्ट और दुष्परिणाम

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—पापकर्म में रत मनुष्यों की बुद्धि तीन प्रकार की मिथ्या मान्यताओं से भ्रष्ट हो जाती है—(१) पंचभूतवादी, अनात्मवादी या तज्जीव-तच्छरीरवादी के मतानुसार प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर परलोक का अपलाप करने से, (२) भूत और भविष्य की उपेक्षा करके केवल वर्तमान को ही सब कुछ मानने वाले प्रेयवादियों का मतानुसरण करने से और (३) गतानुगतिक बनकर विवेकमूढ़ बहिरात्माओं का मतानुसरण करने से।

इन तीनों मतों में से प्रथम का अनुसरण करके वह पापमति अज्ञानी कहता है—“मैंने परलोक नहीं देखा, इस लोक में कामभोगों में रमण का सुख तो प्रत्यक्ष आँखों से देख रहा हूँ।” उसके फलस्वरूप वह नरक के जाल में फँस जाता है।

द्वितीय मतानुसरण करके वह कहता है—“ये प्रत्यक्ष दृश्यमान कामभोगों के सुख तो हस्तगत हैं, भविष्य का सुख तो अभी बहुत दूर है, अनिश्चित भी है। और कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं?”

तीसरी मान्यता के अनुसार वह गतानुगतिक बनकर कहता है—“इन बहुत-से लोगों की जो गति होगी, वही मेरी हो जाएगी। मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा।”

इस प्रकार धृष्टता को अपनाकर निःशंक होकर कामभोगों का सेवन करता है, जिसका फल यहाँ और वहाँ सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है।

“वह पापकर्मपरायण मानव त्रस और स्थावर जीवों की सप्रयोजन या निष्प्रयोजन हिंसा करता रहता है। फिर वह अज्ञानी मानव हिंसक, मृषावादी, मायावी, चुगलखोर, शठ (धूर्त) एवं उद्वण्ड बनकर मांस और मदिरा का धड़ल्ले से सेवन करता है और मानता है कि यही मेरे लिए श्रेयस्कर है। वह तन, मन, वचन से मत्त (गर्विष्ठ) होकर कंचन और कामिनियों में आसक्त हो जाता है। वह राग और द्वेष से, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या क्रिया से दोनों ओर से अष्टविध पापकर्म का संचय करता है। और अन्तिम समय में घोर पश्चात्ताप और खेद करता है, परन्तु कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि वह पापकर्म के फलस्वरूप प्राणघातक भयंकर रोगों से आक्रान्त हो जाता है। उस समय अपने क्रूर पापकर्मों के फलस्वरूप नरकगति में प्राप्त होने वाली प्रगाढ़ वेदनाओं का स्मरण करके वह कांप उठता है। इसलिए पापकर्म का फल उसे यहाँ भी संत्रस्त करता है, और आगे भी विविध कुगतियों और कुयोनियों में भी नाना यातनाओं से वह संत्रस्त होता है।”

१. देखें, उत्तराध्ययनसूत्र के पंचम अध्ययन की गा. ५ से १२ तक का विवेचन, पृ. ८९ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

आचारांग सूत्र में तो स्पष्ट कहा है कि “जो षट्जीवनिकायों की हिंसा रूप पापकर्म करता है, वह हिंसा उसके अहित के लिए तथा अबोध के लिए होती है। वह निश्चय ही उसके लिए कर्मों की गांठ (बन्धनरूप ग्रन्थी) है, वह मोह (कर्मबन्धक) है, वही मृत्यु है, वही नरक है।”

पापकर्मों का दुष्फल : अनेक रूपों में दुःखों का चक्र

आचारांगसूत्र में ही आगे कहा गया है—“परिग्रह और काम की आसक्ति से होने वाले पापकर्मों को भली-भांति समझकर मुमुक्षु साधक पापकर्मों को न तो स्वयं करे, न ही दूसरों से करवाए, पापकर्म का अनुमोदन न करे।”

पापकर्म का मुख्य दुष्फल बताते हुए इसी उद्देशक के अन्त में कहा गया है—
“पापकर्मों के दुष्परिणामों से अनभिज्ञ अज्ञानी मानव बार-बार विषयों में आसक्त होता है। कामवासनाओं और विषयेच्छाओं को मनभावनी मानकर वह उनकी बार-बार पूर्ति करता है। इस कारण वह अहर्निश अनेक शारीरिक, मानसिक दुःखों से दुःखी बना रहता है। वह दुःखों के ही चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।”

कुबुद्धि का सहारा लेकर जो मनुष्य विविध पापकर्मों से धन कमाते हैं, वे उस पापोपार्जित धन को यहीं-छोड़कर रागद्वेष के पाश (जाल) में पड़ते हैं और उस पापकर्मवश अनेक जीवों के साथ वैर बांधकर वे मरकर नरक में जाते हैं।”

जीव हिंसा का फल भी उतना ही दुःखद और भयंकर

उस युग में कई पापपरायण तथाकथित श्रमण या ब्राह्मण भी जीवहिंसा में कोई पाप नहीं मानते थे और सरेआम कहते थे— “प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की विविध रूप से हिंसा करने में कोई भी पाप नहीं है।” उन्हें चुनौती देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—“हे दार्शनिको! प्रखरवादियो! आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय, जैसे आपको दुःख

१. देखें—“तं से अहियाए तं से अबोहीए....एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु भारे, एस खलु गिरए।”
—आचारांग १ श्रु. अ. १, उ. ७, सू. ५८-५९ का विवेचन, पृ. ३५

(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. (क) “से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं समुद्वाए, तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा, ण कारवे।”
—आचारांग १/२/६/सू. ९५

(ख) “बाले पुण गिहे कामसमणुण्णे असमित दुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अनुपरियट्ठीति।”
—वही १/२/६/सू. १०५

(ग) जे पावकम्महिं धणं मणुस्सा, समाययति अमइं गहाय।

पहाय ते पास पण्हिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवैत्ति॥

—उत्तराध्ययन ४/२

अप्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, असाताकारक है, अशान्तिजनक है, महाभयंकर है।" इसका परिणाम भी उतना ही दुःख और सन्ताप पैदा करने वाला है।

पुण्यकर्म और पापकर्म के सुफल और दुष्फल के सर्वज्ञोक्त शास्त्रीय उदाहरण

इस सन्दर्भ में यह भी बता देना आवश्यक है कि पापकर्मों का फल देर-सबेर अवश्य ही भोगना पड़ता है। सुखविपाक सूत्र में उस युग में हुए कुछ विशिष्ट (दस) श्रमणोपासकों-पुण्यशालियों का जीवनवृत्त दिया गया है, जिन्होंने अपने जीवनकाल में श्रावकव्रत ग्रहण करके उनका निरतिचार पालन किया। जिस (अर्जित) पुण्यराशि के फलस्वरूप उन्हें उच्च देवलोक प्राप्त हुआ। उनमें से अधिकांश श्रावक वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर संयम ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध एवं सर्वकर्म-मुक्त होंगे।

दुःखविपाक सूत्र में ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिन्होंने अपने पूर्वजन्म में पापकर्म उपार्जित किये थे, फलतः इस जन्म में भी उन्हें बोधि (आत्मबोध) प्राप्त न हो सकी। वे पूर्व-कुसंस्कारवश पापकर्म में ही रत रहे। अतः पापकर्म के फलभोग के रूप में उन्हें जन्म-जन्मान्तर में विविध दुःखों का सामना करना पड़ा। उनकी बार-बार मृत्यु भी दुःखान्त ही हुई। मृत्यु के पश्चात् भी उन्हें प्रायः कुगति, कुयोन और कुमानुषयोनियाँ ही प्राप्त हुईं, जहाँ उन्हें सम्यक् बोध नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि अपने द्वारा एक जन्म में अर्जित पापकर्मों का फल अगले एक जन्म में ही नहीं, अनेक जन्मों में, और कई गुना अधिक भोगना पड़ा। सारा दुःखविपाक सूत्र इस तथ्य का साक्षी है।^१

अष्टादश विध पाप कर्मों के बन्ध का ८२ प्रकार से फलभोग

इस दृष्टि से जैनकर्म विज्ञान में बताया गया है कि-अठारह प्रकार से हुए पापकर्मों के बन्ध का फल ८२ प्रकार से भोगना पड़ता है। नवतत्त्व प्रकरण में उनका क्रम इस प्रकार है-(१-५) पंचविध ज्ञानावरणीय, (६-१०) पंचविध अन्तराय, (११-१५) पांच प्रकार की निद्रा (१६-१९) चार प्रकार का दर्शनावरणीय, (२०) असातावेदनीय, (२१) नीचगोत्र, (२२) मिथ्यात्वमोहनीय, (२३) स्थावर-नाम, (२४) सूक्ष्मनाम, (२५) पर्याप्त नाम, (२६) साधारण नाम, (२७) अस्थिर नाम, (२८) अशुभ नाम, (२९) दुर्भगनाम, (३०) दुस्वर नाम, (३१) अनादेय नाम, (३२) अयशोकीर्तिनाम, (३३)

१. "पुव्वं निकाय समयं पतेयं पुच्छिस्सामो-“हं भो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं? समिया पडिचन्ने यावि एवं बूवा-सब्बेसिं पाणाणं सब्बेसिं भूयाणं सब्बेसिं जीवाणं सब्बेसिं सत्ताणं असायं अप्परिणिव्व्याणं महब्भयं दुक्खं।”
-आचारांग १/४/२/मू. १३९

२. देखें-विपाकसूत्र का प्रथम और द्वितीय स्कन्ध।

नरकगति, (३४) नरकायु, (३५) नरकानुपूर्वी, (३६-५१) अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय, (५२-६०) हास्यादि नी नोकषाय, (६१) तिर्यचगति, (६२) तिर्यञ्चानुपूर्वी, (६३) एकेन्द्रियत्व, (६४) द्वीन्द्रियत्व, (६५) त्रीन्द्रियत्व, (६६) चतुरिन्द्रियत्व, (६७) अशुभविहायोगति, (६८) उपघातनाम, (६९-७२) अशुभवर्णादि चार, (७३-७७) ऋषभनाराचादि पांच संहनन, (७८-८२) न्यग्रोध-परिमण्डल आदि पांच संस्थान।

इस प्रकार ८२ रूपों में सांसारिक कर्मबद्ध जीव को पापकर्मों का फल भोगना पड़ता है। संसारस्थ विभिन्न जीवों को इनमें से अपने पापकर्मानुसार विभिन्न मात्रा में अलग-अलग रूप में यथायोग्य पापकर्मफल भोगना पड़ता है। एक ही जन्म में तत्काल ही भोगना पड़े, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। कर्म सिद्धान्त के नियमानुसार उसे बद्धकर्म की विभिन्न प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश के अनुसार ही पाप कर्म का फल भोगना पड़ता है।^१

पापकर्मजनित दुःखों के लिए व्यक्ति स्वयं ही उत्तरदायी

पूर्वोक्त पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखों के लिए प्राणी स्वयं ही उत्तरदायी है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है—जो मिथ्यात्वग्रस्त अज्ञानी क्रूर कर्मों को बार-बार करता है, उल्कट रूप से करता है। प्रकारान्तर से वह अस्थिर और क्षणभंगुर जीवन को अजर अमर मानता है। इसलिए ज्ञानशून्य होने से वह बाल (अज्ञानी) है तथा सद्-असद् विवेक बुद्धि न होने से वह मन्द है और परमार्थ (मोक्ष) का ज्ञान न होने से वह मूढ़ (अविज्ञान) है। इसी अज्ञान दशा के कारण वह वैषयिक सुख पाने के लिए क्रूर कर्म करता है। वह अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है। तथा उसी दुःख से उद्विग्न होकर वह विपरीत दशा (सुख के बदले दुःख) को प्राप्त होता है। उस मोह (मिथ्यात्व, कषाय, विषयसुखवांछा) से उद्धत होकर वह कर्मबन्धन करता है, उस पाप कर्म के फलस्वरूप बार-बार गर्भ में आता है, जन्म मरणादि दुःख पाता है।^२

... उन दुःखों के प्राप्त होने में दोष व्यक्ति का अपना ही है, किसी दूसरे का नहीं। परमात्मा, दैव, दुर्भाग्य, काल, क्षेत्र या किसी भी निमित्तभूत व्यक्ति को दोष देना कथमपि उचित नहीं है। पाप कर्म के उदय से जो आकस्मिक हानि-लाभ या प्रकृति-प्रकोप समझे जाते हैं, वे भी मनुष्य के अपने ही संचित पाप कर्मों के फल हैं। उसमें बाहरी निमित्त कोई

१. (क) नयतत्त्व प्रकरण गा. १८-१९

(ख) इन सबके स्वरूप के लिए देखें 'कर्मबन्ध प्रकरण' तथा कर्म ग्रन्थ भा. १ (पं. सुखलालजी)

२. देखें—कूराणि कम्पाणि बाले पकुब्बमाणे, तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ। मोहेण गम्भं मरणाति एति।” —आचारांग सूत्र थु. १, अ. ५, उ. १, सू. १४८ का विवेचन व टिप्पण

(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १४७

भी व्यक्ति, परिस्थिति, क्षेत्र, काल, ग्रह-नक्षत्र या देव-दानव आदि हो सकता है। अतः यह निश्चित है कि जिसने इस जन्म में या पूर्वजन्म में दुष्कर्मों या पापकर्मों की गठरी बाँधी; संचित पाप कर्म परिपाक होने पर उदय में आते हैं और दुःख-दारिद्र्य आदि के रूप में फल भुगवाते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—“जितने भी दुःख हैं, दुःखानुभव हैं, वे सब आत्मकृत होते हैं, परकृत नहीं।” जितने भी अविद्यावान् एवं आत्मप्रज्ञा से शून्य हैं, वे स्वयमेव अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।^१ अज्ञानतावश वे अपने ही असंयम एवं पापकर्मों में आसक्ति के कारण अपने लिये दुःखद स्थिति पैदा कर लेते हैं।

अनेक दुःखों से बार-बार त्रस्त होने पर भी पापकर्मों को नहीं छोड़ते

इस सत्य को सभी जानते हैं कि पापकर्मों का परिणाम अकल्याणकारी एवं दुःखद होता है और पुण्यकर्मों का परिणाम कल्याणप्रेरक एवं सुखद; तथापि वे पापकर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, इसका कारण मनुष्य का मिथ्याज्ञान ही है।

बार-बार उन पाप कर्मों में प्रवृत्ति करने के कारण मनुष्य का अभ्यास दृढ़ होकर कुसंस्कारों का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार स्वकृत कुसंस्कार बड़े भयानक होते हैं, वे बार-बार दुःख, संकट और विपत्ति के आ पड़ने पर भी वे उससे त्रस्त होते जाते हैं।

आचारांग सूत्र के अनुसार “वे मोहमूढ़ पुरुष आत्मकल्याण का अवसर आने पर भी उससे वंचित रह जाते हैं, पूर्वसंस्कार, पूर्वाग्रहपूर्ण मिथ्या-दृष्टि, कुल-जाति का अभिमान, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, राष्ट्रान्धता आदि की पकड़ के कारण वे अनेक दुःखों से त्रस्त होने पर उन्हें छोड़ नहीं सकते।”

जिस प्रकार संभूति के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को सांसारिक कामभोगों को छोड़ना दुष्कर हो गया था, तथा दुर्योधन धर्म-अधर्म को साधारण रूप से जानने पर भी वह धर्म (पुण्यकार्य) में प्रवृत्ति और अधर्म कार्य (पापकर्म) से निवृत्ति नहीं कर सका। उसने यही कहा था—“मैं धर्म क्या है? यह जानता हूँ, तथापि उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं हो रही है, तथा अधर्म क्या है? यह भी मैं जानता हूँ, किन्तु उससे निवृत्त नहीं हो पा रहा हूँ।

१. (क) “अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे।” —भगवती. १७/५

(ख) “जावतऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।

लुपति बहुसो मूढा संसारमि अणंतए॥”

—उत्तराध्ययन ६/१

२. देखें—भजगा इव सन्निवेशं नो धरति।—(आचारांग १/६/१ सू. १७८) का अनुवाद एवं विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. १९५

ऐसा आभास होता है कि कोई देव मेरे हृदय में बैठा है, और वही मुझे जैसे और जहाँ नियुक्त करता है, वैसे और जहाँ नियुक्त होकर मैं वैसा ही करता हूँ।”

सचमुच, दुर्योधन के मन में जिस देव का भ्रम था, वह और कोई नहीं स्वयं का पाप कर्मों से अभ्यस्त आत्मदेव था, जो अज्ञान और मोह से आवृत था। अगर उसकी आत्मा ने शुद्ध हृदय से राग-द्वेष से परे होकर अपनी आत्मा के साथ लगे हुए पाप-पुण्य का यथार्थ ज्ञान-भान एवं दर्शन कर लिया होता तो वह पापकर्म में प्रवृत्त होने से रुक जाता।

यदि मनुष्य को अपनी आत्मा के साथ बद्ध होने वाले पुण्य-पाप कर्मों का तथा उनके शुभाशुभ फल का तथा धर्म-अधर्म का सम्यक् ज्ञान हो जाए तो वह पापाचरण को छोड़कर या तो पुण्याचरण में प्रवृत्त होता है, अथवा संवरं निर्जरारूप धर्माचरण में प्रवृत्त होकर शुभाशुभ कर्मों से मुक्त हो जाता है।

अज्ञान दूर होने पर ही पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष का ज्ञान सुदृढ़ होता है

दशवैकालिक सूत्र में इसी तथ्य को आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से व्यक्त किया गया है—“जो जीवों को भी विशेष रूप से जान लेता है, और अजीवों को भी विशेष रूप से जान लेता है, (इस प्रकार) जीव और अजीव दोनों को विशेष रूप से जानने वाला ही वह संयम को (संवर-निर्जरा को) जान सकेगा। ऐसी स्थिति में वह समस्त जीवों की बहुविध गति-आगति को भी जान सकेगा। जब वह सर्वजीवों की बहुविध गति-आगति को जान लेता है, तब वह (गति-आगति-जन्म मरण के एवं तज्जन्य एवं तत्सम्बद्ध दुःखों के कारणभूत) पुण्य-पाप कर्मों को तथा कर्मों के बन्ध एवं उनसे मोक्ष को भी जान लेता है। इन्हें जान लेने पर ही वह दैविक (दिव्य) एवं मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है और फिर वह बाह्य-आभ्यन्तर संयोगों (क्रोधादि तथा स्वर्गादि के प्रति ममत्व सम्बन्धों) का परित्याग कर देता है।”^{१३}

१. (क) देखें, उत्तराध्ययनसूत्र में चित्त सम्भूतीय नामक १३ वें अध्ययन की गाथा २५-३०

(ख) जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन, यया नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥ —महाभारत

२. जो जीवे वि वियाणेइ अजीवे वि वियाणेइ।

जीवाजीवं वियाणंतो, सो हु नाहीइ सजम॥१३॥

जया जीवमजीवे दो वि एए वियाणइ।

तया गइ बहुविहं सव्वं जीवाण जाणइ॥१४॥

जया गइ बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।

तया पुण्णं च पापं च, बंधं मुक्खं च जाणइ॥१५॥

यह है सम्यग्ज्ञान एवं आत्मबोध का प्रभाव।

चाहता है सुखरूप पुण्यफल, किन्तु प्रवृत्त होता है दुःखफलदायी पापकर्म में

जिसे इस प्रकार पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष का ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है, वह फिर पापकर्म में प्रवृत्त होने से बचेगा; फलतः वह पापकर्म के कटुफल से बच जाएगा। किन्तु मनुष्य चाहता तो है—पुण्यफल, और उससे प्राप्त होने वाला सात्त्विक सुख; किन्तु पापकर्मों या विषयासक्तिजन्य पापों में सुख खोजता है, उसकी यह खोज निश्चय ही विपरीत दिशा में दौड़ने के समान है। क्रोधादि कषाय या विषयसुख, सेवनकाल में अमृतोपम मधुर लगते हैं, किन्तु परिणाम में विषफल के समान दुःखदायी होते हैं। इस विपरीत दृष्टि एवं मिथ्याज्ञान के कारण ही वे पापकर्म में बार-बार प्रवृत्त होते हैं, जिसका फल न चाहते हुए भी दुःखबहुल ही आता है।

सुख की लालसा रखते हुए भी अधिकांश आतंकवादी, युद्धवादी अथवा आसुरीप्रकृति के लोग विभिन्न हिंसादि पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं, उनके दुष्परिणामस्वरूप अनके दुःखों, मानसिक सन्तापों, क्लेशों, रोगों और कष्टों को पाते हुए भी वे उन पापकर्मों से विरत नहीं होते। निम्नोक्त श्लोक में मनुष्य की इसी विपरीत बुद्धि का चित्रण किया गया है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्यन्ति यत्नतः॥

बहुत-से मनुष्य पुण्य के फल (सुख) की तो कामना करते हैं, किन्तु पुण्यकर्म करना नहीं चाहते! वे पाप के फल (दुःख) को चाहते नहीं। फिर भी पापकर्म प्रयत्नपूर्वक किया करते हैं।

पापकर्म के फलस्वरूप १६ दुःसाध्य रोगों की उत्पत्ति

भगवान् महावीर ने उन प्रज्ञान्ध या मोहान्ध जीवों की आँखें खोलने के लिए आचारंग सूत्र में बताया है—“अब तू देख! विविध पापकर्मों में प्रवृत्त वे मोहमूढ़ मानव पापकर्मों के फलस्वरूप उन-उन कुलों में उत्पन्न होकर अपने-अपने (पापकर्मों का फल भोगने के लिए) निम्नोक्त १६ दुःसाध्य रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं—(१) गण्डमाला,

जया पुष्पां च पावं च बंधे मुखे च जाणइ।

तया निम्बिंदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे॥१६॥

जया निम्बिंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।

तया चयइ संजोगं, सम्भितरं—बाहिरं॥१७॥

—दशवै. अ. ४ गा. १३ से १७

१. केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से सारांश उद्धृत

(२) कोढ़, (३) राजयक्ष्मा, (४) अपस्मार (मृगी-हिस्टीरिया) (५) काणत्व, (६) जड़ता (अंगोपांगों में शून्यता), (७) कुणित्व (टूटापन, अंग विकलता या एक हाथ या पैर का छोटा या बड़ा होना), (८) कुब्जता (कुबड़ापन), (९) उदररोग (जलोदर, उदरशूल, गैस, अल्सर आदि), (१०) मूक रोग (गूंगापन), (११) शोथ रोग (सूजन, फोता बढ़ना या फाइलेरिया), (१२) भस्करोग, (१३) कम्पवात, (१४) पीठसर्पी पंगुता, (१५) श्लीषद रोग (हाथीपगा) और (१६) मधुमेह (डायबिटीज)।”

“इसके पश्चात् कई-कई लोग तो शूल (योनि शूल, सुजाक, भगंदर आदि) मरणान्तक आतंक (दुःसाध्य रोग) और अप्रत्याशित दुःखों से पीड़ित होते हैं।”

“बहुत-से लोग इन पूर्वोक्त रोगों से उत्पन्न दुःखों को जानकर तथा पीड़ा महसूस करते हुए भी इन निर्बल एवं निःसार नाशवान शरीर को सुख देने की या शरीर-सुख की कल्पना से नाना प्राणियों, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों का वध करते-करते हैं। ऐसे पापकर्मी मानव विषय-कषायों में मिथ्यात्वान्ध होकर पुनः पुनः अन्धकार में रहते हैं, फलतः वे नाना दुःखपूर्ण अवस्थाओं को एक बार या अनेक बार भोगते हैं। कर्मानुसार वे तीव्र मन्द फल का अनुभव करते हैं।”

पुण्यकर्म भी स्वार्थ लोभादि से प्रेरित हो तो सात्त्विक सुखरूप फल प्राप्ति नहीं होती

इसके विपरीत जो लोग पुण्यकर्म करते हैं, वे भी अगर पुण्य क्रियाएँ स्वार्थ, लोभ, भय, इहलौकिक-पारलौकिक कामभोगजन्य सुखों की वांछा से प्रेरित होकर करते हैं तो अपने पुण्य का सात्त्विक फल प्राप्त नहीं कर सकते। कदाचित् इस जन्म में या पूर्वजन्म में कृत पुण्यकर्म के फलस्वरूप उन्हें तथाकथित सुख के साधन (धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार) प्राप्त भी हो जाएँ, फिर भी वे उनके लिए सुखानुभव प्राप्त कराने में सक्षम नहीं हो सकते। सुख के तथाकथित साधन प्राप्त हो भी जाएँ, परन्तु वे साधन तब तक सुख की प्राप्ति नहीं करा सकते, जब तक उन साधनों का सम्यक् उपयोग करने की सम्यग्दृष्टि प्राप्त न हो जाए।

इसलिए किसी मनुष्य को पूर्वोपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सम्पत्ति, सत्ता, वैभव, पद आदि प्राप्त हो भी जाएँ, फिर भी अगर उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है तो वह उनसे पुण्य

१. अह पास, तेहिं तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया-

गंडी अदुवा कोठी, रायसी अवमारियं। काणियं झिमियं चव कुणियं खुजियं तथा।
उदरिं पास भूयं च सूणिमं च गिलासिणिं। वेवई पीढसपिं च, सिलियं महुमेहिं॥
सोलस एते रोगा अक्खाया अणुपुब्बसो। अहणं फुसति आयंका, फासा य असमंजसा॥
मरणं तेसिं सपेहाए उववायं चवणं च णच्चा। परिपारं च सपेहाए तं सुणेह जहा-तहा॥

-आचारंग १/६/१

के बजाय पापकर्म ही उपार्जित करता है, वह सत्ता, धन या पद आदि के अहंकार में चूर होकर लाखों मनुष्यों का संहार करवा सकता है, बसे हुए नगरों को उजाड़ सकता है, लाखों का शोषण और उत्पीड़न करके, भ्रष्टाचार से, अन्याय-अनीति से पापमयी सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है परन्तु धर्मोपार्जन नहीं कर पाता।

वास्तविक पुण्यकर्म में स्वार्थत्याग, तप और बलिदान की भावना होती है

इसलिए वास्तविक पुण्य कर्म वही है, जो सदुद्देश्य से, विवेकपूर्वक निष्काम भाव से किया जाए, जिसके मूल में स्वार्थत्याग, तप और बलिदान की भावना हो। उस पुण्यकर्म के फलस्वरूप साधारण से आस्रवजनक प्रतीत होने वाले कार्य भी संवर रूप हो जाते हैं और पुण्य के साथ स्वार्थ, अहंकार एवं भोगवृत्ति का विष मिल जाने से वे ही पुण्यकार्य संवरजनक होने की अपेक्षा आम्रवोत्यादक बन जाते हैं। सकाम निर्जरा-अकामनिर्जरा, तथा सकाम और निष्काम पुण्यकर्म का अन्तर समझ लेना चाहिए।

यह पुण्यकर्म नहीं, कल्याणकारक नहीं, व्यवसाय है

जो कार्य सांसारिक लाभ या भौतिक प्रतिफल प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं वे बाहर से भले ही पुण्य दिखाई देते हों, भीतर से उनका पुण्यत्व नष्ट हो जाता है। वे एक प्रकार से सीदेबाजी या व्यवसाय बन जाते हैं। उनसे न तो आत्म कल्याण के पथ पर बढ़ना होता है और न ही मानसिक सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

जिससे लौकिक लाभ मिल चुका, उससे फिर पारलौकिक लाभ कैसे मिलेगा?

वह पुण्य जो तुच्छ स्वार्थ या लौकिक-पारलौकिक कामना-वासना या अर्थलाभादि के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जाता है, वह और कुछ भले ही हो, पुण्य नहीं हो सकता। जिसका लौकिक लाभ मिल चुका, उससे पारलौकिक प्रयोजन कैसे सिद्ध हो सकता है? दुहरा प्रयोजन या दुबारा लाभ कैसे मिलेगा?

जिस चेक को एक बार बैंक में भुना लिया गया, उसे दुबारा भुनाने में सफलता नहीं मिलती। जिस टिकट पर मुहर लग चुकी, उसे दुबारा लिफाफे पर चिपकाये जाने से वह चलेगा नहीं। यही बात पुण्यकर्मों पर भी लागू होती है। वाहवाही, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सत्ता या पद हासिल करने की नीयत से कोई पुण्यकार्य किया गया, उससे एक बार वाहवाही, पद या सत्ता या प्रतिष्ठा लूट लेने का लाभ मिल जाने पर वह पुण्यकर्म चले हुए कारतूस की तरह अपनी शक्ति और सम्भावना को समाप्त कर चुका होता है।

१. केवल अपने लिए ही न जीएं (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण पृ. १५८

२. वही, (श्रीराम शर्मा आचार्य) भावांश ग्रहण, पृ. १६०

शुभाशुभ परिणामों (भावों) के अनुसार ही पुण्यकर्म और पापकर्म का बन्ध व फल

अतः पुण्यकर्म हो या पापकर्म जिन परिणामों (भावों) से बांधा गया है, उन्हीं परिणामों के अनुसार उसका फल मिलता है। वास्तविक सुख तो आत्मिक सुख (आनन्द) है, जो शाश्वत है, निराबाध है, अक्षय है। वह कर्मों के क्षय, निरोध या निर्जरण से प्राप्त होता है। परन्तु उतनी दूर तक कोई न पहुँच सके तो भी जो सात्त्विक सुख है, जो नैतिकता एवं लौकिक धर्म की आराधना एवं परोपकार, सेवा, दान, सहयोग, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति आदि पुण्यकर्मों (सुकृत्यों) से प्राप्त होता है। पुण्यकर्म निःस्वार्थभाव से हो, तभी उसका यह वांछित फल प्राप्त होता है।

पाप कर्म के दुष्फल से बचावः सदाचार-सत्कर्म-नीति परायण रहकर पुण्य कर्म करने से ही

कई लोग अपने पाप कर्मों के फल से बचने के लिए दान, दक्षिणा, पूजापत्री, या कीर्तन-भजन करा लेते हैं और यह मानते हैं कि इससे उनको पूर्वकृत पापकर्म का फल नहीं मिलेगा। किन्तु यह विचार सम्यक् नहीं है। पूर्वकृत पापकर्म के फल से बचने के लिए तप, प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप, क्षमायाचना, आलोचना आदि करनी होती है। इसके बिना पापाचरण का फल क्षम्य नहीं हो सकता। किन्तु यदि वह पापकर्म निकाचित रूप से तीव्र अध्यवसाय से बांधा गया है, तब तो उसका फल उसी रूप में भोगे बिना कोई चारा नहीं है।

कई लोग दिन और रात में कुछ देर भगवान का नाम स्मरण, कीर्तन, भजन या पूजा उपहार कराकर यह मानते हैं कि इससे पुण्य लाभ हो जाएगा, परन्तु उसके साथ उनकी स्वर्गप्राप्ति की तथा इहलौकिक पारलौकिक वैभव, विलास, सुखभोग आदि की जो कामना (निदान-वासना) है, वह उन्हें यथार्थ पुण्यलाभ से वंचित कर देती है।^१

इसीलिए भगवान् महावीर ने तप तथा धर्माचरण (पंचाचार) के पालन के साथ इहलौकिक पारलौकिक आशंसा, कामभोग लिप्सा, स्वार्थ और लोभलालसा आदि को वर्जित बताया है।^२

अतः भगवद्स्तुति उपासना या पूजापाठ के साथ जब तक मनुष्य धर्माचरण या कम से कम नैतिक जीवन परायण सदाचारनिरत एवं सत्कर्मरत नहीं होगा, तब तक उसका कर्म न तो पुण्यरूप होगा, और न ही यथार्थ पुण्यफल मिलेगा।

१. वही, भावांश ग्रहण, पृ. १२५

२. देखें, दशवैकालिक सूत्र अ. ९, उ. ४ के सू. ४ और ५ का 'न इहलोगद्वयाए तवमहिद्विज्जा तथा 'न इहलोगद्वयाए आयारमहिद्विज्जा', इत्यादि तपःसमाधि और आचार समाधि से सम्बन्धित पाठ।

फल की दृष्टि से पुण्यकर्म और पापकर्म की पहचान

कई लोग पापकर्म करते हुए भी सुखरूप फल चाहते हैं, किन्तु इसके विपरीत वे पापों के दुष्परिणाम के रूप में दुःख पाते रहते हैं, फिर भी पापकर्म से विरत नहीं होते। अधिकांश लोग विषयोपभोग से होने वाले क्षणिक सुखानुभव को ही वास्तविक सुख और पूर्वपुण्यफल मान लेते हैं। किन्तु वह सुख काल्पनिक और मिथ्या है, मृगमरीचिका-वत् है, परिणाम में दुःखजनक है। किम्पागफल के सदृश वह सुख स्थूलदृष्टि से आपातरमणीय, मधुर और अनुपम प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में दुःखद है, ज्ञानि और सन्ताप पैदा करने वाला है।

गीता में उस सुख को राजसिक कहा गया है, जो पहले अमृतोपम लगता है, किन्तु परिणाम में विष सम होता है। तथैव जो सुख आदि और अन्त में आत्मा को मूर्च्छित, मोहमूढ तथा प्रमादमग्न करनेवाला होता है, उसे तामसिक कहा गया है। परन्तु जो सुख प्रारम्भ में धर्म, नीति आदि के अंगों की साधना करते समय विषवत् अप्रिय या कटु लगता है, किन्तु परिणाम में अमृततुल्य प्रिय एवं हितकर होता है, वह सात्त्विक सुख है, जो यथार्थ पुण्यकर्म से प्राप्त होता है।

पापकर्म का फलविपाक : पहले आपातभद्र, किन्तु परिणाम में भद्र नहीं

पुण्यकर्म और पापकर्म का फल कैसा होता है? इसे यथार्थरूप से समझने के लिए भगवतीसूत्र में वर्णित भगवान् महावीर और कालोदायी परिव्राजक का संवाद जानना उचित होगा।

एक बार राजगृही में गुणशीलक चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर से कालोदायी अनगार ने पूछा—“भगवन्! जीवों के द्वारा किये हुए पापकर्म क्या उन्हें पापफल विपाक से युक्त करते हैं?”

भगवान्—हाँ, करते हैं।

कालोदायी—“भंते! जीवों के पापकर्म उन्हें पापफल से युक्त कैसे करते हैं?”

१. (क) केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. १२३

(ख) यत्तदग्रे विषमिष परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि-प्रसादजम्॥

विषयेन्द्रिय-संयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिष तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्य-प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

—भगवद्गीता १८/३६ से ३८

भगवान् ने रूपक की भाषा में समाधान करते हुए कहा—कालोदायी! जैसे कोई पुरुष हांडी (या देगची) में सम्यक् प्रकार से पके हुए मनोज्ञ एवं शुद्ध अष्टादश व्यंजनों से परिपूर्ण विषमिश्रित भोजन का सेवन करता है। वह भोजन उसे आपातभद्र (ऊपर-ऊपर से या प्रारम्भ में अच्छा) लगता है, किन्तु बाद में ज्यों ज्यों परिणामन होता है, त्यों त्यों वह अधिकाधिक विकृत एवं दुर्गन्धयुक्त होता जाता है, इसलिए वह परिणामभद्र नहीं होता। इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पापस्थानों का सेवन प्रारम्भ में ऊपर-ऊपर से अच्छा (आपातभद्र) लगता है, किन्तु बाद में जब जीव के द्वारा बांधे हुए पापकर्म उदय में आते हैं, तब अशुभ रूप में परिणत होने से वे दुरुह एवं दुर्गन्ध से युक्त पदार्थ की तरह सब प्रकार से उसे दुःखित (शारीरिक मानसिक दुःखों से युक्त) करते हैं। इस प्रकार पापकर्म प्रारम्भ में आपातभद्र किन्तु परिणाम में अभद्र होते हैं। यों जीवों के द्वारा कृत पापकर्म उन्हें अशुभ-फल विपाक से युक्त करते हैं।^१

पुण्यकर्म का फलविपाक : पूर्व में आपातभद्र नहीं, परिणाम में भद्र

फिर कालोदायी अनगार ने भगवान् महावीर से पूछा—“भगवन्! जीवों के द्वारा कृत कल्याणकर्म (पुण्यकर्म) क्या उन्हें कल्याणफलविपाक से युक्त कर देते हैं ?

भगवान्—हाँ, करते हैं।

कालोदायी—“भगवन्! जीवों के कल्याणकर्म उन्हें कल्याण फल विपाक से युक्त होने पर कैसे लगते हैं ?”

भगवान्—कालोदायी! जैसे कोई पुरुष हांडी (तपेली या देगची) में सम्यक् प्रकार से पके हुए अष्टादश व्यंजनों से युक्त औषधमिश्रित भोजन का सेवन करता है; उसे वह भोजन आपातभद्र (ऊपर-ऊपर से प्रारम्भ में अच्छा) नहीं लगता, किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों उसका परिणामन होता है, त्यों त्यों (औषध के कारण उस पुरुष का रोग मिट जाने से) उससे सुरुपता, सुवर्णता, यावत् सुखानुभूति होती है। वह भोजन दुःखरूप में परिणत नहीं होता। हे कालोदायी! इसी प्रकार प्राणातिपात विवेक से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य विवेक जीवों को प्रारम्भ में अच्छा नहीं लगता, किन्तु बाद में उसका परिणामन भद्ररूप (सुखरूप) प्रतीत होता है, दुःखरूप नहीं। हे कालोदायी! इसी प्रकार जीवों के कल्याण (पुण्य) कर्म उन्हें कल्याणफल से युक्त कर देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि औषध मिश्रित भोजन पहले तो मन के प्रतिकूल लगता है, किन्तु बाद में उसका परिणामन सुखप्रद हो जाता है। ठीक उसी प्रकार हिंसादि से

१. देखें-भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र शतक ७ उ. १० सू. १५/१६ मूलपाठ, अनुवाद और विवेचन, (खण्ड २) (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. २००-२०१।

विरतिरूप शुभ कर्म करने में अत्यन्त कठिन प्रतीत होते हैं, किन्तु जब वे फल देते हैं, तब परम सुखप्रद हो जाते हैं। इसलिए कल्याण (पुण्य) कर्म का फल आपातभद्र नहीं, अपितु परिणामभद्र है।^१

फलदानशक्ति की अपेक्षा से पुण्य-पापकर्म फल के कारणों की मीमांसा

इसलिए पुण्य कर्म और पापकर्म के फल के कारणों की मीमांसा करते हुए कहा गया है—फलदानशक्ति की अपेक्षा से जैन कर्मविज्ञान में पुण्य और पाप इन दो भेदों में कर्मों को विभक्त किया गया है। दान, भक्ति-अर्चा, मन्दकपाय, साधुवर्ग की सेवा, दया, अनुकम्पा, अलोभवृत्ति, परगुण-प्रशंसा, सत्संगति, अतिथि-सेवा, वैयावृत्य, परोपकार-कर्मठता, सत्कार्यों में सहयोग आदि शुभ कार्यों को करने से और तदनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति होने से जिन कर्मों में गुड़, खांड, शक्कर, द्राक्षा आदि के समान मधुर अमृतोपम फलदानशक्ति उपलब्ध होती है, उन्हें सुखदफल दायक पुण्य कर्म कहते हैं।

इसके विपरीत मद्यपान, मांस-मछली, अण्डों आदि का आमिष-आहार, शिकार, निर्दोष पशुओं और मनुष्यों की हत्या करना, दंगा, आतंक एवं युद्ध का उन्माद पैदा करना, चोरी, डकैती, तस्करी, लूटपाट, ठगी, बेईमानी करना, अन्याय करना, अनैतिक कर्म करना, जुआ खेलना, वेश्यागमन (महिलाओं के द्वारा वेश्याकर्म) करना, परस्त्रीगमन (परपुरुषगमन) करना, विषयभोगों का तीव्रता से सेवन करना, दुष्टों और दुर्जनों की संगति करना, परदोष (परछिद्र) दर्शन, कपाय की तीव्रता, लोभ की अधिकता, अतिथि, बुजुर्गों और बड़ों के प्रति आदरभाव न रखना, कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के प्रति श्रद्धाभक्ति रखना, परमिन्दा-चुगली करना आदि अशुभ कार्यों के करने से और तदनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति होने से जिन कर्मों में नीम, कांजीर, विष और हलाहल के समान कटु फलदान शक्ति उपलब्ध होती है, उन्हें दुःखरूप फलदायक पापकर्म कहते हैं।^२

पुण्य-पाप के फल के सम्बन्ध में भ्रान्ति

आज धार्मिक जगत् में पुण्य और पाप के फल के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति चल रही है, और इसका पोषण और समर्थन मध्ययुग के दिग्गज मुनियों और आचार्यों ने भी किया है, और वर्तमान में इस भ्रान्ति को ज्यों को त्यों चलाया जा रहा है।

कर्मविज्ञान का यह मन्तव्य है कि पुण्य करने से सुख मिलता है और पाप करने से दुःख। समाज या राष्ट्र में कोई धनाढ्य है, तो लोग तपाक से कह देते हैं—“यह बड़ा

१. देखे-भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) सूत्र, खण्ड २, श. ७, उ. १.१०, सू. १७-१८ का मूल पाठ, अनुवाद और विवेचन, पृ. २०१ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. महाबन्धो भा. २ प्रस्तावना- कर्ममीमांसा (पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) से, पृ. २०

पुण्यवान् है। इसने बहुत पुण्य किया है, तभी तो इतना धन मिला है।” कोई निर्धन है तो झट से उसके विषय में निर्णय दे दिया जाता है—“बेचारे ने पापकर्म किये थे, इसीलिए तो निर्धनता की चक्की में पिस रहा है। बुरे कर्मों का फल भोग रहा है।”

भ्रान्ति यह है कि सुख और दुःख को लोग अच्छे-बुरे (पुण्य-पाप) कर्म के फल के साथ न जोड़कर धन आदि बाह्य पदार्थों के साथ जोड़ देते हैं। इस भ्रान्ति के शिकार लोग यह कहने लगे—“धन चाहिए, या उत्तम सुखभोग के साधन चाहिए तो धर्म करो, पुण्य करो।”

धर्म-पुण्य से अर्थ और काम की प्राप्ति का नारा

वैदिक धर्म के प्राचीन ग्रन्थ महाभारत के रचयिता व्यास ने भी यही नारा लगाया कि “अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म से होती है, फिर उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते?”

यही मान्यता अधिकांश जैन कथाओं में प्रतिपादित की गई है। अधिक धन, अनेक पत्नियाँ, अनेक दास-दासी आदि का होना पुण्यवान् या धार्मिक होने का लक्षण बताया गया। उसी की प्रशंसा की गई है।

शान्तसुधारस के रचयिता उपाध्याय विनयविजयजी ने इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा—“धर्म कल्पवृक्ष है। संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो धर्म से नहीं मिलती? विशाल राज्य, सुन्दर ललना, पुत्र और पौत्र, रमणीय रूप, सरस काव्य रचना की शक्ति, सुस्वस्त्व, आरोग्य, गुणों का या गुणीजनों का संसर्ग, सज्जनता और सुबुद्धि; ये सब धर्म से मिलते हैं। धर्म एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिस पर ये सब सुखद फल पकते हैं।”

इस भ्रान्ति के कारण कामनामय पुण्योपार्जन ही प्रधान बन गया, धर्मपुरुषार्थ गौण

यहाँ धर्म से मतलब अध्यात्मधर्म से नहीं, अपितु शुभकर्मप्रधान पुण्य से है। इसका नतीजा यह हुआ कि आदमी संवर-निर्जरारूप आध्यात्मिक धर्मसाधना को छोड़कर अथवा अहिंसा-सत्यादि धर्मों को उपेक्षा करके एकमात्र सस्ते पुण्योपार्जन में लग गया। पुण्य का उपार्जन प्रधान बन गया और धर्म में पुरुषार्थ गौण और उपेक्षित हो गया।

१. 'घट-घट दीप जले से भावांश ग्रहण

२. (क) “ऊर्ध्व बाहुर्विरोम्येनैव कश्चित् शृणोति मे। धर्मादर्शश्च कामश्च धर्मः किं न सेव्यते ?”
—महाभारत

(ख) प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता, नन्दनं नन्दनानाम्।

रम्यं रूपं सरसकविता-चातुरी सुस्वस्त्वम्।

नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः।

किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्म-कल्पद्रुमस्य ॥”

—शान्तसुधारस काव्य

नीतिमय धर्म-पुरुषार्थ प्रत्यक्ष, पुण्य के द्वारा प्राप्तव्य : परोक्ष एवं सन्देहास्पद

यद्यपि नीतिमय पुरुषार्थ से जो कुछ प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष है, पुण्य के द्वारा जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सन्देहास्पद एवं परोक्ष है। आखिर पुण्योपाजन से कर्मों का आस्रव ही होता है। निर्जरा या कर्मक्षय नहीं। फिर लोभ, स्वार्थ, यशकीर्ति या सांसारिक सुखभोग की आकांक्षा से प्रेरित होकर किया जाने वाला तथाकथित पुण्यकर्म वास्तविक पुण्यतत्त्व से रहित भी हो जाता है। अथवा इसी पुण्यवाद या भाग्यवाद (पुण्य और भाग्य) के भरोसे बैठकर मनुष्य आलसी, अकर्मण्य एवं तामसिक भी बन जाता है। धर्म तो संतोष, शान्ति, त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता, नम्रता, सरलता, निरभिमानी आदि सिखाता है। वे गुण इस तथाकथित पुण्य के सहारे से धन, सत्ता या सांसारिक पदार्थ पाने वाले में शायद ही पाये जाते हैं।

धर्म एवं पुण्य से सुख के साधन मिलते हैं, यह भ्रान्ति है

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से धर्म, पुण्य या सत्कर्मों से सुख की अनुभूति होती है, यह तथ्य तो सम्मत है, किन्तु इनसे सुख के साधन प्राप्त होते हैं, यह सिद्धान्तसम्मत तथ्य नहीं है। वर्तमान सत्कर्म से सुख के और दुष्कर्मों से दुःख के साधन मिलते हैं, यह तथ्य भी कर्मविज्ञान संगत नहीं है।

आठों ही कर्म फलापेक्षया जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्र विपाकी और कालविपाकी इन पांच भागों में विभाजित हैं। जीवविपाकी कर्म के कार्य हैं—सुख, दुःख, अज्ञान आदि भाव। पुद्गलविपाकी कर्म का फल है—शरीर, वचन और मन आदि का तथारूप मिलना। भवविपाकी कर्म का फल है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देवभव की विविध अवस्था प्राप्त होना। क्षेत्रविशेष में जो अपना कार्य करते हैं, वे क्षेत्रविपाकी कर्म हैं। कालविशेष में जो अपना कार्य करते हैं, वे कालविपाकी कर्म के फल हैं।

शुभाशुभ कर्मफलविपाक भी क्षेत्र, काल, पुद्गल और जीव के आश्रित

कर्म-फल (विपाक) के कुछ नियम हैं, उन नियमों के अनुसार ही कृतकर्म फल प्रदान करता है। कर्म प्रकृतियों का परिपाक (फल-प्रदान-योग्य) हुए बिना वह फल नहीं देता। कर्मशास्त्र में क्षेत्रविपाकी, कालविपाकी, पुद्गलविपाकी और जीवविपाकी कर्मप्रकृतियों का निरूपण किया गया है। कोई व्यक्ति ठंडे मुल्क में जन्म लेता है, उसे ग्रीष्म ऋतु सुहावनी और सुखकर लगती है, इसके विपरीत तमिलनाडु जैसे गर्म प्रदेश में जन्म लेता या रहता है, उसे ग्रीष्मऋतु कष्टकर और अरुचिकर प्रतीत होती है; तो क्या यह मान लिया जा सकता है कि ठंडे प्रदेश में रहने वाले पुण्यवान् हैं और गर्मप्रदेश में रहने

वाले पुण्यहीन हैं? सर्दी, गर्मी, वर्षा, हवा आदि प्राकृतिक परिवर्तनों को किसी के कर्म का—या सुख-दुःखरूप कर्मफल का कारण मानना कर्मविज्ञान संगत नहीं है। गर्म प्रदेश में रहने वाले कुछ लोग ठंडे प्रदेश में रहने वाले लोगों से अधिक सुखानुभव भी करते हैं, और इसके विपरीत शीत प्रदेश में रहने वाले कुछ लोग दुःखानुभव भी करते हैं।⁹

पुण्यकर्म का फल धन आदि है, तथा धनादि से व्यक्ति सुखी हो जाता है : इस भ्रान्ति का निराकरण

धन, साधन आदि पौद्गलिक पदार्थ पुण्यकर्म के फलस्वरूप मिलते हैं, धन आदि से आदमी सुखी हो जाता है, यह मानना भी ठीक नहीं है। अमरीका आदि पाश्चात्य देशों में लोगों के पास धन और सुखभोग के साधन प्रचुर मात्रा में हैं, फिर भी वे सुखी हैं, सुखानुभव करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बल्कि वहाँ के समाजशास्त्रियों ने जो आंकड़े प्रस्तुत किये हैं, उनसे तो पता लगता है कि अमेरिका आदि देशों के लोग अत्यधिक तनाव, ईर्ष्या, चिन्ता, मानसिक व्याधियों, असमानताओं आदि से ग्रस्त हैं; वे धन और साधनों के होते हुए भी सुखी नहीं हैं।

हम देखते हैं, जो जितना अधिक धनवान् है, वह उतना ही अधिक चिन्ताग्रस्त, दुःसाध्य रोगों का शिकार और अनिद्रा रोग से पीड़ित है। बिछौने पर करबटें बदलते-बदलते उनकी रातें कटती हैं। मनोरंजन के साधनों, स्वादिष्ट व्यंजनों एवं सुख-सुविधा के साधनों का उपभोग वे प्रायः कर नहीं पाते। अत्यधिक व्यस्तता के कारण उनकी नींद, भूख, तन्दुरुस्ती, स्फूर्ति आदि सब चली जाती है। जो लोग श्रमजीवी हैं, नीतिपूर्वक श्रम करके कमाते हैं, वे प्रायः उनसे अधिक स्वस्थ, निश्चिन्त और सुखी रहते हैं।

चोर, डाकू, तस्कर व्यापारी, भ्रष्टाचारी के पास धन तो प्रचुर मात्रा में होता है, पर वे रात-दिन चिन्तातुर भयग्रस्त एवं अशान्त स्थिति में रहते हैं। फिर हम कैसे मान लें कि उन्हें पुण्यकर्म से धन प्राप्त हुआ है ?

चोरों, डकैतों, वेश्याओं, सिनेमा एक्टरों-एक्ट्रेसों, तस्कर व्यापारियों, काला बाजारियों, भ्रष्टाचारी अधिकारियों आदि के पास प्रचुर धन होता है, तो क्या यह माना जा सकता है कि उन्होंने शुभकर्म किया था, इसलिए धन मिला ?

अतः धन आदि साधनों की प्रचुरता का न तो सुख के साथ सम्बन्ध है, न ही एकान्ततः धर्म या शुभ कर्म के साथ। धन आदि साधनों का पुण्य या धर्म के साथ सम्बन्ध होता अथवा पुण्यकर्म के ही ये फल हैं, ऐसी मान्यता होती तो धर्मधुरन्धर, तीर्थंकर, ऋषि-मुनि, अनगार, धर्माचार्य, संन्यासी या त्यागी चल-अचल सम्पत्ति, राज्य, घर-बार,

9. घट-घट दीप जले से भावांश ग्रहण, पृ. ३९

जमीन, जायदाद आदि को स्वयं क्यों त्यागते या दूसरों को त्याग करने की बात क्यों कहते ?^१

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओं से भी यह स्पष्ट है।^२

गृहस्थ श्रावक के धर्म और पुण्य के आचरण में त्याग, तप, मर्यादा का उपदेश

अगर धर्माचरण अथवा पुण्यकर्म में तप, त्याग, स्वार्थत्याग, इच्छाओं पर अंकुश, भोगों की मर्यादा आदि की बात न होती तो भगवान् महावीर गृहस्थ श्रमणोपासकों को परिग्रह परिमाण की, अथवा इच्छा-परिमाण की, स्वदार-सन्तोष व्रत की, अन्याय अनीति से धनार्जन न करने की, व्रत, नियम, तथा उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं का परिमाण करने की बात क्यों कहते ? पन्द्रह प्रकार के कर्मदानों (खरकर्म-व्यवसायों) को तीन करण तीन योग से त्यागने की बात क्यों कहते ? तथा महारम्भ और महापरिग्रह से नरक गमन की प्ररूपणा क्यों करते ?^३

धनादि पदार्थों के होने से सुखी, न होने से दुःखी : यह भ्रान्ति है

अतः धन आदि साधनों को एकान्ततः पुण्यकर्म का फल मानना भ्रान्ति है। धनादि वस्तुओं के होने से सुख का और न होने से दुःख का अनुभव होता है, यह भी भ्रम है। वस्तुओं के न होने पर भी तत्त्वज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, सन्तोषी गृहस्थ, तथा परिग्रह-त्यागी निर्ग्रन्थ सुखी हो सकते हैं, सुखानुभव कर सकते हैं, और धन आदि प्रचुर पदार्थों के होने पर भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता, सुखानुभव नहीं कर सकता। बल्कि धन या साधन अथवा जितने भी परपदार्थ हैं, उनकी इच्छा, लिप्सा, कामना, प्राप्ति आदि से व्याकुलता, परार्थीनता, पराश्रितता, परमुखापेक्षता, अहंकार, क्रोध, मोह, आसक्ति या मूर्च्छा में प्रायः वृद्धि ही होती है। अतः 'पराधीन सपनेहु सुख नाही,' यह उक्ति अक्षरशः ठीक है। मनुस्मृति के अनुसार भी—जो भी आत्मवश है, आत्माधीन है, वही सुख है, जो परवश-पराधीन है, वह दुःख है।^४ इसके अनुसार पर-पदार्थाश्रित सुख सुखाभास है, सुख नहीं।

१. (क) वही; यत्किंचिद् भावग्रहण, पृ. ४१

२. देखें उत्तराध्ययन अ. १८ गा. ३४, ३८, ४१ :-

(क) एयं पुण्यपयं सोच्चा अत्य-धम्मोवसोहियं। भरहोवि भारहं वासं चेच्चा कामां पव्वाए॥३४॥

(ख) चइत्ता भारहं वासं चक्कवडी भहिइइओ। संती सत्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं॥३८॥

(ग) चइत्ता भारहं वासं चइत्ता बल-याहणं। चइत्ता उत्तमे भोए महापउमे तवं चरे॥४१॥

३. देखें (क) उपासकदर्शांग सूत्र, आवश्यकसूत्र आदि में श्रावकव्रतों का विवेचन

(ख) विशेष जानकारी के लिए देखें—श्रावक-धर्म-दर्शन (प्रवक्ता-उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज)

४. "सर्वमात्मवशं सुखम्, सर्वं परवशं दुःखम्।"

—मनुस्मृति

धनादि साधन स्वयं न तो सुखकर हैं, न ही दुःखकर

वैसे भी देखा जाए तो धन, साधन आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे अपने आप में न तो मनोज्ञ हैं और न अमनोज्ञ, तथा न तो वे प्रीतिकर हैं न ही अप्रीतिकर; इसी प्रकार न तो सुखदाता हैं, न दुःखदाता। मनुष्य स्वयं ही स्थूलदृष्टि से धनादि साधनों या पर-पदार्थों पर जब प्रियता-अप्रियता की छाप लगा देता है, या उनके साथ सुख-दुःख-प्राप्ति की कल्पना को जोड़ देता है, तब वे पदार्थ सुखकर-दुःखकर या प्रीति-अप्रीतिजनक हो जाते हैं।

वर्तमान युग में धन कमाने की मूर्च्छा से धनिकों को सुख-शान्ति कहाँ?

बल्कि वर्तमान युग में तो कई लोगों को तो धन कमाने की, सुख सामग्री बढ़ाने की एक धुन-एक मूर्च्छा लगी हुई है। वे सुख के लिए धन नहीं कमाते, किन्तु अपने बड़प्पन का, अपनी शान-शौकत का प्रदर्शन करने तथा अपने अहंकार की तुष्टि-पुष्टि के लिए धन कमाते हैं।

अतः किसी भी आत्मबाह्य पर-पदार्थ का मिलना सुख का मिलना नहीं है। सुख, संतोष, शान्ति और निश्चिन्तता की प्राप्ति ही धर्माचरण और पुण्यकर्म का वास्तविक फल है, बल्कि धन और सांसारिक पदार्थों का संग्रह करने, उन पर एकाधिकार एवं ममता जमाकर बैठने वाले जमाखोर या कृपण तो अधिक दुश्चिन्ताओं में जीते हैं, अनेक आधि-व्याधि-उपाधियों से घिरे रहते हैं। उन्हें सुख-शान्ति, निश्चिन्तता, संतोष और स्वाधीनता का आनन्द कहाँ प्राप्त होता है ?

परिग्रह संज्ञा मोहरूप पापकर्म के उदय से होती है

भगवान महावीर ने तो परिग्रह की संज्ञा को मोहकर्म का उदय माना है। अशुभ कर्म-पापकर्म के उदय से ही परिग्रहसंज्ञा, परिग्रह के प्रति आसक्ति, आकर्षण या मूर्च्छा उत्पन्न होती है; पुण्यकर्म के उदय से नहीं। अतः इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिए कि धन या पदार्थों की प्राप्ति पुण्यकर्म का फल है, अथवा धन या पदार्थों के मिलने से सुख-शान्ति और न मिलने से दुःख और अशान्ति प्राप्त होती है। धर्म-अधर्म के या शुभ-अशुभ कर्म के फल का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व को बनाने-बिगाड़ने से है; अथवा ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति; इन आत्मिक गुणों को बढ़ाने-रोकने से है, पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति से नहीं।^१

पुण्य के विषय में जैन विद्वानों और लेखकों की भ्रान्ति

इसके विपरीत कतिपय कथा-लेखकों, नीतिकारों और नैयायिक दर्शन ने यह

१. घट-घट दीप जले से भावांश ग्रहण, पृ. ४०, ४२

कहना शुरू किया कि पुण्यकर्म के फलस्वरूप सुखकर सामग्रियों की प्राप्ति होती है और पापकर्म के फलस्वरूप दुःखकर सामग्रियों की। कतिपय जैन विद्वानों ने भी इस भ्रान्ति का अनुसरण किया है। मोक्षमार्ग प्रकाश में पं. टोडरमलजी लिखते हैं--“वेदनीय कर्म की तो शरीरविषय व शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख-दुःखनि के कारण पर-द्रव्यनि का संयोग जुटे है। शरीर विषय आरोग्यपत्नी, रोगीपत्नी, शक्तिवानपत्नी, दुर्बलपत्नी आं क्षुधा तृषण रोग खेद पीड़ा इत्यादि सुख दुःखनि के कारण ही हैं। बहुरि बाह्य विषय सुहावना ऋतु, पवनादिक वा इष्ट स्त्री-पुत्रादिक वा मित्र धनादिक सुख-दुःख के कारण ही हैं। एक भ्रन्ति : भाग्य की, विधाता की लिपि को कौन मिटा सकता है?

नीतिकार कर्म की; विशेषतः शुभकर्म की प्रशंसा में लिखते हैं--“भाग्य ही सर्वत्र फलित होता है, विद्या और पुरुषार्थ कुछ काम नहीं आता।”

ये भाग्यवादी यहाँ तक कह बैठते हैं--“विधाता ने जो कुछ ललाट पर लिख दिया है, उसे मिटाने में कोई समर्थ नहीं है।”

“पापी जीव समुद्र में प्रवेश करने पर भी रत्न नहीं पाता और पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है।”

“जिसका भाग्य अनुकूल होता है, उसे समुद्र के उस पार गई हुई वस्तु भी हाथ में आ जाती है और जिसका भाग्य प्रतिकूल होता है, उसके हाथ में आई हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है।”

पौराणिकों और कथालेखकों ने सर्वत्र इसी प्रकार का चित्रण किया है।

जीव स्वयं ही भाग्यविधाता, स्वयं ही अपना पतनकर्ता

इस प्रकार के भाग्यवादी व्यक्ति सब कुछ भाग्य (शुभ-अशुभ कर्म) के भरोसे छोड़कर अकर्मण्य बनकर बैठ जाते हैं। भाग्य भी तो मनुष्य के पूर्वकृत कर्म हैं,^१ उन्हें भी बदला जा सकता है, सत्पुरुषार्थ के द्वारा। इसीलिए आगमों में स्थान-स्थान पर कहा गया

१. (क) महाबंधो भाग २, प्रस्तावना-‘कर्ममीमांसा’ से, पृ. (ख) मोक्षमार्गप्रकाश (पं. टोडरमलजी) से पृ. ३५, ५९
२. (क) भाग्यं फलति सर्वत्र, न च विद्या, न च पौरुषम्।
(ख) लिखितमपि ललाटे प्रोच्छ्रितं कः समर्थः?
(ग) जलनिधि परतटगतमपि करतलमायाति यस्य भवितव्यस्य ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य भवितव्यता नास्ति ॥”
(घ) नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो, भाव्यस्य नाशः कुतः?
३. पूर्वजन्म कृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते।

है—“शुभाशुभ कर्म को जीव स्वयं ही बदल सकता है, स्वयं ही अपनी आत्मा का उत्थान और पतन कर सकता है।”

शुभ-अशुभ कर्म शरीरादि कार्यों के प्रति निमित्त कारण, उपादानकारण नहीं

जैन कर्मविज्ञान जीव की विभिन्न अवस्थाओं, शरीर, इन्द्रिय, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि कार्यों के प्रति शुभ-अशुभ कर्म को निमित्त कारण मानता है, किन्तु इन सभी कार्यों के प्रति वह कर्म को उपादानकारण नहीं मानता। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव जिस कार्य के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होते हैं, वे उसके निमित्त कारण कहे जा सकते हैं। निमित्त उपकारी या अपकारी हो सकते हैं, कर्ता नहीं हो सकते। कार्य अपने-अपने उपादान से होता है, किन्तु कार्यनिष्पत्ति के समय वस्तु की अनुकूलता निमित्तता का प्रयोजक है। घटादि कार्य अपने उपादानों से होते हैं, उनकी उत्पत्ति में बुद्धिमान् निमित्त देखा जाता है।

इसलिए नैयायिकों के मत के समान यावत्कार्यों के प्रति कर्म को निमित्त कारण नहीं माना जाता। अन्य शुभ-अशुभ कार्य अपने-अपने कारणों से होते हैं, कर्म उनका कारण नहीं है।

जैसे कि—पुत्र की प्राप्ति, उसका मर जाना, व्यापार में घाटा-नफा, अक्समात् मकान का गिर जाना, फसल का नष्ट हो जाना, आकस्मिक दुर्घटना हो जाना, ऋतु का अनुकूल या प्रतिकूल हो जाना, दुष्काल या सुकाल होना, वृष्टि होना या न होना, शरीर में रोगादि का होना, इष्ट-अनिष्ट संयोग तथा वियोग की प्राप्ति, ये और ऐसे कार्यों के प्रति शुभाशुभ कर्म कारण नहीं है। शुभ (पुण्य) या अशुभ (पाप) कर्म का उदय होने पर ये सब फलदान में सहायक निमित्त बन सकते हैं।^१

वास्तव में इष्ट-अनिष्ट-संयोग या इष्ट-अनिष्ट-वियोग आदि जितने भी कार्य हैं, वे पुण्य या पाप के कार्य (फल) नहीं हैं, पुण्य-पाप के उदय में आने (फलोन्मुख होने) पर ये निमित्त बन सकते हैं। निमित्त बनना और बात है और कार्य होना अन्य। शुभ-अशुभ कर्मोदय के निमित्त को कर्म का कार्य कहना युक्ति-संगत और सिद्धान्त-सम्मत नहीं है।^२

भोगादि के साधन अधिक होने से पुण्य अधिक नहीं

प्रश्न होता है—एक व्यक्ति सम्पन्न घर में पैदा होता है, दूसरा दरिद्र घर में; एक स्वर्ग में जाकर सुख पाता है, एक नरक में अनेकानेक दुःख भोगता है, एक ऐश्वर्यशाली

१. महाबंधो भाग-२ प्रस्तावना (कर्ममीमांसा) से पृ. २५-२६

२. महाबंधो भा. २ प्रस्तावना (कर्ममीमांसा) से पृ. २६

होता है, और दूसरा भिखारी, इत्यादि इष्टसंयोग या इष्टवियोग पुण्य-पाप के फल नहीं हैं, तो ये सब किन कारणों से होते हैं ?

इष्ट-अनिष्ट संयोग भी पुण्य पाप का फल नहीं

इसका समाधान यह है कि धन आदि साधनों के होने-न होने को या इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोगों को पुण्य-पाप का फल माना जाएगा, तब जिन साधनाशील अपरिग्रही या अकिंचन साधु-साधवियों के पास धनादि साधन नहीं हैं, अथवा जिन साधुओं को इष्ट या अनिष्ट संयोग अथवा इष्टानिष्ट वियोग प्राप्त हैं, फिर भी वे समभाव में लीन हैं, स्वाधीन आत्मिक सुख और त्यागजन्य शान्ति में मग्न हैं, उनका पुण्य या सुख उन सम्पन्नों या इष्टसंयोग-प्राप्त व्यक्तियों से कई गुणा अधिक क्यों बताया गया है ? वे तो अनुकूल साधनादि के प्राप्त होने की इच्छा भी प्रायः नहीं करते, न ही प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति होने पर दुःखानुभव करते हैं। जबकि धनादि सम्पन्न कई व्यक्ति या इष्टसंयोग-प्राप्त या शुभ-अवसरप्राप्त कतिपय व्यक्ति प्रायः अहर्निश चिन्ता, दुःख, रोग, शोक, अज्ञान्ति, तनाव आदि से घिरे रहते हैं ? इसका क्या कारण है ?

वस्तुतः बाह्य सामग्री एवं संयोग की प्राप्ति-अप्राप्ति का कारण पुण्य-पाप न होकर जीव के कषायभाव या रागादि परिणाम हैं। ये कषाय या रागादि भाव ही हैं, जिनके निमित्त से व्यक्ति बाह्य परिग्रह पदार्थ को ममत्वपूर्वक ग्रहण करता है, अर्जन करता है, संचित करता है, फिर उसका संरक्षण करता है तथा वियोग होने पर दुःखित होता है, चिन्ता-शोक करता है; वह सुखाभास को सुख मानता है, प्रतिकूलता होने पर दुःख-वेदन करता है, वह पुण्य-पापजन्य नहीं स्वकीय कषायजन्य है।

परिग्रहादि की न्यूनता : अधिक पुण्य कर्म का कारण : अधिक परिग्रह पुण्यकारक कैसे?

थोड़ी देर के लिए बाह्य सामग्री एवं परिस्थिति को पुण्य-पाप का फल मान लेने पर सैद्धान्तिक आपत्ति आ जाएगी। आगमों में तथा तत्त्वार्थसूत्र में ऊपर ऊपर के देवलोकों के देवों को गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान से हीन-न्यून माना है। यदि देवलोक में प्राप्त होने वाली सामग्री पुण्य का फल है, तो ऊपर-ऊपर के देवलोकों में उत्तरोत्तर पुण्यराशि अधिक होने से उन्हें पुण्यसामग्री या भोगसामग्री अथवा सुखोपभोग के संयोगों की प्राप्ति विपुल मात्रा में होनी चाहिए, मगर ऐसा नहीं होता। अतः बाह्य सामग्री, अभीष्ट संयोग का मिलना न मिलना पुण्य का फल नहीं माना जाता।

१. (क) वही, प्रस्तावना से, पृ. २६

(ख) 'गति-शरीर-परिग्रहभिमानतो हीना'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. २२ का विवेचन देखें।

जगत की दो प्रकार की व्यवस्था : शाश्वतकी और प्रयत्नसाध्य

इसे हमें आगमिक प्ररूपणा की दृष्टि से भी समझना आवश्यक है। आगम में (जगत) की व्यवस्था (स्थिति) दो प्रकार की बतलाई गई है—एक शाश्वतिक व्यवस्था और दूसरी प्रयत्नसाध्य व्यवस्था।

देवलोक, नरक और भोगभूमि में शाश्वतिक (नियत) व्यवस्था होती है। वहाँ अनादिकाल पूर्व जो व्यवस्था पहले थी, वही (वैसी ही) व्यवस्था आज भी है। जिस देवलोक में जितने विमान आदि हैं, या जिस नरक में जितने आन्तरे, या क्षेत्रगत सर्दी-गर्मी, आवास स्थान आदि नियत हैं, वे उतने ही रहते हैं, रहेंगे। उनके लिए सुख या दुःख के वेदन में निमित्तभूत सामग्री अनायास ही मिलती है, और जीवन के अन्तिम क्षण (आयुष्य पूर्ण होने) तक उसका संयोग बना रहता है। यह बात दूसरी है कि जिनके कषाय उपशान्त या मन्द होते हैं, वे सुख-दुःख का संवेदन अन्य रूप करते हैं, तीव्र कषायी अधिकाधिक संवेदन करते हैं।

पुण्यातिशय न तो इस सामग्री या संयोग में वृद्धि ही कर सकता है, और न ही हीनपुण्य या पापातिशय उसमें न्यूनता ला सकता है। देवों के जिस प्रकार साता का उदय होता है, उसी प्रकार असाता का भी उदय होता है। नारकों के असाता का उदय होता है, उसी प्रकार साता का भी उदय होता है। आगम का यह कथन तभी युक्तियुक्त हो सकता है, जब अनुकूल सामग्री या संयोग मिलने-न मिलने पर भी सुख या दुःख का संवेदन न्यूनाधिक न होता हो, सबको एक सरीखा सुखानुभव या दुःखानुभव होता हो।^१

लोक में दूसरी व्यवस्था प्रयत्नसाध्य है। यदि केवल पूर्वकृत कर्म ही इनका कारण होता तो मनुष्य जाति का जो आज भौतिक विकास हुआ है, वह कदापि न होता। जिस युग में यहाँ भोगभूमि थी, उस समय यौगलिक जनता प्रकृति से प्राप्त साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। उस समय मनुष्य एक ही ढर्रे से, एक ही स्थिति से जीता था। लेकिन कर्मभूमि आई। जनसंख्यावृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ीं। एक ही प्रकार के ढर्रे से मनुष्य जीवन निर्वाह नहीं कर सकते थे। असि, मसि, कृषि तथा विविध शिल्प, उद्योग एवं कलाओं का आविष्कार हुआ। यह मानव प्रयत्नसाध्य व्यवस्था थी।

मनुष्य समाज में उत्तरोत्तर वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण धनसम्पन्नता बढ़ी। मनुष्य अलग-अलग सम्प्रदायों में आजीविका की दृष्टि से विभक्त हुआ। सबके पृथक्-पृथक् नियम बने। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समाज की व्यवस्थाएँ बनीं।

१. महाबन्धो भाग-२ प्रस्तावना—कर्ममीमांसा (पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री) से: पृ. २६

सिद्धों के प्रचलन से वस्तुओं का विनिमय होने लगा। चतुर और चालाक व्यक्तियों ने साधनों पर एकाधिकार जमा लिया, दूसरे पीछे रह गए।

कुछ लोगों ने अन्याय, अनीति, शोषण और सत्ता के बल पर धन बटोरना शुरू किया। कुछ लोग चोरी, डकैती, व्यभिचारवृत्ति आदि के जोर से धन सम्पन्न बने। कुछ नीति-न्याय से आजीविका करके धन सम्पन्न बने, उन्होंने दान, परोपकार आदि सत्कार्यों में अपनी सम्पत्ति को लगाया, फलतः उनको अधिकाधिक सुखानुभव हुआ एवं होता है। जिन लोगों ने अन्याय, अनीति आदि से, कुकर्मों से धनसम्पन्नता बढ़ाई, उनका धन या तो यों ही पड़ा रह गया, या फिर विलासिता में खर्च हुआ, या चोरी, डकैती, अग्निकाण्ड आदि द्वारा वह धन चला गया। इस प्रकार उनकी धनसम्पन्नता अधिकाधिक दुःखानुभूति का कारण बनी।

अतः धनादि सामग्री की प्राप्ति-अप्राप्ति ही सुख-दुःख का या पुण्य-पाप का कारण नहीं है। तथैव एक का श्रीमान् होना, और एक का निर्धन रहना भी सुख-दुःख या पुण्य-पाप का कारण नहीं, यह तो सामाजिक व्यवस्था एवं मनुष्यकृत सत्सुरुषार्थ, कुपुरुषार्थ या अपुरुषार्थ पर निर्भर है।

बाह्य साधनों की उपलब्धि भी साता-असातावेदनीय के निमित्त से नहीं होती और न ही लाभान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम के निमित्त से होती है। लोक में बाह्य साधनों की प्राप्ति के अनेक मार्ग दृष्टिगोचर होते हैं। साधनों की प्राप्ति-अप्राप्ति पुण्य-पाप या सुख-दुःखरूप फल नहीं, किन्तु उनमें मनुष्य का प्रयत्न, परिस्थिति, क्षेत्र, काल आदि कारण है। वस्तुतः पुण्य-पाप तो इन बाह्य व्यवस्थाओं (राष्ट्रगत एवं समाजगत व्यवस्थाओं) से परे हैं, वह तो आध्यात्मिक है, आत्मिक सुख-दुःख संवेदन मूलक हैं।

जैन कर्मविज्ञान में कर्मसिद्धान्त की प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारों पर की गई है। वह (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव आदि) निमित्त को स्वीकार करके भी कार्य के आध्यात्मिक विश्लेषण पर जोर देता है। उसके मतानुसार जिस काल में वस्तु की जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे-जैसे द्रव्य, क्षेत्रादि जिस-जिस कार्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं, तदनुसार वे उसके निमित्त बनते हैं। यह बात दूसरी है कि अनुकूल सामग्री मिलने पर भी मनुष्य अपने कषायानुसार प्रतिकूल (दुःख का) वेदन करे या प्रतिकूल सामग्री मिलने पर भी वह अनुकूल (सुख का) वेदन करे।^१

१. वही, प्रस्तावना-कर्ममीमांसा से, पृ. २७

अतः पुण्य और पाप की तथा उनके फलों की व्याख्या आगमों और आध्यात्मिक ग्रन्थों में आध्यात्मिक एवं लोकोत्तर दृष्टि से की गई है। पुण्यकर्म का उपदेश क्या इसलिए दिया गया है कि मनुष्य इस जीवन में उसे हेय समझकर बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का तथा भोगोपभोग के साधनों का आशिक या सर्वथा त्याग करे, और अगले जन्म में उसके फलस्वरूप उन्हें वह प्रचुर मात्रा में प्राप्त करे और अनन्तसंसार का पात्र बने। पुण्य कर्म की इससे बढ़कर विडम्बना और क्या हो सकती है? अपितु पुण्य-प्रभाव से जिन पर-पदार्थों को हेय जानकर तथा भेदविज्ञान जगाकर उनके प्रति ममत्व, वासना या कामना का त्याग करता है, कर्मक्षय करके या अशुभ रागादि या कषायादि भावों का त्याग करके क्रमशः आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करता है। फलतः वह या तो कर्मबन्धन के कारणों का आशिक या सर्वथा त्याग करता है; या फिर समग्ररूप से भव बन्धन को काटने में समर्थ होता है। यह पुण्यकर्म की लोकोत्तर व्यवस्था है।^१

पुण्यकर्म का फल भौतिक लाभ ही है या आत्मिक लाभ भी?

कुछ एकान्त निश्चयनवादियों का कहना है कि जैसे पाप कर्म से भौतिक हानि प्राप्त होती है, वैसे ही पुण्यकर्म से केवल भौतिक लाभ ही होता है, उससे आत्मिक लाभ तो कुछ नहीं होता, इसलिए पुण्यकर्म को तो सर्वथा त्याज्य समझना चाहिए, पुण्यकर्म नहीं करना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि वास्तव में शुभगति, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, सर्वांगपूर्णता, दीर्घायुष्कता, धर्मश्रवण, धर्म प्राप्ति आदि सब भौतिक लाभ शुभनामकर्म, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और शुभ आयुष्य कर्म आदि पुण्य कर्म से प्राप्त होते हैं; किन्तु धर्म और अध्यात्म की साधना, संवर- निर्जारात्मक धर्म की या दशविध उत्तम क्षमादि धर्म की साधना करने के लिए भी मनुष्य जन्म आदि की अनिवार्य आवश्यकता होती है। मनुष्य भय के बिना सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की, सर्व-कर्मक्षय की, मोक्ष की साधना हो ही नहीं सकती। इसीलिए वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान की आवश्यकता शीघ्र मोक्षगमन के लिए बताई है। पापोदय से प्राप्त एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय आदि दशाओं में तो जीव धर्म का आचरण करना तो दूर, धर्म का स्वरूप ही नहीं समझ सकता। पुण्यकर्म के उदय से उत्तम साधन मिलने पर ही रत्नत्रयरूप धर्म, अध्यात्म एवं कर्मक्षय की साधना में गति-प्रगति हो सकती है।

माता मरुदेवी, संयती राजर्षि, प्रदेशी राजा, हरिकेशबल, भृगुपुत्र आदि को पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप ही धर्मश्रवण, धर्माचरण, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं

१. वही, प्रस्तावना-कर्ममीमांसा से, पृ. २७

सम्यक्चारित्र के पालन करने के, अथवा मोहक्षय करने के उत्तम अवसर एवं निमित्त मिले और वे धर्मनिष्ठ बने, कई मोक्षगामी बने।

उपशमभाव के साथ पुण्योदय की अनुकूलता रहने पर ही अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अतः पुण्यकर्म के साथ लौकिक भौतिक कामना एवं वासना का विषय न हो तो उससे आत्मिक लाभ अवश्य मिलता है, आत्मोत्थान की दिशा में गति-प्रगति करने की भावना, धारणा एवं शक्ति भी प्रबल होती जाती है। पुण्यानुबन्धी पुण्य तो नियमतः आत्मिक लाभपूर्वक ही होता है। अतः निःस्वार्थ, निष्काम, सेवाभाव, दया, दान आदि पुण्यकर्म आत्मिक गुणों के, आत्मशक्तियों के विकास में सहायक बनते ही हैं, इसमें सन्देह को कोई अवकाश नहीं है।^१

पुण्य-पाप कर्म का फल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी मिलता है

कई लोगों की ऐसी धारणा बन गई है—पुण्यकर्म एवं पापकर्म जो यहाँ किये जाते हैं, उनका सुख-दुःखरूप फल इस लोक में नहीं मिलता, इनका फल तो परलोक में ही मिलता है। किन्तु यह धारणा भी निराधार है। पुण्यकर्म और पापकर्म का फल यहाँ भी मिलता है, और आगामी जन्म एवं जन्मों में भी मिलता है।^२

कर्मविज्ञान के अनुसार एक बार आचरित पापकर्म का फल कम से कम दस गुणा हो जाता है। यदि उसे तीव्र रस के साथ आचरित किया गया हो तो उसका विपाक करोड़ गुणा हो जाता है।^३ कभी-कभी अनन्तानुबन्धी कषाय के तीव्र उदय से अन्तर्मुहूर्तभर में ऐसा कठिन कर्म का बन्ध हो जाता है, जिसका फल जीव को अनेकानेक जन्मों तक भोगना पड़ता है। गजसुकुमाल मुनि ने ९९ लाख जन्मों (भवों) पहले अपनी सौत के पुत्र के सिर पर उबलता हुआ गर्म पानी डाला था, जिसका फल उन्हें इस (गजसुकुमाल के) भव में सोमल ब्राह्मण द्वारा उनके लुंचित मस्तक पर मिट्टी की पाल बांधकर धधकते अंगारे डालकर मार डालने के रूप में मिला। यद्यपि उन्होंने तो इस उपसर्ग को समभाव से एकमात्र आत्मलीन होकर सहन करके अपना सर्वकर्ममुक्ति का कार्य सिद्ध किया।^४

आम जनता में एक भ्रान्ति और फैली हुई है कि वर्तमान में जो लोग खुलेआम बेईमानी, अन्याय, अत्याचार, हिंसा आदि पापकर्मों का आचरण कर रहे हैं, वे उनके फलस्वरूप निर्धन, विपन्न आदि होने के बदले धन-सम्पत्ति, जमीन जायदाद; तथा

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'पुण्य-पाप की अवधारणा' लेख से, पृ. १६१
२. इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखिये—'कर्मफल : यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में?' शीर्षक निबन्ध
३. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त-विशेषांक में प्रकाशित 'कर्मविपाक' लेख से, पृ. १२०
४. देखें—अन्तकृद्दशांगसूत्र में गजसुकुमालमुनि की दीक्षा और मोक्ष का प्रकरण।

अन्यान्य सुख-साधनों के अधिकारी बनते तथा फलते फूलते जा रहे हैं, इसके विपरीत जो व्यक्ति ईमानदारी, न्यायनीति, धर्माचरण एवं धर्मध्यान में प्रवृत्त हैं, उनके पास साधन सामग्री की अत्यन्त कमी है। वे निर्धनता और अभाव में जिंदगी जी रहे हैं।

ऐसा, विपरीत परिणाम देखकर कई लोग कह देते हैं—पुण्य-पाप का फल सुख-दुःख मानना महज भ्रम है। पुण्य-पाप को मान कर इनके पीछे लगे रहने या इनके अनुसार प्रवृत्तनिवृत्त होने से व्यर्थ ही परेशानी उठानी पड़ती है। संसार में प्रायः प्रत्यक्षतः यह देखकर लोग कहने लगते हैं—“यह सब मन को तसल्ली देने और समझाने का ढंग है।”

पापकर्मी सभी सुखी और पुण्यकर्मी सभी दुःखी नहीं दिखाई देते

इस भ्रान्ति को प्रत्यक्षवादी, नास्तिक और अपराधीवृत्ति के लोग ही प्रायः फैलाया करते हैं। पुण्यकर्म या पापकर्म के फल का सम्बन्ध केवल इसी जन्म से नहीं है, इसलिए यह समझना ठीक नहीं होगा कि पापकर्म या अनैतिक कर्म करते हुए भी जो लोग सुखी और सम्पन्न दिखाई देते हैं, वह उनके इसी जन्म के किये हुए कर्मों का फल नहीं है। उनकी सम्पन्नता और सुखशीलता का सम्बन्ध पूर्वकृत कर्मों का प्रतिफल है।^१

ऐसा भी एकान्ततः नहीं प्रतीत होता कि पापकर्म या अपकर्म करने वाले सभी लोग सुखी और निश्चिन्त हों। कई ऐसे भी धनाढ्य एवं साधन-सम्पन्न हैं, जो अपने कृत पाप कर्मों का फल इसी जन्म में अनेक रोग, चिन्ता, उद्विग्नता और तनाव आदि के रूप में भोग रहे हैं। जो इस जन्म में अपने द्वारा कृत पापकर्मों का फल नहीं भोग रहे हैं, उनके वे पापकर्म कालान्तर में या अगले जन्म अथवा जन्मों में फलीभूत होते ही हैं।

जो धर्मनिष्ठ, नीतिमान्, सदाचारी एवं पुण्यकर्म करने वाले व्यक्ति इस समय विपन्न और दुःखी दिखाई देते हैं, या दुःखानुभव करते हैं; सम्भव है, यह उनके पूर्वकृत किसी पापकर्म का फल हो; किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे धन की अथवा साधनों की अल्पता या बाह्य दृष्टि से प्रतीत होने वाली विपन्नता से असन्तुष्ट, उद्विग्न एवं दुःखी प्रायः नहीं होते। अगर वे ऐसी दुष्परिस्थिति में उद्विग्न एवं दुःखानुभूत होते हैं तो समझना चाहिए, यह उनके पूर्वकृत पापकर्म का फल है, तथा वे दुःख और आर्तध्यान से पीड़ानुभव करके और नये कर्म बांध रहे हैं।

फिर ऐसा भी एकान्ततः दृष्टिगोचर नहीं होता कि सभी धर्मपरायण, नीतिमान एवं सम्यग्दृष्टि व्यक्ति दुःखी और विपन्न हों। और न ही सभी पापकर्मी सुखी एवं सम्पन्न दिखाई देते हैं।^१

१. इस विषय में विशेष स्पष्टीकरण के लिए कर्मविज्ञान प्रथम भाग में प्रकाशित 'कर्म-अस्तित्व के प्रति अनास्था अनुचित' लेख, पृ. १९९-२०० देखें

२. केवल अपने ही लिये न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. १०९

कई व्यक्ति दीन-हीन और दरिद्र भी दिखाई देते हैं। अतः इस विभिन्नता, विचित्रता एवं विषमता का कारण अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों का ही प्रभाव समझना चाहिए। फिर भले ही वे पूर्वकृत कर्म इसी जन्म के हों; या पूर्वजन्मकृत हों।

इस तात्त्विक चर्चा को एक ओर रखकर यदि ठंडे दिल से सोचें तो अनुभव होगा कि पापकर्म आखिर पापकर्म ही है। उसमें मन-वचन-काया से प्रवृत्त होने का विचार उठते ही आत्मा में बेचैनी एवं उद्विग्नता उत्पन्न होने लगती है। उसकी अन्तरात्मा ही उसे इस पापकर्म के लिए कचोटती है, बार-बार धिक्कारती भी है। पापकर्म का मन में संकल्प उठते ही इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व बहुत ही कष्टकर, संक्लेशकर एवं दुःखकर होता है। उसके पश्चात् समाज में निन्दित, सरकार से दण्डित, एवं पकड़े जाने पर दुर्दशाग्रस्त, चिन्ताग्रस्त आदि होने का दण्ड भी कम भयंकर नहीं है।^१

सम्यग्दृष्टि एवं विचारवान् व्यक्ति को पूर्वकृत पुण्यकर्म के फल भोगने के समय न तो हर्षित होना चाहिए और न ही अहंकारग्रस्त। तथा पापकर्म का फल भोगते समय भी न तो मन में दीनता-हीनता लानी चाहिए और न ही आर्तध्यान-रीद्रध्यान या विलाप करना चाहिए। दोनों ही स्थितियों में समभाव में रहना चाहिए, मन में विषमभाव नहीं आने देना चाहिए। तभी वह पापकर्म अपना फल भुगताकर क्षीण हो सकता है।

तात्त्विक दृष्टि से सोचें तो पुण्य-पाप दोनों ही पुद्गल की पर्यायें हैं—दशाएँ हैं। दोनों ही अस्थायी हैं, परिवर्तनशील हैं। अन्त में तो दोनों को आत्मा से पृथक् करना है।

किसी विचारक ने कहा है—

पुण्य-पाप-फल मांही, हरख-विलखो मत भाई।

यह पुद्गल परजाय, उपजि बिनसै फिर थाई ॥^२

अतः पूर्वकृत पापकर्म का फल हो, चाहे पुण्यकर्म का, दोनों ही स्थितियों में समभावपूर्वक फल भोगना ही हितावह है।

१. केवल अपने लिए ही न जीएँ (ले. श्रीराम शर्मा आचार्य) से भावांश ग्रहण, पृ. १०९

२. जिनयाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'पुण्य-पाप की अवधारणा' लेख से, पृ. १५९

पुण्य-पाप के फल: हार और जीत के रूप में

पुण्य-पाप के खेल में एक की जीत और एक की हार : क्यों और कैसे?

सांसारिक (कर्मबद्ध) प्राणियों का जीवन ताश के पत्तों के खेल की तरह है। ताश के अच्छे-बुरे पत्तों की तरह पूर्वकृत कर्मों के उदय से उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्र मिलते हैं, वे अच्छे भी मिलते हैं और बुरे भी। जो कुशल खिलाड़ी होता है, उसके पास बहुत बुरे पत्ते आये हों, तब भी वह खेल में जीत जाता है। इसी प्रकार पुण्य-पाप कर्मों का जो कुशल खिलाड़ी होता है, वह पूर्वकृत पापकर्मवश बुरे संयोग, बुरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परिस्थिति के रूप में दुष्कर्मफल मिलने पर भी अपने सत्पुरुषार्थ से, अपने कौशल से उन्हें पुण्यकर्मों में संक्रमित (परिवर्तित) करके अथवा रत्नत्रयरूप धर्म एवं तपश्चरण में शुद्ध पुरुषार्थ करके उन कर्मों को क्षय कर डालता है।

इसके विपरीत जैसे—अकुशल खिलाड़ी के पास ताश के अच्छे पत्ते आने पर भी वह उस खेल में बाजी जीत नहीं पाता। इसी प्रकार पुण्य-पाप के खेल के अकुशल खिलाड़ी के पास पूर्वपुण्यकर्मवश अच्छे संयोग तथा अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल (अवसर), भाव और परिस्थिति के योग मिलने पर भी वह खेल को बिगाड़कर धर्म, पुण्य और उनके फल अर्जित करने की बाजी हार जाता है, वह अन्त तक बाजी हारता ही जाता है।¹

हरिकेशबलमुनि ने पापमयी स्थिति पर विजय प्राप्त करके पुण्यमयी और मोक्षसुखमयी बना ली

हरिकेशबलमुनि को पूर्वकृत पापकर्मवश बुरे संयोग, खराब परिस्थिति, तथा बुरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मिले थे; किन्तु जब से वह संभले, एक कुशल कर्म-खिलाड़ी बनकर अपने तप, संयम और त्याग के पुरुषार्थ से अधिकांश कर्मों का क्षय कर डाला। संचित अशुभकर्मों को शुभकर्मों (पुण्य) में परिवर्तित कर डाला। इस प्रकार उन्होंने

1. देखें—डॉ. राधाकृष्णन् लिखित—'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि', पृ. २९२

पुण्य-पाप के खेल में विजय प्राप्त की और अन्त में पुण्य और पाप दोनों कर्मों में सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध और परिनिवृत्त हुए।”

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पुण्य-पाप के खेल में हारता ही गया

दूसरी ओर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने संभूति मुनि के भव में तप-मयम के फल का निदान (कामभोगों की प्राप्ति का संकल्प) किया था, उस पूर्वकृतपुण्यकर्म के फलस्वरूप उसे चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ, सभी प्रकार की कामभोगों की मामूली मिली। अर्थात् पूर्वकृत पुण्य कर्मवश उसे अच्छे संयोग, अच्छी परिस्थिति, मनुष्य-जन्मादि दुर्लभ साधन, तथा अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मिले थे; किन्तु वह संभलने के बजाय कामभोगों में अधिकाधिक गूढ़ आसक्त और मोहमूढ़ हो गया, बोधि प्राप्त नहीं कर सका।

उसके पांच जन्म के साथी चित्तमुनि के जीव निर्ग्रन्थ साधु ने उसे इस छठे जन्म में दोनों साधियों के विद्युद्गुने का कारण, भोगों की क्षणभंगुरता, नीति धर्म के आचरण से सुख-शान्ति के सुन्दर-सुन्दर तथ्य समझाए। अन्त में, (पुण्य) आर्यकर्म करने का अनुरोध किया, परन्तु इतना समझाने के बावजूद भी ब्रह्मदत्त तम से मम नहीं हुआ। पुण्य-पाप के खेल में अकुशल खिलाड़ी की तरह वाजी हारता ही गया।

इस प्रकार उसे अच्छे संयोग आदि मिलने पर भी अकुशल खिलाड़ी होने के कारण वह पुण्य-पाप के खेल में पराजित हो गया और प्राप्त पुण्य-संयोग को भी उसे पापकर्म में परिणत कर डाला और अन्त में वह नरक का ही मेहमान बना।”

संगम ने पापमयी स्थिति से संभलकर पुण्यराशिबन्ध किया

संगम नामक गोपालपुत्र पूर्वकृत अशुभ कर्म के उदयवश पिता की लज्जछाया से वंचित रहा और विपन्नता, दरिद्रता प्राप्त की। उसे एकमात्र माता का सहारा था। शैल-हीनता एवं दरिद्रता में पले हुए बालक संगम को एकमात्र माता के द्वारा ही संस्कार मिले थे। उसे पापकर्मवश कोई भी शुभ संयोग, सम्पन्नता, सुपरिस्थिति तथा शुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी प्राप्त नहीं थे। किन्तु उसने इस परिस्थिति में भी एक मासिक-उपवासव्रती तपस्वी मुनि को उत्कट भावों से अपने खाने के लिये रखी हुई मारी खीर बहरा दी। खीर का दान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था; किन्तु उसके पीछे दान देने की उत्कट भावना थी, विधि, द्रव्य, दाता और पात्र भी शुद्ध थे। इसके कारण उत्कट पुण्य बन्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप संगम का जीव मरकर परम धनादि से सम्पन्न राजगृहनिवासी गोभद्रसेठ का पुत्र बना। शालिभद्र के रूप में ऋद्धि-समृद्धि से सम्पन्न मानव बना।

१. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र का १२वाँ हरिकेशीय अध्ययन।

२. देखें-उत्तराध्ययन सूत्र का १३वाँ चित्त-संभूतीय अध्ययन।

यह था अशुभ संयोग और परिस्थिति के प्राप्त होने पर भी यानी पापोदय युक्त संयोग में से पापपूर्ण परिस्थिति में से उत्कृष्ट पुण्य उपार्जन करने की कुशलता।

यही नहीं, शालिभद्र के जीवन में ऋद्धि-समृद्धि एवं सुख सम्पन्नता में कोई कमी नहीं थी, कामभोग के एक से एक बढ़कर साधन प्राप्त थे, फिर भी उन्होंने इस परिस्थिति में स्वयं को फंसाए रखना, तथा धनासक्ति, विषयभोगासक्ति में ग्रस्त रहना उचित नहीं समझा।

पूर्वोपार्जित पुण्य सम्पदा के मोह का त्याग करके वे त्यागी, तपस्वी, अकिंचन अनगर बने और उत्कृष्ट पुण्य सम्पदा के अधिकारी बने, सर्वोच्च देव-लोकगामी हुए।

यह भी पुण्यानुबन्धी पुण्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

संगम के भव में पापपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए उसने उत्कृष्ट पुण्यबन्ध करके अपना भविष्य उज्ज्वल बना लिया। इसे शास्त्रीय भाषा में पुण्यानुबन्धी पाप कह सकते हैं। पापोदयवश विपन्न परिस्थिति थी, लेकिन एक कुशल खिलाड़ी की भांति उसने पुण्य उपार्जन करके उसे पुण्यानुबन्धी बना दिया; अर्थात् भविष्य में पुण्यफल की प्राप्ति हो, इस प्रकार की स्थिति बना दी।

कर्म के शुभ-अशुभ फल की दृष्टि से प्ररूपित चतुर्भंगी

स्थानांग सूत्र में कर्म के शुभ-अशुभ फल की दृष्टि से एक चौभंगी प्ररूपित की गई है—उसका अर्थ इस प्रकार है—(१) शुभ और शुभ। अर्थात्—कोई पुण्यकर्म शुभ प्रकृतियुक्त होता है, और शुभानुबन्धी भी होता है। (२) शुभ और अशुभ। अर्थात्—कोई पुण्यकर्म शुभ-प्रकृतिदाता होता है, किन्तु होता है—अशुभानुबन्धी। (३) अशुभ और शुभ। अर्थात्—कोई पापकर्म अशुभ प्रकृति वाला होता है, किन्तु होता है—शुभानुबन्धी। (४) अशुभ और अशुभ। अर्थात्—कोई पापकर्म अशुभ प्रकृतिवाला होता है, और अशुभानुबन्धी भी होता है।

आशय यह है कि कर्मप्रकृति के मूल भेद ८ हैं। उनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं, जो अशुभ या पापरूप ही हैं। शेष चार अघाति कर्म प्रकृतियों के दो विभाग हैं। उनमें से सात्तावेदनीय, उच्चगोत्र, शुभ आयु तथा पंचेन्द्रिय जाति, शुभगति, उत्तम संस्थान, स्थिर, सुभग, यशकीर्ति आदि नामकर्म की ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप (शुभ) हैं, और शेष पापरूप (अशुभ) कही गई हैं। यहाँ पुण्य को शुभ और पाप को अशुभ कहा गया है।

१. देखें—शालिभद्रचरित (जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज)

इसी दृष्टि से वर्तमान में प्रचलित भाषा में यह चौभंगी इस प्रकार है—(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य, (२) पुण्यानुबन्धी पाप, (३) पापानुबन्धी पुण्य और (४) पापानुबन्धी पाप^१।

पुण्य-पाप के खेल में हार-जीत के रूप में फल का स्पष्टीकरण

इन चारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य—कोई पुण्यकर्म, जो वर्तमान में भी उत्तम फल देता है और भविष्य में भी शुभानुबन्धी होने से पुण्यफलस्वरूप सुख देने वाला होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो—पुण्यकर्मफल की ऐसी स्थिति जिसमें वर्तमान में पुण्य के उदय के फलस्वरूप सभी प्रकार से सुख-सम्पन्नता हो, साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो, जिससे पुण्य का उपार्जन भी होता रहे, ताकि वह समुञ्ज्वल भविष्य का कारण बने। ऐसी पुण्यदशा वाले जीव वर्तमान में भी सुख-सम्पन्नता से युक्त रहते हैं और भविष्य में भी सुख सम्पन्नता से युक्त होते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार यह वर्तमान और भविष्य की पुण्य सम्पन्न दशा जीव को शुभ से शुभतर की ओर ले जाती है। ऐसी उभय पुण्यसम्पन्नता सम्प्यदर्शन-ज्ञान-सहित और निदान रहित शुद्ध धर्म का आचरण करने से प्राप्त होती है। अर्थात्-शुद्धरीति-नीति से निरतिचारपूर्वक श्रावक धर्म या साधुधर्म का पालन—आचरण करने से यह पुण्यानुबन्धी पुण्य अर्जित होता है। इसका सर्वोत्तम फल महानतम तीर्थकारक प्राप्ति है। उससे किंचित् निम्नकोटि का फल मोक्षगामी चक्रवर्ती के रूप में प्राप्त होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि अष्टक प्रकरण में लिखते हैं—'जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और अष्टकर्मों से मुक्तिरूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो, ऐसे पुण्यानुबन्धी पुण्य का मनुष्यों को सभी प्रकार से उपार्जन-सेवन करना चाहिए। अर्थात्—जैसे भी हो साधुधर्म एवं श्रावक धर्म का आचरण करना चाहिए।'

इस सम्बन्ध में हम भरत चक्रवर्ती आदि को उदाहरणरूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

(२) पापानुबन्धी पुण्य—जो पुण्यकर्म वर्तमान में तो पूर्वपुण्य के फलस्वरूप सुखरूप फल प्राप्त होता है (देता) है, किन्तु पापानुबन्धी होने से भविष्य में दुःखरूप फल देने वाला होता है। जैसे, पूर्वपृष्ठों में अंकित ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि का पुण्य पापानुबन्धी पुण्य हुआ।

१. "चउच्चिहे कम्पे वण्णते, तं जहा—सुभे णाममेगे सुभे, सुभे णाममेगे असुभे, असुभे णाममेगे सुभे, असुभे णाममेगे असुभे।"
—स्थानांगसूत्र स्थान ४, उ. ४. सू. ६०२ विवेचन (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृ. ४३०

जो व्यक्ति पूर्वकृत पुण्य का सुखरूप फल प्राप्त करते हैं, किन्तु वर्तमान में वे पापकर्मरत रहकर भविष्य के लिए दुःख के बीज बोते हैं। अर्थात् उस पुण्य के खेल में हारकर पापकर्म में रत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति वर्तमान में पापकर्म करते हुए भी पूर्वकृत पुण्यकर्म के फलस्वरूप सुखी एवं समृद्ध दिखाई देते हैं, जिससे स्थूलबुद्धि वाले जैनकर्मविज्ञान के रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति को शंका होती है कि पापकर्म करते हुए भी ये सुखी हैं, फिर पुण्यकर्म या धर्म का उपार्जन या आचरण करने से क्या लाभ? मगर वे यह नहीं जानते कि पापाचारी व्यक्ति की वर्तमान में सुख-सम्पन्नता आदि उसके पूर्वकृत पुण्य का फल है। ऐसे प्राणियों का जब पुण्य फल समाप्त हो जाता है, तब उनकी दुर्गति निश्चित है।

वर्तमान युग में हिटलर, मुसोलिनी, नादिरशाह, औरंगजेब आदि इस भंग (पापानुबन्धी पुण्य) के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

इसकी परिभाषा इस प्रकार है—जो पुण्य वर्तमान में सुखरूप फल देकर भी व्यक्ति की पापमयी मानसिक, वाचिक, कायिक दुष्प्रवृत्ति के कारण भविष्य को अन्धकारमय बनाता है, दुर्गति में ले जाता है, तथा उसे पतनोन्मुख कर देता है, उसे पापानुबन्धी पुण्य समझना चाहिए। यह पापबीजनय पुण्य है।^१

पापरूप फल को कुशल-अकुशल कर्म खिलाड़ी द्वारा पुण्य-पापफल में परिणत

(३) पुण्यानुबन्धी पाप—ऐसा पूर्वकृत पापकर्म जिससे वर्तमान में तो दुःखरूप फल प्राप्त होता है; किन्तु शुभभावों तथा शुभप्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर भविष्य के सुख के बीज बोता है, उसे पुण्यानुबन्धी पाप कहते हैं। पूर्वभव में किये हुए पापकर्मों—अशुभकर्मों का दुःखरूप फल पाते हुए भी वर्तमान में संभलकर शुभ प्रवृत्ति करता है, जिसके फलस्वरूप भविष्य में सुखरूप फल प्राप्त कर लेता है, उसे पुण्यानुबन्धी या सुखानुबन्धी पाप समझना चाहिए।

इस विकल्प में चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण हम अगले पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे; जिसने पापकर्मोदय के फलस्वरूप सर्पयोनि प्राप्त करके भी अपनी हारती हुई बाजी को सुधार ली। भगवान् महावीर के द्वारा बोध पाकर उसने शुभ भावों में प्रवृत्त होकर पुण्यानुबन्ध-शुभ-कर्मबन्ध कर लिया, जिससे वह पापकर्म के फलस्वरूप नरक दुःख का अधिकारी न होकर पुण्यकर्म के फलस्वरूप स्वर्गसुख का अधिकारी बना।

१. (क) स्थानांग सूत्र स्या. ४, उ. ४, सू. ६०२ का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. ४३०

(ख) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'पुण्य-पाप की अवधारणा' लेख से पृ. १५८

इस भंग का लक्षण है—पापमयी परिस्थिति में रहकर भी पुण्योपाजन कर लेना और अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लेना। इस भंग में हम नन्दन-मणियार के जीद मेंढक का उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकते हैं। जिसने तिर्यंचभव की पापमयी दुःख स्थिति में भी शुभ भावों से श्रावकधर्म की आराधना करके देवगति प्राप्त कर ली। भविष्य में वह सर्वकर्ममुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस विकल्प में हम कुप्ट रोगग्रस्त श्रीपाल का उदाहरण भी समझ सकते हैं, जिसे हम अगले पृष्ठों में अंकित कर रहे हैं।^१

आज संसार में एक दुरात्मा, क्रूर एवं हिंसक व्यक्ति सुखी दीख पड़ता है और दूसरा सज्जन, धर्मात्मा, दयालु एवं अहिंसापरायण व्यक्ति पुरुष दुःखित। निर्धन एवं अभावपीड़ित देखा जाता है; इस पर से स्थूलदृष्टि वाले लोग कर्मविज्ञान के प्रति अनास्था प्रकट करने लगते हैं; परन्तु जैन संस्कृति के मर्मज्ञ मनीषी आचार्यों ने इस गुन्थी को बड़े सुन्दर ढंग से सुलझाया है।

उनका कथन है—हिंसापरायण व्यक्ति की समृद्धि और भगवान् की पूजा-भक्ति करने वाले भक्त साधक की दरिद्रता क्रमशः पापानुबन्धी पुण्य और पुण्यानुबन्धी पापकर्म के कारण है। इन दोनों कोटि के व्यक्तियों की क्रमशः हिंसा और पूजाभक्ति निष्फल नहीं हो सकती। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म या जन्मों में उसका फल क्रमशः पाप और पुण्य के रूप में अवश्य ही मिलेगा। अतः कर्म और कर्मफल में कार्य-कारण का व्यभिचार नहीं हो सकता।^२

मूल बात यह है कि जो व्यक्ति पूर्वजन्मकृत पुण्य के फलस्वरूप वर्तमान में सुख-सम्पन्नता प्राप्त किये हुए है, वह इस पुण्य-पाप के खेल में बाजी जीतने के बजाय हारता जा रहा है, अपना भविष्य अन्धकारमय बना रहा है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति को वर्तमान में सुखसम्पन्नता प्राप्त नहीं है, जो पूर्वजन्म में पुण्य-पाप के खेल में बाजी हार गया था, किन्तु वर्तमान में कुशल खिलाड़ी बनकर धैर्य, सहिष्णुता और समभाव से जीवन-यापन कर रहा है। फलतः बाजी जीतता जा रहा है। निष्काम पुण्य का उपाजन कर रहा है, वह गुदड़ी का लाल पुण्यानुबन्धी पाप का अधिकारी है। अपने भविष्य को वह उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाता जा रहा है।

१. (क) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषार्क में प्रकाशित 'पुण्य-पाप की अवधारणा' लेख में
(ख) देखें, ज्ञातासूत्र में नन्दनमणियार का जीवन वृत्तान्त, (आगम प्रकाशन गर्भित, ब्यावर
- पृ. ४३०

२. या हिंसावतोऽपि समृद्धिः अहंस्वजावतोऽपि दारिद्र्यावाप्तिः, सा क्रमेण प्रागुपास्यस्य पापानुबन्धिः पुण्यस्य, पुण्यानुबन्धिः पापस्य च फलम्। तत्क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलिष्यति, इति न निश्चित-कार्य-कारणभाव-व्यभिचारः।"
—ज्ञानाचर्य

(४) पापानुबन्धी पाप—यह चतुर्थ भंग (विकल्प) है। इस भंग के अधिकारी वे हैं, जो पूर्वजन्म में भी पुण्य-पाप के खेल में बाजी हार गये थे, वर्तमान में भी पूर्वकृत किंचित् पुण्यराशि के फलस्वरूप मनुष्यजन्म, स्वस्थ शरीर, पाँचों इन्द्रियों, दीर्घायुष्य मिला, फिर भी वे अकुशल खिलाड़ी बनकर बाजी हारते जा रहे हैं; अपना भविष्य अन्धकारमय बना रहे हैं। ऐसे जीव पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप वर्तमान में भी दुःख पाते हैं और भविष्य के लिए भी पापकर्म का संचय करके दुःख के बीज बोते हैं; ऐसे जीव इस विकल्प में आते हैं। अर्थात्—जो पूर्वकृत पापकर्म वर्तमान में दुःख देता है और पापानुबन्धी होने से भविष्य में भी जिससे दुःखरूप फल प्राप्त होता है।

जैसे—धीवर आदि मच्छीमार, कसाई, वेश्या आदि का पापकर्म। तन्दुलमत्स्य भी इस भंग का उदाहरण है। जो पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप अल्पायु होकर पापमय अशुभ भावों से सप्तम नरक का बन्ध कर लेता है। सिंह, सर्प, व्याघ्र आदि हिंसक क्रूर प्राणी भी इसी पापानुबन्धी पाप की कोटि में आते हैं।^१

स्कन्दपुराण तथा मार्कण्डेय पुराण में भी पुण्य-पाप से सम्बन्धित चीभंगी बताई गई है। वह इस प्रकार है—“(१) एक व्यक्ति को केवल इसी लोक में सुख है, परलोक में नहीं, (२) एक व्यक्ति यहाँ दुःखी है, किन्तु परलोक में सुखी रहेगा। (३) एक व्यक्ति ऐसा है, जो यहाँ तथा वहाँ या अन्यत्र भी सुखी नहीं है, दुःखी ही रहेगा। (४) और एक व्यक्ति ऐसा है, जो वर्तमान और भविष्य में, तथा परलोक में एवं पुनर्जन्म में भी सर्वत्र सुखी रहेगा।”

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) पहला भंग—जिसने पूर्वजन्म में पुण्योपार्जन किया है, किन्तु आज पुण्योपार्जन नहीं कर रहा है, वह यहीं सुखी दिखाई देगा। उसके लिए परलोक तथा पुनर्जन्म में कष्ट ही कष्ट है।

(२) दूसरा भंग—जिसका पूर्वकृत पुण्य नहीं है, परन्तु आज वह तपस्या कर रहा है, वह (तुम्हारे जैसा) यहाँ कष्ट पाता हुआ भी आगे सुखी रहेगा।

(३) तीसरा भंग—जिसने पहले और आज भी किसी पुण्य का अनुष्ठान नहीं किया, उसे आज और आगे भी कष्ट पाना है। ऐसा नराधम धिक्कार का पात्र है।

(४) चौथा भंग—किन्तु जिसने पहले भी पुण्योपार्जन किया, आज भी पुण्य कर रहा है, वह श्रेष्ठ पुरुष धन्य है, जो आज भी और आगे भी सुखी रहेगा।^२

१. (क) 'पुण्य-पाप की अवधारणा'—जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख से (ख) देखें—तन्दुलवेयालिय प्रकारण

२. इहेवेकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह।

इह चामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह॥९७॥

पुण्य और पाप की क्रिया का फल : भावों पर निर्भर

वस्तुतः पुण्य और पाप की क्रिया भावों पर आधारित है। भावों का परिवर्तन होते ही पुण्यबन्ध का फल, पाप फल के रूप में और पापबन्ध का फल, पुण्य-फल के रूप में प्राप्त हो सकता है। कभी-कभी शुभभावों से कार्य किया, उससे पुण्यबन्ध हुआ, किन्तु उस कर्म के उदय में आने से पहले भावना अशुभ हो गई, पाप की या अधर्म की भावना हो गई, तो उसका फल अशुभकारी (पापकारी) मिलता है।

इसी प्रकार किन्हीं अशुभ पापमय कृत्यों के कारण अशुभ (पापकर्म) का बन्ध हुआ, किन्तु बाद में उसके भावों ने पलटा खाया। उसने उस कृत पापकर्मों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा और प्रायश्चित्त आदि करके आत्मशुद्धि कर ली। फलतः पापकर्म के फल मिलने के बदले उसे पुण्यकर्म का फल मिलता है।

शुभ-अशुभकर्म-फल के विषय में एक चतुर्भंगी

स्थानांगसूत्र में शुभ-अशुभ कर्मफल के सम्बन्ध में एक चतुर्भंगी का निरूपण किया गया है। उसका भावार्थ इस प्रकार है-

(१) एक होता है शुभकर्म, पर उसका विपाक होता है-अशुभ। अर्थात्-किसी शुभ कार्य के कारण बंधा है-पुण्यकर्म, किन्तु उसका विपाक (कर्मफलभोग) होता है-पापफल के रूप में।

(२) इसी प्रकार बंधा हुआ है-अशुभ (पाप) कर्म, किन्तु बाद में उन कर्मों के उदय में आने से पूर्व ही भावना बदली, शुभ आचरण हुआ, तपस्या एवं साधना की, तदनुसार अशुभ बन्ध के बदले शुभ बन्ध हो जाने से उसका फलविपाक शुभ आया-पुण्यफल के रूप में।

शेष दो विकल्प सामान्य हैं-(३) जो अशुभ (पाप) रूप में बंधा हुआ है, और बाद में पापाचरण तथा अशुभ परिणाम का पुरुषार्थ हुआ, इस कारण उसका फल भी अशुभ (पाप) रूप हुआ।

(४) इसी प्रकार जो शुभ (पुण्य) रूप में बंधा है, तथा बाद में भी पुण्याचरण तथा शुभ परिणाम का पुरुषार्थ हुआ, इसलिए उसका फल भी शुभ (पुण्य) रूप हुआ।

पूर्वोपात्तं भवेत्पुण्यं भुक्तिर्नैवोपार्जयन्त्यपि।

इह भोगः स वै प्रोक्तो दुर्भगस्याल्पमेधसः ॥१८॥

पूर्वोपात्तं यस्य नास्ति तपोभिश्चार्जयन्त्यपि।

परलोके तस्य भोगो धीमता स क्रियात् स्फुटम् ॥१९॥

पूर्वोपात्तं यस्य नास्ति, पुण्यं चेहाऽपि नार्जयेत्।

तत् भंगमुत्रं वापि यो धिक् तं च नराधमम् ॥१००॥

-स्क. मा. (मार्कण्डेय) कल्याण देवतांक पृ. १९४

तात्पर्य यह है कि इन दो भंगों में कोई विचारणीय बात नहीं है। लेकिन इस चतुर्भंगी का दूसरा और तीसरा भंग बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मननीय है—जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं और आत्मार्थियों के लिए। जब तक इस चतुर्भंगी को हृदयंगम नहीं किया जाएगा, तब तक कर्मफल के विषय में स्पष्ट दर्शन नहीं हो सकेगा।

पूर्वोक्त चतुर्भंगी का फलितार्थ, निष्कर्ष और रहस्य

प्रस्तुत चतुर्भंगी का फलितार्थ रूप इस प्रकार है—(१) पुण्य और उसका फल पुण्य, (२) पाप और उसका फल पाप; (३) पुण्य और उसका फल पाप, और (४) पाप और उसका फल पुण्य।

इसमें तीसरा और चौथा विकल्प कर्मविज्ञान के अनुसार जाति-परिवर्तन का घोटक है। जिस प्रकार आजकल नस्ल बदल दी जाती है, उसी प्रकार ये दो विकल्प कर्म-परमाणुओं की जाति-परिवर्तन के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। स्वकीय पुरुषार्थ से शुभ या अशुभ कर्म-परमाणुओं की जाति बदली जा सकती है, बशर्ते कि वह कर्मबन्ध निकाचितरूप में न हुआ हो, तथा उदय में न आया हो।

जैसे—बन्धकाल में एक प्रकार के कर्मपरमाणु बंधे, किन्तु बाद में ऐसा शुभ या अशुभ पुरुषार्थ हुआ, जिससे उन पूर्ववद्ध कर्मपरमाणुओं का जात्यन्तर हो गया। जो परमाणु पुण्य के थे, वे पापफलदायक परमाणु बन गए; तथैव जो परमाणु पाप के थे, वे पुण्य-फलदायक परमाणु बन गए। निष्कर्ष यह है कि एक विकल्प में—परमाणुओं का संचय हुआ पुण्यरूप में, किन्तु उसका परिणाम निष्पन्न हुआ पाप के रूप में। दूसरे विकल्प में—परमाणुओं का संचय हुआ पापरूप में, किन्तु उसका परिणाम निष्पन्न हुआ पुण्य के रूप में।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो—पहले पुण्य का बन्ध हुआ, उस बन्ध में समग्र परमाणु-संचय पुण्य से जुड़ा हुआ है; किन्तु बाद में कोई हिंसा, चोरी आदि का कुपुरुषार्थ हुआ कि उस पूर्व कर्म परमाणुपुंज की जाति का समूल परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार पहले पाप का बन्ध हुआ, उस बन्ध में समग्र परमाणु संचय पाप से जुड़ा हुआ है, किन्तु बाद में ऐसा कोई बाह्याभ्यन्तर या साधना आदि का सत्पुरुषार्थ हुआ कि उस पूर्व-कर्मपरमाणुपुंज की जाति का समूल परिवर्तन हो गया।

पूर्वोक्त चतुर्भंगी का फलितार्थ

पूर्वोक्त चतुर्भंगी का फलितार्थ यह है—

(१) शुभ और शुभ विपाक—कोई कर्म शुभ होता है, उसका विपाक भी शुभ होता है। अर्थात्—कोई जीव सातावेदनीयादि शुभ कर्म (पुण्य) का बंध करता है और उसका विपाक रूप शुभ फल (सुख) भोगता है।

(२) शुभ और अशुभ विपाक—कोई कर्म प्रारम्भ में शुभ होता है, किन्तु बाद में उसका विपाक अशुभ होता है। अर्थात्—कोई जीव पहले सातावेदनीय आदि शुभकर्म बांधता है। किन्तु बाद में तीव्र कषाय से प्रेरित होकर असातावेदनीय आदि अशुभ कर्म का तीव्र बन्ध करता है तो उसका पूर्वबद्ध सातावेदनीयादि शुभ कर्म भी असातावेदनीयादि पापकर्म में संक्रान्त (परिणत) हो जाता है। इस कारण वह अशुभ फल भोग (विपाक) कराता है।

(३) अशुभ और शुभ विपाक—कोई कर्म अशुभ होता है, किन्तु उसका विपाक शुभ होता है। अर्थात्—किसी जीव ने पहले असातावेदनीयादि अशुभ कर्म को बांधा है, किन्तु बाद में परिणामों की प्रयत्नता से सातावेदनीयादि उत्तम अनुभाग वाले कर्म को बांधता है। ऐसे जीव का पूर्वबद्ध अशुभ कर्म भी शुभ कर्म के रूप में संक्रान्त या परिणत हो जाता है। अतएव उसका विपाक शुभ हो जाता है।

(४) अशुभ और अशुभ विपाक—कोई कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक भी अशुभ हो जाता है। अर्थात्—किसी जीव ने पहले पाप कर्म बांध लिया किन्तु बाद में भी पापकर्म के परिणाम वरकरार रहने से उसके अशुभ विपाक रूप अशुभ फल को ही वह भोगता है।^१

मम्मण सेठ : पहले पुण्यबन्ध का, और बाद में अशुभ भावों के कारण पापफल का प्रतीक

मम्मणसेठ की कथा में उसके पूर्वजन्म की घटना दी गई है कि उसने किसी साधु को आहारदान में मोदक दिये। दिये थे उस समय भाव शुभ और उत्कट थे। इससे शुभ (पुण्य) बन्ध हुआ। लेकिन साधु आहार लेकर चला गया, उसके पश्चात् उसके मन में मोदक-दान का गहरा पश्चात्ताप हुआ—हाय! मैंने सारे ही मोदक साधु को दे दिये। मेरे लिये तो कुछ बचा ही नहीं। मैं अब क्या खाऊँगा? यह अच्छा नहीं हुआ। उस साधु को भी इसी समय आना था।^१

यों पश्चात्ताप करते-करते अशुभ कर्म का बन्ध कर लिया। जिसका फल आगामी जन्म में मम्मण के भव में उसे मिला। उसे धन तो मिला, पर सुख-शान्ति नहीं मिल सकी। धन का न तो वह सदुपयोग कर सका और न ही अपने और अपने परिवार के उपभोग में ले सका।

१. (क) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सुभे णामभेगे सुभविवागे, सुभे णामभेगे असुभविवागे, असुभे णामभेगे सुभ विवागे, असुभे णामभेगे असुभ विवागे—स्थानांग स्थान ४, उ. ५, सू. ६०३ विवेचन (आराम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृ. ४३०-४३१

(ख) चित्त और मन से सारांश ग्रहण, पृ. २०६

उस पापकर्मफल के कारण उस धन पर अधिकाधिक ममता-मूर्च्छा एवं आसक्ति के कारण उसने और अधिक पापकर्म का ही संचय किया। हृदय में उस पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप कठोरता, देव-गुरु-धर्म के प्रति अश्रद्धा, निर्दयता, कृपणता एवं अविश्वास बना रहा। उसकी पुण्य-कर्म करने की शक्ति लुप्त हो गई। अधर्म और पाप के कुसंस्कार उस पर हावी हो गए।

यह था पुण्य कर्म (शुभ) बन्ध का प्रारम्भ और परिणाम घटित हुआ पापरूप फलभोग।^१

चण्डकौशिक : पूर्वकृत पापबन्ध, किन्तु इस जन्म में पुण्यकर्म करके शुभ फलभोग का प्रतीक

चण्डकौशिक पूर्वजन्म में एक साधु था; किन्तु अपने शिष्य के द्वारा बार-बार उत्तेजित किये जाने पर वह गुस्से में आग बबूला होकर शिष्य को मारने दीड़ा। अन्धेरे में खंभा न दीखने के कारण खंभे से टकराया और वहीं उसके प्राणपखेरू उड़ गए। क्रोधावेश में मरने के कारण वह मरकर चण्डकौशिक सर्प बना। अनेक प्राणियों को उसने अपनी विषाक्त दृष्टि से मार डाला।

भगवान् महावीर के सम्बोधित करने से चण्डकौशिक कुछ संभला, उसे पूर्वजन्म के कृत्य का स्मरण हो आया। फलतः उसके परिणाम शुभ हुए। अपने भावों और आचरण को उज्ज्वल बनाने का संकल्प किया। आमरण अनशन स्वीकार करके अपना मुँह बाँबी के अन्दर डाल दिया। अब चण्डकौशिक किसी को बिलकुल नहीं सताता। उसके इस प्रकार शुभ परिणामों से अशुभ कर्मों के परमाणु बदले, शुभ में परिणत हुए, उसके फलस्वरूप वह मरकर शुभफल के रूप में देवयोनि में उत्पन्न हुआ।

यह था पापबन्ध का प्रारम्भ, किन्तु परिणाम में घटित हुआ पुण्यफल।^२

श्रीपाल : पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध के कारण अशुभ, किन्तु शुभाचरण द्वारा उनका शुभफलों में परिवर्तन

अशुभ कर्म को शुभकर्म में परिवर्तित करके शुभफलभोग-प्राप्ति के सम्बन्ध में श्रीपालकुमार का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। पूर्वकृत अशुभ कर्मोदय के कारण उसे अपने चाचा वीरदमन के त्रास से अपनी माता कमलप्रभा के साथ वन-वन में भटकने तथा सातसौ कोढ़ियों के दल के साथ रहने को बाध्य होना पड़ा। कोढ़ियों के सम्पर्क से श्रीपाल को भी कोढ़ हो गया। कोढ़ीदल श्रीपाल को 'उम्बराणा' कहकर आदर देता था।

१. उपदेशप्रसाद (भाषान्तर) से संक्षिप्त
२. आवश्यकचूर्ण से संक्षिप्त

उज्जयिनी के अहंकारी राजा प्रजापाल ने अपने मत का विरोध करने से रोपवश कर्मसिद्धान्तविद्ग अपनी पुत्री मैनासुन्दरी का विवाह कोढ़ी श्रीपाल (उम्बरराणा) के साथ कर दिया। मैनासुन्दरी की प्रेरणा से श्रीपाल ने आयम्बिल तप सहित नवपद की आराधना की। उसके प्रभाव से उसके अशुभ कर्म कट गए, शुभ कर्म प्रबल हो गए। फलतः सात सौ कोढ़ियों सहित उसका कुष्ठ रोग दूर हो गया। उस पुण्यकर्म के प्रभाव से श्रीपाल सुख-शान्ति का अनुभव करने लगा।

यह था-अशुभ कर्म (पाप) बन्ध का शुभ (पुण्य) फल विपाक के रूप में रूपान्तर!'

पापकर्म लिप्त प्रदेशी अरमणीय से रमणीय बनकर शुभफलभागी बना

प्रदेशी राजा केशी श्रमण मुनि के सम्पर्क में आया, उससे पूर्व वह बहुत क्रूर और नास्तिक बना हुआ था। चित्त प्रधान के निमित्त से वह महामुनि केशी श्रमण के सम्पर्क में आया। धीरे-धीरे राजा प्रदेशी का जीवन परिवर्तित हो गया। वह परम आस्तिक, सम्यग्दृष्टि एवं श्रावकव्रती बन गया। जब वह केशी श्रमण के दर्शन करके अपने घर लौटने लगा तो उन्होंने कहा-“राजन् प्रदेशी! (इससे पूर्व तुम पापकर्मों में लिप्त होने के कारण अरमणीय बने हुए थे, किन्तु अब तुम) जीवन के पूर्वकाल में (पुण्यकर्मों) से रमणीय बनकर जीवन के उत्तरकाल में (पुनः पापकर्मों से) अरमणीय मत बन जाना। प्रदेशी ने वही किया। फलतः वह पुण्यकर्म के फलस्वरूप मरकर सूर्याभ देव बना, देवलोक प्राप्ति रूप पुण्यफल भागी बना।

तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि पापकर्मों के आचरण से प्रदेशी नृप अरमणीय बन गया था, उसका फल उसे कटुरूप में भोगना पड़ता। किन्तु प्रदेशी राजा ने भी अशुभ कर्म (पाप) बन्ध को शुभकर्म में परिणत करके शुभ (पुण्य) फल विपाक (फलभोग) कर लिया।

यह अशुभ के शुभ में रूपान्तर का ज्वलन्त उदाहरण है।'

सुबाहुकुमार : प्राप्त भी शुभ, बद्ध भी शुभ कर्म और फलभोग भी शुभ

सुबाहुकुमार पूर्वजन्म में सुमुख नामक गृहपति था। उसने सुदत्तमुनि आदि सुपात्र निर्ग्रन्थ मुनियों को शुद्धभाव से आहारदान दिया था। उस पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप इस

१. सिरि सिरिवाल कहा (रत्नशेखरसूरि) से संक्षिप्त

२. (क) देखें-‘रायप्सेणीयं सुत्तं’ में प्रदेशी राजा का जीवनवृत्त

(ख) मा णं तुम पदेसी! पुवं रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि!

जन्म में वह हस्तिशीर्ष नगर के राजा अदीनशत्रु के पुत्ररूप में जन्मा। सुखभोगों में पला। गृहस्थोचित श्रावक धर्म का पालन किया।

एक बार भगवान् महावीर के मुख से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर वह विरक्त हुआ। संयमाराधना करके प्रथम देवलोक में गया।

यह हुआ सुबाहुकुमार द्वारा पूर्वकृत शुभ (पुण्य) कर्म के फलस्वरूप शुभ फल और पुनः शुभकर्म के कारण देवलोक रूप शुभ फल की प्राप्ति, यानी बद्धकर्म भी शुभ और फलभोग (विपाक) भी शुभ का ज्वलन्त उदाहरण।^१

कालसौकरिक : बद्ध है अशुभ (पाप) कर्म और फलभोग भी अशुभ का प्रतीक

बंधा है, अशुभ कर्म और उसका फलभोग भी अशुभ; इस विकल्प के सम्बन्ध में राजगृह निवासी कालसौकरिक (कसाई) का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। वह पूर्वकृत पापकर्मवश कसाई के यहाँ जन्मा और कसाई का ही धंधा करने लगा। फलतः इस जन्म में भी पापकर्म करके उसके फलभोग के लिए नरक का मेहमान बना।^२

‘जैसा कर्म, वैसा ही फलभोग’ में परिष्कार करना उचित

पूर्वोक्त चारों विकल्पों में शुभ से अशुभ फलभोग प्राप्ति तथा अशुभ से शुभफल भोग प्राप्ति— ये दोनों ही विकल्प इस एकान्तवाद का खण्डन करते हैं कि “जैसा कर्म किया है, वैसा ही फल भोगना पड़ता है।” इस सूत्र में इतना—सा परिष्कार कर दिया जाए तो यह एकान्तिक के बदले अनेकान्तिक बन सकता है—‘कर्म के उदय में आने अर्थात्—फलप्रदानोन्मुख होने से अव्यवहित पूर्व में जैसा भी पुण्य या पापकर्म किया होता है या जिस प्रकार के परिणामों का उत्कर्षण—अपकर्षण किया होता है, तदनुसार उसे शुभ या अशुभ फल भोगना पड़ता है।’^३

पूर्वबद्ध कर्मों का फल उसी रूप में भोगना आवश्यक नहीं

यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व में बंधे हुए शुभ (पुण्य) या अशुभ (पाप) कर्म उसी रूप में भोगने पड़ें। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान में अपने शुभ कर्मों द्वारा पूर्व में बांधे हुए सजातीय कर्मों को बदलने तथा स्थिति एवं अनुभाग (रस) को घटाने, बढ़ाने तथा क्षय करने में पूर्ण स्वतन्त्र है, समर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति पूर्वजन्म में आचरित दुष्प्रवृत्तियों के कारण बांधे हुए अशुभ एवं दुःखद पापकर्मों की स्थिति एवं अनुभाग (रस) को वर्तमान

१. देखें—सुखविपाक सूत्र अ. १

२. आवश्यक कथा

३. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित ‘करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया’ लेख से, पृ. ८९

में शुभ प्रवृत्तियों से शुभ कर्म बांधकर घटा सकता है तथा उन्हें शुभ एवं सुखद पुण्यकर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह अपनी दुःखद एवं अशुभ दुष्प्रवृत्तियों से वर्तमान में अशुभ पापकर्मों का बन्ध करके पूर्वबद्ध सुखद एवं शुभकर्मों को अशुभ एवं दुःखद कर्मफल देने वाले बना सकता है।^१

शुभ को अशुभ फलभोग में बदलना या अशुभ को शुभ फलभोग में बदलना प्रत्येक व्यक्ति के अपने हाथ में है। उसके लिए चाहिए—वैसी रुचि, श्रद्धा, वृत्ति और प्रवृत्ति। सौभाग्य को दुर्भाग्य में और दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिवर्तन करने की यह कला, अथवा इस कला का रहस्योद्घाटन जैन कर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने किया है।

निष्कर्ष यह है कि जो कर्मकलामर्मज्ञ बनकर कुशल खिलाड़ी की भाँति पुण्य-पाप के इस खेल में चाहे ज़िम परिस्थिति में अपने आपको संभाल लेता है और वर्तमान में चाहे जैसी पापफलमय दुःखद परिस्थिति हो, समभाव, धैर्य एवं उत्साह के साथ अहिंसादि धर्मों का आचरण एवं निष्काम पुण्यकर्मों का उपाजन कर लेता है, वह अपनी उस विषम दुःखद परिस्थिति को सुखद परिस्थिति में बदल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस खेल में विजयी बन जाता है। इसके विपरीत अकुशल खिलाड़ी सुन्दर सुखमय परिस्थिति पाकर भी अपनी दुःखद, पापमयी दुष्प्रवृत्तियों के कारण इस खेल में बाजी हार जाता है।

पुण्य-पाप के खेल में इस प्रकार की हार और जीत ही उसके दुःखद और सुखद फल हैं।

पुण्य-पाप के खेल में अकुशल खिलाड़ी की हार : एक रूपक

पुण्य और पाप के खेल में अकुशल मानव कैसे हार जाता है, इस तथ्य को उत्तराध्ययन में दो रूपकों द्वारा समझाया गया है—

(१) एक भिखारी ने मांग-मांग कर हजार कार्पाण संचित कर लिये। उन्हें लेकर वह घर की ओर चला। रास्ते में खाने पीने की व्यवस्था के लिए एक कार्पाण को भुनाकर शेष काकिणियाँ रख लीं। उन्हीं में से वह खर्च करता जाता। उनमें से जब सिर्फ एक काकिणी बची तो आगे चलते-चलते रास्ते में वह एक जगह उसे भूल आया। कुछ दूर जाने पर उसे काकिणी याद आई तो अपने पास की कार्पाणों की नीली को कहीं गाड़कर उम एक काकिणी को लेने वापस दौड़ा। लेकिन वहाँ उसे काकिणी नहीं मिली। जब वह निराश होकर वापस लौटा, तब तक कार्पाणों की नीली भी एक आदमी लेकर भाग गया। वह एक काकिणी के लोभ में सर्वस्व लुटा बैठा। अपार पश्चात्ताप हुआ उसे।

१. जिनधाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'करण सिद्धान्त : भाग्यनिर्माण की प्रक्रिया' लेख में

निष्कर्ष यह है कि कामभोगों की आसक्ति से होने वाला पाप अल्प सुखरूप है, प्रचुर दुःखमय है। इसमें हार से घोर पश्चात्ताप होता है, जबकि नियम, यम, व्रत, त्याग, तप से, दानादि से होने वाला पुण्य दिव्य सुखरूप फल प्रदान करता है। परन्तु पुण्य-पाप के खेल में अकुशल खिलाड़ी कामभोगों के या कषायों के प्रेयमार्ग की और दौड़ लगाता है, इससे वह महान् पुण्यराशि से अर्जित मनुष्यजन्म तथा पुण्यकर्म-उपार्जन करने के कारणभूत दान, दया, व्रत, नियम, तप, मनुष्यता आदि से पुण्यसंचय के अवसर खो देता है। वृद्धावस्था में वह पुनः उस पुण्यनिधि को लेने के लिए तत्पर होता है, मगर पूर्वसंचित पुण्य-राशि भी काम, क्रोध, तृष्णा, वासना, लोभ आदि चोर पहले से ही हरण कर ले जाते हैं, वह हाथ मलता रह जाता है। यही उसकी करारी हार है।

पुण्य और पाप के खेल में एक की हार और दूसरे की जीत : क्यों और कैसे?

पुण्य-पाप के खेल में जीत और हार के रूप में हम दो कथानायकों को प्रस्तुत कर सकते हैं। उनके नाम हैं—पुण्डरीक और कण्डरीक। ये दोनों सहोदर भाई थे। दोनों पुण्डरीकिणी नगरी के राजा महापद्म और रानी पद्मावती के पुत्र थे। महापद्म राजा जब धर्मघोष मुनि से संयम लेने को तैयार हुए तो बड़े पुत्र पुण्डरीक को राजा और छोटे पुत्र कण्डरीक को युवराज पद दे दिया। कुछ अर्से बाद धर्मघोष मुनि पुनः उस नगरी में पधारें तो महाराज पुण्डरीक ने श्रावक धर्म, और युवराज कण्डरीक ने मुनिधर्म स्वीकार किया।

दीक्षा लेने के पश्चात् मुनि कण्डरीक साधनापथ पर मुत्सैदी के साथ आगे बढ़ रहे थे, कि अचानक अरस-विरस आहार से उनके शरीर में दाहज्वर रोग हो गया। उनकी असह्य पीड़ा दर्शनार्थ आए हुए महाराज पुण्डरीक से देखी नहीं गई। उन्होंने अपनी दानशाला में रहकर समुचित औषधोपचार कराने की प्रार्थना की। महास्थविर धर्मघोष मुनि की आज्ञा लेकर वे राजा पुण्डरीक की दानशाला में रहकर चिकित्सा कराने लगे। औषध और समुचित पथ्यसेवन से मुनि का तन तो स्वस्थ हो गया, परन्तु मन उन सरस-स्वाद्विष्ट भोजनों में आसक्त हो गया, सुखशीलता दूढ़ने लगा। आचारशैथिल्य के कारण पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और मीज-शौक करने की भावना अंगड़ाई लेने लगी।

एक दिन पुण्डरीक राजा कण्डरीक मुनि के दर्शनार्थ आए और उन्होंने उनसे सुखसाता पूछी तो कुछ देर तक मीन और उदास रहे। फिर दूसरी तीसरी बार पूछा— 'मुनिवर! आपके सुखसाता तो है न?' तब उन्होंने साफ-साफ कह दिया—“सुखसाता तो

१. उत्तराध्ययन अ. ७ की गाथा ११, १२ की व्याख्या।

तुम्हारे हैं। मेरे तो शरीर और मन पर इतनी पाबंदियाँ होने के कारण जरा भी सुखसाता नहीं। नीरस और तुच्छ जीवन है यह! इसमें सुखसाता कहाँ?’

पुण्डरीक राजा ने सोचा—‘इन्हें संयम कष्टकर और भारभूत लग रहा है।’ राजा ने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि आप धर्म एवं पुण्योपार्जन के अनुपम अवसर को छोड़कर क्यों असंयम और भोगों के पापपंक में फँसना चाहते हैं? परन्तु इतना समझाने पर भी वे नहीं समझे। गृहस्थजीवन के भोगों में सुख पाने की तीव्र लालसा उनके तन-मन में घुड़दौड़ कर रही थी। अतः पुण्डरीक नृप ने अपने पारिवारिकजनों को बुलाकर उनके समक्ष कण्डरीक को अपने राज्य का राजा बना दिया। स्वयं त्याग के आग्नेय पथ पर चल पड़े। दीक्षा के त्यागपथ का स्वीकार किया।

इधर कण्डरीक राजा बनने के बाद राजसी एवं कामोत्तेजक गरिष्ठ आहार का खुलकर उपभोग करने लगे। विषयभोगों में तीव्रता से तल्लीन हो गए। आहार न पचने तथा भोगों के तीव्र उपभोग से उनके शरीर में उग्र वेदना बढ़ने लगी। भयंकर व्याधि से ग्रस्त होकर कण्डरीक सिर्फ तीन ही दिनों बाद मरणशरण हो गया। मरकर वह सातवीं नरक का मेहमान बना।

उधर पुण्डरीक मुनि बनकर तप संयम में लीन रहने लगे। असर-विरस आहार करने से उनके शरीर में भयंकर वेदना उत्पन्न हुई। अन्तिम समय निकट जानकर समाधि पूर्वक मृत्यु को स्वीकार किया। मरकर वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर संयम करणी करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

विशेषता यह रही कि कण्डरीक ने १००० वर्ष तक संयम का पालन कर जो पुण्यराशि उपार्जित की थी उसे सिर्फ तीन ही दिन में खो दी। वह इस खेल का अकुशल खिलाड़ी बना, जबकि पुण्डरीक जो विषयभोगों में, राज्य में, वैभव में ग्रस्त था, नई पुण्यराशि अर्जित नहीं कर रहा था, वह इस खेल का कुशल खिलाड़ी बना और तीन ही दिन में उत्कटभाव से संयम पालन कर पुण्यराशि उपार्जित करके सर्वार्थसिद्ध देवलोक में गया, भविष्य में मुक्ति प्राप्त करेगा।’

पुण्य-पाप के खेल में करारी हार : दूसरा रूपक

पुण्य-पाप के खेल में हार जाने का दूसरा रूपक इस प्रकार है—एक कुशल एवं अनुभवी वैद्य ने दुःसाध्य रोगपीडित राजा को बताया कि “आपके लिए आम खाना कुपथ्य कारक है। जिस दिन आम की एक फांक भी खा ली, उस दिन आपकी मृत्यु निश्चित है।” राजा ने वैद्य की सलाह मान ली।

एक दिन वह राजा मंत्री के साथ वन में सैर करने गया। वहाँ पके आम फलों से लदे आम के पेड़ों को देखकर राजा का मन ललचा गया। मंत्री के बहुत मना करने पर भी वैद्य के सुझाव को भूलकर उसने स्वादलोलुपतावश एक आम खा लिया। आम खाते ही राजा के शरीर में रोग ने भयंकर रूप धारण किया और देखते ही देखते वहीं राजा के प्राण पखेरू उड़ गए।

राजा ने पूर्व पुण्यराशि के फलस्वरूप सुखमय जीवन और राज्य पाया था, अब उसके लिए विभिन्न स्वार्थों एवं इन्द्रिय-विषयसुखों पर नियंत्रण करने और कामभोगों के आपात-रमणीय क्षणिक सुख का त्याग करके त्याग, नियम, व्रत, दान, शील, तप आदि से नवीन पुण्य-अर्जन करने का शुभ अवसर था। परन्तु विषयसुखलुब्ध राजा इसे भूलकर पापमय प्रेयमार्ग की ओर लुढ़क गया।

हितैषी पुरुषों के मना करने पर भी पुण्य-पाप के खेल का अकुशल खिलाड़ी बाजी हार जाता है। दिव्य-सुख रूप फल के कारणभूत त्याग, नियम आदि को भूल जाता है; और नरक-तिर्यञ्चगति में गमन के कारणभूत अल्प एवं क्षणिक सुखप्रद किन्तु प्रचुर एवं दीर्घकालीन दुःखद फल को पाता है। यही उसकी बुरी तरह पराजय है!'

तीन वणिक्-पुत्रों के समान पुण्य-पाप के खेल में जय, पराजय, अर्धपराजय

इसी प्रकार तीन वणिक्-पुत्रों की उपमा देकर आगे पुण्य-पाप के खेल में पूर्णजय, अर्धजय और पराजय का स्पष्ट दिग्दर्शन किया गया है।

एक श्रेष्ठी ने अपने तीनों पुत्रों की कुशलता की परीक्षा के लिए प्रत्येक पुत्र को एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ देकर परदेश क्रमाने के लिए भेजा।

उनमें से एक पुत्र ने सोचा—पिताजी के पास धन की क्या कमी है? खाओ, पीओ, ऐश आराम करो और सैर-सपाटा करो। यही जिंदगी का सार है। यह सोचकर उसने इसी में मूलपूँजी भी खो दी, व्यापार कहीं से करता ?

दूसरे वणिक्-पुत्र ने सोचा—पिताजी! ने कुछ सोचकर ही यह पूँजी दी है। इसलिए इसे सुरक्षित रखना चाहिए, ताकि पिताजी जब मांगें, तब इसे वापिस दे सकूँ। यह सोचकर उसने वह थैली ज्यों की त्यों सुरक्षित रख ली। थोड़ा बहुत व्यवसाय करता, उसी से गुजारा चलाने लगा।

तीसरा पुत्र बहुत समझदार था। उसने सोचा—पिताजी ने यह पूँजी यों ही रखने के लिए नहीं दी है, इसमें वृद्धि करनी चाहिए। उसने अपना व्यवसाय फैलाया और एक ही वर्ष में सम्पत्ति चौगुनी कर ली।

१. देखें—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ७ गा. ११ की व्याख्या

जब सबके वापस स्वदेश लौटने का समय आया तो तीनों भाई साथ-साथ बत्ते। सबसे बड़े श्रेष्ठपुत्र ने खाली धैली पिताजी को सौंप दी और नीचा मुँह करके खड़ा हो गया। दूसरे ने धैली ज्यों की त्यों पिताजी को सौंप दी। तीसरे बुद्धिमान् पुत्र ने एक धैली के बदले चार धैलियाँ पिता को सौंप दीं और कहा—“पिताजी! ये लीजिये चार धैलियाँ जो आपके पुण्यप्रभाव से चौगुनी धनराशि से भरी हैं।”

पिता ने पहले को धिक्कारा, दूसरे को थोड़ा-सा उपालम्भ दिया और तीसरे पुत्र को बहुत-बहुत धन्यवाद देते हुए अपना सारा कारोबार सौंप दिया।

यह रूपक भी पुण्य-पाप के खेल में पराजय, अर्धपराजय और जय के उपलक्ष में घटित होता है। पुण्य-पाप के खेल में जो बिलकुल अनाड़ी था, आसुरी शक्ति का धनी था, वह पूर्व पुण्य से प्राप्त मनुष्य जन्म रूपी मूल धन को भी हार गया। खो दी उसने मूलपूँजी जुए, मद्य, मांस, हत्या, लूटपाट, शिकार, अन्याय आदि पापकर्मों में। दूसरा प्रकृति भद्र था, प्रकृति से विनीत था, अधिक कुशल न होने पर भी मनुष्यों के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखता था, उसने मनुष्यत्व रूपी मूल धन को सुरक्षित रखा, इसलिए इस खेल में आधी हार और आधी जीत रही। पुण्य-पाप का पलड़ा बराबर रखा। परन्तु तीसरे पुत्र ने पूर्वपुण्य से प्राप्त मनुष्यत्वरूपी मूलधन में ब्रत, नियम, तप, दया, दान, शील, शुभभाव, त्याग आदि की आराधना करके वृद्धि की।

फलतः पहले व्यक्ति को पराजय के कारण नरक या तिर्यञ्च गति मिलती है। दूसरे को मनुष्य गति अर्धपराजय के कारण और तीसरे को विजय प्राप्त होने के कारण देवगति प्राप्त होती है।

यह है—पुण्य-पाप के खेल में पराजय, अर्ध-पराजय और विजय के रूप में फल की प्राप्ति!

पुण्य और पाप के फल : धर्मशास्त्रों के आलोक में

धर्मशास्त्रों में वर्णित पुण्य-पाप फल का उद्देश्य

संसार के समस्त आस्तिक धर्मग्रन्थों में, आगमों और धर्मशास्त्रों में पुण्य और पाप के फल के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। सभी धर्मों ने अपने-अपने अनुयायियों को अच्छे मार्ग पर चलने और बुरे मार्ग से बचने, अथवा नैतिक जीवन जीने, और अनैतिक जीवन से हटने के लिए अपने-अपने धर्मशास्त्रों में, पुराणों और इतिहासों में ऐसे उपदेश, कथाएँ, रूपक आदि अंकित किये हैं। उन धर्मशास्त्रों और धर्मग्रन्थों की प्रामाणिकता और सच्चाई पर आम जनता को प्राचीन काल में भी विश्वास था और अब भी विश्वास है।

अब तो टी. वी. के रंगीन पर्दे पर भी ऐसी धारावाहिक पौराणिक कथाएँ, तथा कभी-कभी ऐतिहासिक एवं सामाजिक घटनाएँ दृश्य और श्रव्य रूप में दी जाती हैं, जिनका जन-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उन सबका उद्देश्य जनता को पापकर्मों से बचाकर पुण्यकर्म की ओर प्रवृत्त करना है। आम आदमी भी धर्मशास्त्रों में अंकित उन पुण्य-पापफल के उपदेशों तथा कथात्मक वृत्तान्तों को सुन-पढ़कर अवश्य ही पुण्य-पाप के फल को श्रद्धापूर्वक हृदयंगम कर लेता है।

जैनग्रामों में प्रतिपादित पुण्य-पाप का फल

यहाँ हम जैन-आगमों के पुण्य-पापफल सूचक कुछ सूत्रों का संक्षेप में अंकन कर रहे हैं, जिससे जैनकर्मविज्ञान के हार्द को समझा जा सके। कई बार इस जन्म में किये हुए पापकर्म या पुण्य कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता, देर से मिलता है, अथवा अगले जन्म या जन्मों में मिलता है, इस पर से किसी को कर्मफल के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

यद्यपि जैन कर्मविज्ञान में संवर-निर्जरा और मोक्षरूप धर्म के फलों के भी यत्र-तत्र स्पष्ट उपदेश हैं, कथा सूत्र भी हैं; किन्तु उनके विषय में हम 'कर्मबन्ध से

कर्ममुक्ति' के प्रकरण में अंकित करेंगे। यहाँ प्रस्तुत सन्दर्भ में हम पुण्य-पाप-फल की प्रामाणिकता और सच्चाई को उजागर करने हेतु सिर्फ उन्हीं के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

चौर्यकर्मों का फल : मूकता और बोधि-दुर्लभता

दशवैकालिक सूत्र में विविध चौर्यकर्मों के फल के सम्बन्ध में कहा गया है—जो मनुष्य तप का चोर है, वचन का चोर (ठग) है, रूप का चोर है, आचार का चोर है, और भावों का चोर है, वह किल्बिषिक देवत्व प्राप्ति के योग्य (नीच जाति के देवत्व-योग्य) कर्म करता है। देवत्व (देवभव) प्राप्त करके भी किल्बिषिक (नीच जाति के) देव के रूप में उत्पन्न हुआ वह वहाँ यह नहीं जान पाता कि यह मेरे किम कर्म का फल है? वह (किल्बिषिक देव) वहाँ से च्युत होकर भेड़-बकरी की तरह मूकता (गूँगापन) अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को प्राप्त करता है, जहाँ उसे बोधि-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

सुविनीतता और अविनीतता का फल

सुविनीत और अविनीत को मिलने वाले इहलौकिक प्रत्यक्ष फल के विषय में निरूपण करते हुए कहा गया है—सुविनीत स्त्री-पुरुष भी ऋद्धि और महायश को पाकर सुखानुभव करते देखे जाते हैं, सुविनीत देव, यक्ष, गुह्यक (भवनपति) देव भी ऋद्धि और महायश को पाकर सुखानुभूति करते देखे जाते हैं। इसके विपरीत अविनीत स्त्री-पुरुष क्षत-विक्षत, इन्द्रियविकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों द्वारा प्रतडित, करुण, परवश और भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुःखानुभव करते देखे जाते हैं। अविनीत देव, यक्ष और गुह्यक भी नीच कार्यों में लगाये हुए दास भाव में रहकर दुःखानुभूति करते देखे जाते हैं।

१. तवत्तेणे वयत्तेणे रुद्धत्तेणे थ जे नरे।

आचार-भाष्यत्तेणे थ, कुब्बड देवकिण्विसं॥

नद्धूण थि देवत्तं उववत्ते देव किञ्चिसे।

तत्थावि से न थाणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं।

तत्तो थि मे चइत्ताणं लब्भइ एलभूयणं।

नरथं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा॥ —दशवैकालिक अ. ५ उ. २ गा. ४६ से ४८

२. देखें दशवैकालिक सूत्र अ. ९, उ. २ की गाथा. ९, ११, १८, १० की व्याख्या (आर्य प्रकाश संमिति ब्याचर) पृ. ३४८-४९

तहेव सुधिणीयप्पा लोमंसि नरनारीओ।

दीसति सुहमेहंता इड्ढि पत्ता महायसा॥९॥

तहेव-सुधिणीयप्पा देवा जक्ख थ गुज्झणा।

दीसति सुहमेहंता इड्ढि पत्ता महायसा ॥९१॥

विनय पूर्वक श्रुताराधना करने वाले साधकों के द्वारा विनय का सुफल बताते हुए कहा गया है—वह सुविनीत साधक देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों द्वारा पूजित होकर कर्मयुक्त देह को छोड़ता है, तो या तो अल्पकर्म रज वाला महर्द्धिक देव होता है, या फिर शाश्वत सर्व कर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध हो जाता है।^१

पुण्य-पाप कर्मों से कलुषित मानवों को, उनके कर्मों का सुफल-दुष्फल

पुण्य-पाप कर्मों से कलुषित मनुष्य की कुफलयुक्त दशा का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—जिस प्रकार क्षत्रिय लोग सभी अर्थों (कामभोगों, विषयसुख साधनों, अथवा वैभव-ऐश्वर्य) का उपभोग करते हुए भी विरक्ति को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार शुभाशुभकर्मों से कलुषित जीव अनादिकाल से आवर्तस्वरूप योनिचक्र में भ्रमण करते हुए संसार दशा से वैराग्य (निर्वेद) नहीं पाते। अर्थात् जन्म-मरण के भंवर जाल से मुक्त होने की इच्छा नहीं होती। कर्मों के संग से सम्मूढ, दुःखित, और अत्यन्त वेदनायुक्त जीव मनुष्येतर योनियों में पुनः-पुनः विनिघात (त्रास) पाते हैं।^२

विविध शुद्ध शील पालन रूप पुण्य कर्म के सुफल

विविध शील (व्रत; नियम एवं आचार) के पालन आदि का सुफल बताते हुए उत्तराध्ययन में कहा गया है—विविध शीलें (व्रत, आचारों) के पालन से यक्ष (महर्द्धिक देव) होते हैं। वे उत्तरोत्तर (स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति एवं लेश्या की अधिकाधिक) समृद्धि के द्वारा महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की भाँति दीप्तिमान होते हैं और वे ऐसा मानने लगते हैं कि स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता। (एक प्रकार से) दिव्य कामभोगों के लिये स्वयं को अर्पित वे देव इच्छानुसार रूप बनाने (विकूर्वणा करने) में समर्थ होते हैं और ऊर्ध्वकल्पों (ऊपर के देवलोको) में पूर्ववर्षशत (सुदीर्घकाल) तक रहते हैं। वे देव उन

तहेव अविणीयप्पा लोगासि नरनारीओ।

दीसति दुहमेहंता छाया ते विगलेंदिया ॥७॥

दंड-सत्थ-परिजुण्णा असम्भवयणेहि य ।

कलुणा विवन्न छंदा खुप्पिवासाए परिगया ॥८॥

तहेव अविणीयप्पा देवा जक्खा य गुञ्जगा।

दीसति दुहमेहंता आभिओगमुवड्ढिआ ॥९०॥

स देव-गंधव्व-मणुस्त-पूहए चइत्तु देहं मल-पंक पुब्बयं।

सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिइइए॥

—उत्तराध्ययन अ. १, गा. ४८

एवमावट्ट जोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिस्सा।

न निविज्जति संसारे सव्वड्डेसु व खत्तिया।

कम्मसंगेहिं संभूटा दुक्खिया बहुवेयणा।

अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मति पाणिणो ॥

—उत्तराध्ययन अ. ३ गा. ५-६.

कल्पों (देवलोकों) में (अपनी-अपनी व्रताराधना के अनुरूप) यथास्थान (अपनी काल मर्यादा) तक ठहर कर आयु क्षय होते ही वहाँ से च्यवन कर मनुष्य योनि पाते हैं। जहाँ वे दशांग-भोग सामग्री से युक्त स्थान में जन्म लेते हैं—क्षेत्र (खेत या खुली जमीन), वास्तु (गृह प्रासाद आदि), स्वर्ण, पशुसमूह, दास-पोष्य वर्ग—ये चार कामस्कन्ध जहाँ होते हैं, वहाँ वे उत्पन्न होते हैं। साथ ही वे सन्मित्रों से युक्त, ज्ञातिमान, उच्चगोत्रीय, सुरूप, नीरोग (स्वस्थ), महाप्रज्ञ, अभिजात (कुलीन), यशस्वी और बलवान् होते हैं। ये सबके सब पूर्वकृत पुण्यकर्म के फल हैं।^१

पापकर्मों से धनोपार्जन का कुफल

पापकर्मों से धन का उपार्जन करने वालों को उनके फल की चेतावनी देते हुए कहा गया है—“जो मनुष्य कुबुद्धि का सहारा लेकर पापकर्मों (हिंसा, चोरी, ठगी, डकैती, बेईमानी, अनीति, व्यभिचार एवं वेश्याकर्म, द्यूतकर्म, कसाई कर्म आदि) से धन कमाते हैं; उस पापोपार्जित धन को यहीं छोड़कर वे मानव रागद्वेष के पाश (जाल) में फँसकर तथा अनेक जीवों से वैर बांधकर (भरकर) नरक में जाते हैं।” जैसे संध लगाते हुए संधि-मुख में पकड़ा गया पापकारी चोर स्वयं द्वारा किये गए कर्म से ही छेदा जाता (दण्डित होता) है, वैसे ही इहलोक और परलोक में प्राणी स्वकृत कर्मों के कारण छेदा जाता (दण्डित होता) है। क्योंकि कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।^२

१. विसालिसेहिं सीलेहिं जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महामुक्खा व दिपंता, मंत्रता अपुण्णच्चयं ॥१४॥
अपिया देयकामाणं कामरुच-धिउच्चिणो।
उड्ढ कप्पेसु चिद्धंति, पुब्बा वाससया वह ॥१५॥
तत्थ ठिच्चा जहा टाणं, जक्खा आउक्खाए चुया।
उवेत्ति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥१६॥
खेत्तं दत्तुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उधवज्जइ ॥१७॥
मित्तवं नायवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्यार्यके महापत्रे अभिजाए जसो बले ॥१८॥ —उत्तराध्ययन, अ. ३ गा. १४ से १८
२. जे पावकम्मोहिं धणं मणुस्सा, समाययंती अमइ गहाय।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा णरथं उवेत्ति ॥२॥
तेणे जहा सधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पायकारी।
एवं पया! पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ॥३॥

—उत्तराध्ययन आ. ४ गा. २-६

अकाममरण से मृत लोगों के लक्षण और उसका फल

उत्तराध्ययन के पंचम अध्यायन में अकाम मरण से मरने वाले लोगों के लक्षण तथा फल बताते हुए कहा गया है—जो अज्ञानी मनुष्य कामभोगों में अत्यासक्त होकर अतिक्रूरकर्म करता है, वह भोगासक्त जीव नरकादि की ओर जाता है। वह प्रत्यक्षदर्शी होकर परलोक को नहीं मानता और बेखटके पापकर्म करता रहता है। कामभोगों में रत मानव यही सोचता है कि दूसरे भोगपरायण लोगों की जो गति होगी, वही मेरी होगी। इस प्रकार धृष्ट बन कर कामभोगासक्त होकर पापकर्म करने से यहाँ और वहाँ क्लेश ही पाता है।

कामभोगों के साधनों को पाने के लिए वह त्रस एवं स्थावर जीवों की सार्थक या अनर्थक हिंसा करता रहता है। हिंसा, झूठ, माया, चुगली, धूर्तता, ठगी, मद्य-मांस-सेवन आदि पापकर्मों को अपने लिये श्रेयस्कर समझकर करता है। फिर वह तन-मन से मत्त (गर्विष्ठ) होकर धन और स्त्रियों में आसक्ति रखता है।

ऐसा मनुष्य राग और द्वेष दोनों तरह से कर्ममल का संचय करता है। इन सब पाप कार्यों के कारण अष्टविध कर्ममल का संचय करके वह भोगासक्त जीव प्राणघातक रोग से संतप्त होता है, अपने अशुभ कर्मों का अनुप्रेक्षण (स्मरण) करके परलोक से अत्यन्त भयभीत होने लगता है। उसकी आँखों के सामने पहले सुने हुए नरक गति के भयंकर यातनापूर्ण स्थान, तीव्र वेदना का स्मरण करने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वह सोचता है—इन नरकों में उत्पन्न होने का स्थान होता है, जहाँ उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद ही महावेदना का उदय हो जाता है, जो निरन्तर रहता है। फिर वह अपने कृत कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ पश्चात्ताप करता है।'

१. कामगिद्धे जह बाले भिसं कूराइ कुब्बइ ॥४॥
 जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई।
 न मे दिहे परे लोए, चक्खुदिद्धा इमा रई ॥५॥
 हत्यागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
 को जाणइ परे लोए, अथि वा नथि वा पुणो ॥६॥
 जणेण सद्धिं होक्खामि इइ बाले पगम्भइ।
 कामभोगाणुराएण केसं संपडिदज्जइ ॥७॥
 तओ से दंडं सभारंभई तसेसु धावरेसु य।
 अट्ठाए य अणट्ठाए भूयगामं विहिंसइ ॥८॥
 हिंसं बाले मुसाव्याई माइल्ले पिसुणे सट्ठे।
 भुंजमाणे भुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नइ ॥९॥
 कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
 दुहओ मलं संचिणई, सिसुणागुव्वं मट्ठियं ॥१०॥
 सुया मे णरएठाणा असीलाणं च जा गई।
 बाला कूर कम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

—उत्तरा. अ. ५ गाथा ४ से १२ तक

यह है—पापकर्मों का भयंकर प्रतिफल, जो अन्तिम समय में मनुष्य की आँखों के समक्ष उसके पाप चलचित्र की तरह आ जाते हैं।

सकाममरण से मृत पुण्यशाली लोगों के पुण्य का फल

इससे आगे सकाम मरणशील पुण्यशाली आत्माओं के पुण्य का फल बताते हुए कहा गया है—संयत, जितेन्द्रिय, नानाशीलव्रताचारी एवं पुण्यशाली आत्माओं का मरण अतिप्रसन्न और आघात रहित होता है। जो श्रद्धावान् गृहस्थ श्रावक सामाधिक साधना के सभी अंगों का काया से आचरण करता है, दोनों पक्षों में वीपधव्रत करना नहीं छोड़ता, शिक्षाव्रतों का अभ्यासी है, वह गृहवास में रहता हुआ भी मनुष्य शरीर से मुक्त होकर, देवलोक में जाता है।^१

कामभोगों से अनिवृत्ति एवं निवृत्ति का फल : नरक-तिर्यंच तथा देव-मनुष्यगति

मैंने ऐसा सुना है कि जो मनुष्य-जन्म मिलने पर भी काम-भोगों से निवृत्त (उपशान्त या उपरत) नहीं होता, उसका आत्मार्थ वानी आत्मप्रयोजन (स्वर्गादि) सापराध (भ्रष्ट) हो जाता है, क्योंकि न्याययुक्त मार्ग को सुनकर (स्वीकार करके) भी भारी कर्मवाला मानव उससे पुनः परिभ्रष्ट हो जाता है। अर्थात्—आत्मा से जो अर्थ सिद्ध करना था, वह आत्मधन ही सदोष हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर काम-निवृत्त हो जाता है, उसका आत्मार्थ (स्वर्गादि) सापराध (विनष्ट) नहीं होता, अथवा उसका आत्मधन नष्ट नहीं होता, विगड़ता नहीं। वह पूतियुक्त (दुर्गन्धयुक्त अशुचि) औदारिक शरीर को छोड़कर देव होता है। देवलोक से च्यव कर वह जीव उन मनुष्यों (मानवकुलों) में उत्पन्न होता है, जहाँ श्रेष्ठ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण (प्रशंसा) दीर्घ आयु और प्रचुर (अनुत्तर) सुख होते हैं।^२

अर्धर्मिष्ठ नरक में और धर्मिष्ठ देवलोक में उत्पन्न होता है

“अज्ञानी जीव की अज्ञानता (वालिशता) को देख, वह अर्धर्मिष्ठ सद्धर्म का त्याग करके अधर्म का अंगीकार करके नरक में उत्पन्न होता है। इसके विपरीत धीर पुरुष की धीरता को भी देख, वह धर्मिष्ठ व्यक्ति अधर्म का परित्याग करके समस्त धर्मानुवर्ती होकर (धर्म के सभी अंगों का आचरण करके) देवों में उत्पन्न होता है।”^३

१. उत्तराध्ययन अ. ५ गा. १८, २३, २४

२. देखें—उत्तराध्ययन अ. ७ गा. २५-२६-२७ का भावार्थ एवं विवेचन (आगम प्रकाशन सभिति, ब्यावर) पृ. १२१

३. देखें—उत्तराध्ययन अ. ७ गा. २८-२९

शरीरासक्त तथा विविध पापकर्मों में आसक्त व्यक्तियों को दुःखद नरक प्राप्ति।

“जो मनुष्य शरीर में, वर्ण-रूप (रंग-रूप) में मन-वचन-काय से आसक्त हैं, वे सभी दुःखद कर्मों की उत्पत्ति (बन्ध) के कारण होते हैं (अर्थात् वे दुःखद कर्मफल पाते हैं)।”

“जो मनुष्य हिंसक है, अज्ञानी है, मिथ्याभाषी है, लुटेरा है, दूसरों की दी हुई वस्तु को बीच में ही हड़पने वाला है, चोर, मयावी (ठग), देखते-देखते वस्तु का अपहरण कर लेता है, शठ और धूर्त है; स्त्रियों और रूपादि विषयों में गूढ़ (आसक्त) है, मद्य मांस का उपभोक्ता है, शरीर से हृष्टपुष्ट है, दूसरों को दबाता-सताता है; बकरी की तरह कर्कर शब्द करता हुआ मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करता है, जिसकी मोटी तोंद है और रक्ताधिक्य के कारण जिसका शरीर लाल हो रहा है, ऐसा व्यक्ति उसी प्रकार नरक गति में गमन की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करता है, जिस प्रकार परिपुष्ट मेमना मेहमान के आने की प्रतीक्षा करता है।”

पापकर्मों के भार से भारी जीव बनते हैं—नरकागारी

कर्मों से भारी बने हुए जीव नरकगामी होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—“जो मनुष्य केवल वर्तमान (निकटवर्ती या प्रेय) को ही देखने में तत्पर है; वह अशन (खान-पान), शयन, वाहन (यान) एवं अन्य कामभोगों को भोग कर तथा दुःख से बटोरा हुआ धन यहीं छोड़ जाता है, परन्तु प्रचुर कर्मरज संचित करके कर्मों से भारी बन जाता है, वह जीव मरणान्तकाल में वैसे ही शोक करता है, जैसे कि मेहमान के आने पर मेमना करता है। तत्पश्चात् विविध प्रकार से हिंसा करने वाले जीव आयुष्य के परिक्षीण होने पर जब शरीर से पृथक् (च्युत) होकर जाते हैं, तब वे अपने कृत पापकर्मों के अनुसार विवश होकर अन्धकारपूर्ण आसुरी दिशा (नरक) की ओर जाते हैं।”

ये हैं विविध पापकर्मों—कूरकर्मों के फल !^१

पापमयी परस्परविरोधी दृष्टियों का फल : नरक एवं सर्वदुःख-अमुक्ति

उत्तराध्ययन सूत्र के आठवें अध्ययन में बताया गया है कि “जो लोग हिंसा आदि पापमयी दृष्टि से दूषित हैं, वे मन्द और अज्ञानी अपनी पापपूर्ण दृष्टियों के कारण नरक में जाते हैं। अथवा जो प्राणिवध का अनुमोदन करता है, वह कदापि समस्त दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।”

१. वही, अ. ६ गा. १२, तथा अ. ७ गा. ५-६-७

२. वही, अ. ७ गा. ८-९-१०.

परस्परविरोधी आदि दोषों से दूषित दृष्टि पापमयी दृष्टि होती है। ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में पूर्वापर-विरोधयुक्त पापमयी दृष्टि इस प्रकार है—एक ओर तो उनका कहना है—‘समस्त जीवों की हिंसा मत करो।’ दूसरी ओर कहते हैं—‘विभूतिकामी मानव वायव्य दिशा में श्वेत बकरे का वध करे, तथा ब्रह्म के लिए ब्राह्मण का, इन्द्र के लिए क्षत्रिय का एवं मरुत् के लिए वैश्य का तथा तप के लिए शूद्र का वध करे।’ इत्यादि परस्पर विरोधी पापमयी दृष्टियाँ हैं।^१

कामभोगों में आसक्ति का फल : असुरदेवों तथा रौद्र तिर्यचों में उत्पत्ति

कामभोगों और रसों में गृद्धि का कर्मफल निरूपित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जो साधक वर्तमान जीवन को नियंत्रित (संयमित) न रख सकने के कारण समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे कामभोगों और रसों में आसक्त साधक असुरदेवों के निकाय में अथवा रौद्र तिर्यचयोनि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से निकल कर भी वे दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। बहुत अधिक कर्मों के लेप से लिप्त होने के कारण उन्हें बोधिधर्म का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ होता है।^२

निदान से प्राप्त भोगों में आसक्ति का दुष्परिणाम : नरक प्राप्ति

निदान (आसक्ति पूर्वक भोग प्रार्थना) करने से क्या फलविशेष प्राप्त होता है? इसे समझाने के लिए चित्तमुनि सम्भूति के जीव चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त से कहते हैं—‘राजन् ! तुमने निदान से कृत (उपार्जित) कर्मों (ज्ञानावरणीयादि) का विशेष रूप से (आर्तध्यानपूर्वक) चिन्तन किया। उन्हीं कर्मों के फलविपाक के कारण (संयम में प्रीति वाले) हम दोनों एक दूसरे से बिछुड़ गए।’^३

पापकर्मियों को नरक और आर्यधर्मियों को दिव्यगति

पापकर्मकर्ता और आर्य धर्म के आचरणकर्ता के उक्त कर्मों का फलनिर्देश करते हुए कहा गया है—जो (एकान्तक्रियावादी असत्परूपक) व्यक्ति पापकर्म करते हैं, वे घोर नरक में जाते हैं, किन्तु जो मनुष्य आर्य धर्म का आचरण करते हैं, वे दिव्यगति को प्राप्त करते हैं।^४

१. (क) वही अ. ८ गा. ७-८ का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १२८

(ख) ‘‘मा हिंस्यात् सर्वभूतानि!’’

‘‘श्वेतं छागमालभेत भूतिकामः, ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेद, इन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्॥’’

२. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. ८ गा. १४-१५।

३. वही, अ. १२ गा. ८.

४. वही, अ. १८/२५.

विपरीत दृष्टि वाले उभयभ्रष्ट साधकों का उभयलोक भ्रष्ट

विपरीत दृष्टि वाले साधकों को उभयलोक भ्रष्ट बताते हुए कहा गया है—जो (द्रव्य साधु) उत्तमार्थ (मोक्ष) के विषय में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रमणधर्म में रुचि व्यर्थ है। उसके लिए न तो यह लोक है, और न परलोक। वह दोनों लोकों के प्रयोजन से शून्य होने के कारण दोनों लोकों से भ्रष्ट भिक्षु चिन्ता से क्षीण हो जाता है।^१

घोर को मृत्यु दण्ड : अशुभकर्मों का परिणाम

महर्षि समुद्रपाल ने एक घोर को वध्य स्थान की ओर से जाते हुए देखकर उसके लिए ये उद्गार निकाले—“अहो ! अफसोस है ! (इसके) अशुभकर्मों का यह पापरूप (अशुभ-दुःखद) निर्याण परिणाम है।”^२

तीर्थंकर वेमिनाथ का कथन : प्राणिवधजनित पाप कर्म में श्रेयस्कर नहीं

तीर्थंकर अरिष्टनेमि जब बारात लेकर विवाह के लिए जा रहे थे, तब बाड़ों और पिंजरों में बंद पशु-पक्षियों को देख और सारथि से पूछने पर उन्होंने उन जीवों पर करुणा प्रेरित होकर कहा—“यदि मेरे कारण से इन बहुत-से प्राणियों का वध होगा तो (पापकर्म का कारक) यह परलोक में मेरे लिए निःश्रेयस्कर (कल्याणकर) नहीं होगा।^३

पशुवध प्ररूपक वेद और यज्ञ : पापकर्मों से रक्षा नहीं कर सकते

पशुवधादि प्रेरक वेद और यज्ञ पापकर्म के हेतु रूप होने से दुःशील मनुष्य की रक्षा करने में असमर्थता बताते हुए कहा गया है—“सभी वेद पशुवध-प्ररूपक हैं, और यज्ञ भी हिंसा मूलक होने से पापकर्मों से वे दुःशील की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।”^४

वन्दना, स्तुति, अनुप्रेक्षा, प्रवचन प्रभावना, वैयावृत्य आदि का सुफल

उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में वन्दना आदि का फल बताते हुए कहा गया है—“वन्दना से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र कर्म का बन्ध करता है। तथा वन्दनकर्ता की आज्ञा सर्वत्र अबाधित (ग्राह्य) होती है, और वह जनता द्वारा अनुकूल (दाक्षिण्य) भाव को प्राप्त करता है।”

“स्तव-स्तुतिमंगल से जीव ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप बोधि लाभ से सम्पन्न होता है।

१. वही, अ-२०/४९.

२. वही, अ-२१/९.

३. वही, अ-२२/१९.

४. वही, २५/३०.

तब या तो वह साधक अन्तःक्रिया (मुक्ति) के योग्य या फिर वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।”

“अनुप्रेक्षा से जीव आयुष्य कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की गाढ़ बन्धन से बद्ध प्रकृतियों को शिथिल बन्धन वाली कर लेता है।”

“धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा और प्रवचन-प्रभावना करता है। प्रवचन प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभफल दायक कर्मों का बन्ध करता है।”

“वैयावृत्य से जीव तीर्थकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन (उपलब्ध) करता है।”

पापकर्म के प्रबल कारणभूत प्रमाद का दुष्फल

कर्मबन्ध के प्रबल कारणभूत प्रमाद के फल के विषय में आचारांग में कहा है—
“अन्धापन, बहरापन, गूँगापन, कानापन, लूला-लंगड़ापन, कुबड़ापन, बौनापन, कालापन, चितकबरापन (कुष्ठ आदि चर्मरोग) आदि रोगों की प्राप्ति अपने प्रमाद के कारण होती है। वह अपने प्रमाद (कर्म) के कारण ही नाना प्रकार की योनियों में जाता है और विविध प्रकार के आघातों (वेदनाओं) का अनुभव करता है। वह प्रमादी पुरुष कर्मसिद्धान्त को नहीं समझता हुआ शारीरिक दुःखों से हत तथा मानसिक दुःखों से उपहत (पुनः पुनः पीड़ित) होता हुआ जन्म-मरण के चक्र में बार-बार भटकता है।”^१

स्त्रियों में कामासक्ति का फल

स्त्री को भोगसामग्री मानकर उसके भोग में लिप्त हो जाना आत्मा के लिए कितना अहितकर/घातक है, इसके जताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—“ये स्त्रियाँ आयतन (धार्मिक जनों के मिलन का स्थान) हैं, किन्तु उनका यह कथन/धारणा दुःख, मोह, मृत्यु, नरक एवं तिर्यचगति के लिए होता है। वस्तुतः स्त्रियाँ भोग-सामग्री हैं, उनसे संसार पराजित है। (विषयभोगों में) मूढ़ रहने वाला मनुष्य धर्म को नहीं जानता। माया और प्रमाद के वशीभूत मनुष्य बार-बार गर्भ में आता (जन्म-मरण करता) है।”^२

“अज्ञानी पुरुष हिंसादि क्रूर कर्म करता हुआ दुःख को उत्पन्न करता है। वह मूढ़ उसी दुःख से उद्विग्न होकर विपरीत दशा (सुख के बदले दुःख) को प्राप्त होता है।”

१. वही, अ. २९/सूत्र १०, १४, २२, २३, ४३

२. आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. २/उ. ३/सू. ७६-७७ अनुवाद और विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. ५०-५२

३. (क) आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. २, उ. ४/सू. ८४ अनुवाद और विवेचन (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. ५६-५७

(ख) वही, १/३/१ सू. १०८ पृ. ८९

कामभोगों में आसक्त लोगों को उनके कटुफल की चेतावनी देते हुए शास्त्रकार कहते हैं—“हे साधको ! विविध कामभोगों (विषय भोगों) में आसक्त जीवों को देखो; जो नरक तिर्यञ्च आदि यातना स्थानों में पच रहे हैं (उन्हीं विषयों में खींचे जा रहे हैं)। (वे इन्द्रिय-विषयों के वशीभूत प्राणी) इस संसार-प्रवाह में (कर्मों के फलस्वरूप) उन्हीं स्थानों का बार-बार स्पर्श करते हैं, (उन्हीं स्थानों में बार-बार जन्म-मरण करते हैं।)”

गुरुकर्मा व्यक्तियों की करुणदशा का निरूपण

गुरुकर्मा व्यक्तियों की करुणदशा का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

“.....कई गुरुकर्मा लोग विविध (दरिद्र, सम्पन्न, मध्यवित्त आदि) कुलों में जन्म लेते हैं। (धर्माचरण के योग्य भी होते हैं), किन्तु रूप-रसादि विषयों में आसक्त होकर अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दुःखों, संकटों एवं उपद्रवों से तथा भयंकर रोगों से आक्रान्त (ग्रस्त) होने पर करुण विलाप करते हैं; (लेकिन वे विषयासक्ति को नहीं छोड़ते अथवा दुःखों के आवासरूप गृहवास को नहीं छोड़ते, या विषयासक्ति पर संयम नहीं करते) ऐसे व्यक्ति दुःखों के हेतुभूत कर्मों से मुक्त नहीं हो पाते।”

स्वयंकृत दुःखद पापकर्मों का कटुफल

स्वयंकृत दुःखों—दुःखद कर्म फलभोगों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—
“अपने ही द्वारा पूर्वकृत कर्म के उदय में आने पर (अपने-अपने कृतकर्मों के) फलों को भोगने के लिए वे (मोहमूढ़ मानव) उन (विविध) कुलों में (जन्म लेकर) निम्नोक्त रोगों के शिकार हो जाते हैं—(१) गण्डमाला (२) क्रोध (३) राजयक्ष्मा, (४) अपस्मार (मृगी), (५) काणत्व, (६) जड़ता (अंगोपांगों में शून्यता), (७) कुणित्व (टूटापना), (८) कुबड़ापन, (९) उदररोग (जलोदर, अफारा, उदरशूल आदि), (१०) मूक रोग (गूंगापन), (११) शोथरोग (सूजन) (१२) भस्मक रोग, (१३) कम्पवात, (१४) पीठसर्पी पंगुता, (१५) श्लीपर रोग (हाथीपगा) और (१६) मधुमेह।”

शरीर सुख तथा रोगोपचार के लिए नाना प्राणियों के वध का फल

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि अनेक रोगों से पीड़ित मानव उन रोगों के उपचार के लिए अनेक प्राणियों का वध करता-कराता है। उनके रक्त, मांस, कलेजे, हड्डी आदि का अपनी शारीरिक चिकित्सा के लिए वह उपयोग करता-कराता है।

- वही, शु.१, अ.५ उ.१, सू.१४८-१४९ अनुवाद और विवेचन (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृ. १४७-१४९
- वही, शु.१, अ.६, उ.१, सू.१७८ अनुवाद और विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. १९४
- वही, शु.१, अ.६ उ.१ सू.१७९ अनुवाद और विवेचन (आ.प्र. समिति, ब्यावर) पृ. १९५-१९६

परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि उन प्राणियों की हिंसाजन्य चिकित्सा कराने पर भी रोग नहीं जाता; क्योंकि रोग का मूल कारण विविध कर्म हैं; उनका क्षय या निर्जरा हुए बिना रोग मिटेगा कैसे ?

इसीलिए मूल में कहा गया है—“संसार में (कर्मों के कारण) जीव बहुत ही दुःखी हैं। (बहुत-से) मनुष्य कामभोगों में (जिजीविषा में) आसक्त हैं। वे इस (निर्बल और निःसार तथा स्वतः नष्ट होने वाले) शरीर को सुख देने के लिए अन्य प्राणियों का वध करते हैं, (अथवा कर्मोदयवश अनेक बार वध को प्राप्त होते हैं)। वेदना से पीड़ित वह मनुष्य बहुत दुःख पाता है। इसलिए वह अज्ञानी (वेदना के उपशमन के लिए) प्राणियों को कष्ट देता है, (अथवा प्राणियों को क्लेश पहुँचाने में वह घृष्ट-वेगहम) हो जाता है। इन पूर्वोक्त रोगों को उत्पन्न हुए जानकर (उन रोगों की वेदना से) आतुर मनुष्य (चिकित्सा के लिए दूसरे प्राणियों को) परिताप देते हैं। तू (विशुद्ध विवेक दृष्टि से) देख ! ये (प्राणिघातक चिकित्सा विधियाँ कर्मोदय जनित रोगों का शमन करने में पर्याप्त) समर्थ नहीं हैं। अतः जीवों के लिए परितापकारी इन (पापकर्मजनक चिकित्सा विधियों) से दूर रहना चाहिए। यह (हिंसामूलक चिकित्सा) महाभय रूप है।”

दूसरों को जिस रूप में पीड़ित करता है, वह उसी रूप में पीड़ा भोगता है

आगे आचारांग सूत्र में यह भी बताया है कि दूसरों को मारने, सताने, डराने-धमकाने, गुलाम बनाने, जबरन हुकम चलाने, परिताप देने, अपने गिरफ्त में लेने वाले को उसी रूप में (अर्थात्—कृत-कर्म से रूप में) स्वयं को उसका फल भोगना पड़ता है। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से हन्ता (हनन कर्ता) और हन्तव्य (जिसका हनन करना है) दोनों आत्मा की दृष्टि से एक हैं। इसका फलितार्थ यह है कि “तुमने दूसरे जीव को जिस रूप में वेदना दी है, तुम्हारी आत्मा को भी उसी रूप में वेदना होगी, वेदना भोगनी होगी।” इसका एक भावार्थ यह भी है कि “तू किसी अन्य की हिंसा करना चाहता है, परन्तु यह उसकी (अन्य की) हिंसा नहीं, तेरी शुभ प्रवृत्तियों की हिंसा है। तेरी हिंसा वृत्ति एक तरह से आत्म (स्व-) हिंसा ही है।”

भगवती सूत्र में इसी दृष्टिकोण से कहा गया है—दूसरों के लिए समाधिकारक सुख प्रदान में निमित्त व्यक्ति उसी प्रकार की समाधि प्राप्त करता है।^१

१. देखें—“अद्वै से बहुदुःखे इतिवाले पकुव्यति। एते रोमे बहु णव्य आतुरा परितावए। णालं पास। अलं तवेतेहिं।” महम्मयं। णातिवादेज्ज कंचणं ।” —आचारांग श्रु.१ अ.६, उ.५, सू.१८० का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ.१९६-१९८
२. देखें—तुमसि नाम तं धेव (सच्चैव) जं हंतव्यं ति मत्रसि इत्यादि भूलपाठ तथा विवेचन। —आचारांग, श्रु.१, अ.५, उ.५, सू.१७० (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ.१८२
३. “समाधिकारए णं तमेव समाहि पडिलब्भइ।”—भगवती सूत्र श.७ उ.१

मुनिधर्मी कामभोगासक्त होकर स्वयं को महादुःख सागर में धकेलता है

मुनिधर्म को अंगीकार करके जो व्यक्ति कामभोगों का सेवन करता है, इन्द्रिय विषयों में जिसकी लोलुपता है, तन-मन में चंचलता है, अन्य जन्मों के कुसंस्कारवश जो प्राणी परिणाम, अपनी शक्ति, कार्य-अकार्यविवेक को तिलांजलि देकर अदूरदर्शिता अपनाता है, वह स्वयं जन्म-मरण के महादुःख सागर में गोते खाता है। यही तथ्य भगवती सूत्र में व्यक्त किया गया है कि जो दुःखित (कर्मबद्ध) है, वही दुःख (कर्मबन्धन का दुःख रूप फल) पाता है, जो दुःखित (बद्ध) नहीं है, वह दुःख (कर्मबन्धन जनित दुःखरूप फल) को नहीं पाता।^१

आधाकर्मी आहार-सेवन का दुष्फल

भगवती सूत्र में आधाकर्मी आहार सेवन का फल बताते हुए कहा गया है—
आधाकर्मी आदि सदोष आहार के सेवन से अल्पायुर्कर्म का बन्ध होता है। तथा उसका कटु फल भी भोगना पड़ता है।^२

सभी गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण रूप फल अवश्यम्भावी

आचारांग सूत्र में कर्मों के विविध फलों के कारण सभी गतियों और योनियों में परिभ्रमण करने की अवश्यम्भाविता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—“स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव (कर्मों के कारण) त्रस (द्विन्द्रियादि) के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं, इसके विपरीत त्रस जीव भी स्थावर जीवों के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् रूप में संसार में स्थित हैं अथवा अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं।”^३

गुरु-साधर्मिक शुश्रूषा से उपार्जित पुण्य का फल

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा रूप पुण्य का फल बताते हुए उत्तराध्ययन में कहा है—“गुरु और साधर्मिकों की शुश्रूषा से जीव विनय-प्रतिपत्ति (विनय का प्रारम्भ या अंगीकार) को प्राप्त होता है। विनय-प्रतिपन्न व्यक्ति (परिवादादि रूप) आशातना से रहित स्वभाव वाला होकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव से सम्बन्धित दुर्गति (दुर्वस्था) का निरोध कर देता है। विनयप्रतिपत्ति के चार अंगों (१) वर्णश्लाघा

१. (क) देखें—आचारांग श्रु.१, अ.५, उ.६ का विवेचन पृ.२१०

(ख) दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे।

—भगवती सूत्र ७/१

२. भगवती सूत्र श. २ उ.६ सू.२१०

३. आचारांग श्रु.१ अ.९, उ.१ सू.२६७।

(गुणगुरु व्यक्ति की प्रशंसा) (२) संञ्चलन (गुण प्रकाशन), (३) भक्ति (हाथ जोड़ना, गुरुजनों आदि को आदर देना, आने पर खड़ा होना आदि), (४) बहुमान (आन्तरिक प्रीति विशेष या वात्सल्यवश मन में आदरभाव) से सम्पन्न होने के कारण वह देव सम्बन्धी सुगति (आयु) का बन्ध करता है। श्रेष्ठगति और सिद्धि का मार्ग प्रशस्त (शुद्ध) करता है। विनयपूर्वक सभी कार्यों को साधता है। अन्य अनेक जीवों को विनयी बना देता है।^१

दोषों की आलोचना रूप पुण्योपार्जन का फल

आलोचना (गुरुजनों के समक्ष दोष-प्रकाशन) रूप पुण्य का फल बताते हुए कहा गया है—“आलोचना से मोक्ष-मार्ग में विघ्नकारक और अनन्त संसार वर्द्धक मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य को निकाल देता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजुता (सरलता) को प्राप्त जीव माया रहित होता है। अतः वह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं करता। यदि पूर्व बद्ध हो तो उसकी निर्जरा करता है।”^२

पंचेन्द्रिय एवं मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष का प्रतिफल

पाचों इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष का प्रतिफल बताते हुए कहा गया है—“इस प्रकार इन्द्रियों और मन के जो विषय रागी (राग-द्वेष कर्ता) मनुष्य के लिए दुःख के हेतु हैं, वे ही वीतरागी (रागद्वेष रहित) पुरुष के लिए कदापि किंचित् मात्र भी दुःख के कारण नहीं होते।”^३

कामासक्ति का इहलौकिक पारलौकिक दुष्फल

कामासक्त मनुष्यों को उनसे होने वाले दुष्परिणाम को बताते हुए कहा गया है—“जो व्यक्ति कामगुणों (शब्द-रूप-रसादि विषयों) में आसक्त है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद (काम-विकार) तथा (हर्ष-विषाद आदि) विविध भावों (अनेक प्रकार के विकारों) को और उनसे उत्पन्न अन्य अनेक कुपरिणामों को वह प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वह कामासक्त व्यक्ति लोक में करुणास्पद (दयनीय), दीन, लज्जित और अप्रिय होता है। गीता में भी विषयों का चिन्तन करने से लेकर बुद्धिनाश और विनाश रूप फल तक का इसी प्रकार वर्णन मिलता है।”^४

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ.२९ सू. ४।

२. वही, अ.२९, सू.५।

३. उत्तराध्ययन, अ. ३२ गा.१००।

४. (क) वही, अ.३२ गा.१०२-१०३.

(ख) ध्यायती विषयान्युमः संगक्षेपूपजायतेः

कान्दर्पी आदि पाप भावनाओं से अर्जित पापकर्म का फल

कान्दर्पी आदि अप्रशस्त पाप-भावनाओं का दुष्फल बताते हुए कहा गया है—“जो साधक कान्दर्प (काम) कथा करता है, अट्टहासपूर्वक हंसता है, व्यंग्योक्ति पूर्वक बोलता है, कामोत्तेजक उपदेश देता है, कामभोगों की प्रशंसा करता है, तथा कौत्कुच्य (हास्योत्पादक कुचेष्टाएँ) करता है, एवं हास्य, विकथा, शील और स्वभाव से दूसरों को विस्मित करता है या हंसाता है, वह कान्दर्पी भावना का आचरण करता है।”

“जो विषयसुखों के लिए तथा रस और समृद्धि के लिए यंत्र, योग (तंत्र), भूति (भस्म आदि मंत्रित करके देने) का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

जो ज्ञान की, केवलज्ञानी की, धर्माचार्य की, संघ की तथा साधुओं की निन्दा (अवर्णवाद) करता है वह मायाचारी किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है।

जो सतत क्रोध की परम्परा को फैलाता-बढ़ाता रहता है, तथा जो निमित्त (ज्योतिष आदि) विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणों से आसुरी भावना का आचरण करता है।

इसी प्रकार जो शस्त्र प्रयोग से, विषभक्षण से या पानी में डूबकर आत्महत्या करता है तथा जो साध्वाचारविरुद्ध भाण्ड-उपकरण रखता है, वह मोही भावना का आचरण करता हुआ अनेक जन्ममरणों का बन्ध करता है, तथा उनका कटुफल प्राप्त करता है।’

तात्पर्य यह है कि कान्दर्पी, आसुरी, आभियोगी, किल्बिषिकी और सम्मोह-भावना से द्विविध मोहकर्म का उत्कट बन्ध होता है, और उसका कटुफल उसे आगामी जन्मों में भोगना पड़ता है। मूलाराधना, प्रवचनसारोद्धार आदि में भी इन्हीं कुभावनाओं का निरूपण मिलता है।’

स्थानांग सूत्र में स्पष्ट कहा है कि चारित्र के फल का नाश (अपध्वंस) चार प्रकार का होता है—(१) आसुरीभावनाजन्य आसुरभाव से, (२) अभियोगभावनाजन्य

संगात् संजायते कामः कामाब्धोऽभिजायते।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

—गीता २/६२-६३

१. उत्तराध्ययन अ. ३६, गा. २६३ से २६७

२. (क) उत्तराध्ययन अ. ३६, गा. २६३ से २६७, बृहद्वृत्ति पत्र ७०९

(ख) मूलाराधना ३/१७९, १८२, १८३, १८४

(ग) प्रवचनसारोद्धार गा. ६४१, ६४४, ६४५, ६४६ वृत्ति १८१, १८२।

आभियोगी भाव से, (३) सम्मोहभावनाजन्य सम्मोहभाव से और (४) किल्बिषभावना-जन्य किल्बिषभाव से। इन चारों कुभावनाओं के प्रत्येक के कर्मबन्ध के चार-चार कारण भी बताए हैं। अर्थात्—इन चार कुभावनाओं से असुरादि में जन्म लेने योग्य कर्म का उपार्जन करता है।^१

पीण्डरीक के अयोग्य : चार प्रकार के पुरुष और उनको प्राप्त होने वाला कटुफल

सूत्रकृतांग सूत्र के पीण्डरीक अध्ययन में पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे पुरुष को पीण्डरीक (भाव-पीण्डरीक—रत्नत्रय तथा अध्यात्म साधना में श्रेष्ठ) के अयोग्य बताते हुए उनके प्रतिफल का निरूपण किया गया है—प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी, द्वितीय पुरुष—पंचभौतिकवादी, तृतीय पुरुष—ईश्वरकारणवादी और चतुर्थ पुरुष—एकान्त नियतिवादी; ये चारों ही प्रकार के व्यक्ति भिन्न-भिन्न बुद्धि, अभिप्राय, शील (आचार), दृष्टि तथा रुचि वाले एवं पृथक्-पृथक् आरम्भ धर्मानुष्ठान वाले तथा विविध अध्यवसाय (पुरुषार्थ) वाले होते हैं। ये माता-पिता आदि गृहस्थाश्रयी कुटुम्बी जनों तथा पूर्वसंयोगों को तो छोड़ देते हैं, किन्तु आर्यमार्ग (मोक्षपथ) को जब तक प्राप्त नहीं करते, तब तक वे न तो इस लोक के रहते हैं और न ही परलोक के (अर्थात्—वे न तो इस लोक को सार्थक कर पाते हैं और न परलोक को ही) वल्कि बीच में ही त्रिशंकु की तरह सांसारिक कामभोगों में ग्रस्त होकर नानाविध कष्ट पाते हैं, परलोक में भी मिथ्यात्व मोहनीय कर्मवश तीव्र रसानुभाव के कारण तीव्र-कर्मबन्ध करके उस कर्म का तीव्र कटुफल पाते हैं।^२

तीन स्थान: अधर्म पक्ष, धर्मपक्ष एवं मिश्रपक्ष

सूत्रकृतांगसूत्र में क्रिया स्थानों के सन्दर्भ में तीन प्रकार के स्थान के अधिकारियों के स्वरूप, गुणावगुण एवं कर्मफल का निरूपण किया गया है। वे तीन प्रकार हैं—(१) अधर्मपक्ष स्थान, (२) धर्मपक्ष स्थान, और (३) मिश्रपक्ष स्थान।

अधर्मपक्ष स्थान के अधिकारी तथा उनकी चर्या एवं प्रकार

अधर्म पक्ष स्थान के अधिकारी वे हैं, जो अठारह ही पापस्थानों का अधिकाधिक सेवन करते रहते हैं। वे हैं—प्रातिपथिक (राहगीरों को लूटने वाले), सन्निधच्छेदक, (चोर), गिरहकट, शौकरिक (सूअर पालने वाला), बागुटिक (पारधी), शाकुनिक (बहेलिया), मात्स्यिक (मच्छीमार), गोघातक (कसाई), श्वपालक (शिकारी कुत्ते पालने वाला), तथा

१. स्थानांग. स्या. ४, उ. ४ सू. ५६६ से ५७० तक

२. देखें, सूत्रकृतांग सूत्र श्रु.२, अ.१ सू.६४८ से ६६६ तक के मूल एवं विवेचन का सारभूत अंश, पृ.२०,२५,२८,३१,४३,४९.

शौवान्तिक (शिकारी कुत्तों द्वारा पशुओं का शिकार करने वाला) इत्यादि बनकर विविध रूप में हिंसादि महापाप कर्म करता है। इसके अतिरिक्त जो बात-बात में आवेश में आकर किसी भी मनुष्य या जीव को कल कर देता है, जो जरा-सी बात में अत्यन्त क्रुद्ध होकर तोड़फोड़ कर देता है, आग लगा देता है, दंगा-फसाद कर देता है, कोई बात-बात में असहिष्णु बनकर अपना स्वार्थ भंग होने पर सामने वाले व्यक्ति के बालकों या पशुओं के अगोपांग काट डालता है, कोई अन्य किसी भी अपमानादि के कारण बदला लेने को या जान से मार डालने को उद्यत हो जाता है, ये और इस प्रकार के अनेक-विध महापाप कर्म करने वाले अधर्मपक्षीय अधिकारी हैं।

इनके व्यवसाय पापमय होते हैं, इसके आचार-विचार और व्यवहार पापमय होते हैं। ये मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सावधविद्याएँ अपनाते हैं। उनकी चर्चा अहर्निश विषयभोग-लालसामयी रहती है। ऐसे अधर्म पक्ष के अधिकारी तीन कोटि के व्यक्ति होते हैं—(१) भोग विलासमय जीवन यापन करने हेतु तरसने वाले तृष्णान्ध या विषय-सुखभोगान्ध व्यक्ति, (२) भोगप्रस्त अधर्म को पाने के लिए तरसने वाले विषय सुखलोलुप गृहस्थ, और (३) प्रव्रजित होकर विषय-सुख साधनों को पाने के लिए अहर्निश लालायित।^१

अधर्मपक्षीय जनों के विषय में अनार्यो एवं आर्यो का अभिप्राय

ऐसे पापमय प्रवृत्ति वाले अधर्मपक्षीय लोगों को अनार्य लोग आश्रितों का पालक, तथा उनकी भोगविलासमय जिंदगी देखकर देवतुल्य या देव से भी श्रेष्ठ आदि बताते हैं। मगर आर्य लोग उनकी वर्तमान विषयसुखलोलुपता, भोगसुख-मग्नता के पीछे हिंसा, झूठ, फरेब, शोषण, चोरी, छल, ठगी आदि महान् पापों का परिणाम देखकर उन्हें क्रूरकर्मा, शोषक, उत्पीड़क, धूर्त, विषयभोगों के कीड़े, शरीरपोषक आदि बताते हैं।

अधर्मपक्षीय स्थान : क्या, कैसा और उसके पापकर्मों का इहलौकिक पारलौकिक फल

यह स्थान अनार्य है, आर्य पुरुषों द्वारा अनाचरणीय है, अपूर्ण है, न्यायवृत्ति से रहित है, पवित्रता से रहित है, दुःखनाशक मार्ग नहीं है, एकान्त मिथ्या एवं बुरा है आदि। सूत्रकृतांग में इसका विश्लेषण बहुत ही विस्तार से दिया गया है। इन पापकर्मियों अनार्यों के कर्मफल के विषय में कहा गया है कि ये पापकर्मों के भार से दबे हुए, अत्यन्त क्रूर, अत्यधिक पापकर्मों से युक्त, पूर्वकृत कर्मों से अत्यन्त भारी, कर्मपंक से अतिमलिन,

१. देखें, सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. २, सू. ७०८ से ७१० तक अनुवाद, विवेचन का सारभूत अंश, पृ. ७९ से ८३ तक.

अनेक प्राणियों के साथ वैर बांधे हुए, अविश्वसनीय, दम्भपूर्ण, शठता-धूर्तता में अतिनिपुण, अपयशकारी, असप्राणियों के घातक तथा भोगों के दलदल में फंसे हुए प्राणी मर कर रत्न-प्रभादि नरक भूमियों को लांघकर नीचे के नरकतल में जाकर उत्पन्न होते हैं।वे नारकीय जीव वहाँ कठोर, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, प्रचण्ड, दुर्गम्य, दुःखद, तीव्र दुःसह वेदना भोगते हुए अपना समय (आयुष्य) व्यतीत करते हैं।

वे गुरुकर्म पापिष्ठ पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करते हैं।

वे दक्षिणगामी नैरथिक कृष्णपाक्षिक तथा भविष्य में दुर्लभबोधि होते हैं। निम्नतम नरक भूमियों में उनकी धृति, मति, निद्रा, श्रुति, रति, बोधि आदि लुप्त हो जाती है। उनका समग्र दीर्घ जीवन घोर यातनाओं और असह्य वेदनाओं में ही व्यतीत होता है।

द्वितीय धर्मपक्षीय स्थान: अधिकारी और उनके गुण

द्वितीय स्थान धर्मपक्ष का है। इसके अधिकारी ऐसे व्यक्ति होते हैं-जो आरम्भ-परिग्रह से विरत होते हैं, धार्मिक और धर्मानुसार प्रवृत्ति परायण होते हैं, धर्म की ही अनुज्ञा देते हैं। धर्म को अपना अभीष्ट मानते हैं, धर्मप्रधान होते हैं, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्मजीवी, धर्मदर्शी, धर्मानुरक्त, धर्मशील एवं धर्माचरण परायण होते हैं, और धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवन-यापन करते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सदानन्दी, उत्तम पुरुष होते हैं। प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन तक अठारह ही पापों से वे विरत होते हैं। स्नान-शृंगार-विभूषा से दूर रहते हैं, हाथी घोड़ा आदि वाहनों से विरत होते हैं, क्रय-विक्रय, पचन-पाचन, आरम्भ-समारम्भ आदि सावधकर्मों से आजीवन निवृत्त रहते हैं। स्वर्णरजत आदि तथा धन-धान्यादि परिग्रह से आजीवन निवृत्त रहते हैं। तथा परपीडाकारी समस्त सावध अनार्यकर्मों से यावज्जीवन दूर रहते हैं।

ऐसे धार्मिक पुरुष प्रायः अनगर होते हैं, जो पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीर्णगुणित् जितेन्द्रिय, ब्रह्मचर्य गुणियों के पालक, क्रोधादि कषायों के विजेता आदि अनेक गुणों से युक्त होते हैं। संक्षेप में वे तप-संयम से युक्त होते हैं।

धर्मपक्षीय स्थान के अधिकारियों को उनके प्रशस्त पुण्यकर्मों का प्राप्त होने वाला फल

ऐसे महान् पुरुषों के लक्षणों का सूत्रकृतांग में विस्तार से वर्णन किया गया है। ऐसे कई पहान् आत्मा एक ही भव (जन्म) में संसार का अन्त (मोक्ष प्राप्त) कर लेते हैं। कई

१. देखें, सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. २, सू. ७१०, पृ. ७९ से ८३ तक (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. देखें, सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. २ सू. ७११, पृ. ८४-८५ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

महात्मा पूर्वकृत कर्मों के शेष रह जाने से यथासमय मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वे देवलोक महर्द्धिक, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त, महायशस्वी, महान् बलशाली, महा प्रभावशाली तथा महासुखदायी होते हैं। देवलोक के तमाम सुखभोगों से वे सम्पन्न होते हैं।.....वे अपने (पुण्य कर्म के फल स्वरूप) दिव्य रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, दिव्य-संहनन, दिव्य संस्थान, तथा दिव्य ऋद्धि द्युति प्रभा, छाया (क्रान्ति), अर्चा, तेज और लेश्या से दसों दिशाओं को आलोकित करते हैं, चमकाते हैं। उनकी गति और स्थिति कल्याणमयी होती है, भविष्य में भी वे भद्रक होने वाले देव बनते हैं। उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है।

यह द्वितीय स्थान आर्य है, यावत् समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मार्ग है। तथा एकान्त सम्यक् और सुसाधु (बहुत अच्छा) मार्ग है।^१

तृतीय मिश्रस्थान: अधिकारी और उनके गुण

तृतीय स्थान-धर्माधर्म या मिश्र स्थानपक्ष है। इसके अधिकारी व्यक्ति वे होते हैं, जो अल्प इच्छा वाले (सन्तोषी), अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते हैं। वे धर्माचरण करते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं, धर्म की अनुज्ञा देते हैं, यहाँ तक कि धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुगमता से प्रसन्न होने वाले (उपशान्तक्रोधादि) और साधु (साधनाशील सज्जन) होते हैं।

एक ओर वे (किसी स्थूल या संकल्पी) प्राणातिपात से आजीवन विरत होते हैं, दूसरी ओर वे, सूक्ष्म तथा आरम्भी प्राणातिपात से निवृत्त होते हैं। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से कथंचित् (स्थूल रूप से) निवृत्त और कथंचित् (सूक्ष्मरूप से) अनिवृत्त होते हैं। ये और इसी प्रकार के कई अन्य बोधिनाशक तथा अन्य प्राणियों को परितापदायक जो सावधकर्म (नरकादिगमन के कारणभूत यंत्रपीडनादि कर्मादानरूप पापव्यवसाय=खरकर्म) हैं, उनसे निवृत्त होते हैं, जबकि कतिपय अल्पसावध कर्मों (व्यवसायों) से वे निवृत्त नहीं होते।

मिश्रस्थान: अधिकारी श्रमणोपासकों के गुण, चर्या व्रत एवं पुण्य कर्म-प्रतिफल

इस मिश्रस्थान के अधिकारी श्रमणोपासक होते हैं, जो जीव और अजीव के रहस्य के ज्ञाता, पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध किये हुए, तथा आम्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के ज्ञान में कुशल होते हैं। वे श्रावक असहाय होने पर भी देवगणों से सहायता की अपेक्षा नहीं रखते। इस प्रकार के अन्य कई गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

१. देखें-सूत्रकृतांग शु. २, अ. २, सू. ७१४ पृ. ९१ से ९६ तक (आ. प्र. सभिति, ब्यावर)

संक्षेप में—वे अपने व्रत, नियम, तपश्चरण, मर्यादा, आदि से आत्मा को भावित करते हुए जीवन यापन करते हैं। वे अपने श्रावक व्रतों का निरतिचार रूप से पालन करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने या अन्य कोई मारणान्तिक उपसर्ग या कष्ट आने पर बहुत दिनों का भक्त प्रत्याख्यान करते हैं। अनशन-संधारा धारण करके पूर्वकृत पाप-दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण करके निदान रहित होकर समाधि पूर्वक देहत्याग करते हैं। यहाँ से देहान्त होने पर वे किन्हीं विशिष्ट देवलोकों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ वे महान् ऋद्धि, द्युति, यश, बल, एवं सुख आदि से सम्पन्न होते हैं। यह तृतीय मिश्रस्थान आर्य, आर्यसेवित एकान्त सम्यक् और उत्तम है।^१

इस प्रकार एकान्त पापकर्म, विशिष्ट पुण्यकर्म तथा धर्म, एवं अधिकांश पुण्य तथा किञ्चित् पापकर्म के फल सम्यन्धी वर्णन से स्पष्ट है कि कृत पुण्य-पापकर्म व्यर्थ नहीं जाता।

पृथ्वीकायिक से लेकर वैमानिक देवों तक का आहार, उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि : कर्मों के कारण

सूत्रकृतांगसूत्र के आहार परिज्ञा अध्ययन में बताया गया है कि पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय (जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प) मनुष्य, नारक एवं देव आदि समस्त प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व पूर्वकृत कर्मोदय के फलस्वरूप नाना प्रकार की गतियों योनियों में उत्पन्न होते हैं। एक ही योनि के जीव उसी योनि में दूसरे रूप में उत्पन्न होते हैं। वे अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से ही गति, योनि और स्थिति पाते हैं। वहीं वे रहते हैं, वहीं वृद्धि पाते हैं। वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही रहते हैं तथा शरीर में ही बढ़ते हैं एवं शरीर से ही आहार करते हैं। वे अपने-अपने कर्म का ही अनुसरण करते हैं। कर्म ही उस-उस योनि में उनकी उत्पत्ति का प्रधान निमित्त कारण है। कर्म के ही फलस्वरूप वे सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए जन्म, जरा, मरण, रोग, संकट आदि दुःखों के भागी होते हैं।^१

समस्त संसारी प्राणियों को प्राप्त होने वाले जन्म-जरा-मरणादिरूप फल

इस समग्र पाठ से स्पष्ट है कि विविध कर्मों के विभिन्न गतियों, योनियों, स्थितियों तथा उन्हीं में पुनःपुनः उत्पत्ति एवं वृद्धि के रूप में तथा उनमें प्राप्त होने वाले जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, संकट आदि दुःखों के रूप में फल अवश्य प्राप्त होता है।

१. वही, श्रु. २, अ. २, सू. ७१५, पृ. ९७ से ९९ तक (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

२. देखें—सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. ३, सू. ७२२ से ७४६ तक का सारभूत अंश, विवेचन, पृ. १०८ से १३० तक (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने के पापकर्म का फल

सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रकीय अध्ययन में पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल बताते हुए पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया गया है—

पूर्वपक्ष-ब्राह्मणमन्तव्य—“जो पुरुष प्रतिदिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता है; वह महान् पुण्यपुंज उपार्जित करके देव बनता है, यह वेद-वचन है।”

उत्तरपक्ष-आर्द्रकमुनि-कथन—“बिडाल जैसी वृत्ति वाले तथा मांसादि सरस, स्वादिष्ट भोजन के लिये क्षत्रियादि कुलों में घूमने वाले दो हजार शील विहीन (तथाकथित स्नातक) ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराने वाला यजमान (दाता) मांसलुब्ध प्राणियों से व्याप्त (प्रगाढ़) अप्रतिष्ठान नामक नरक में निवास करता है, जहाँ वह परमाधार्मिक नरकपालों द्वारा तीव्रयातना (प्रगाढ़ वेदना) भोगता रहता है। दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो नृप (शासक) एक भी कुशील व्यक्ति (तथाकथित विप्र) को भोजन कराता है, वह अन्धकारयुक्त तामस नरक में जाता है, फिर (देवलोको) देवों में जाने की तो बात ही कहाँ ?”

तात्पर्य यह है कि उस युग में ब्राह्मण यज्ञ-यागादि में पशुबलि (पशुवध) करने की प्रेरणा देते थे; और स्वयं भी मांस-भक्षण करते थे। वे मांस भोजन आदि की प्राप्ति के लिये क्षत्रियादि कुलों में घूमा करते थे। आचार से भी वे शिथिल हो गए थे। इसलिए ऐसे दाम्भिक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले तथा स्वयं मांसभोजन करने-कराने वाले व्यक्ति को नरकगामी बताया है।

१. (क) सिणायगार्णं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहगाणं।

ते पुण्णखंदं सुमहऽचिणित्ता भवति देवा इति वेयवाओ। १४३

सिणायगार्णं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए कुलालयाणं।

ते गच्छति लोलुव-संपगाढे तिव्वाभितावी पुराकदाभिसेवी ॥४४॥

दया वरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे।

एणं पि जे भोययति असील, णिवो निसं, जाति, कतो सुरेहिं ? ॥४५॥

—सूत्रकृतांग, शु २, अ. ६, सू. ४३-४४-४५

(ख) सूत्रकृतांग—शीलांक वृत्ति पत्र ४०० का सारांश

(ग) धर्मध्वजी सदा लुब्धश्लादिको लोकदम्भकः।

वैडालवृत्तिकः ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधिकः॥

ये बकव्रतिनो विप्राः ये च मार्जारलिगिनः।

ते पतन्त्यन्धतामिधे, तेन पापेन कर्मणा॥

न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालवृत्तिके द्विजे।

न बकवृत्तिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्॥

—मनुस्मृति अ. ४, श्लो. ९५, ९७, ९८

‘मनुस्मृति’ आदि वैदिक धर्म ग्रन्थों में भी वैडालवृत्तिक तथा हिंसा-प्रेरक ब्राह्मणों को भोजन कराने तथा करने वाले दोनों को नरकगामी बताया है।

‘उत्तराध्ययन सूत्र’ में भी ऐसे कुमार्ग-प्रेरक एवं पशुवधादि-प्ररूपक ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल नरकगति बताया है।^१

नरक गमन रूप पापफल के चार कारण

स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में नरकगति (आयु) प्राप्त होने के चार कारण बताये गये हैं—(१) महारम्भ से, (२) महापरिग्रह से, (३) पंचेन्द्रिय जीवों के वध करने से और (४) मांसाहार करने से।^२

बौद्धभिक्षुओं द्वारा प्रतिपादित अपसिद्धान्तों का सारांश

आर्द्रककुमार के साथ बौद्धभिक्षुओं का संवाद हुआ, उसमें बौद्धभिक्षु ने अपने चार अपसिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कहा। उसका सारांश इस प्रकार है—(१) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को पुरुष तथा तुम्बे को कुमार समझकर उसे शूल से बीधकर पकाये तो प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, (२) किन्तु कोई व्यक्ति पुरुष को खली का पिण्ड तथा कुमार को तुम्बा समझकर पकाए तो वह प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार (३) कोई पुरुष मनुष्य या बालक को खली का पिण्ड समझकर पकाये तो वह भोजन पवित्र है और बौद्धभिक्षुओं के लिए भक्ष्य है, और (४) इस प्रकार (मांस) भोजन तैयार करके जो प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओं को खिलाता है, वह महान् पुण्य स्कन्ध प्राप्त करके आरोप्य देव होता है।^३

बौद्धभिक्षु-निरूपित अपसिद्धान्तों का खण्डन

आर्द्रक मुनि ने इन चारों अपसिद्धान्तों का खण्डन किया, उसका सारांश इस प्रकार है—(१) प्राणिवधतः जन्य आहार संयमी भिक्षुओं के लिए अयोग्य है, जो लोग मांस का सेवन करते कराते हैं, वे पुण्य-पाप को नहीं जानते हुए पापकर्म का अर्जन करते हैं। तत्त्वज्ञान में निपुण साधु क्या, गृहस्थी भी मांस खाने की इच्छा नहीं करते। फिर ऐसे मांसभक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है। (२) प्राणिवधतः से पाप नहीं होता, इस प्रकार कहने-सुनने वाले अबोधि बढ़ाते हैं, (३) खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि या पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि सम्भव ही नहीं है। ऐसा कथन भी आत्मवंचनापूर्ण और असत्य

१. तेहि भोजिताः कुमार्ग-प्ररूपण-पशुवधादायेव कर्मोपचय-निबन्धनेऽशुभव्यापारे प्रवर्तन्ते, इत्यसत्प्रवर्तनं तस्मद्भोजनस्य नरकगति-हेतुत्वमेव” —उत्तराध्ययन. अ. १४ गा. १२ टीका
२. स्थानांगसूत्र स्थान ४, उ. ४, सू. ६२८ : “चउहिं ठणोहिं जीवा नेरइयाउयत्ताए कम्मं परीते, तं जहा—भहारंभत्ताए, महापरिग्रहयाए, पंधिदियवहेणं, कुण्णिमाहारेणं।”

है। (४) पापोत्पादक भाषा कदापि नहीं बोलनी चाहिए; क्योंकि वह पापकर्मबन्धजनक तथा कटु फलदायिनी होती है। (५) दो हजार भिक्षुओं को पूर्वोक्त रीति से जो प्रतिदिन मांस-भोजन कराता है; उसके हाथ रक्त लिप्त होते हैं, वह लोकनिन्द्य है, क्योंकि मांस से भोजन तैयार होता है, -पुष्ट भेड़े को मारकर नमक-तेल आदि के साथ पकाकर मसालों के बघार देने से, वह भी हिंसा जनित अभक्ष्य खाद्य है। (६) जो बौद्ध भिक्षुक यह कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से गृहस्थ द्वारा तैयार किया हुआ आमिषभोजन करते हुए भी हम पापलिप्त नहीं होते, वे पुण्य-पाप के तत्त्व से अनभिज्ञ, अनार्य प्रकृति के, अनार्यकर्मी, रसलोलुपी एवं स्व-पर-वञ्चक हैं। अतः मांस हिंसाजनित, रौद्रध्यान का हेतु, अपवित्र, निन्द्य, अनार्यजन-सेवित एवं नरकगतिरूप घोर फल देने का कारण है। मांसभोजी आत्मार्थी नहीं होता, वह आत्मद्रोही, आत्महन्ता, और आत्मकल्याणद्वेषी है। वह मोक्षमार्ग का तो दूर रहा, नीतिन्यायमार्ग का भी आराधक नहीं है।^१

दशवैकालिक सूत्र में कर्मबन्ध के मूल कारणभूत कषाय का सामान्यफल बताते हुए कहा गया है— क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों का निग्रह न किया जाए तो ये पुनर्जन्म की जड़ों को सींचते हैं।^२

इस प्रकार विभिन्न धर्मशास्त्रों में उल्लिखित पुण्य-पापकर्मों के प्राप्त होने वाले फल को समझना चाहिए, और उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

१. सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. २; अ. ६, सू. २६ से ३८ तक मूलपाठ व विवेचन का सारांश, पृ. १७७ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)
२. “चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति भूलाई पुण्भवस्स।” —दशवैकालिक ८/३९

कर्मा के विपाक : यहाँ भी और आगे भी

सुखद-दुःखद फलों का मूल स्रोत: पुण्य-पाप कर्म

भारतीय जन-जन के मन में यह धारणा बद्धमूल है कि प्राणिमात्र को सुख और दुःख के रूप में जो फल मिलता है, उसका मूल स्रोत पूर्वकृत पुण्यकर्म और पापकर्म हैं। फिर भले ही वे पूर्वकृत कर्म इस जन्म में किये हुए हों, या पूर्वजन्म या जन्मों में किये हुए हों। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है।^१

पापकर्मों का दुःखद फल : अनेक रूपों में मिलता है

पापकर्मों के कारण बार-बार विविध दुर्गतियों और दुर्योगियों में जन्म-मरण का चक्र अबाधगति से चलता है। उन दुर्गतियों और दुर्योगियों में प्रायः दुर्बोधि, दुर्बुद्धि, दुश्चिन्ता, दुर्नीति एवं अज्ञानता तथा अन्धविश्वासग्रस्तता से वास्ता पड़ता है। आत्म-चिन्तन, आत्मनिरीक्षण, आत्महित, आत्म-विश्वास, आत्मा पर सुश्रद्धा और अनुप्रेक्षा का कोई अवसर नहीं मिलता, ऐसे अन्धकारपूर्ण जीवन में। पापों से परिपूर्ण जीवन के कुसंस्कार भी एक जन्म में नहीं, अनेकानेक जन्मों में जाकर बदलते हैं। सुसंस्कारों का पाथेय पाप-कर्म के पथ पर चलने वाले भावान्ध पथिकों को नहीं मिलता, न ही सुसंस्कारों और दुव्यसंन-मुक्ति के अभ्यास में उनकी रुचि और श्रद्धा जागती है।

उपनिषद् की भाषा में—“उनके लोक में ज्ञानसूर्य का प्रकाश नहीं होता, वे अज्ञान के अन्धतमसु से आवृत रहते हैं, वे आत्महन्ता हो जाते हैं, अर्थात्—बार-बार आत्मगुणों की, आत्मा के स्व-भावों की हत्या करते रहते हैं।”^२

ऐसे पापकर्म परायण लोगों को अपने कर्मों का दुःखद फल यहाँ भी कठोर मानसिक एवं कायिक तथा सामाजिक दण्ड के रूप में मिलता है और आगामी लोक या जन्म में भी कई गुना दुःख एवं त्रासपूर्ण दण्ड मिलता है। इतना कठोर दण्ड मिलने के

१. 'कर्म च जाइ-मरणस मूल'

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२/७

२. असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्मह्नो जनाः॥

बावजूद भी पापकर्मों सुधरता नहीं, बार-बार जूआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, शिकार, वेश्यागमन और परस्त्रीगमन इत्यादि दुर्व्यसनों में फँसकर पापकर्मों में वृद्धि करता रहता है।

पुण्यकर्मों के उपार्जकों को उनका अनेकविध सुखद फल एवं आध्यात्मिक विकास भी प्राप्त होता है।

इसके विपरीत पुण्यकर्मों का उपार्जन करने वाले व्यक्तियों को अपने पुण्यकर्मों का सुखद फल इस लोक में भी मिलता है और आगामी भवों में भी। पुण्यकर्मकर्ता को बोधि, सुबुद्धि, नीति-न्याय-पथगामिता एवं सम्यक्दृष्टि भी मिलती है। सुसंस्कारों का पाथेय भी प्राप्त होता है तथा आध्यात्मिक विकास करने का अवसर भी। तथा पूर्वकृत पुण्यराशि से प्राप्त मानवजन्म आदि की उपलब्धि को वे भोग-वासनाओं में अपव्यय न करके दान, शील, तप, भाव, परोपकार, सेवा, दया आदि सत्कर्मों में नियोजित करके शुभकर्मों की राशि में वृद्धि करते हैं, और यदा-कदा कर्मों का निर्जरण एवं संवर भी करते हैं।

दुःखविपाक और सुखविपाक के कथानायकों के जीवन में क्या विशेषताएँ और अन्तर हैं ?

यद्यपि पापाचारी और पुण्याचारी दोनों ही प्रकार के जीवों को अनेकानेक भवों में जन्म-मरण की घाटियों से पार होना पड़ा है, और अन्त में जाकर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यजन्म मिलने पर उत्तम संयमाचरण से मुक्ति प्राप्त हुई है, परन्तु पापाचारी को प्रायः दुःखद और दुर्बोधि के संयोग मिलते रहे हैं, और पुण्याचारी को सुखद और सुबोधि के संयोग मिले हैं, यही दोनों के जीवन में अन्तर रहा। इसी कारण एक का नाम दुःखविपाक और दूसरे का सुखविपाक रखा गया है।

दुःखविपाक में पापकर्मों के कारण प्राप्त दुःखदायक फलों का वर्णन

समवायांग सूत्र के १२वें समवाय में इन दोनों (दुःखविपाक और सुखविपाक) सूत्रों में वर्णित विषयों का परिचय देते हुए कहा गया है—“दुःखविपाकों (के १० अध्ययनों) में प्राणातिपात (हिंसा), असत्य, चोरी, परस्त्रीगमन, महातीव्रकषाय, इन्द्रिय-विषय-सेवन, प्रमाद, पापप्रयोग, और अशुभ अध्यवसायों (परिणामों) से संचित पापकर्मों के उन पापरूप अनुभागों-फलविपाकों का वर्णन किया गया है; जिन्हें नरकगति और विभिन्न तिर्यञ्चयोनियों में अनेक प्रकार के सैकड़ों संकटों की परम्पराओं से गुजरकर भोगना पड़ा। वहाँ की घाटियाँ पार करके मनुष्यभव में आने पर भी उन (पापाचारी) जीवों को (पूर्वकृत) पापकर्मों के शेष रहने से अनेकानेक पापरूप अशुभ

फल विपाक भोगने पड़े हैं। जैसे-वध (दण्ड आदि से ताड़न, वृषण-विनाश-नपुंसकीकरण), नासिका-कर्तन, कर्ण-कर्तन, ओष्ठ-छेदन, अंगुष्ठ छेदन, हस्तकर्तन, चरण-छेदन, नाख-छेदन, जिह्वा-छेदन, अंजनदाह (गर्म लोहे की सलाइयों से आँखें फोड़ना), कटागिन-दाह (चटाई लपेटकर जलाना), हाथी के पैरों तले कुचलवाना, फरसे आदि से शरीर को फड़वाना, रस्सों से बाँधकर वृक्ष पर लटकाना, त्रिशूल, डंडा, बेंत, लट्टी आदि से प्रहार करके शरीर को चूर-चूर करना, तपतपाते रांगे, शीशे एवं तेल से शरीर को अभिसिंचित करना, लोहे की भट्टी (कुम्भी) में पकाना, शीतकाल में अत्यन्त ठंडा पानी शरीर पर डालना, काष्ठ, हांडी आदि में पैर फंसाकर मजबूती से बांधना, भाले आदि शस्त्रों से छेदन-भेदन करना, शरीर की खाल उधेड़ना, वस्त्र लपेटकर तन पर तेल डालकर दोनों हाथों को जलाना, इत्यादि अतिदारुण, असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं। पापी जीवों द्वारा अनेक भवों में बांधे हुए पापकर्मों के दुःखद फलों (विपाकों) को भोगे बिना वे छूटते नहीं हैं, क्योंकि कर्मों के फलों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता है। हाँ, जिन्होंने चित्तसमाधिरूप धैर्य के साथ (समभाव से फल भोगने हेतु) कमर कस ली है, उनके पापकर्मों की शुद्धि भी तप संयम द्वारा हो जाती है।”

सुखविपाक में पुण्यकर्मों तथा धर्माचरण से प्राप्त सुखदायक फलों का वर्णन

अब सुखविपाकों का वर्णन पढ़िये—“जो मनुष्य शील (ब्रह्मचर्य या सदाचार), संयम, नियम, गुण (मूलगुण-उत्तरगुण) और तप (वाह्य एवं आभ्यन्तर) के अनुष्ठान में संलग्न हैं, जो अपने आचार का भलीभाँति पालन करते हैं, ऐसे सुविहित साधुओं (साधिव्यों) के प्रति अनुकम्पा प्रयोग (सेवाभक्ति) करते हैं, उनके प्रति त्रिकाल में शुद्ध श्रद्धा, बुद्धि रखते हैं, उन्हें निर्दोष आहार-पानी देते समय, देने से पूर्व और देने के पश्चात् हर्षानुभव करते हैं, उन्हें अत्यन्त सावधान मन से हितकर, सुखकर, एवं निःश्रेयस्कर उत्तम शुभ परिणामों से प्रयोगशुद्ध (उद्गमादि दोषों से रहित) आहार-पानी देते हैं; वे मनुष्य श्रेष्ठ पुण्यकर्म-राशि का उपार्जन करते हैं, बोधिलाभ को प्राप्त होते हैं और मनुष्य-नारक-तिर्यञ्च-देव गतियों में गमनसम्बन्धी अनेक (संसार) परावर्तनों को परीत (सीमित-अल्प) कर देते हैं। तथा जो अरति, भय, विस्मय, शोक और मिथ्यात्व-रूप शैल (पर्वत) से संकीर्ण (संकट) है, गहन अज्ञानान्धकाररूपी कीचड़ से परिपूर्ण होने से जिसे पार करना अत्यन्त दुष्कर है, जिसका चक्रवाल (जलपरिमण्डल) जरा-मरण-योनि रूप मगरमच्छों से संक्षुब्ध हो रहा है, जो अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों रूपी श्वापदों (क्रूर हिंसक प्राणियों) से अतिप्रचण्ड एवं भयंकर है, ऐसे

१. देखें-समवायांग समवाय ५ सू. ५५३ में “दुहधिवानेसु णं पाणाइवाय सोहणं तस्स वाधे हुज्जा”, तक का मूल पाठ और अनुवाद, (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १८९

अनादि, अनन्त इस संसार-समुद्र को वे कैसे-कैसे पार करते हैं? और किस प्रकार देवगणों में आयु का बंध करते हैं, तथा किस प्रकार सुरगणों के अनुपम विमानोत्पन्न सुखों का अनुभव करते हैं; तत्पश्चात् कालान्तर में वहाँ से च्यवकर इसी मनुष्यलोक में आकर दीर्घ आयु, परिपूर्ण सुडील शरीर, उत्तम रूप, उत्तम जाति-कुल में जन्म लेकर, किस प्रकार के आरोग्य, बुद्धि-मेधा से सम्पन्न होते हैं? मित्र, ज्ञाति, स्वजन, धन, धान्य, वैभव आदि से सम्पन्न, सारभूत सुखसम्पदा के समूह से समृद्ध अनेक प्रकार के कामभोग-जनित सुखरूप विपाक (फलभोग) से प्राप्त उत्तम सुखों की अविच्छिन्न परम्परा से पूर्ण रहते हुए भी उन सुखभोगों को (अनासक्तिभाव से) भोगते हैं। उन भोगों में वे फँसते नहीं; तप संयम का मार्ग अपनाकर सर्वकर्म क्षय करने का पुरुषार्थ करते हैं, ऐसे पुण्यशाली जीवों का इस सुखविपाक में वर्णन किया गया है।

..... इस प्रकार शुभ-अशुभ कर्मों के बहुविध विपाकों (फलों) का वर्णन इस विपाक सूत्र में जिनेन्द्र भयवान् ने संसारी जीवों को संवेग उत्पन्न करने हेतु किया है।^१

विपाक सूत्र आदि में विभिन्न व्यक्तियों के पाप-पुण्य कर्मों के फलों का ही लेखाजोखा

पाप और पुण्यकर्मों के इन्हीं दुःखदायक और सुखदायक विपाकों (फलभोगों) का वर्णन विपाक सूत्र के अतिरिक्त अनुत्तरीपपातिक, निरयावलिका आदि आगमों में भी उन-उन व्यक्तियों के जीवन में घटित घटनाओं के आधार पर किया गया है। आगमों की वाणी सर्वज्ञ आप्त महापुरुषों की वाणी है। उनकी वाणी में कहीं सन्देह, संशय, अविश्वास या अप्रामाणिकता की कोई गुंजाइश नहीं है। अतः पापकर्मों तथा पुण्यकर्मों का कैसा-कैसा कटु-मधुरफल प्राप्त होता है, इसे आगमों में वर्णित आख्यानों के आधार पर हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

दुःखविपाक में पूर्वभव तथा इहभव में आचरित पापकर्मों तथा उनके फल का वर्णन

यह विपाकसूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध दुःखविपाक है। इसमें १० अध्ययन, दस पापकर्म व्यक्तियों के नाम पर से प्रतिपादित हैं। सभी अध्ययनों में व्यक्ति द्वारा पूर्वभव में आचरित विविध पापकर्मों के बन्ध एवं संचय का वर्णन है। तदुपरान्त आगामी जन्मों में उत्तरोत्तर उनके द्वारा कृत पापकर्मों के कटु एवं त्रासदायक फलों की प्राप्ति का भी रोमांचक वर्णन है।^२

१. देखें-समवायांग, समवाय ५ सू. ५५४ में "एतो य सुहविवागेसु णं सील-संजम-नियम" सुहविवागोत्तमेसु अणुवरय

२. (क) देखें, विपाक सूत्र की प्रस्तावना (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) पृ. १२

(ख) 'कम्मणामुदओ उदीरणा वा विवागो षाम।'

-धवला १४/५-६

दुष्ट एवं पापी गर्भ के प्रभाव से मृगारानी भी राजा की अप्रिय, अनिष्ट एवं अनचाही बन गई। जन्म हुआ तो पूर्वकृत पापकर्म के उदय से अन्धा, बहरा, लूला-लंगड़ा, और हुण्डक संस्थानी (गोलमटोल आकृतिवाला) हुआ। उसके शरीर में आँख, कान, नाक, हाथ-पैर आदि अवयवों का अभाव था, केवल उनके निशान थे। माता उसके मुँह के खड्डे में जो भी आहार देती वह रक्त और पीव बन जाता और सड़ता। जिस भूमिगृह में उसे रखा गया था, सारा बदबू मारता था। उस रुधिर और मवाद का वमन हो जाता और वह उसे भी भस्मक रोग के कारण अत्यासक्तिपूर्वक चाट जाता था।

इक्काई को मृगापुत्र के भव के बाद भी लाखों बार जन्म लेना पड़ा, सद्वोध नहीं मिला

यह था, इक्काई के भयंकर पापकर्मों का फल! फिर उसे सद्वोध कैसे मिलता? पापफल अत्यन्त दुःखपूर्ण था। उसके पश्चात् भी सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर ने कहा- एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों, तीर्थचों और नारकों में लाखों बार जन्म लेगा, फिर भी उसे सम्यक् बोध नहीं मिलेगा! अन्त में, सुप्रतिष्ठपुर में वह श्रेष्ठि कुल में पैदा होगा। वहाँ वह साधुधर्म अंगीकार करके देवलोक में देव होगा। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर तप संयम के प्रभाव से सिद्धि गति को प्राप्त करेगा।

उज्झितक के द्वारा गोवंश के नाश तथा वेश्यागमनादि कुकर्मों का दुःखद फल

इसका दूसरा अध्ययन 'उज्झितक' है। उसके पाप कर्मों के फल-विपाक की कथा भी रोमांचक है। पापकर्मपरायण भीम नामक कूटग्राह के पुत्र रूप में एक शिशु का जन्म हुआ। जन्म से पहले ही उसकी मां उत्पला को अनेक प्रकार की मदिरा के साथ पशुओं के स्तन, अण्डकोष, पूंछ, थुई, कान, नाक, जीभ, होठ आदि अंगों का मांस पकाकर सुसंस्कृत करके खाने को दोहद उत्पन्न हुआ। उसके पति ने नगर की गौशाला के पशुओं के अंगों को काटकर सुरा के साथ मांस पकाकर खिलाया और उसका दोहद पूर्ण किया। जन्म के समय उसने बहुत कर्कश और त्रासदायक चीत्कार और कर्णकटु आक्रन्दन किया, जिससे नगर के पशु भयभीत और उद्विग्न होकर भागने लगे। इस कारण उसका नाम रखा गया—गोत्रास।

गोत्रास भी अपने पिता के मरने के बाद कूटग्राह बना। वह प्रतिदिन रात्रि के समय शस्त्रास्त्र सज्जित होकर गोमण्डप में जाता और अनेक गौ आदि पशुओं के अंगोपांग काटकर ले आता। और उनका मांस पकाकर मदिरा के साथ प्रतिदिन सेवन करता था।

१. देखें, विपाक सूत्र श्रु. १ अ. १ मृगापुत्र का पूर्वभव और इस भव का वृत्तान्त।

मृगापुत्र का पूर्वभव : पापकर्मलीन इक्काई राठौड़

इसके प्रथम अध्ययन का नाम मृगापुत्र है। मृगापुत्र अपने दो जन्मों के पूर्व शतद्वारनरेश का प्रतिनिधि तथा विजयवर्धमान नामक खेत (खेड़ा) का शासक इक्काई राठौड़ था। वह अत्यन्त पापी, अधर्मी, पापकर्म प्रेरक, अधर्मनिष्ठ, अधर्मानुयायी, अधर्मदर्शी, अधर्मोत्तेजक एवं अधर्मचारी था। वह प्रत्येक दृष्टि से भ्रष्टाचारी और अधम शासक था। प्रजा का अधिक से अधिक शोषण, उसीड़न करने और उससे अधिकाधिक कर वसूलने, धन बटोरने, निरपराध प्रजाजनों पर झूठे आरोप लगाकर उन्हें तंग करने में अपनी शान समझता था। वह व्याजखाऊ और चोरी-लूट आदि करवा कर धन-संग्रह करने में तत्पर रहता था। अहर्निश पापकर्मों में ही वह तल्लीन रहता था।

पापकर्मों का तात्कालिक फल : सोलह असाध्य रोगों की उत्पत्ति, बाद में नरकगति

इन पापकर्मों का उसे तात्कालिक फल यह मिला कि उसी जन्म में उसके शरीर में एक साथ १६ कष्टकर असाध्य एवं भयंकर रोग उत्पन्न हुए। बहुत-से चिकित्सकों और वैद्यों से उसने औषधोपचार करवाया। परन्तु कोई भी चिकित्सक उसके एक भी रोग को मिटा नहीं सका। इन रोगों की पीड़ा के कारण वह हाय-हाय करता हुआ कुम्भीत मरा। मरकर अपने पापकर्मों का फल भोगने के लिए प्रथम नरक में नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

मृगापुत्र के भव में भी गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक असह्य व्याधि, पीड़ा और ग्लानि का दुःख भोगा

सुदीर्घकाल तक अपार दुःख और यातनाएँ भोगने के पश्चात् वह मृगाग्राम के नरेश विजयक्षत्रिय के पुत्र के रूप में जन्मा। नाम रखा गया था—मृगापुत्र। जब से वह अपनी माता मृगारानी के गर्भ में आया, तभी से रानी के शरीर में असह्य पीड़ा होने लगी।

- (ग) विविधो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वाक्त कषाय-तीव्रमन्दादि भावाद्भवविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः, अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षण-निमित्त भेदजनित-वैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः।
—सर्वार्थसिद्धिं ८/२१/३९८/३
- (घ) विपाकः पुण्य-पापरूपकर्म-फलं तद्वतिपादनपरं श्रुतमागमो विपाकश्रुतम्।
विपाकसूत्र—अभयदेव वृत्ति।
- (ङ) विपचनं विपाकः शुभाशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः तद्वतिपादकं श्रुतं विपाकं श्रुतं।
—नन्दी, हरिभद्रीयावृत्ति पृ. १०५
- (च) समणे भगवं महावीरे अतिमराइयसि अञ्जयणाई कल्लाणफलविवागाई अञ्जयणाई पावफलविवागाई वागरित्ता सिद्धे बुद्धे जाव पहीणे।
—समवायांग समवाय ५५.

इस प्रकार वह क्रूरकर्मा एवं पाप विद्या निपुण गोत्रास दीर्घकालिक आयुष्य पूर्ण करके मारकर दूसरे नरक में नारकरूप में उत्पन्न हुआ।^१

उज्जितक के भव में माता-पिता के वियोग, तिरस्कार तथा अपमान का दुःख भोगना पड़ा

नरक का यातनापूर्ण दीर्घ जीवन बिताकर वह विजयमित्र सार्थवाह की पत्नी सुभद्रा के उदर से पुत्र रूप में जन्मा। उज्जितक नाम रखा। यहाँ भी पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप उसके पिता-माता अकाल में ही कालकवलित हो गए। उनकी मृत्यु के बाद नगररक्षकों ने उसके पिता के ऋणदाता को उसका घर सौंपकर उज्जितक को घर से निकाल दिया।

आवारा भटकता हुआ उज्जितक कुव्यसनों में रत रहने लगा

तत्पश्चात् उज्जितक राजमार्गों, सामान्य मार्गों, जूआघरों, वेश्यालयों, मदिरालयों आदि में बेरोकटोक आवारा भटकने लगा। वह निरंकुश एवं स्वच्छन्दाचारी होकर कुछ ही दिनों में चोरी, जुआ, वेश्यागमन, और परस्त्रीगमन में पूर्णतः रत हो गया। इसके पश्चात् एक बार वह वाणिज्यग्राम की प्रसिद्ध गणिका कामध्वजा पर मोहित और आसक्त होकर उसी के साथ विषय-भोगों का उपभोग करता हुआ जीवन यापन करने लगा।

वेश्यासक्त उज्जितक को पापकर्मों के फलस्वरूप दुर्दशापूर्ण मृत्युदण्ड मिला

वहाँ का राजा बलमित्र अपनी रानी को योनिशूल से पीड़ित देख नगरवधू कामध्वजा के यहाँ से उज्जितक को निकलवाकर स्वयं उसके साथ विषयभोग भोगने लगा। उज्जितक वहाँ से निकला तो सही, किन्तु कामध्वजा पर उसकी गहरी आसक्ति के कारण रातदिन उसी को पुनः पाने की धुन में रहने लगा और ऐसा मौका दूँदने लगा, जब विजयमित्र नृप की उपस्थिति उसके यहाँ न हो। एक बार उसे ऐसा मौका मिल ही गया। एक दिन बलमित्र राजा कामध्वजा के यहाँ पहुँचा, उसने वहाँ उज्जितक को देखा तो क्रोध से आगबबूला होकर उसने उसी समय उसे गिरफ्तार करवाया और लाठी, मुक्के, लातों और थप्पड़ों के प्रहारों से पीट-पीटकर उसका कचूमर निकाल दिया। फिर उसके दोनों हाथ उलटे बांध दिये गए और नाक-कान कटवाकर उसके गले में लाल पुष्पमाला डलवाई। उसका शरीर गेरुए रंग से पोता गया। और उसे वध्यभूमि ले जाया जा रहा था। आरक्षक उस पापात्मा पर पत्थरों और चाबुकों से प्रहार कर रहे थे।^२ तिल-तिल करके

१. देखें, वही श्रु. १ अ. २ में उज्जितक के पूर्वभव तथा इहभव का वृत्तान्त।

२. देखें-विपाकसूत्र श्रु. १ अ. २, में उज्जितक के भव का वृत्तान्त और उसके भविष्य का कथन

उसका मांस काटा जा रहा था, और उसे ही उस मांस के छोटे-छोटे टुकड़े खिलाये जा रहे थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के सामने हर चौराहे पर फूटा ढोल बजाकर घोषणा की जा रही थी—“यह उज्झितक पापात्मा अपने ही दुष्कृत्यों के कारण ऐसी दुर्दशा पूर्ण सजा पा रहा है।” इसका भविष्य भी ऐसा है वह मृगापुत्रवत् तिर्यञ्च, नरक आदि के लाखों भवों में भ्रमण करेगा। अन्त में, चम्पानगरी में श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होकर उसी भव में अनगारधर्म ग्रहण करेगा, फिर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर संयम पालन करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

यह है—उज्झितक के पूर्वजन्म के और इस जन्म के पापकर्मों का भयंकर फल जिसे उसको जबरन भोगना पड़ा।

अभग्नसेन पूर्वभव में : निर्णय नामक अण्डों तथा मद्य का व्यापारी एवं सेवनकर्ता

तृतीय अध्ययन अभग्नसेन, चोर सेनापति का है। वह पूर्वजन्म में पुरिमताल नगर में निर्णय नाम का अण्डों का व्यापारी था। मोर, मुर्गी, कौवी आदि जलचर, स्थलचर, खेचर जीवों के अण्डों का संग्रह करके अपने कर्मचारियों द्वारा अण्डवणिकों को मुहैया कराता था। वे उसे अपनी-अपनी दुकानों में पकाकर विविध प्रकार की मदिरा के साथ ग्राहकों को खिलाते-पिलाते थे। स्वयं निर्णय भी पंचविध मद्यों के साथ अण्डे पकाकर खाता था।

अभग्नसेन के भव में नागरिकों को त्रस्त करने तथा कुव्यसनियों के पृष्ठ पोषक बनने का कुपथ्य

इस प्रकार का भयंकर पापकर्म उपार्जित करके वह दीर्घकाल के पश्चात् मरकर सात सागरोपम स्थिति वाली तृतीय नरकभूमि में नारकरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके वह उसी पुरिमताल के बाहर शालाटवी नामक चौरपल्ली में विजय नामक चोर सेनापति के पुत्र के रूप में पैदा हुआ। उसका नाम अभग्नसेन रखा गया। पिता की मृत्यु के बाद अभग्नसेन को उसके ५०० चौरसहायकों ने चोर सेनापति पद दिया। वह भी अपने पिता की तरह महाअधर्मी, अधर्माचारी एवं मारो, काटो, छेदो, भेदो इस प्रकार के उद्गार निकालता हुआ अनेक ग्राम-नगरों का विनाश करने लगा। पशुओं का अपहरण करने, पथिकों को लूटने, चोरी करने, नागरिकों को संत्रस्त करने में वह निष्णात बन गया था। वह अनेक चोरों, गठकटों, परस्त्रीलम्पटों, जुआरियों, ठगों, नकटों, लूतों, लगड़ों आदि लोगों का संरक्षक बना हुआ था।

१. देखें—विपाकसूत्र श्रु. १ अ. ३ में अभग्नसेन के पूर्वभव और इहभव का वृत्तान्त

ग्रामवासियों की पुकार पर अभग्नसेन को विश्वास में लेकर जीवित पकड़ा और वधादेश दिया

एक बार बहुत-से ग्रामों के विनाश से संतप्त ग्रामवासियों ने पुरिमताल नगर नरेश महाबल से सम्मिलित रूप से सविनय प्रार्थना की—“चोर सेनापति अभग्नसेन के द्वारा होते हुए ग्रामविनाश को बंद करवाकर हमें सुरक्षित करने की कृपा करें।”

राजा ने क्रोधाविष्ट होकर अपने दण्डनायक को बुलाकर चोरपत्नी शालाटवी को नटभ्रष्ट करके चोर सेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़ लाने की आज्ञा दी। परन्तु दण्डनायक अपने दलबल सहित शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर प्रस्थान करे, उससे पूर्व ही अपने गुप्तचरों द्वारा पता लगने से चोर सेनापति भी अपने चोर साथियों सहित शस्त्रास्त्र सुसज्जित होकर दुर्गम पथ वाले बीहड़ में छिप गया। उधर से दण्डनायक भी उसकी खोज करता हुआ, वहाँ आ पहुँचा। दोनों दलों में घमासान युद्ध हुआ। चोर सेनापति के वीर सैनिक इस प्रकार से लड़े कि दण्डनायक दल के छेके छुड़ा दिये। उसके अनेक वीर हताहत हो गए। दण्डनायक को हतप्रभ कर दिया। दण्डनायक वहाँ से अपनी जान बचाकर भागा। पुरिमताल नरेश को अपनी हार की कथा सुनाई।

महाबल नृप ने साम, दाम और भेदनीति अपनाई। चोर सेनापति को सामनीति से कूटाकारशाला में बुलवाया। उसका सत्कार सम्मान किया। उसे राजा के योग्य भेंट दी। खूब खिलाया-पिलाया। वह जब विश्वस्त हो गया तो एक दिन राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर अभग्नसेन को जीवित पकड़ लाने और भयंकर रूप से वध करने का आदेश दिया।^१

बुरी तरह से प्रताड़ित करते हुए शूली पर चढ़ाया गया

राजाज्ञानुसार कौटुम्बिक पुरुषों ने नगर के सभी द्वारों को बंद करके चोर सेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़ कर नरेश के समक्ष उपस्थित किया। फिर उसके दोनों हाथ उलटे बांध दिये। और नगर के प्रत्येक चौराहे पर उसे चाबुक आदि के प्रहारों से प्रताड़ित करते हुए उसके शरीर से मांस काट काट कर उसे खिलाने और उसी का रुधिर निकालकर उसे पिलाने लगे। पहले चौराहे पर उसके चाचाओं को उसके आगे करके मारते हैं, दूसरे चौराहे पर चाचियों को उसके सामने करके, तीसरे चौराहे पर उसके ताउओं को, चौथे चौराहे पर उसकी ताइयों को, पांचवें चौराहे पर पुत्रों को, छठे चौराहे पर पुत्रवधुओं को, सातवें पर उसके दामादों को, आठवें पर उसकी पुत्रियों को, नौवें चौराहे पर पीत्रों व दौहित्रों को, दसवें पर पीत्रियों व दौहित्रियों को, ग्यारहवें पर

१. देखें, धिवाकशूत्र थु. १ अ. ३ में अभग्नसेन का वृत्तान्त, पृ. ५२

पीत्रियों व दीहित्रियों के पतियों को, बारहवें पर पीत्रों और दीहित्रों की पत्नियों को, तेरहवें पर फूफाओं को, चौदहवें पर बुआओं को, पन्द्रहवें पर मीसाओं को, सोलहवें पर मौसियों को, सत्रहवें पर मामियों को, अठारहवें चौराहे पर शेष मित्र, ज्ञाति, स्वजन सम्बन्धी और परिजनों को चोर-सेनापति अभग्नकुमार के आगे करके मारते हैं। इस प्रकार प्रताड़ित एवं अपमानित करके सबके सामने दिन में शूली पर चढ़ाया। यों अभग्नसेन पूर्वोपार्जित पापकर्मों के फलस्वरूप नरकतुल्य घोर वेदना अनुभव करता हुआ मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ।^१

अभग्नसेन का भविष्य

अभग्नसेन के भविष्य के बारे में पूछने पर भगवान् ने कहा—प्रथम नरक से निकल कर वह मृगापुत्र के समान अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा। यहाँ तक कि वह पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में लाखों बार जन्म-मरण करेगा। फिर वहाँ से निकल कर वाराणसी नगरी में सूअर के रूप में उत्पन्न होगा। एक दिन शिकारी उसे मार डालेगा। तत्पश्चात् वह वाराणसी में ही श्रेष्ठी कुल में उत्पन्न होगा। बाल्यावस्था पार करके युवावस्था में आते ही प्रव्रजित होकर संयम की आराधना करके यावत् निर्वाणपद प्राप्त करेगा। सर्व कर्म मुक्त होगा। जन्म मरण का अन्त करेगा।

छणिक के भव में विविध पशुओं के मांस का पापपूर्ण व्यापार करने का दुष्फल

चौथा शकट नामक अध्ययन है। शकट पूर्वभव में छगलपुर नगर का छणिक नामक छागलिक था। वह बकरो आदि का मांस बेचकर आजीविका करने वाला कसाई था। उसने कई बाड़ों में सी-सी तथा हजार-हजार की संख्या में बकरो, भैंसों, बैलों, रोझों, खरगोशों, हिरणों, मृगशिशुओं, सूअरों, सिंहों, मयूरों आदि पशु-पक्षियों को बाँधकर रखे थे। उनकी रखवाली के लिए उसने कई नौकर रखे थे। कई ऐसे भी नौकर रखे थे, जो बकरो, महिषों आदि के मांसों को तवों पर तथा कड़ाहों, हांडों एवं लोहे के बर्तनों में डालकर तलते, भून्ते और पकाते थे। और मांसाहारी ग्राहकों को बेच देते थे। छणिक स्वयं भी पंचविध मद्यों के पान के साथ मांसों का सेवन-आस्वादन करता था। इस प्रकार छणिक ने मांसाहार, मद्यपान करना-कराना अपना कर्त्तव्य बना लिया था। ये ही पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ—(कर्म) उसके जीवन की प्रधान अंग, मुख्य-कर्म बन गयी थीं। यही उसकी पाप-विद्या और पाप-समाचारी बन गई थी। इस प्रकार छणिक बहुत क्लेशो-त्पादक, कालुष्यपूर्ण एवं अतिक्लिष्ट पापकर्मों का उपार्जन करके ७०० वर्ष की लम्बी आयु भोगकर यथाकाल वहाँ से मरकर चतुर्थ नरक में नारक रूप में उत्पन्न हुआ।

१. वही, अ. ३ अभग्नसेन का वृत्तान्त पृ. ४३-४४

पापकर्म के फलस्वरूप शकट की दुर्गति

चतुर्थ नरक का आयुष्य पूर्ण करके वह साहंजनी नगरी में सुभद्र सार्थवाह की भद्रा नामक पत्नी की कृषि से उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया 'शकट'। पापकर्म के फलस्वरूप माता-पिता दोनों की मृत्यु हो जाने पर राजपुरुषों ने शकट को घर से निकाल दिया। अब वह जूआघरों, वेश्यालयों, मदिरालयों आदि स्थानों में आवारा एवं बेरोकटोक घूमने लगा।

गणिका सुदर्शना में आसक्ति, निष्कासन करने पर भी पुनः गाढ़ी प्रीति

साहंजनी नगरी की प्रसिद्ध गणिका सुदर्शना के साथ उसकी गाढ़ी प्रीति हो गई। उसके साथ कामभोग-सेवन करता हुआ वह वहीं डेरा डाले पड़ा रहता था। एक बार सिंहगिरि राजा के अमात्य सुषेण ने शकट को सुदर्शना गणिका के घर से निकलवा दिया, उस गणिका को अपनी प्रेमिका बनाकर सुषेण ने अपने घर में पत्नी के रूप में रख लिया और उसके साथ कामभोग भोगने लगा। शकट भी रात-दिन इस गणिका को पाने की धुन में बार-बार उसके आवासगृह के आसपास मंडराता रहता था। एक दिन मौका पाकर वह सुदर्शना गणिका के घर में प्रविष्ट हो गया और उसके साथ पुनः पूर्ववत् कामभोग भोगने लगा।

पापकर्म के कारण शकट की दुर्दशापूर्ण मृत्यु

एक दिन वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर सुषेण मंत्री सुदर्शना गणिका के आवासगृह पर आया। आते ही उसने शकट को सुदर्शना गणिका के साथ रमण करते हुए देखा तो एकदम क्रोधाविष्ट हो गया और अपने पुरुषों से शकट को पकड़वाकर डंडों, लाठियों, बेंतों, मुक़्कों, लातों और कोहनियों से उसे पिटवा-पिटवाकर उसका कचूभर निकाल दिया। उसके दोनों हाथ पीठ की ओर बांध दिये और राजा महच्चन्द्र के समक्ष उसे प्रस्तुत किया।^१

महच्चन्द्र राजा ने सुषेण मंत्री की इच्छा पर उसे दण्ड देने का काम छोड़ दिया। सुषेण मंत्री ने शकट और सुदर्शना गणिका का वैसा ही हुलिया बनवा दिया, जैसा उज्जितक का बनाया था। और उसी प्रकार उसको और गणिका को प्रत्येक चौराहे पर कोड़ों से पीटा जाता, उनका मांस काट-काटकर उन्हें ही खिलाया जाता।

इस प्रकार शकट को अपने पूर्वोपार्जित पापकर्मों का दुःखद फल लोहे की तपतपाती अतिगर्म स्त्री-प्रतिमा से आलिंगन कराने के रूप में मिला।

१. देखें-दुःखविपाक श्रु. १ अ. ४ में शकट के पूर्वभव का तथा उत्तरभव का वृत्तान्त पृ. ५९, ६०

यहाँ से मरकर वह प्रथम नरक में नारकरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ दीर्घकाल तक घोर यातनाएँ भोगकर राजगृह नगर में दोनों चाण्डालकुल में जन्मे। पुत्र का नाम रखा शकट कुमार और पुत्री का नाम रखा सुदर्शना।

शकटकुमार पुनः बहन के साथ दुराचार सेवन के पापपूर्ण पथ पर

यौवन-अवस्था में युवक शकटकुमार यौवन, रूप एवं लावण्य से परिपूर्ण अपनी नवयौवना बहन सुदर्शना के रूप पर मोहित होकर उसके साथ ही अनाचार सेवन करने लगा।

शकटकुमार का भविष्य भी पापपूर्ण

शकटकुमार का भविष्य बताते हुए शास्त्रकार ने कहा—मनुष्यभवं में यह शकटकुमार कूटग्राह (कपटपूर्वक जीवों को फंसाकर मारने वाला), महाअधर्मी और दुष्प्रत्यानन्द बनेगा। इस प्रकार घोर पापकर्मों का उपार्जन करके वह प्रथम नरक में नारकरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकल कर इक्काई, उज्जितक के समान शकटकुमार का जीव भी दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण करेगा, यावत् वह पृथ्वीकाय आदि में लाखों बार उत्पन्न होगा।

लाखों भव करने के पश्चात् शकट का भविष्य उज्ज्वल होगा

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह वाराणसी में मत्स्य रूप से उत्पन्न होगा। एक दिन मत्स्यघातक उसका वध कर डालेंगे। मरकर वह उसी नगरी में एक श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करके वह संसार विरक्त होकर अनगार बनेगा। चारित्र्य पालन के फलस्वरूप वह सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देव होगा। वहाँ से च्यवकर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ साधुधर्म का पालन करके समस्त कर्मों से मुक्त, सिद्ध बुद्ध होगा, सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

यह है—शकटकुमार के जीवन में पूर्वजन्मकृत पापकर्मों के कटुफल का ज्वलन्त उदाहरण!

राज्यशान्ति के लिए अनेक बालकों के हृदय के मासपिण्ड को होमने वाला महेश्वरदत्त

इसके पश्चात् पंचम अध्ययन बृहस्पतिदत्त का है। उसके पूर्वभव और बाद के भवों का जीवन भी पापपूर्ण रहा।

उसके पूर्वभव का वृत्तान्त इस प्रकार है—सर्वतोभद्र नामक समृद्ध नगर के राजा जितशत्रु का राज-पुरोहित महेश्वरदत्त था। वह अत्यन्त क्रूरहृदय था। वह राज्य की शक्ति (बल) एवं वृद्धि के लिए प्रतिदिन क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के एक-एक

बालक को पकड़वाता और जीतेजी उनके हृदय से मांसपिण्ड निकलवाता, फिर राजा के निमित्त उनका शान्तिहोम किया करता था। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो-दो बालकों के, चार-चार मास में चार-चार बालकों के तथा प्रति छह-छह मास में आठ-आठ बालकों के, तथा प्रतिवर्ष सोलह-सोलह बालकों के हृदयों के मांसपिण्डों को निकलवाता, और उनसे शान्तिहोम किया करता था।

जब-जब जितशत्रु राजा का^१ किसी शत्रु राजा के साथ युद्ध होता, तब महेश्वर-दत्त पुरोहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के १०८-१०८ बालकों को पकड़वाता और उनके कलेजों का मांसपिण्ड निकलवाकर जितशत्रु राजा की विजय के निमित्त शान्तिहोम करता था। उसके प्रभाव से जितशत्रु राजा शीघ्र ही शत्रु का विध्वंस कर देता या उसे भगा देता था। इस प्रकार के क्रूर कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, क्रूर कर्मों में प्रधान, विविध पापकर्मों को संचित कर ३ हजार वर्ष का परम आयुष्य भोगकर पांचवें नरक में उत्कृष्ट १७ सागरोपम की स्थिति वाले नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

बृहस्पतिदत्त को परस्त्रीगामिता का कटुफल मिला

तदनन्तर महेश्वरदत्त पुरोहित का वह पापिष्ठ जीव पंचम नरक से निकल कर कौशाम्बी नगरी में सोमदत्त पुरोहित की वसुदत्ता भार्या की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पुत्र का नाम रखा गया—बृहस्पतिदत्त। कौशाम्बी के राजा शतानीक का पुत्र उदयनकुमार उसका हमजोली मित्र था। ये दोनों एक ही समय में जन्मे, एक साथ बढ़े और बाल्यक्रीड़ा भी साथ-साथ करते थे।

उदयन के अन्तःपुर में बेरोकटोक प्रवेश तथा पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध

शतानीक राजा के देहावसान के पश्चात् सभी राज्याधिकारियों ने मिलकर उदयनकुमार का राज्याभिषेक किया। राजा बनने पर उदयन नरेश ने बृहस्पतिदत्त को अपना पुरोहित बनाया। अतः बृहस्पतिदत्त पुरोहित्य कर्म करता हुआ सभी स्थानों, सभी भूमिकाओं में तथा अन्तःपुर में भी स्वच्छन्दतापूर्वक बेरोकटोक आवागमन करने लगा।

अब तो उसका इतना हौंसला बढ़ गया कि वह उदयननरेश के अन्तःपुर में समय-असमय, काल-अकाल, तथा रात्रिकाल और सन्ध्याकाल में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवेश करने लगा और धीरे-धीरे पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध कर लिया। अब तो पद्मावती देवी के साथ वह बेरोकटोक मनुष्य सम्बन्धी मनचाहे कामभोग सेवन करता हुआ समय-यापन करने लगा।

१. देखें, वही. शु. १ अ. ५ में बृहस्पतिदत्त का पूर्वभव का वृत्तान्त, पृ. ६६

परस्त्रीगमन के पापकर्म का इहलोक में ही दुष्फल मिला

एक दिन उदयन नरेश स्नानादि से निवृत्त होकर अलंकारों से विभूषित होकर पद्मावती देवी के महल में आया। वहाँ पद्मावती देवी के साथ बृहस्पतिदत्त पुरोहित को अनाचार सेवन करते देखा। देखते ही क्रोध से आगबबूला हो गया। तुरंत ही राजपुरुषों द्वारा पकड़वाकर लाठी, मुकों, लातों आदि से प्रहारकर उसका कचूमर निकाल दिया। फिर उसे वध्य-पुरुष के मण्डनों से मण्डित कर वध्यभूमि की ओर ले गए और शूली पर चढ़ाया।

बृहस्पतिदत्त का भविष्य अधिक अन्धकारमय, अन्त में उज्ज्वल

बृहस्पतिदत्त पुरोहित ६४ वर्ष की आयु में इस प्रकार मृत्यु प्राप्त कर एक सागरपम की स्थिति वाले प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकलकर वह क्रमशः सभी नरकों में, सभी तिर्यंच जीवों में तथा एकेन्द्रिय जीवों में लाखों बार जन्म-मरण करेगा। तत्पश्चात् हस्तिनापुर में मृग के रूप में जन्म लेगा। वहाँ वह पारधियों द्वारा मारा जाएगा। और इसी हस्तिनापुर में श्रेष्ठिपुत्र के रूप में जन्म लेगा। यथासमय सम्यक्त्व प्राप्त करेगा। वहाँ से मरकर वह सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ अनगार वृत्ति धारण कर संयम की शुद्ध आराधना करके सर्वकर्मों का अन्त करेगा, सिद्ध-बुद्ध-युक्त होगा।^१

छठा अध्ययन : नन्दिवर्द्धन का पूर्वभव : दुर्योधन चारकपाल के रूप में

इसके छठे अध्ययन का नाम नन्दिवर्द्धन है। इसका पूर्वभव का जीवन भी पापकर्मों से परिपूर्ण था। सिंहपुर नगर नरेश सिंहरथ के राज्य में दुर्योधन नामक महापापी क्रूरकर्मा एवं अधर्मिष्ठ चारकपाल (जेलर) या दण्डनायक था। उसे अपराधियों को दण्ड देने का कार्य सौंपा गया था। राज्य की ओर से उसे दण्ड देने के एक से एक बढ़कर कठोर एवं तीक्ष्ण साधन एवं शस्त्रास्त्र मिले हुए थे। दुर्योधन दण्डनायक राज्य के अनेक चोरों, परस्त्रीगामियों, गिरहकटों, राजा के शत्रुओं, ऋण लेकर वापस न देने वालों, शिशुघातकों, विश्वासघातकों, जुआरियों एवं धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों द्वारा पकड़वाकर कठोर दण्ड देता था।

दुर्योधन चारकपाल द्वारा किया गया अत्याचार पापकर्म परिपूर्ण

कितनों को ऊर्ध्वमुख (चित्त) गिराता और लोहे के डंडे से उनका मुख खोलकर खीलता हुआ तांबे का रस पिलाता, कईयों को रांगा, शीशा, चूर्णादि मिश्रित जल, अथवा

१. देखें, विपाकसूत्र शु. १, अ-५ में बृहस्पतिदत्त का वर्णन पृ. ६८, ६९

कलकल करता हुआ अत्युष्ण जल या क्षारयुक्त तेल पिलाता; कितनों का इन्हीं चीजों को अत्यन्त गर्म करवाकर अभिषेक कराता। कड़ियों को घित्त गिराकर घोड़े का मूत्र, हाथी का मूत्र, यावत् भेड़ों का पेशाब पिलाता। कड़ियों को अधोमुख गिराकर वमन कराता, तथा इन्हीं चीजों को खिला-पिलाकर कष्ट देता।

कितने ही अपराधियों को हथकड़ियों, बेड़ियों आदि से बन्धनबद्ध कराता, कड़ियों के शरीर को सिकोड़ता, मरोड़ता, कड़ियों को सांकलों से बांधता, कड़ियों के हाथ काट डालता, यावत् उनके अंगोपांगों को शस्त्रों से चीरता-फाड़ता था। कितनों को बेंतों, यावत् चावुकों से पिटवाता।

कई अपराधियों को ऊर्ध्वमुख गिराकर उनकी छाती पर शिला या भारी लकड़ रखवाकर ऊपर-नीचे करवाता और इस तरह उनकी हड्डियाँ चूर-चूर कर देता।

कितनों को चमड़े के तथा सूत के रस्सों से हाथों, पैरों को बंधवाता, फिर उन्हें कुँए में उल्टे लटकवाता, पानी में गोते खिलवाता। कई अपराधियों के अंगोपांग तलवारों, घुरों आदि से छिदवाकर उन पर क्षारमिश्रित तेलमर्दन करवाता।

कई अपराधियों के ललाट, कण्ठमणि, कोहनी, घुटनों, गड़ों आदि में लोहे की कीलें या बांस की सलाइयाँ ठुकराता और बिच्छू के कांटों को शरीर पर लगवाता।

कड़ियों के हाथ की अंगुलियों तथा पैर की अंगुलियों में मुद्गरों द्वारा सूझों चुभवाता तथा दागने के शस्त्रविशेषों को प्रविष्ट कराता और उनसे जमीन खुदवाता।

कई अपराधियों के अंग शस्त्रों एवं नेहरनों से छिलवाता तथा जड़सहित या जड़रहित कुशाओं से या गीले चमड़ों से उनके शरीर कसकर बंधवाता, फिर उन्हें धूप में लिटाकर उनके सूखने पर तड़तड़ शब्दपूर्वक उनका उत्पाटन करवाता।^१

दुर्योधन के पाप कर्मों का दुःखद फल : छोटी नरकभूमि में जन्म

इस प्रकार दुर्योधन चारकपाल इस प्रकार की क्रूरतापूर्ण प्रवृत्तियों को अपनी कर्म, विद्या एवं आचार बनाकर अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके ३१०० वर्ष का परम आयुष्प भोगकर उक्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थितिवाले छोटे नरक में नारकरूप में पैदा हुआ।^२

नन्दीषेण भव में भी पितृवध करके स्वयं राजा बनने का षड्यन्त्र रचा

फिर वह छोटे नरक से निकलकर मथुरानगरी के श्रीदाम राजा की रानी बन्धुश्री

१. आगे इस कथानक में उसका नाम नन्दीषेण लिखा गया है; तत्त्व केवलविद्यम्यम्।
२. देखें, विपाकसूत्र श्रु. १ अ. ६ में पापाचारी दुर्योधन के द्वारा आचरित क्रूरकर्मों का वृत्तान्त पृ. ७२, ७३, ७४, ७५

देवी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया नन्दीषेण। बाल्यावस्था पार करके जब उसने यौवनवय में पदार्पण किया तो उसे युवराज-पद से अलंकृत किया।

एक बार उसके मन में अपने पिता श्रीदाम नृप को मारकर स्वयं राजा बनने की हवस जागी। उसने राजा के परमविश्वस्त चित्र नामक नाई को बुलाकर कहा—राजा का क्षीरकर्म करते समय अगर उनकी गर्दन में उस्तारा घुसेड़ कर उनका काम तमाम कर दोगे तो तुम्हें मैं आधा राज्य दे दूंगा। फिर तुम उत्कृष्ट कामभोगों का उपभोग करते हुए चैन की बंसी बजाना। चित्र नाई ने युवराज का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

कुछ समय पश्चात् चित्र नाई के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ। राजा को विश्वस्त सूत्रों से इस षड्यंत्र का पता लग गया तो मुझे बुरी मौत मारेंगे। अतः भयभीत होकर एकान्त में राजा से सारी बातें सविनय कह दीं।

श्रीदाम नरेश ने युवराज का अत्यन्त गर्म रसों से राज्याभिषेक करवाकर मरवा डाला

श्रीदाम नरेश ने इस पर विचार करके अपने अनुचरों द्वारा नन्दीषेण को गिरफ्तार करवाया और राज्याभिषेक कराने की घोषणा करवाई। एक विशाल चौक में अग्नि के समान तपे हुए लोहे के सिंहासन पर उसे बिठाया। चारों ओर नर-नारियों के झुंड के झुंड दर्शक के रूप में खड़े थे। फिर राजा के आदेश से नन्दीषेण पर किसी राजपुरुष ने गर्मागर्म लोहे के रस से परिपूर्ण, किसी ने गर्म तांबे, रांगे, शीशे के रस से एवं अत्युष्ण जल से परिपूर्ण, तथा क्षारयुक्त जल से परिपूर्ण आग के समान तपे हुए कलशों से उसके मस्तक पर गर्म रस उड़ेलकर राज्याभिषेक किया।

तदनन्तर किसी ने लोहे की संडासी से पकड़कर अग्नि के समान तपतपाते लोहे के अठारह लड़ियों वाला हार, नौ लड़ियों वाला अर्धहार तथा तीन लड़ियों वाला हार पहनाए। किसी ने लोहे की गर्मागर्म लम्बी माला तथा किसी ने करधनी पहनाई। किसी ने मस्तक के पट्टवस्त्र अथवा आभूषणविशेष एवं किसी ने मुकुट पहनाया। इस प्रकार नन्दीषेण ने अपने पापकर्मों के फलस्वरूप यहीं महाभयंकर यातना भोगकर तड़फते हुए प्राणत्याग किया।

नन्दीषेण का अन्धकारपूर्ण भविष्य, अन्त में उज्ज्वल बनेगा

इसके भविष्य के विषय में भगवान् ने बताया— इस प्रकार नन्दीषेण (नन्दीवर्द्धन) कुमार ६० वर्ष की परम आयु भोगकर यहाँ से मरकर प्रथम नरक भूमि में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकल कर मृगापुत्र के लगान यावत् पृथ्वीकायिक आदि जीवों में लाखों बार उत्पन्न होगा। फिर हस्तिनापुर में एक मच्छ के रूप में उत्पन्न होगा, मच्छीमारों द्वारा वध

किये जाने पर वह इसी हस्तिनापुर में श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा और सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, कालधर्म पाकर सौधर्म स्वर्ग में देव बनेगा। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर संयम ग्रहण करेगा। उल्कृष्ट संयम के प्रभाव से वह सिद्ध-बुद्ध एवं सर्वकर्म-मुक्त होगा यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा।^१

उम्बरदत्त : पूर्वभव में धन्वन्तरी नामक कुशल राजवैद्य

इसके पश्चात् सप्तम अध्ययन उम्बरदत्त का है। उम्बरदत्त पूर्वभव में विजयपुर-नरेश कनकरथ का धन्वन्तरी नामक राजवैद्य था। वह कौमार भृत्य, शालाक्य, शाल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जांगुल, भूत विद्या, रसायन एवं बाजीकरण, इन आयुर्वेद के आठों अंगों का ज्ञाता था। साथ ही वह चिकित्सा में शिवहस्त, शुभहस्त एवं लघु-हस्त था।^२

धन्वन्तरी राजवैद्य द्वारा रोगियों को विविध मांस खाने का परामर्शरूप पापकर्म

वह धन्वन्तरी वैद्य झींपड़ी से लेकर महलों तक में रहने वाले गरीब, अमीर, सनाथ-अनाथ, सभी रोगियों की चिकित्सा करने से लोकप्रिय हो गया। किन्तु वह कई रोगियों को अनुपान में मत्स्य मांस खाने का, कितनों को कछुए के मांस खाने का, कड़्यों को ग्राह, मगर आदि जलचरों के मांस खाने का, कड़्यों को सुंसुमारों के मांस का तथा कड़्यों को बकरे आदि के मांस खाने का एवं प्रायः भेड़ों, गवयों, गायों, भैंसों, सूअरों, मुर्गों, खरगोशों आदि के मांस खाने का उपदेश एवं परामर्श देता था।

इसी प्रकार कई रोगियों को अनुपान में तित्तरों, बटेरों, लावकों, कबूतरों, मुर्गों एवं मोरों तथा इसी भाँति बहुत-से जलचरों, स्थलचरों, खेचरों आदि के मांस खाने का उपदेश-परामर्श देता था।

इतना ही नहीं, धन्वन्तरी वैद्य स्वयं भी अनेकविध मत्स्य-मांसों, मयूर-मांसों तथा अन्य बहुत-से जलचर, खेचर एवं स्थलचर जीवों के मांसों से, तथा मत्स्यरसों एवं मयूररसों में पकाये हुए, तले हुए, तथा भुने हुए मांसों के साथ पाँच प्रकार के मद्यों का आस्वादन, विस्वादन एवं परिभाजन करता (बाँटता) हुआ एवं बार-बार उपभोग करता हुआ जीवनयापन करता था।

१. देखें, वही नन्दीषेण (नन्दीवर्धन) के पूर्वभवाचरित पापकर्मों तथा इस भव में पितृवध करने के पापकर्म का फल, पृ. ७६, ७७
२. देखें, वही, श्रु. १, अ. ७, में उम्बरदत्त के पूर्वभव का वृत्तान्त : धन्वन्तरी राजवैद्य के रूप में, पृ. ८१

पापकर्म के फलस्वरूप छठी नरक में

इस प्रकार धन्वन्तरी वैद्य इन्हीं पाप कर्मों को अपने जीवन का आचरण, विद्या और अंग मान कर उपार्जित करके ३२०० वर्ष की परम आयु को भोगकर यहाँ से काल करके उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाली छठी नरकभूमि में नारकरूप से उत्पन्न हुआ।

उम्बरदत्त की मां को मद्यपान के साथ भोजन करने का दोहद उत्पन्न हुआ

वहाँ से निकलकर धन्वन्तरी वैद्य का जीव पाटलिखण्ड नगर के सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी गंगदत्ता की कुक्षि में पुत्ररूप में गर्भ में आया। लगभग तीन महीने के बाद एक विचित्र दोहद उत्पन्न हुआ कि “अनेक महिलाओं के साथ मैं पुष्करिणी में स्नान करूँ, फिर मंगल-कार्य सम्पन्न करके उन महिलाओं के साथ विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम तथा सुरा आदि मदिराओं के पान का आस्वादन-विस्वादन आदि करूँ।”

किसी दिन सागरदत्त सार्थवाह से आज्ञा लेकर गंगदत्ता ने पूर्वोक्त प्रकार से अपना दोहद पूर्ण किया और वापस घर लौटी।

उम्बरदत्त के मां-बाप मरने से उसे घर से निकाल दिया गया

नौ मास परिपूर्ण होने पर गंगदत्ता ने एक पुत्र को जन्म दिया। चूँकि यह बालक उम्बरदत्त यक्ष की मान्यता से हुआ था, इसलिए इसका नाम भी ‘उम्बरदत्त’ रखा गया।

मगर दुर्भाग्य से पूर्वोपार्जित पापकर्मवश उम्बरदत्त के पिता और माता का बचपन में ही वियोग हो गया। उम्बरदत्त को राजपुरुषों ने उज्जितकुमार की तरह घर से निकाल दिया और वह घर किसी अन्य को सौंप दिया।

उम्बरदत्त के शरीर में भयंकर १६ असाध्य रोगों की उत्पत्ति

फिर पूर्वजन्म में उपार्जित घोर पापकर्मों के फल के रूप में उम्बरदत्त के शरीर में कास, श्वास, कोढ़ आदि सोलह प्रकार के असाध्य रोग उत्पन्न हुए। इन रोगों के दुष्प्रभाव से उसके सारे शरीर में खुजली हो गई थी, हाथ, पैर और मुँह सूज गए थे। बबासीर और भगंदर रोग भी लग गए थे। हाथ-पैर की अंगुलियां सड़ गई थीं, नाक और कान भी गल गए थे। गलित कृष्ण रोग के कारण घावों तथा फोड़ों से रक्त और पीव झर रहा था। वह बार-बार रक्त, पीव और कीड़ों के कीरों को थूकता एवं वमन करता था। बार-बार इस कष्ट, पीड़ा और दुःख से कराहता था। उसके पीछे मक्खियों के झुंड के झुंड मंडराते थे। वह अत्यन्त फटेहाल, थिगली वाले चिथड़े तथा बिखरे हुए अस्त-व्यस्त बाल लिए तथा

हाथ में एक ठीकरा लिए घर-घर भीख मांगता रहता था। इस प्रकार घोर कष्टपूर्ण जीवन-यापन कर रहा था।

उम्बरदत्त का अन्धकारपूर्ण एवं अन्त में उज्ज्वल भविष्य

उसके भविष्य के विषय में पूछने पर भगवान् ने कहा—यह उम्बरदत्त ७२ वर्ष का परम आयुष्य भोगकर यथासमय मरकर प्रथम नरक में नारक रूप से उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से निकल कर पृथ्वीकायिक आदि जीवों में लाखों वार उत्पन्न होगा। तत्पश्चात् वह हस्तिनापुर में मुर्गे के रूप में उत्पन्न होगा। वहीं की दुराचारी मण्डली द्वारा मारा जाकर वह पुनः हस्तिनापुर में ही एक श्रेष्ठिकुल में जन्म लेगा। वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करेगा। वहाँ से मरकर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में जन्म लेगा। वहाँ से च्यवकर वह महाविदेहक्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ अनगारधर्म की यथाविधि आराधना करके समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध होगा। यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

आठवाँ अध्ययन : शौरिकदत्त के पूर्वभव का परिचय श्रीद रसोइये के रूप में

इसके अनन्तर आठवाँ अध्ययन में शौरिकदत्त का जीवन वृत्त है। पूर्वभव में वह नन्दिपुर नगर के 'मित्र' नामक राजा का श्रीद या श्रीयक नामक रसोइया था। वह महापापी यावत् क्रूर था। उसके वेतनभोगी मच्छीमार, ज्याध तथा बहेलिए आदि (पक्षिघातक) नीकर कोमल चमड़े वाली मछलियों यावत् वताकातिपताको (मत्स्य-विशेषों) तथा बकरों, भैंसों आदि पशुओं एवं तीतर, बटेर, मयूर आदि स्थलचर जानवरों का वध करके उसे (रसोइये को) देते थे। अन्य बहुत-से तीतर, मोर आदि पक्षी भी उसके पिंजरों में बंद रहते थे। श्रीद रसोइये के कई वैतनिक नीकर अनेक मयूर, तीतर आदि जीवित पक्षियों के पंख उखाड़कर उसे देते थे।

श्रीद रसोइये का मांसखण्डों को संस्कारित करने का क्रूरतापूर्ण कर्म

तत्पश्चात् वह श्रीद रसोइया उन अनेक जलचर, स्थलचर एवं खेचर जीवों के मांस के अत्यन्त छोटे, गोल, लम्बे तथा छोटे-छोटे टुकड़े (खण्ड) किया करता था। फिर उन टुकड़ों में कई टुकड़ों को बर्फ से पकाता था। कड़ियों को अलग रख देता, जिससे वे स्वतः पक जाते थे। कितने ही मांसखण्डों को धूप की गर्मी तथा हवा से पकाता था। फिर कई मांसखण्डों को काले और कड़ियों को लाल रंग के कर दिया करता था। फिर वह कई मांसखण्डों को छाछ से संस्कारित, कड़ियों को आँवलों के रस से भावित किया करता था। तदनन्तर कितने ही मांस खण्डों को तेल में तलता, कड़ियों को आग में भूनता तथा कई मांस के टुकड़ों को लोहे के शूल में पिरोकर पकाता था।

१. देखें, विपाक सूत्र शु. १ अ. ७ में उम्बरदत्त के पूर्वभव और वर्तमानभव का वृत्तान्त पृ. ८१, ८७, ८८

इस प्रकार वह मत्स्यमांसों, मृगमांसों, तथा तित्तिरमांसों के रूपों को यावत् मयूर मांसों के रसों को एवं अन्य बहुत से हरे सागों को तैयार करता था। फिर वह राजा मित्र के भोजनमण्डप में ले जाकर भोजन के समय उसे परोसता था। श्रीद रसोइया स्वयं भी अनेक जलचर, स्थलचर एवं खेचर जीवों के मांसों, रसों तथा हरे सागों के साथ, जो कि तले हुए, भुने हुए तथा शूलपक्व होते थे, छह प्रकार की सुरा आदि के साथ आस्वादन-विस्वादन आदि करता हुआ काल-यापन करता था।

इन पापकर्मों का दुःखद फल : छठी नरक भूमि में जन्म

इन्हीं पापकर्मों को करने में रचा-पचा, तथा इन्हीं कर्मों में पारंगत एवं उन्हीं कर्मों को प्रधानता देने वाला श्रीद रसोइया अत्यधिक पापकर्मों का बन्ध करके ३३०० वर्ष की परम आयु भोगकर छठी नरकभूमि में उत्पन्न हुआ।^३

मच्छीमार समुद्रदत्त के पुत्र के रूप में जन्म, यौवन में पितृवियोग

वहाँ से निकलकर श्रीद रसोइये का जीव शौरिकपुर के बाहर ईशानकोण में स्थित मच्छीमारों के पाड़े (मोहल्ले) के निवासी महाअधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द समुद्रदत्त की पत्नी समुद्रदत्ता के गर्भ में आया। समुद्रदत्ता मृतवत्सा थी, इसलिए शौरिकयक्ष की मनौती की। फलतः द्रोहद उत्पन्न हुआ। उसकी पूर्ति करने के बाद पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया शौरिकदत्त। बाल्यावस्था पार करके शौरिकदत्त ने यौवन में पदार्पण किया। दुर्भाग्य से एक दिन अकस्मात् उसके पिता का वियोग हो गया। उसके पश्चात् वह स्वयं मच्छीमारों का मुखिया बन गया।

शौरिकदत्त विविध मत्स्यों के मांस का व्यापारी बना

महापापी एवं क्रूर शौरिकदत्त मच्छीमार ने अपने कार्य के लिए अनेक वेतनभोगी नौकर रखे, जो छोटी नौकाओं द्वारा यमुना नदी में प्रवेश करते और घूमते फिर उसमें से निकलने वाले जलाशयों (झील या हृद) में मछली आदि जल जन्तुओं को पकड़ने के लिए भ्रमण करते, सरोवरों में से जल को निकालते, कभी धूहर आदि का दूध डालकर जल को दूषित करते तथा जल का विलोडन करते, जिससे मछली आदि जीव स्थान-भ्रष्ट एवं भयभीत हो जाते और आसानी से पकड़े जा सकते थे। कोमल मत्स्यों यावत् पताका-तिपताक मत्स्यविशेषों को प्रपंचुल, प्रपंपुल, मत्स्यपुच्छ, जृम्भा, त्रिसरा, भिसरा, विसरा, द्विसरा, हिल्लरि, झिल्लरि, लल्लिरि, जाल, गल, कूटपाश, वल्कबन्ध, सूत्रबन्ध और बालबन्ध इत्यादि मत्स्य आदि जीवों को पकड़ने के साधन विशेषों से पकड़ते और उन्हें

३. देखें, विपाक सूत्र शु. १ अ. ८ में शौरिकदत्त के पूर्वभव का पापपूर्ण जीवन वृत्तान्त पृ. ९१ से ९२ तक

नीकाओं में भरते। फिर नीकाएँ नदी तट पर लाते और उन मत्स्यादि को नीकाओं से बाहर निकाल कर एक जगह ढेर कर देते, फिर उन सबको धूप में सुखाने के लिए बालू पर फैला देते।

कई दूसरे वेतनभोगी नीकर धूप में सूखी हुई उन मछलियों के मांसों को शूल में पिरोकर आग में पकाते, भूनते, तेल में तलते। इस प्रकार उन्हें तैयार करके वे उन्हें बेचने के लिए राजमार्गों पर सजा कर रखते। इस प्रकार वे आजीविका करते हुए काल-यापन कर रहे थे। शौरिकदत्त भी स्वयं उन शूलाप्रोत किये हुए, भुने हुए, तले हुए मत्स्य-मांसों के साथ विविध प्रकार की सुगन्ध, सीधु आदि मदिगाओं का सेवन करता हुआ जीवन यापन कर रहा था।

शौरिकदत्त के गले में मछली का कांटा फँस गया : असह्य पीड़ा से आक्रान्त

एक दिन शूल द्वारा पकाये हुए, तले हुए एवं भुने हुए मत्स्यमांसों का भोजन करते हुए शौरिकदत्त मछलीमार के गले में मछली का कांटा फँस गया। इस कारण वह अतीव असाध्य वेदना का अनुभव करने लगा। अत्यन्त पीड़ित शौरिकदत्त ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—शौरिकपुर के तिराहों, चौराहों याचतू सभी मार्गों पर जाकर उच्च स्वर से घोषणा करो—“शौरिकदत्त के गले में मछली का कांटा फँस गया है। जो वैद्य, वैद्यपुत्र, जानकार या जानकार का पुत्र, चिकित्सक या चिकित्सकपुत्र उस मत्स्यकण्टक को निकाल देगा, उसे शौरिकदत्त बहुत-सा धन देगा।” कौटुम्बिक पुरुषों ने इसी प्रकार की घोषणा कर दी।

इस घोषणा को सुनकर बहुत-से वैद्य, वैद्यपुत्र आदि शौरिकदत्त के यहाँ आए और अपनी-अपनी औत्प्रातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं पारिणामिकी बुद्धियों का प्रयोग करके सम्यक् निदान किया। तत्पश्चात्^१ उन्होंने वमन, छर्दन (वमन-विशेष), अवपीड़न (देवाना), शल्योद्धार, विशल्यकरण, आदि विभिन्न उपचारों से शौरिकदत्त के गले में फँसे कांटे को निकालने तथा पीव को बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया, मगर वे सफल न हो सके। आखिर हार-थककर वे सब वापस चले गए।

वैद्यों एवं चिकित्सकों आदि के इलाज से निराश एवं निरुपाय शौरिकदत्त उस भयंकर असह्य वेदना को भोगता हुआ सूखकर अस्थिपंजर मात्र रह गया। उसका शरीर सूखा, सूखा, भूखा एवं मांसरिहत अतिकृश हो गया। उठते-बैठते हड़िडियाँ कड़कड़ करती थीं। गले में मछली का कांटा फँस जाने से वह अतिकष्टपूर्वक दीन-हीन-दयनीय स्वर में कराहता रहता था। वह रक्त, पीव और कीड़ों के क्रीरों का बाग-वार वमन करता रहता था। इस प्रकार वह दुःखपूर्ण जीवन जी रहा था।

पूर्वजन्मकृत घोर-पाप कर्मों का ही यह दुष्फल था।

१. देखें, वही, सु. १ अ. ८ में शौरिकदत्त के जन्म-विनूययोग, तथा मन्थ नाम व्यापार का वृत्तान्त पृ. १३

शौरिकदत्त का भविष्य : अधिक अन्धकारमय : स्वल्प उज्ज्वल

भगवान् से उसके भविष्य के बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा—यह शौरिकदत्त ७० वर्ष की परम आयु भोगकर यथासमय मरकर पहली नरक में नारक रूप में उत्पन्न होगा। उसके बाद लाखों बार पृथ्वीकाय आदि में उत्पन्न होगा। वहाँ से मरकर हस्तिनापुर में मत्स्य होगा। मच्छीमारों द्वारा मार डाले जाने पर उसी नगर में श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा। उस भव में इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। वहाँ से मरकर सीधर्म देवलोक में देव होगा। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ संयम की सम्यक् आराधना करने से सिद्ध, बुद्ध एवं सर्वकर्म-मुक्त होगा।^१

देवदत्ता का पूर्वभव : सिंहसेन के रूप में

इसके पश्चात् नीवाँ अध्ययन देवदत्ता का है। उसका पूर्वभव इस प्रकार है—सुप्रतिष्ठ नगर का राजा महासेन था। उसके धारिणी आदि एक हजार रानियाँ थीं—उन महासेन नरेश एवं महारानी धारिणी का आत्मज एक पुत्र था—सिंहसेन।

श्यामारानी में आसक्ति : अन्य रानियों की उपेक्षा

यौवन में पदार्पण करते ही महासेन राजा ने सिंहसेन राजकुमार का श्यामा आदि पांच सौ सुन्दर राजकन्याओं के साथ एक दिन में विवाह कर दिया।

श्यामादेवी को मारने की योजना

महासेन राजा के देहावसान के पश्चात् सिंहसेन राजगद्दी पर बैठा। किन्तु वह राजा बन जाने पर राजधर्म से विमुख होकर रानी श्यामादेवी में अत्यन्त आसक्त, गृद्ध एवं मूर्च्छित हो गया। अन्य रानियों का वह न तो आदर करता था, और न ही उनका ध्यान रखता था। इतना ही नहीं, उनका अनादर एवं विस्मरण करता हुआ आनन्द से जी रहा था। उन ४९९ रानियों की माताओं को जब इस बात का पता लगा तो उन सबने मिलकर निश्चय किया कि श्यामादेवी को विष, शस्त्र या अग्नि आदि में से किसी के भी प्रयोग से जीवनरहित कर दिया जाए। इस प्रकार विचार करके इस योजना को कार्यान्वित करने के अवसर की प्रतीक्षा करती रहीं।

चिन्तित श्यामादेवी : कोपभवन में

श्यामादेवी को विश्वस्त सूत्रों से जब इस बात का पता लगा तो वह अत्यन्त उदास, भयभीत, त्रस्त एवं उद्विग्न होकर कोपभवन में जाकर लेट गई। मन ही मन आर्तध्यान करने लगी।^२

१. देखें, वही, श्रु. १ अ. ८ में शौरिकदत्त का असाध्य रोग ही उसके पाप के फल पृ. ९३, ९४

२. वही, श्रु. १ अ. ९ में देखें—देवदत्ता के पूर्वभव का सिंहसेन के रूप में वृत्तान्त, पृ. ९७ से ९९ तक

श्यामादेवी को सिंहसेन नरेश द्वारा आश्वसन

सिंहसेन राजा को जब इस बात का पता चला तो वह कोपभवन में श्यामादेवी के पास आया। वहाँ श्यामादेवी को निराश, चिन्तित, उदास एवं निस्तेज देखकर उससे चिन्ता और उदासी का कारण पूछा तो उसने अपनी ४९९ सौतों की माताओं द्वारा उसे मारने के षड्यंत्र का वृत्तान्त कहा। फिर कहा—न मालूम वे किस कुमीत से मुझे मारेंगी, यही मेरे आर्तध्यान का कारण है। सिंहसेन नृप ने उसे प्रिय, मनोज्ञ शब्दों से आश्वस्त और विश्वस्त किया।

तदनन्तर सिंहसेन ने अपने अनुचरों को बुलाकर नगर के बाहर पश्चिम दिशा में एक मनोहर, दर्शनीय महती कूटागारशाला बनवाने का आदेश दिया। अनुचरों ने कुछ ही दिनों में एक विशाल कूटागारशाला तैयार करवा दी।

चार सौ निन्यानवें सासुओं को कूटागारशाला में निवास दिया

फिर एक दिन सिंहसेन ने अपनी ४९९ रानियों की माताओं को आदरपूर्वक बुलाया। वे जब सिंहसेन के पास आईं तो उसने उन ४९९ सासुओं को सुखपूर्वक रहने के लिए नव-निर्मित कूटागारशाला में आदरपूर्वक स्थान दिया। उनके लिए सभी सुख-सुविधाएँ जुटा दीं, नृत्य, गीत, वादन करने में निष्णात लोगों को वहाँ नियुक्त कर दिया। फिर उनके लिए स्वादिष्ट अशनादि तथा सुरा आदि सामग्री भी पहुँचा दी। इस प्रकार वे आश्वस्त एवं निश्चिंत होकर सरस स्वादिष्ट भोजन, मद्यपान एवं राग-रंग में मस्त होकर वहाँ जीवनयापन करने लगीं।

कूटागारशाला के चारों ओर आग लगवाकर उन्हें मरवा दीं

एक दिन आधी रात के समय सिंहसेन राजा अनेक पुरुषों को लेकर कूटागारशाला में आया। फिर उसने उस शाला के सभी द्वार बन्द करवा दिये और चारों ओर से आग लगवा दी। फलतः उस आग की लपटों में झुलस कर वे ४९९ रानियों की माताएँ रुदन, क्रन्दन एवं विलाप करती हुई मर गईं।

इस क्रूर कर्म के फलस्वरूप सिंहसेन छठी नरक में

इस प्रकार के क्रूर कर्म वाला दुष्टबुद्धि राजा सिंहसेन ३४०० वर्ष जीकर उन घोर पापकर्मों के फलस्वरूप मरकर उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाली छठी नरकभूमि में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

सिंहसेन का जीव देवदत्ता के रूप में : दत्तसार्धवाह की पुत्री

वहाँ से निकलकर वह रोहीतक नगर में दत्त सार्धवाह की धर्मपत्नी कृष्णश्री की कुक्षि से एक कोमलांगी सुन्दर कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया—देवदत्ता।

राजा वैश्रमणदत्त ने अपने पुत्र पुष्यनन्दी के लिए देवदत्ता की मांग की

यौवनवय में पदार्पण करते ही उसके शरीर का रूप, लावण्य के कारण निखर उठा। एक दिन देवदत्ता आभूषणों और शृंगार प्रसाधनों से सुसज्जित होकर बहुत-सी दासियों के साथ अपने प्रासाद की छत पर सोने की गेंद से खेल रही थी।

इधर से वैश्रमणदत्त राजा भी सर्वालंकार विभूषित होकर अपने घोड़े पर बैठकर बहुत से पुरुषों को साथ लेकर अश्वक्रीड़ा (घुड़दौड़) में भाग लेने के लिए जा रहा था। रास्ते में उसकी नजर अपने प्रासाद की छत पर गेंद खेलती देवदत्ता कुमारी पर पड़ी। उसके रूप लावण्य को देखकर वैश्रमणदत्त नृप विस्मित हो गया। फिर उसने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर आदेश दिया कि इस कन्या के पिता-माता का पता लगाकर उनसे युवराज पुष्यनन्दी^१ के लिए याचना करो। अगर राज्य देकर भी उस कन्यारत्न को प्राप्त किया जा सके तो भी उचित है।

वैश्रमणदत्त की ओर से पुष्यनन्दी के लिए देवदत्ता की माँग का प्रस्ताव

तदनन्तर वैश्रमणदत्त राजा के वे अन्तरंग पुरुष दत्त सार्थवाह के यहाँ पहुँचे। दत्त ने उनका स्वागत-सत्कार किया और आगमन का प्रयोजन पूछा तो उन्होंने कहा—आपकी पुत्री देवदत्ता कुमारी की युवराज पुष्यनन्दी के लिए भार्या रूप से मंगनी करने आए हैं। यदि वरवधू का यह संयोग आपको अनुरूप जान पड़ता हो तो पुत्री देवदत्ता को युवराज पुष्यनन्दी के लिए दीजिए और बतलाइए कि इसके लिए आपको क्या शुल्क उपहार के रूप में दिया जाए?

दत्त सार्थवाह द्वारा सहर्ष स्वीकृति

यह सुनकर दत्त सार्थवाह ने कहा—महाराज वैश्रमणदत्त अपने पुत्र के लिए मेरी कन्या को ग्रहण करके अनुगृहीत कर रहे हैं, यही मेरे लिए सबसे बड़ा शुल्क है। तदनन्तर राजा वैश्रमणदत्त के अन्तरंग पुरुष हर्षित होकर लौटे और राजा को यह खुशखबरी सुनाई।

पुत्री देवदत्ता को पालकी में बिठाकर शोभायात्रा पूर्वक वैश्रमणनरेश को सौंपी

इधर दत्त गाथापति ने शुभ मुहूर्त में अपने सभी स्वजनपरिजनों को प्रीतिभोज देकर उनके समक्ष अपनी पुत्री देवदत्ता को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर सहस्र पुरुषवाहिनी पालकी में बिठाकर गाजे बाजे के साथ रोहीतक नगर के बीचोबीच होकर वैश्रमण नरेश के पास पहुँचा। उन्हें बधाई दी और अपनी कन्या उन्हें समर्पित की।

१. देखें, वही श्रु. १, अ. ८ में वर्णित देवदत्ता के पूर्वभव का तथा वर्तमान भव का वृत्तान्त, पृ. १९ से १०३

राजा वैश्रमण ने दोनों का विधिवत् विवाह सम्पन्न कराया

राजा वैश्रमण ने भी पुष्यनन्दी और देवदत्ता को एक पट्टे पर दोनों को बिठाकर शुभ मुहूर्त में सभी स्वजनों के समक्ष धूमधाम से पाणिग्रहण कराया। दोनों का विवाह सम्पन्न होने के बाद वस्त्रालंकारादि से स्वजन-परिजनों को सत्कार-सम्मान करके उन्हें विदा किया।

विवाह के बाद राजकुमार पुष्यनन्दी एवं देवदत्ता दोनों उत्तम प्रासाद में नृत्य-गीत-वाद्य से आमोद-प्रमोद करते हुए कामभोगसुखानुभव करने लगे। इसी बीच वैश्रमणदत्त का देहावसान हो गया। पुष्यनन्दी को राजगद्दी पर बिठाकर राजा घोषित किया गया।

राजा पुष्यनन्दी की परम मातृभक्ति

राजा पुष्यनन्दी परम मातृभक्त था। वह प्रतिदिन अपनी माता श्रीदेवी के चरणों में प्रणाम करता फिर उनके शरीर पर शतपाक-सहस्रपाक तेल से मालिश करवाता, फिर अस्थि, मांस, और त्वचा के लिये चार प्रकार की सुखदायिनी अंगमर्दनक्रिया (मालिश) करवाता। तत्पश्चात् उबटन करवाता और फिर ठंडे, गर्म और सुगन्धित जल से स्नान करवाता। तदनन्तर उन्हें विपुल अशनादि चार प्रकार का भोजन कराता। इस प्रकार माता श्रीदेवी के भोजन कर लेने के पश्चात् मुखशुद्धि करके सुखासन पर बैठ जाने के बाद ही पुष्यनन्दी स्नान-भोजनादि करता था। फिर मानवीय सुखद कामभोगों का उपभोग करता था।^१

यह मातृभक्ति देवदत्ता को अपने विषयभोगों में बाधक लगी अतः श्रीदेवी को मारने का दुर्विचार

पुष्यनन्दी की इस प्रकार की मातृभक्ति को अपने पर्याप्त मानवीय कामभोग-सुखोपभोग में विघ्नकारिणी समझकर देवदत्ता ने एक दिन अर्धरात्रि के समय मन में विचार किया—इनकी माता श्रीदेवी को अग्नि, शस्त्र, विष या मन्त्र के प्रयोग से किसी तरह मारकर फिर पुष्यनन्दी के साथ यथेष्ट विषयभोगों का सेवन कर सकूंगी। यों सोचकर वह श्रीदेवी (सास) को मारने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगी।

देवदत्ता ने श्रीदेवी को मारकर ही दम लिया

एक दिन स्नानादि से निवृत्त होकर श्रीदेवी एकान्त में अपनी शय्या पर सुखपूर्वक सो रही थी, यह मौका उचित समझकर देवदत्ता श्रीदेवी के कक्ष में आई। श्रीदेवी को

१. देखें, दुःखविपाक अ. ९ में देवदत्ता के वर्तमान भय का वृत्तान्त, पृ. १०३ से १०७ तक

निद्राधीन देखकर चारों ओर देखा, और रसोईघर में आई। वहाँ पड़े हुए एक लोहे के डंडे को आग में अत्यन्त तपाकर लाल सुर्ख बने हुए उस डंडे को संडासी से पकड़कर जहाँ श्रीदेवी सोई थी, वहाँ ले आई। आते ही आव देखा न ताव उस तप्त लोहदण्ड को श्रीदेवी के गुदास्थान में घुसेड़ दिया। उसकी असह्य वेदना के कारण उच्च स्वर से कराहती और छटपटाती हुई श्रीदेवी ने वहीं दम तोड़ दिया।

दासियों द्वारा पुष्यनन्दी को मातृ-हत्या का समाचार मिलते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ा

श्रीदेवी की दासियाँ इस भयंकर चीत्कार को सुनकर वहाँ दीड़ी आई और देवदत्ता देवी को वहाँ से निकलती देख सोचा—“हो न हो, यह इसी का काम है।” श्रीदेवी के पलंग के पास आकर देखा तो अवाक् रह गई। वह निश्चेष्ट एवं प्राणरहित होकर पड़ी थी। दासियाँ रोती कलपती राजा पुष्यनन्दी के पास आई और सिसकते हुए निवेदन किया—“स्वामिन्! महान अनर्थ हो गया! माताजी को देवदत्ता देवी ने अकाल में कालकवलित कर दिया।”

यह सुनते ही मातृशोक के कारण पुष्यनन्दी धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

देवदत्ता को राजा पुष्यनन्दी द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया

होश में आने पर अनेक मित्र राजाओं, सार्थवाहों यावत् परिजनों के साथ रुदन, विलाप करते हुए उसने श्रीदेवी का बड़े ठाठबाट से दाह-संस्कार किया। तत्पश्चात् क्रोधाविष्ट होकर देवदत्ता देवी को राजपुरुषों द्वारा गिरफ्तार करवाया। फिर उसके नाक-कान कटवाये। अवकोटक बंधन से बंधवाया। गले में लाल फूलों की माला तथा वध्ययोग्य वस्त्र पहनाए। हाथों में हथकड़ियाँ पहनाई। ‘यह स्त्री वध करने योग्य है, हत्यारी है’, इस प्रकार उच्च स्वर से घोषणा करते हुए उसे वध्य स्थान पर ले जाया गया। वहाँ सैकड़ों नर-नारियों की उपस्थिति में उसे सूली पर चढ़ाया गया। इस प्रकार देवदत्ता को परलोक में तथा इहलोक में अपने द्वारा कृत पाप कर्मों का हाथों-हाथ फल मिल गया।

देवदत्ता का भविष्य : अधिकतर अन्धकारमय, अन्त में प्रकाशमय

देवदत्ता के भविष्य के बारे में पूछने पर भगवान् ने कहा—देवदत्ता यहाँ से यथासमय मरकर प्रथम नरक में नारकरूप में उत्पन्न होगी। वहाँ से निकलकर मृगापुत्र की भाँति वनस्पतिकायिक जीवों के अन्तर्गत निम्ब आदि कटुवृक्षों तथा आक आदि कटुदुग्ध वाले पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी। वहाँ से निकलकर गंगपुर नगर में हंस रूप में पैदा होगी। बहेलियों (शाकुनिकों) द्वारा मार डाले जाने पर गंगपुर में ही वह

श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगी। इसी भव में उसका जीव सम्यक्त्व प्राप्त करेगा और मर कर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ संयम ग्रहण करके यथार्थ आराधना करने से सर्वकर्मक्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।'

निष्कर्ष

इन वर्णनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पापकर्मों का तीव्र बन्ध होने से लाखों बार कुगतियों और कुयोनियों में भटकना पड़ा है, जहाँ उस जीव को न तो सदबोध मिला, न ही सम्यग्ज्ञान! चरित्र तो मिलता ही कैसे? लाखों बार जन्म-मरण के दुःखों की भट्टी में तपने के बाद शुभकर्मों का उदय हुआ तो महाविदेहक्षेत्र और मनुष्यजन्म मिला। और संयम ग्रहण करके सर्वोच्च मंजिल प्राप्त की।

दसवाँ अध्ययन : अंजूश्री के पूर्वभव का वृत्तान्त

इसके पश्चात् दुःखविपाक का अन्तिम (दसवाँ) अध्ययन 'अंजू' का है। इसका पूर्वभव वेश्याकर्म के पापों से परिपूर्ण था। इन्द्रपुर के इन्द्रदत्त राजा के राज्य में पृथ्वीश्री नाम की एक गणिका (वेश्या) रहती थी। वह अनेक राजन्वों, अमात्यों, कोटवालों, सार्थवाहों आदि को वशीकरण सम्बन्धी चूर्णादि के प्रयोग से वशीभूत करके उनके साथ यथेच्छ कामभोगों का सेवन करती थी। वेश्याकर्म को बहुत ही प्रधानता देती थी, उसी को उत्तम आचार एवं दाक्षिण्य मानती थी। उक्त पापकर्मों का अत्यधिक बंध करके ३५०० वर्ष का आयुष्य भोगकर यथासमय काल करके छठी नरकभूमि में पैदा हुई। जहाँ उसे प्रचण्ड वेदना सहनी पड़ी।

वहाँ से निकलकर वर्धमानपुर में धनदेव सार्थवाह की पत्नी प्रियंगु की कुक्षि से कन्यारूप में उत्पन्न हुई। नाम रखा गया अंजूश्री।

राजा विजयमित्र ने अपने लिए अंजूश्री की मांग की

एक बार वर्धमानपुरनरेश विजयमित्र ने अश्वक्रीड़ा के लिए जाते हुए राजा वैश्रमणदत्त की भाँति अंजूश्री को देखा और तैतलीपुत्र अमात्य की तरह अपने लिए उसके पिता से उसकी मांग की। उन्होंने उसकी मांग स्वीकार की। अपनी पुत्री का राजा विजयमित्र के साथ पाणिग्रहण किया। तदनन्तर वह अंजूश्री के साथ राजमहल में कामभोग-सुखों का आस्वादन करने लगा।

१. देखें, सुखविपाक अ. ९ में देवदत्ता को स्वकृत पापकर्म का प्राप्त दुःखद फल एवं भविष्य का वृत्तान्त पृ. १०८, १०९

अंजूश्री योनिशूल की असह्य पीड़ा से व्यथित

एक बार अंजूश्री के शरीर में योनिशूल (योनि में असह्य वेदना) नामक रोग फूट पड़ा। यह देख विजयमित्र नरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया—नगर के तिराहे, चौराहे यावत् सामान्य मार्गों पर जाकर घोषणा करो कि “जो कोई वैद्य, वैद्यपुत्र, विज्ञ या विज्ञपुत्र, चिकित्सक या चिकित्सकपुत्र अंजूश्री देवी के योनिशूल रोग को उपशान्त कर देगा, उसे राजा विजयमित्र प्रचुर धन प्रदान करेंगे।”

वैद्यादि भी विविध उपचार करके असफल रहे

इस प्रकार घोषणा करने के बाद बहुत-से अनुभवी वैद्यादि विजयमित्र राजा के यहाँ आए। उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि से रोग का निदान किया और अपने मनोनीत विविध प्रयोगों द्वारा उक्त रोग को मिटाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सब इसमें विफल रहे। सभी वैद्यादि हार-थककर अपने-अपने गाँव को लौट गए।

अंजूश्री को पापकर्म का दुःखद फल यहाँ भी मिला, आगे भी

देवी-अंजूश्री योनिशूलजन्य असह्य पीड़ा से पीड़ित होकर दिनोदिन सूखने लगी। उसका शरीर केवल अस्थिपंजर रह गया। वह इस अपार कष्ट के कारण करुण एवं दयनीय विलाप करती हुई काल यापन करने लगी।

अन्त में ९० वर्ष की परमायु भोगकर यथासमय काल करके अंजूश्री प्रथम नरक भूमि में नारक रूप से उत्पन्न हुई।

अंजूश्री का भविष्य अधिकतर अन्धकारपूर्ण, अन्त में उज्ज्वल

उसके भविष्य के बारे में भगवान् ने बताया कि वह प्रथम नरक से निकलकर वनस्पतिकाय के अन्तर्गत नीम आदि कड़वे पेड़ों तथा आक आदि पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी। वहाँ की भवस्थिति पूर्ण कर सर्वतोभद्र नगर में वह मयूर रूप में पैदा होगी। एक दिन मयूरव्याधों द्वारा मारे जाने से उसका जीव इसी नगर के श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहाँ बाल्यावस्था पार करके यौवन में पदार्पण करके तथारूप स्थविरो से बोधिलाभ (सम्यक्त्व) प्राप्त करेगा। तदनन्तर प्रव्रज्या लेकर मनुष्यभव का आयुष्य पूर्ण कर प्रथम देवलोक में और महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर चारित्र ग्रहण करेगा। यथावत् आराधना करके सिद्ध बुद्ध और सर्वकर्ममुक्त होगा, समस्त दुःखों का अन्त करेगा।”

१. देखें, विपाकसूत्र श्रु. १ अ. १० में वर्णित अंजूश्री के पूर्वभव, वर्तमान और भविष्य का वृत्तान्त, पृ. ११० से ११३ तक

दस अध्ययनों में दस कथानायकों के दुःखद फल

यह है विपाकसूत्र के १० कथानायकों को अपने द्वारा पूर्वकृत पापकर्मों के कारण प्राप्त अधिकांश दुःखद फल का लेखा-जोखा! इन कथानायकों में पूर्वजन्म में किये हुए पापकर्मों का पूर्वजन्म में तथा अगले जन्म में दुःखद फल प्राप्ति का तथा वर्तमान जन्म में किये हुए पापकर्मों का दुःखद फल वर्तमान जन्म में ही तथा अगले जन्म या जन्मों में मिलने का सजीव वर्णन है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि पापकर्मों का फल देर-सवेर से अवश्य फल मिलता है!'

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध^१ सुखविपाक का संक्षिप्त परिचय

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम सुखविपाक है। इसमें ऐसे पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन किया गया है, जिन्होंने अपने जीवन में दान, शील, तप, भाव, दया, परोपकार, सेवा आदि सत्कर्म करके अनन्त पुण्यराशि से प्राप्त मनुष्य जन्म को सार्थक किया और आगामी जन्म के लिए पुण्योपार्जन करके आगामी भव को भी सुखमय बना लिया। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह दस अध्ययन हैं—(१) सुवाहुकुमार, (२) भद्रनन्दी, (३) सुजात, (४) सुवासव, (५) जिनदास, (६) धनपति, (७) महाबल, (८) भद्रनन्दी, (९) महच्चन्द्र, और (१०) वीरदत्त। प्रथम अध्ययन में सुवाहुकुमार का वर्णन है। सुवाहुकुमार का पूर्वभव का जीवन जानने से उसके द्वारा पुण्यफल उपार्जन का पता लगता है, और भविष्य में उसका सुखद फल प्राप्त होता है।'

सुवाहुकुमार का पूर्वभव : दानशील सुमुख गाथापति के रूप में

हस्तिनापुर में सुमुख नाम का धनाढ्य सद्गृहस्थ रहता था। एक बार नगर में जाति-कुल-सम्पन्न धर्मघोष स्थविर अनगार अपने ५०० श्रमणों के साथ पधारो। सहस्राप्रवचन में विराजे। धर्मघोष स्थविर के एक शिष्य सुदत्त नामक अनगार थे। वे उदार तेजोलेश्या को अपने में संक्षिप्त (गुप्त) किये हुए थे। वे मासक्षमण (एक मास के उपवास का तपश्चरण) के पारणे के दिन प्रथम पहर में स्वाध्याय, द्वितीय पहर में ध्यान और तीसरे पहर में भिक्षाटन करने हेतु धर्मघोष स्थविर से पूछकर सुमुख गाथापति के यहाँ भिक्षार्थ पधारो।

सुमुख गाथापति द्वारा सुदत्त अनगार को विधिपूर्वक आहारदान

सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को आते हुए देखकर अत्यन्त हर्षित होकर आसन से उठा। पादपीठ पर पैर रखकर नीचे उतरा। पादुका छोड़कर एक साटिक

१. देखें, विपाकसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध : सार संक्षेप (पं. रोशनलालजी) से पृ. ४ और १०

२. देखें, विपाक सूत्र, श्रु.२ अ. १ प्राथमिक पृ. ११६

(चादर) का उत्तरासंग किया। स्वागत के लिये सात-आठ कदम सामने गया। फिर अनगार को तीन बार प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और उन्हें भोजनगृह में ले गया। फिर अपने हाथ से विपुल अशन-पान आदि का दान दिया। दान देने से पहले, दान देते समय और दान देने के पश्चात् भी सुमुख के मन में आनन्द का अनुभव हुआ।

सुमुख गाथापति ने द्रव्यशुद्धि, ग्राहक (आदाता) शुद्धि और दातृशुद्धिसहित त्रिविध त्रिकरण (मन वचन-काय की) शुद्धि पूर्वक सुदत्त अनगार को दान देने (प्रतिलाभित करने) से उस पुण्य के फलस्वरूप संसार परीत (संक्षिप्त) कर लिया और मनुष्यायु का बन्ध किया। उसके घर में निम्नोक्त पांच दिव्य प्रकट हुए—(१) लगातार स्वर्णवृष्टि, (२) पंचवर्णी कुसुमवृष्टि, (३) वस्त्रोत्क्षेप, (४) देवदुन्दुभि का बजना, और (५) आकाश से 'अहो दानं' की घोषणा।

सुमुख गाथापति के सद्गुणों की प्रशंसा

हस्तिनापुर के त्रिपथ, चतुष्पथ यावत् सामान्य मार्गों पर एकत्रित होकर अनेक मनुष्य परस्पर कहने लगे—धन्य है, सुमुख गाथापति, सुमुख गाथापति सुलक्षण है, कृतार्थ है, उसने जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त कर लिया, जिससे इस प्रकार की ऋद्धि प्राप्त हुई।^१

सुमुख का जन्म अदीनशत्रु राजा के पुत्र सुबाहुकुमार के रूप में तथा विवाहादि

तत्पश्चात् सुमुख गाथापति सैकड़ों वर्षों की दीर्घायु का उपभोग कर यथासमय काल करके हस्तिशीर्ष नगर में अदीनशत्रु राजा की रानी धारिणीदेवी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। पांच धायों की संरक्षणता में उसका लालन-पालन हुआ, यावत् ७२ कलाओं में प्रवीण हुआ। यौवनवय में पदार्पण होते ही माता-पिता ने पुष्यचूला प्रमुख पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका विवाह किया। उनके लिए पहले से ५०० राजप्रासादों का निर्माण करवा रखा था। उनमें सुबाहुकुमार मानवोचित विषयभोगों का उपभोग करने लगत।

सुबाहुकुमार ने भगवान् महावीर का धर्मोपदेश श्रवण किया

एक बार भगवान् महावीर स्वामी उस नगर में पधारे। राजा अदीनशत्रु भी भगवत् दर्शन एवं देशनाश्रवण के लिए निकला। जमालिकुमार की तरह सुबाहुकुमार भी धर्मरथ में बैठकर भगवद्दर्शनार्थ पहुँचा। भगवान् ने सबको धर्मोपदेश दिया। समग्र परिषद्, राजा आदि धर्मोपदेश सुनकर वापस लौटे।

१. देखें, सुखविपाक अ. १ में सुबाहुकुमार के पूर्वभव का वर्णन पृ. १२० से १२३ तक

सुबाहुकुमार द्वारा सम्यक्त्वप्राप्ति तथा श्रावकव्रत ग्रहण

सुबाहुकुमार भगवान् से धर्मकथा सुनकर मनन करके अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और उठकर उन्हें वन्दना-नमस्कार करके यों बोला—“भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शना, पालना और अनुपालना करता हूँ। परन्तु जिस प्रकार आपके श्रीचरणों में अनेकों राजा, सार्थवाह आदि गृहस्थ धर्म से साधुधर्म में प्रव्रजित हुए हैं, उस तरह प्रव्रज्या लेने में मैं अभी समर्थ नहीं हूँ। मैं इस समय आप से पांच अणुव्रत. एवं सात शिक्षाव्रतों वाला बारह प्रकार का गृहस्थर्म स्वीकार करना चाहता हूँ।” भगवान् ने ‘तथाऽस्तु’ (जहासुहं) कहकर अपनी स्वीकृति प्रदान की। फिर सुबाहुकुमार श्रावक के १२ व्रत ग्रहण कर जहाँ से आया था, वहीं वापस लौटा।

सुबाहुकुमार की रूप-शरीर-सम्पदा तथा ऋद्धि के विषय में गौतम की जिज्ञासा

तत्पश्चात् इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् के समक्ष जिज्ञासा प्रकट की—“अहो भगवन्! सुबाहुकुमार बड़ा ही इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोरम, मनोरमरूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप है। यह साधुजनों को भी इष्ट, इष्टरूप, यावत् सुरूप लगता है। भगवन्! सुबाहुकुमार ने इस प्रकार की उदार मानवीय समृद्धि कैसे उपलब्ध की, कैसे प्राप्त की? कैसे यह उसके समक्ष उपस्थित हुई? पूर्वभव में यह कौन था? यावत् इसका नाम, गोत्र क्या था? किस ग्राम या सन्निवेश को अपने जन्म से अलंकृत किया था? क्या दान देकर, क्या उपभोग कर, कैसे आचार का पालन करके और किस श्रमण या माहन के एक भी आर्यवचन का श्रवण कर सुबाहुकुमार ने ऐसी ऋद्धि उपलब्ध एवं प्राप्त की?”

भगवान् ने गौतमस्वामी की जिज्ञासा जानकर सुबाहुकुमार के पूर्वभव का पूर्वोक्त प्रतिपादन किया। और कहा—“सुबाहुकुमार को पूर्वोक्त महादान के प्रभाव से इस प्रकार की मानवसमृद्धि प्राप्त एवं उपलब्ध हुई है।”

सुबाहुकुमार के उज्ज्वल भविष्य का फलितार्थ

भगवान् ने उसके उज्ज्वल भविष्य का कथन किया, जिसका फलितार्थ यह था—यह सुबाहुकुमार यहीं तक अपने द्वारा पूर्व में उपार्जित पुण्यराशि का व्यय नहीं कर देगा, अपितु अनेक बार उन्नत देवभव प्राप्त करके पुनः पुनः मनुष्यभव प्राप्त करेगा, जिसमें तप-संयम की आराधना करके पुण्यराशि में वृद्धि कर, आत्मा की उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्धि करेगा। और अन्त में महाविदेहक्षेत्र में मनुष्यरूप में जन्म लेकर तप-संयम की उत्कृष्ट आराधना करके सिद्ध-बुद्ध, सर्वकर्ममुक्त एवं सर्वदुःख-मुक्त होगा।

१. देखें—सुखविपाक अ. १ में वर्णित सुबाहुकुमार के वर्तमान भव के सुखद फल का वृत्तान्त पृ. ११७ से १२० तक

अतः पुण्यकर्म का प्रत्यक्ष फल भले ही स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति हो, परन्तु उसका अनन्तर फल सदबोधि प्राप्ति, रत्नत्रय की आराधना की भावना, वैसे उत्तम संयोग और निमित्त की उपलब्धि भी होते हैं।

सुबाहुकुमार का गृहस्थ धर्म से अनगार धर्म में प्रव्रजित होने का संकल्प

एक दिन सुबाहुकुमार को अपनी पौषधशाला में तीन दिन के उपवास (अष्टम भक्त-प्रत्याख्यान-तेले) के दौरान मध्यरात्रि में धर्मजागरणा करते हुए ऐसा संकल्प उठा—“वे ग्राम, नगर आदि धन्य हैं, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विचरण करते हैं, तथा वे राजा आदि धन्य हैं, जो श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित होकर प्रव्रजित होते हैं, अथवा पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत वाला गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं, अथवा जो भगवान् महावीर के श्रीमुख से धर्मश्रवण करते हैं। अगर भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यहाँ पधारें तो मैं गृह त्यागकर आगार धर्म से अनगार धर्म में प्रव्रजित हो जाऊँ।”

सुबाहुकुमार के इस मनोरथ को जानकर भगवान् महावीर हस्तिशीर्ष नगर में पधारे और पुष्पकरण्डक उद्यान में विराजे।

सुबाहुकुमार की दीक्षा; अध्ययन, तपश्चरण, एवं समाधि मरण का संक्षिप्त वर्णन

सुबाहुकुमार भी अनेक राजाओं, सार्थवाहों आदि की तरह महासमारोहपूर्वक भगवान् के दर्शन, वन्दन, एवं धर्मश्रवण के लिए उपस्थित हुआ। धर्मोपदेश श्रवण कर अत्यन्त हृष्ट-तुष्ट हुआ। फिर उसने भगवान् के समक्ष अपना अनगार धर्म अंगीकार करने का मनोरथ प्रकट किया। भगवान् की सम्मति और माता-पिता की अनुमति पाकर सुबाहुकुमार ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर सुबाहुकुमार अनगार ने तथारूप स्थविरों से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। साथ ही उपवास, बेला, तेला आदि नाना प्रकार के बाह्य एवं विनय, वैयाकृत्य आदि आभ्यन्तर तपश्चरण से अपनी आत्मा को भावित किया। अनेक वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके एक मास की संत्लेखना करके आत्मभावों की आराधना की, तथा ६० भक्त (अशन आदि) का प्रत्याख्यान करके आलोचना-प्रतिक्रमणादिपूर्वक समाधि मरण को प्राप्त किया।

उज्ज्वल भविष्य : सुबाहुकुमार को अनेक भवों के बाद सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त

भगवान् ने उसके उज्ज्वल भविष्य का कथन करते हुए कहा—यहाँ से वह प्रथम देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ के आयु, भव, और स्थिति का क्षय होने पर देव शरीर को त्यागकर मनुष्य शरीर को प्राप्त करेगा। यहाँ शंकादिरहित शुद्ध (केवली) बोधि को उपलब्ध करेगा। फिर तथारूप स्थविरों से दीक्षा धारण करके, अनेक वर्षों तक

श्रमण-पर्याय का पालन करके अन्त में समाधिमरणपूर्वक देहत्याग करके तृतीय देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर पुनः मनुष्यभव प्राप्त करेगा। यहाँ संयम ग्रहण कर यावत्-महाशुक्र नामक सप्तम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से फिर मनुष्य भव प्राप्त करके पूर्ववत् दीक्षित होकर समाधिमरण पूर्वक देहत्याग करके नौवें आनत देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ की भवस्थिति पूर्ण कर पुनः मनुष्य भव पाकर दीक्षित होगा, फिर आरण नामक ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर मनुष्यभव को ग्रहण करके संयम की आराधना करके समाधिपूर्वक देहान्त होने पर सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में किसी सम्पन्न कुल में जन्म लेगा। वहाँ दृढप्रतिज्ञ की भाँति संयम ग्रहण और आराधन करके सर्वकर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध, यावत्-सर्वदुःखरहित होगा।^१

शेष नौ अध्ययनों का संक्षिप्त दिग्दर्शन

दूसरे अध्ययन से लेकर दसवें अध्ययन तक नौ पुण्यशालियों का वर्णन पुण्यशाली सुबाहुकुमार की तरह ही है। नाम आदि में अवश्य अन्तर है। जैसे-(२) द्वितीय अध्ययन भद्रनन्दी का है। ऋषभपुर, नगर, धनावह राजा, सरस्वती रानी, उनका पुत्र भद्रनन्दी था। (३) तृतीय अध्ययन सुजातकुमार का है। वीरपुर नगर, वीरकृष्णमित्र राजा, श्रीदेवी रानी, सुजातकुमार पुत्र। (४) चतुर्थ अध्ययन-विजयपुर नगर, वासवदत्त राजा, कृष्णादेवी रानी, उनका पुत्र सुवासवकुमार। (५) पंचम अध्ययन-सौगन्धिका नगरी, अप्रतिहत राजा, सुकृष्णारानी, उनका पुत्र जिनदास। (६) छठा अध्ययन कनकपुर नगर, प्रियचन्द्र राजा, सुभद्रादेवी रानी, उनका युवराज पदासीन पुत्र-वैश्रमणकुमार। युवराज का पुत्र धनपति कुमार था, जो पूर्वभव में मणिचयिका नगरी का राजा मित्र था। उसी जन्म में निर्वाण को प्राप्त हुआ। (७) सप्तम अध्ययन महाबल है। महापुरनगर, महाराजबल राजा, सुभद्रादेवी रानी। उनका पुत्र महाबल कुमार था। (८) आठवाँ भद्रनन्दी नामक अध्ययन है। सुघोष नगर, अर्जुन राजा, तत्त्ववती रानी। उनका पुत्र भद्रनन्दी था। (९) नौवाँ महच्चन्द्र नामक अध्ययन है। चम्पानगरी, दत्त नामक राजा, रक्तवती देवी रानी। उनका पुत्र युवराज पदासीन महच्चन्द्र था। (१०) दसवाँ अध्ययन वरदत्त नाम का है। साकेत नगर, मित्रनन्दी राजा, श्रीकान्ता रानी। उनका पुत्र वरदत्त कुमार था। शेष समग्र वर्णन सुबाहुकुमारवत् समझना चाहिए। तत्त्वगत कोई अन्तर नहीं है।^२

१. देखें, सुखविपाक अ. १ में वर्णित सुबाहुकुमार के अनगर बनने के संकल्प से लेकर दीक्षा और मुक्ति तक का वृत्तान्त पृ. १२६-१२७
२. देखें, सुखविपाक अ. २ से १० तक के अध्ययनों में वर्णित कथानायकों के नाम, पिता-माता, नगर आदि का संक्षिप्त दिग्दर्शन

पाप और पुण्य—दोनों के फल में महदन्तर की समीक्षा

यह सत्य है कि पाप और पुण्य दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मुक्ति की मंजिल प्राप्त होती है, तथापि दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों के विपाक (फलभोग) में कितना और कैसा अन्तर है ? यह विपाक सूत्र के प्रथम और द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्धों के कथानकों से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

दुःखविपाक के मृगापुत्र आदि कथानायकों को भी अन्त में मुक्ति प्राप्त होगी और सुखविपाक के सुबाहुकुमार आदि कथानायकों को भी मुक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकार के कथानायकों की अन्तिम स्थिति एक-सी है। फिर भी चरम स्थिति प्राप्त करने से पूर्व पापकर्मियों के संसार-परिभ्रमण का जो कथाचित्र अंकित किया गया है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है।

पापाचारी मृगापुत्र आदि की पूर्वभविक और इहभविक पापकर्मों की तथा उससे प्राप्त होने वाले अत्यन्त दुःखद कर्मफलों (विपाकों) की कथा अतीव रोमांचक है। फिर उन सबकी भविष्यकथा दिल दहलाने वाली है। उन सबको दीर्घ-दीर्घतरकाल तक घोरतर दुःखमय दुर्गंतियों में अनेकानेक बार नरकों में, तिर्यचों में, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनियों में बार-बार भटकना होगा। मनुष्यभव में भी अतीव दुर्बोधमय त्रासदायक विषम योनियों में असह्य यातनाएँ भोगनी होंगी। तब कहीं जाकर अन्त में उन्हें मनुष्यभव मिलेगा, जिसमें सर्वकर्मक्षय होने से सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होगी।

यद्यपि सुखविपाक के सुबाहुकुमार आदि कथानायकों को भी दीर्घकाल तक संसार में रहना होगा, फिर भी उनके दीर्घकाल का अधिकांश भाग स्वर्गीय सुखों के उपभोग में अथवा सुखबहुल मानवभव में ही व्यतीत होने वाला है।

पुण्यकर्म के फल से होने वाले सुखमय विपाक और पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखमय विपाक की तुलना करके देखने पर ज्ञात होगा कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनकारक होने पर भी दोनों के फलों में रात और दिन का, अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है।

कहाँ मृगापुत्र आदि का असह्य दुःखों और यातनाओं से परिपूर्ण दीर्घकालिक भवभ्रमण और कहाँ सुबाहुकुमार आदि का सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण सुखमय संसार ! फिर आध्यात्मिक विकास करने का सुअवसर, सद्बोध और सत्संग ! दोनों की तुलना करने से पाप और पुण्य के क्रमशः दुःखद और सुखद फल का अन्तर स्पष्टतया समझ में आ सकता है !

१. विपाकसूत्र श्रु. २ के सारसंक्षेप (पं. रोशनलालजी) से पृ. ११४

विपाकसूत्र के मूलस्रोत और फलभोग का वर्णन

विपाकसूत्र के प्रत्येक अध्ययन में कथानायक के पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के जीवन का वर्णन है। जो व्यक्ति दुःख से कराह रहे हैं, अथवा जो व्यक्ति सुख के अतल सिन्धु पर तैर रहे हैं। उन सबके सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की गई है कि उनकी ऐसी दुःखद या सुखद स्थिति किस कारण से हुई? पूर्वजन्म में यह कौन था, कैसा था? इस जन्म में यह ऐसा दुःख या सुख किस कारण से पा रहा है? भगवान् महावीर अपने केवलज्ञान के अक्षय प्रकाश में उसके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों-सुकृत्यों को हस्तामलकवत् जानकर उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हैं, जिससे जिज्ञासु उसका रहस्य स्वयं समझ जाता है। अन्याय, अत्याचार, नरबलि, बालहत्या, आगजनी, वेश्यागमन, वेश्याकर्म, परस्त्रीगमन, मद्य-मांस-सेवन, प्रजापीडन, घृत-क्रीड़ा, रिश्वतखोरी, निर्दोषजन-हत्या आदि ऐसे दुष्कृत्य हैं, जिनके परिणाम विविध यातनाओं के रूप में दुःखविपाक में बताए गए हैं। इसके विपरीत सुखविपाक में उत्कृष्ट सुपात्रदान के प्रतिफल के रूप में मानवीय एवं स्वर्गीय सुखसम्पदा तथा आध्यात्मिक विकास की उपलब्धि बताई गई है।⁹

9. विपाकसूत्र प्रस्तावना (उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि) से सारांश उद्धृत, पृ. ४८

पुण्य-पाप के निमित्त से आत्मा का उत्थान-पतन

साधनामय जीवन में पुण्य, पाप और धर्म का स्रोत कहां और कैसे?

आत्मा अपने आप में निश्चयनय की दृष्टि से परमात्मस्वरूप है, किन्तु उसका परमात्मरूप जब तक आवृत, विकृत, कुण्ठित और सुषुप्त रहता है, तब तक वह परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सकता। इन स्थितियों के रहते परमात्मपद कर्मों से घिरा हुआ एवं जकड़ा हुआ रहता है। शुद्ध आत्मा का कर्मों से बद्ध, स्पृष्ट, श्लिष्ट रहना ही परमात्मरूप की विकृति एवं सुषुप्ति है। वह जब तक पूर्णरूप से साधना द्वारा सिद्ध या उपलब्ध नहीं कर लिया जाता, तब या तो वह पुण्यकर्मों से युक्त रहेगा या फिर पापकर्मों से।

पुण्यकर्मों से युक्त रहेगा तो उसका सुखद फल, सुगति, सुयोनि, सद्धर्म-प्राप्ति, मनुष्यभव, धर्मश्रवण, सद्गुरु-सत्संग आदि आत्मोत्थान के संयोग मिलते रहते हैं। इसके विपरीत जब आत्मा पापकर्मों से युक्त रहेगा, तब उसका दुःखद फल दुर्गति, दुर्योनि, दुर्बुद्धि, नरक-तिर्यञ्चगति, नरक-तिर्यञ्चभव में विविध दुःखों से परिपूर्ण जिंदगी, अबोधि, अज्ञान, धर्मान्धता, जात्यन्धता, अतिस्वार्थ, क्रोधादि कषायों की तीव्रता, विषयभोगों में अत्यधिक आसक्ति आदि संयोग और परिणाम तथा कुसंग आदि मिलते रहते हैं।

पुण्यशाली व्यक्ति यदि सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके साधना करता है तो उसके गृहीत व्रत, नियम, संयम, तपश्चरण, परीषह-सहन, उपसर्ग-समभाव, क्षमा, दया आदि गुण आध्यात्मिक उल्कान्ति के कारण बनते हैं। उस का पुण्य इतना प्रबल हो जाता है कि वह एक देवभव को पाकर फिर महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और सर्वकर्ममुक्त तथा सर्वदुःख-मुक्त हो जाता है।

पापपथ से पुण्यपथ की ओर मुड़कर आत्मा का उत्थान किया

इसके विपरीत राजप्रश्नीय सूत्र में जिस प्रदेशी नृप का आख्यान है, वह परमनास्तिक, क्रूर, रक्तलिप्तहस्त था। मनुष्यों को मारना उसके लिए गाजर-मूली काटने

के समान था। वह पापकर्म और उसके दुःखद फल को मानता ही नहीं था। न ही उसकी कोई रुचि या श्रद्धा पाप-पुण्य के स्वरूप और फल को समझने में थी। परन्तु उसके जीवन में ज्ञानधन केशीश्रमण के सत्संग और उनसे धर्मश्रवण से नया मोड़ आया। वे अरमणीक से रमणीक बन गए। उन्होंने सम्यग्दर्शन के साथ नीति, न्याय, व्रत, नियम, सदाचार आदि से युक्त साधनापथ पर प्रस्थान किया। दूसरे शब्दों में कहें तो पाप के पतनपथ से हटकर पुण्य के उत्थानपथ पर जीवनरथ को मोड़ा।

साधनामय जीवन अपनाने पर प्रदेशी नृप की बार-बार कसीटी हुई, प्रलोभन और भय के प्रसंग भी आए। परन्तु वे स्वीकृत साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। इसी अर्जित पुण्यराशि के फलस्वरूप उन्हें देवलोक में स्थान मिला। देवलोक की दिव्य ऋद्धि, सुख सम्पदा, वैभव, कान्ति, यश आदि उपलब्ध हुए। सूर्याभदेव के रूप में वे पुण्यफल भागी बने।

निरयावलिका में पापफल के निमित्त से आत्मपतन की कथा

इसके अनन्तर निरयावलिकासूत्र में ऐसी आत्माओं का वर्णन है, जिन्हें क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्पन्न भगवान् महावीर के अनन्यभक्त मगधसम्राट् श्रेणिक के पुत्र होने का सौभाग्य मिला। श्रेणिकनृप के कई पुत्रों ने श्रमणदीक्षा अंगीकार करके सर्वकर्मक्षय रूप मोक्ष प्राप्त किया, मगर निरयावलिका-वर्णित इन दस पुत्रों ने साधना का अवसर मिलने पर भी, तथा इन दसों की माताओं द्वारा साधनापथ अंगीकार करके प्रेरित करने पर भी वे साधना के शुद्ध पथ पर आरूढ़ न हो सके, और न ही गृहस्थ धर्म के व्रत नियम आदि अंगीकार करके पुण्य उपार्जन कर सके, पुण्योपार्जन की सुबोधि भी प्राप्त न हुई, न ही रुचि और श्रद्धा हुई। फलतः क्रोणिक द्वारा महाशिला कण्टक संग्राम छेड़ने पर उस अन्याययुक्त संग्राम में उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया, निर्दोष नरसंहार किया, स्वयं भी उसी संग्राम में काल-कवलित हुए और मर कर नरकगति के अतिथि बने।

कल्पावतंसिका में पुण्यफल के निमित्त से कल्पविमानवासी देवत्व का वर्णन

इसके पश्चात् कल्पावतंसिका सूत्र में उन दस आत्माओं का वर्णन है, जो अपनी तपोविशेष की साधना में रागांश होने से कर्मों का सर्वथा क्षय तो न कर सके, किन्तु पुण्योपार्जन के फलस्वरूप सौधर्मादि कल्पविमानवासी देवों में उत्पन्न हुए। उनकी शुभकर्मोपार्जन की साधना सफल हुई।

पुष्यिता में पुण्योपार्जन के फलस्वरूप देवत्व प्राप्ति

तदनन्तर पुष्यिका (पुष्यिता) सूत्र में उन साधक आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने अपने जीवन में असंयम का यथाशक्ति परित्याग करके संयमभावना पुष्यित की। उक्त

अर्जित पुण्य राशि के फल स्वरूप देवत्व की प्राप्ति हुई। इसमें बहुपुत्रिका साध्वी का जीवन संयम से असंयम की ओर मुड़ गया था, किन्तु फिर कई भवों के उतार-चढ़ाव के बाद वह संयम की शुद्ध साधना की ओर मुड़ी। चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योतिषी देवों में स्थान पाया। शेष पांचवें से दसवें अध्ययन के कथानायकों ने पूर्वभव में व्रत-नियमादि की साधना करके पुण्योपार्जन के फलस्वरूप देवत्व की प्राप्ति की।

पुण्यचूलिका में संयम साधना में उत्तरगुणविराधना से देवी रूप में

पुण्यचूलिका सूत्र में दस कथानायिका श्री, ही आदि देवियों का वर्णन है, जिन्होंने अपने पूर्व जीवन में संयम की साधना तो की, किन्तु उत्तरगुणों की विराधना करने से, तथा तपश्चरण एवं मूलगुणों की सुरक्षा के कारण प्रथम देवलोक की उस-उस नामवाली देवी बनीं।

वृष्णिदशा में वृष्णिवंशीय दश साधकों का वर्णन

वृष्णिदशा में निषध आदि अन्धकवृष्णिनरेश के कुल में उत्पन्न दस साधकों का वर्णन है, जो संसार के भोगों से विरक्त होकर संयम साधना में दत्तचित्त हुए। अन्तिम समय में संल्लेखना संधारा करके सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए और फिर वहाँ से च्यवकर महाविदेहक्षेत्र में सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।^१

इन सबमें आत्मा के उत्थान और पतन के रोचक और प्रेरक आख्यान हैं।

अनुत्तरीपपातिक सूत्र में प्रचुर पुण्यराशि वाले मानवों को अत्यधिक सुखद फल प्राप्ति

अनुत्तरीपपातिक सूत्र के दश अध्ययनों में जिन पुण्यशालियों का वर्णन है, वे विविध भोगों में पले हुए थे; पाँचों इन्द्रियों की पर्याप्त विषयसुख सामग्री उनके पास थी, फिर भी वे भोगों के क्रीचड़ में नहीं फंसे, उन्होंने कर्मक्षय करने हेतु पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्कृतप की आराधना की। सराग संयम होने से तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रशस्त राग (भक्ति) होने से सचित पुण्यराशि के फलस्वरूप देहावसान होने पर वे सब अनुत्तर-विमानवासी देवलोक के देवों में उत्पन्न हुए। वहाँ की आयु, भव एवं काय जनित स्थिति पूर्ण होने पर वे एक बार मनुष्य भव प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।

अनुत्तरीपपातिक सूत्र में तीन वर्ग, तेतीस अध्ययन

अनुत्तरीपपातिक दशा में तीन वर्ग हैं; जिनमें क्रमशः १०, १३ और १०

१. देखें-निरयावलिका आदि पाँचों सूत्रों की प्रस्तावना।

अध्ययन हैं। इन ३३ अध्ययनों में ३३ महान् पुण्यशाली आत्माओं का वर्णन है। इनमें २३ पुण्यशाली राजकुमार तो मगधसम्राट् श्रेणिकनृप के पुत्र हैं।

अनुत्तरीपपातिक कौन-कौन, क्यों और कैसे?

सौधर्म आदि बारह देवलोकों से ऊपर नौ नवग्रैवेयक विमान आते हैं, और उनसे ऊपर पाँच अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) विमान आते हैं—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध। जो साधक अपने उत्कृष्ट तप और संयम की साधना से इनमें उपपात (जन्म) पाते हैं, उन्हें 'अनुत्तरीपपातिक' कहते हैं।

प्रथम वर्ग : दस अध्ययन

इस शास्त्र के प्रथम वर्ग में दस अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) जाली, (२) मयाली, (३) उपजाली, (४) पुरुषसेन, (५) वारिसेण, (६) दीर्घदन्त, (७) लष्टदन्त, (८) विहल्ल, (९) वेहायस और (१०) अभयकुमार।

जालीकुमार द्वारा उपलब्ध पुण्यराशि का फल विजय विमान एवं सिद्धत्व प्राप्ति

जालीकुमार श्रेणिक राजा का पुत्र और धारिणी रानी का अंगजात था। इसका जन्म होने पर खूब ठाठ-बाट से लालन-पालन हुआ। यौवनबय में ८ कन्याओं के साथ विवाह हुआ। प्रचुर सम्पत्ति और उत्तमोत्तम भोगों के पर्याप्त सुख-साधन होने से वे भोगसुखों में पूर्णतः डूबे हुए थे। किन्तु भगवान् महावीर का प्रवचन सुनते ही संसार से तथा भोगों से विरक्ति हुई। माता-पिता की अनुमति लेकर प्रव्रज्या अंगीकार की। स्थविरों के पास ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। गुणरत्नसंवत्सर नामक तपश्चर्या की। अपना आयुष्य निकट जानकर अन्तिम समय में विपुलगिरि पर आमरण अनशन किया। सोलह वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया। आयुष्य के अन्त में समाधिपूर्वक देह त्यागकर ऊर्ध्वगमन करके सौधर्म आदि १२ देवलोकों तथा नौ नवग्रैवेयक विमानों को लांघकर बत्तीस सागरोपम की स्थितियाले विजय नामक अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय करके जालीदेव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य जन्म लेकर यावत् सिद्ध, बुद्ध और सर्वकर्मों-सर्वदुःखों से मुक्त होगा।^१

शेष नौ अध्ययनों के कथानायकों का संक्षिप्त परिचय

शेष नौ अध्ययनों के कथानायकों का जीवनवृत्त भी लगभग इसी प्रकार है। विशेषता यह है कि इनमें से सात पुत्र धारिणी रानी के हैं, वेहल्ल और वेहायस ये दो पुत्र

१. देखें-अनुत्तरीपपातिक सूत्र में प्रथम वर्ग का सार्थ विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. ४ से १० तक

चिल्लणा(चेलना) रानी के हैं और अभयकुमार नन्दारानी का पुत्र है। सबके पिता श्रेणिक नृप थे।

आदि के पांच कुमारों का श्रामण्य-पर्याय १६-१६ वर्ष का है, बाद के तीन का १२ वर्ष का है, तथा दो का श्रामण्य पर्याय पांच-पांच वर्ष का है। आदि के ५ अनगारों का उपपात (जन्म) क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, और सर्वार्थसिद्ध विमान में हुआ। दीर्घदन्त श्रमण सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुआ, शेष उत्क्रम से अपराजित आदि में, तथा अभय अनगार विजय विमान में उत्पन्न हुए। शेष वर्णन प्रथम अध्ययन के समान है।^१

निष्कर्ष यह है कि इन सब ने रत्नत्रय की उत्कृष्ट साधना की, तपश्चरण भी किया, किन्तु सराग संयम होने से उत्कृष्ट पुण्यराशि संचित की, जिसके फलस्वरूप सबको पंच अनुत्तर विमान में से एक उत्कृष्ट विमान प्राप्त हुआ।

द्वितीय वर्ग : तेरह अध्ययन : संक्षिप्त परिचय

द्वितीय वर्ग में १३ अध्ययन हैं, इनके पुण्यशाली कथानायक इस प्रकार हैं—(१) दीर्घसेन, (२) महासेन, (३) लष्टदन्त, (४) गूढदन्त, (५) शुद्धदन्त, (६) हल्ल, (७) द्रुम, (८) द्रुमसेन, (९) महाद्रुमसेन, (१०) सिंह, (११) सिंहसेन, (१२) महासिंहसेन, (१३) पुण्यसेन (पूर्णसेन)। दीर्घसेन आदि १३ ही पुण्यशाली कुमारों के पिता मगधसम्राट् श्रेणिक नृप थे और माता धारिणीदेवी थी। तेरह ही कुमारों ने यौवन वय में भगवद्वाणी सुनकर संसार और भोगों से विरक्त होकर श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। प्रथम अध्ययनवत् सबने शास्त्राध्ययन और तप-संयम का आराधन किया। तेरह ही कुमारों का दीक्षापर्याय १६ वर्ष का था। सबने अन्तिम समय में मासिक संल्लेखना-संधारा किया और समाधिपूर्वक देहत्यागकर अनुक्रम से आदि के दो विजय विमान में, दो वैजयन्त में, दो जयन्त में, दो अपराजित में और शेष पांच महाद्रुमसेन आदि सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। तेरह ही पुण्यशाली महान् देव वहाँ से स्थिति पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और चारित्रपालन कर सर्वकर्मक्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।^१

तृतीय वर्ग : दस अध्ययन : संक्षिप्त नामोल्लेख

तृतीय वर्ग में १० पुण्यशाली महान् आत्माओं के नाम से १० अध्ययन हैं—(१) धन्यकुमार, (२) सुनक्षत्र, (३) ऋषिदास, (४) पेल्लक, (५) रामपुत्र, (६) चन्द्रिक, (७) पृष्टिमातृक, (८) पेढालपुत्र, (९) पोटिल्ल और (१०) वेहल्ल।^१

१. देखें—वही, विवेचन पृ. १०-११

२. देखें, अनुत्तरौपपातिक सूत्र वर्ग २ का विवरण (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. १२-१३

३. वही, तृतीय वर्ग पृ. १५

धन्यकुमार, उत्कृष्ट भोग से संयम-तपश्चरण योग में प्रवृत्त

धन्यकुमार काकन्दी नगरी की तेजस्वी, तथा ऋद्धि समृद्धि से सम्पन्न भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। रूप, लावण्य तथा शुभ लक्षणों से सम्पन्न धन्यकुमार (धन्ना) को शुभमुहूर्त में कलाचार्य के पास ७२ कलाओं के अध्ययन के लिए भेजा। यौवन में पदार्पण करते ही भद्रा सार्थवाही ने धन्यकुमार का बत्तीस ईभ्यश्रेष्ठि प्रवरों की कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। इन बत्तीस कन्याओं के पिताओं ने बहुत-सा धन, धान्य, वस्त्राभूषण, विविध दासियों, तथा एक से एक बढ़कर पंचेन्द्रिय विषयसुखभोगों के साधन प्रदान किये।

एक बार तो ऐसा लगता था कि वे इन भोग-सुखों में डूब जाएँगे और अपने मानव जीवन के लक्ष्य को भूल जाएँगे। मगर भगवान् महावीर का प्रवचन सुनते ही धन्यकुमार की अन्तरात्मा जाग उठी। भगवान् के समक्ष संसार से विरक्ति और निर्ग्रन्थ बनने की उत्कण्ठा व्यक्त की। माता भद्रा से अनुज्ञा प्राप्त कर भगवान् के पास प्रव्रज्या अंगीकार करने की भावना भी प्रकट की।

यद्यपि माता भद्रा को अपनी बात समझाने-मनाने में धन्यकुमार को काफी श्रम उठाना पड़ा। अन्त में माता भद्रा ने स्वीकृति दे दी। जितशत्रु राजा ने स्वयं ही धन्य का दीक्षा-संस्कार (समारोह) किया।

अनगार धन्यकुमार का संयमी जीवन

दीक्षा लेते ही धन्य अनगार ने भगवान् से यह प्रतिज्ञा ली—“आज से मैं यावज्जीव बेले-बेले (छह-छह) पारणा करूँगा, पारणे में भी आयम्बिल तप करूँगा, वह पारणा भी संसृष्ट हाथों से ग्रहण करूँगा, असंसृष्ट हाथों से नहीं, तथा पारणे का आहार भी उज्जित धर्म वाला (फिकने योग्य) ग्रहण करूँगा, उसमें भी वह भक्त-पान लूँगा, जिसे बहुत-से अन्य श्रमण, माहन, अतिथि, कृपण और भिखारी भी लेना न चाहें।”

इस प्रकार कठोर तप की प्रतिज्ञा लेकर पारणे के दिन तीसरे पहर में भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त करके भिक्षा के लिए उच्च-नीच-मध्यम कुलों में अपनी प्रतिज्ञानुसार आहार पानी की गवेषणा करते हुए घूमते, किन्तु उनकी कठोर प्रतिज्ञानुसार कभी अन्न मिला तो पानी नहीं मिला, कभी पानी मिला तो अन्न नहीं। फिर भी वे प्रसन्नचित्त, अदीनमन, विषाद, कषाय आदि से रहित, अविश्रान्तयोगी (समाधिपुक्त) रहते। अनासक्त भाव से समभावपूर्वक केवल संयम निर्वाहार्थ शरीररक्षण के उद्देश्य से आहार कर लेते थे। धन्य

१. देखें—अनुत्तरौपपातिक सूत्र वर्ग ३ में धन्यकुमार का पूर्वार्द्ध जीवनवृत्त पृ. १६ से २२

अनगार अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे, तदनुसार आत्मा को दृढ़ और निश्चल बनाकर संयममार्ग में विचरण करते रहे।^१

धन्यकुमार अनगार का उत्कट तप : प्रशंसा और अभिनन्दन

धन्य अनगार ने स्थविरों से सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते रहे। पूर्वोक्त उदार, विपुल, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, श्रीसम्पन्न, उत्तम, उदात्त, उदग्र एवं महा-प्रभावशाली तप के कारण धन्य-अनगार के शरीर के सभी अंगोपांग शुष्क, रूक्ष, कृश, दुर्बल और गमनागमन करने तथा खड़े होने और बैठने में अशक्त हो गए। किन्तु उनकी आत्मा अलौकिक बलिष्ठ हो गयी थी। राख के ढेर में दबी हुई अग्नि के समान वे तप से, तेज से अतीव देदीप्यमान एवं शोभायमान हो रहे थे।

भगवान् महावीर ने अपने १४ हजार श्रमणों में धन्य अनगार को महादुष्कर-कारक और महानिर्जाकारक बताकर प्रशंसा की। श्रेणिक राजा ने जब यह सुना तो वे हृष्ट तुष्ट होकर धन्य अनगार के पास आए, उन्हें विधिवत् वन्दन-नमस्कार किया और ये उद्गार निकाले—“हे देवानुप्रिय! आप धन्य हैं, आप पुण्यशाली हैं, आप कृतार्थ हैं, आप सुकृतलक्षण हैं, आपने मनुष्यजन्म और जीवन को सफल किया है।”

धन्य अनगार द्वारा संल्लेखनापूर्वक समाधिमरण और मुक्ति

एक दिन धन्य अनगार को मध्य रात्रि में धर्म जागरणा करते हुए इस प्रकार के-भाव उत्पन्न हुए “मेरा शरीर इस प्रकार के उदार तपश्चरण से शुष्क, नीरस, दुर्बल, जीर्ण-शीर्ण एवं अशक्त हो गया है। अतः जब तक मेरे शरीर में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम है, तब तक मैं भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त कर अन्तिम संल्लेखना-संधारा अंगीकार करके समाधि में लीन रहूँ।” तत्पश्चात् भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त करके स्थविरों के साथ विपुलगिरि पर पहुँचे, मासिक संल्लेखना पूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया। दिवंगत होने पर वहाँ से वे ३३ सागरोपम की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवन कर वे धन्य देव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धि मुक्ति प्राप्त करेंगे।

यद्यपि इतने उत्कृष्ट तपश्चरण और संयमाराधन से सर्वकर्मक्षय होकर मुक्ति होनी चाहिए, परन्तु यह अवश्य है कि इस प्रकार की उत्कृष्ट तप-संयम की आराधना से बहुत से कर्म क्षय हो गए थे, थोड़े से कर्म रह गए थे, उत्कृष्ट एवं प्रचुर पुण्यराशि का

१. वही, वर्ग ३ में धन्य अनगार का संयमी जीवन वृत्त पृ. २२

संचय कर लिया था, जिसके फलस्वरूप उन्हें सर्वार्थसिद्ध नाम के अनुत्तर विमान प्राप्त हुआ।

सुनक्षत्र अनगार का वर्तमान और भविष्य

दूसरा अध्ययन सुनक्षत्र का है। वह भी काकन्दी नगरी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। उसका भी जन्म से लेकर दीक्षाग्रहण तक का वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। उसने भी धन्य अनगार की तरह तप के पारणे में यावज्जीव आचामलव्रत करने की प्रतिज्ञा की। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए रामानुग्राम विचरण किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। तप से शरीर कृश हो जाने पर आजीवन अनशन का संकल्प किया। यावज्जीव मासिक संलेखना अंगीकार की। दिवंगत हो जाने पर सुनक्षत्र अनगार भी सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

अनुत्तरीपपातिक के शेष आठ कथानायकों का संक्षिप्त परिचय

शेष आठ अध्ययनों के कथानायकों का वर्णन भी सुनक्षत्र अनगार की तरह समझ लेना चाहिए। विशेष यह है कि इनमें से अनुक्रम दो का राजगृह में, दो का साकेत में, दो का वाणिज्यग्राम में, नीवें का हस्तिनापुर में और दसवें का राजगृह में जन्म हुआ। इन नौ की ही माता भद्रा सार्थवाही थीं। नौ का विवाहादि सब पूर्ववत् सम्पन्न हुआ। नौ का निष्क्रमण समारोह थावच्चापुत्र की तरह हुआ। वेहल्ल का निष्क्रमण उसके पिता ने किया। धन्य की दीक्षा पर्याय नौ मास की, वेहल्ल की ६ मास की और शेष कुमारों की बहुत वर्षों की रही। सबने अन्तिम समय में मासिक संलेखना की। सबका सर्वार्थसिद्ध में जन्म हुआ। सभी महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध-बुद्ध और सर्व कर्म मुक्त होंगे।

इस प्रकार अनुत्तरीपपातिक के तीनों वर्गों के वर्णन से स्पष्ट है कि स्वल्प कर्म और उनमें भी अत्यधिक पुण्यकर्म के फलस्वरूप सबको अनुत्तर विमान वाला सर्वोत्तम दिव्य लोक मिला, जहाँ से च्यवन के बाद मनुष्य जन्म निश्चित है और मुक्ति प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट कहा है—उच्चकोटि के देव गति, शरीर, परिग्रह, अभिमान आदि से अत्यन्त हीन (क्षीण) हो जाते हैं। कर्म भी बहुत थोड़े रह जाते हैं।

१. देखें—अनुत्तरीपपातिक सूत्र में धन्य अनगार के तप से लेकर समाधिग्रहण तक का विस्तृत वर्णन (आ. प्र. समिति) पृ. २९ से ४३
२. देखें—वही, वर्ग ३ अ. २ में सुनक्षत्र का जीवनवृत्त पृ. ४६ से ४८ (आ. प्र. समिति ब्यावर)
३. देखें—वही, वर्ग ३ अ. ३ से १० तक का संक्षिप्त वर्णन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. ४९ से ५१

राजप्रश्नीय सूत्र में प्रदेशीराजा से सूर्याभदेव तक का संक्षिप्त परिचय

राजप्रश्नीय सूत्र में भी श्वेताम्बिका नगरी के प्रदेशी राजा का वर्णन आता है जिसका पूर्व जीवन अत्यन्त नास्तिक, क्रूर और पाप कर्म करने में निःशंक था, किन्तु केशीश्रमण के सत्संग से धर्मश्रद्धा से उसके जीवन ने पलटा खाया। वह धर्म-निष्ठ, रमणीक एवं नीतिमान् बन गया। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करके वह जीवन के उत्तरार्ध में संचित पुण्य राशि के फलस्वरूप सूर्याभदेव बना।

यह था, पुण्य से सुखदफल प्राप्ति का ज्वलन्त उदाहरण।^१

निरयावलिका सूत्र : प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग का संक्षिप्त परिचय

निरयावलिका आदि पाँच उपांगों में भी कर्मों के दुःखद-सुखद फल प्राप्ति का वर्णन है। निरयावलिका का अर्थ है जो अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप नरक गति की आवलिका-पक्ति में प्रविष्ट हुए हैं, वे व्यक्ति निरयावलिक हैं। निरयावलिका सूत्र आदि पाँच उपांगों के पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है।

सर्वप्रथम वर्ग निरयावलिका का है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में १० कथानायकों के नाम से १० अध्ययन कहे गए हैं—(१) काल, (२) सुकाल, (३) महाकाल, (४) कृष्ण, (५) सुकृष्ण, (६) महाकृष्ण, (७) वीरकृष्ण, (८) रामकृष्ण, (९) पितृसेनकृष्ण और (१०) महासेनकृष्ण। श्रेणिक राजा की काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा, ये दस रानियाँ थीं, ये कोणिक की छोटी माताएँ थीं। इनके नाम से इनके पुत्रों का नाम रखे गये थे।

जिस समय कोणिक राजा एक हार और सेंचानक हाथी को हल्ल-विहल्लकुमार से हथियाने के लिए उद्यत हो गया था। हार और हाथी न देने पर उसने युद्ध की धमकी भी दे दी थी, और भी अन्य प्रकार से भयभीत कर दिया था। अतः हल्ल-विहल्लकुमार अपने नाना तत्कालीन गणराज्याधिपति चेटक राज की शरण में गए। नाना के द्वारा समझाने पर भी कोणिक नहीं माना और उनसे युद्ध करने को उद्यत हो गया।

इस प्रकार अन्याय और परिग्रह के भयंकर पाप से प्रेरित होकर कोणिक ने युद्ध छेड़ दिया। कालकुमार आदि दस कुमारों ने भी इस अन्यायपूर्ण युद्ध में कोणिक को पूर्ण सहयोग दिया। इसके कारण उभय पक्ष के एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार हुआ। इस अन्यायपूर्वक युद्ध से पंचेन्द्रिय वध के कारण दसों कुमारों को युद्ध में मरकर नरकगति का अतिथि बनना पड़ा।

१. देखें—राजप्रश्नीयसूत्र में प्रदेशी राजा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का जीवनवृत्त (आगम प्रकाशन सभिति, ब्यावर)

निरयावलिका में इन्हीं दस कुमारों के हिंसाजन्य पापकर्मों के कारण नरकरूप दुःख फलप्राप्ति का वर्णन किया गया है।

कल्पावतंसिका : दस अध्ययन : संक्षिप्त नामोल्लेख

इस निरयावलिका द्वितीय श्रुतस्कन्धगत दूसरा वर्ग कल्पावतंसिका (कल्पवडसिया) है। इस उपांग में सौधर्म, ईशान आदि कल्प विमानवासी देवों में जो अपने तपोविशेष से उत्पन्न हुए हैं; उनका जीवनवृत्त दिया गया है। इसके भी दस कथानायकों के नाम से दस अध्ययन हैं—(१) पद्म, (२) महापद्म, (३) भद्र, (४) सुभद्र, (५) पद्मभद्र, (६) पद्मसेन, (७) पद्मगुल्म, (८) नलिनीगुल्म, (९) आनन्द और (१०) नन्दन। इन दस कथानायकों को पुण्य प्रकर्ष-उपार्जन के सुखद फल के रूप में सौधमादि देवलोकों की प्राप्ति हुई।

पुष्पिका : दस अध्ययन : संक्षिप्त परिचय

इसके पश्चात् निरयावलिका तृतीय श्रुतस्कन्धगत तृतीय वर्ग पुष्पिका उपांग में १० अध्ययन हैं, जो दस कथानायकों के नाम पर हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) शुक्र, (४) बहुपुत्रिका देवी, (५) पूर्णभद्र देव, (६) मणिभद्र देव, (७) दत्तदेव (गंगदत्त), (८) शिव गृहपति, (९) वलिका देव, और (१०) अनाधृत देव। इसका संस्कृत रूपान्तर 'पुष्पिता' के टीकाकार ने इसका निर्वचन करते हुए कहा—“प्राणी की संयमभावना पुष्पित की हो, अर्थात् सुख प्राप्ति युक्त की हो, उसे पुष्पिता कहते हैं, अथवा संयम के परित्याग से जो दुःखगति प्राप्ति हुई थी, उसे मुकुलित की हो, अर्थात् पुनः असंयम का परित्याग करके पुष्पित-विकसित की हो, ऐसी पुष्पित भावना का सुखरूप प्रतिफल जिन्हें प्राप्त हुआ हो, उनका जिस उपांग शास्त्र में प्रतिपादन किया हो, वह शास्त्र पुष्पिता है।

आशय यह है कि प्रथम अध्ययन चन्द्रमा का है। चन्द्रेन्द्र ने इन्द्रत्व कैसे प्राप्त किया? कैसे विकास हुआ? कौन-कौन इसके सामानिक देव हैं? कौन देव इसके अधीनस्थ हैं? इत्यादि वक्तव्यता है। दूसरे अध्ययन में इसी प्रकार सूर्य सम्बन्धी और तृतीय अध्ययन में शुक्र ग्रह सम्बन्धी वक्तव्यता है। चतुर्थ अध्ययन में बहुपुत्रिका देवी से सम्बन्धित वर्णन है। पाँचवें से दसवें तक क्रमशः पूर्णभद्रदेव की, छठे में मणिभद्रदेव की, सातवें में पूर्वभव में वन्दना के लिए समागत गंगदत्त देव की, आठवें में द्विसागरोपम स्थिति वाले देवरूप में उत्पन्न मिथिला निवासी शिव गृहपति की, नौवें में द्विसागरोपम

१. देखें—निरयावलिया सुक्त का संक्षिप्त परिचय— अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ४, पृ. २११०

२. देखें—कल्पवडसिया शब्द का विवेचन, अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ३, पृ. २३५

स्थिति वाले देवरूप में उत्पन्न हस्तिनापुर निवासी वलि (पलि) तपक देव की, और दसवें अध्ययन में द्विसागरोपम की स्थिति वाले देवरूप में उत्पन्न काकन्दी नगरी निवासी अनाधृत गृहपति की वक्तव्यता है। इन सभी ने पुण्योपार्जन के फलस्वरूप मनुष्य लोक से देवलोक रूप सुखद फल की प्राप्ति की।^१

निरयावलिका चतुर्थ श्रुतस्कन्ध, चतुर्थ वर्ग : पुष्पचूलिका : दस अध्ययन

निरयावलिका के चतुर्थ श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ वर्ग का नाम पुष्पचूलिका उपांग सूत्र है। इसके भी दस अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) श्रीदेवी, (२) ही देवी, (३) धृति देवी, (४) कीर्ति देवी, (५) बुद्धि देवी, (६) लक्ष्मी देवी, (७) इलादेवी, (८) सुरादेवी, (९) रसा देवी और (१०) गन्ध देवी। इन दस कथानायिका देवियों के नाम से दस अध्ययन हैं।^२

श्रीदेवी का पूर्व जीवन, संयमी जीवन और प्रथम स्वर्ग प्राप्ति

श्रीदेवी का पूर्वभव इस प्रकार है। राजगृह नगर के सुदर्शन गृहपति की पत्नी सुमाला थी। उस सुदर्शन गाथापति की पुत्री प्रिया नाम की गाथापत्नी थी, उसकी पुत्री अर्थात् सुदर्शन गाथापति दैहित्री भूता नाम की दारिका थी। वह बचपन से ही वृद्धा, वृद्धकुमारी, जीर्णा, जीर्णकुमारी थी, उसके स्तन बिलकुल नहीं थे। इसलिए उसके पति ने उसे छोड़ दी थी। एक बार नगर में पुरुषादानीय पार्श्वनाथ तीर्थकर पधारे। भूता दारिका ने जब लोगों से सुना कि पार्श्वनाथ अर्हत् देवगणों से परिवृत्त रहते हैं। अतः माता-पिता से पूछकर वह भी उनके दर्शन-वन्दनार्थ गई। उनके श्रीमुख से प्रवचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति आदि प्रकट की। प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की। माता-पिता के समक्ष अपना मनोरथ प्रकट किया। माता-पिता ने उसकी प्रबल इच्छा जानकर धूमधाम से पार्श्वनाथ प्रभु के समक्ष शिष्या भिक्षा दी। यह पुष्पचूला आर्या की शिष्या बनी।

दीक्षा लेने के पश्चात् भूता आर्या बार-बार हाथ, पैर, मुँह, सिर, स्तन, कौंख आदि धोती थी। जहाँ भी वह बैठती, सोती, ध्यान करती, वहाँ पहले पानी छींटती थी। उसकी यह श्रमण धर्म विपरीत चर्या देखकर पुष्पचूला आर्या ने कहा—हम श्रमणियाँ हैं, हम पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि की आराधक एवं गुप्त ब्रह्मचारिणी हैं। इस प्रकार

१. (क) देखें—पुष्पिका शब्द का विवेचन—अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ४ पृ. २११०,
(ख) देखें—बहुपुत्तिया का जीवनवृत्त—अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ५, पृ. १२९९ से १३०२
२. देखें—निरयावलिका शब्द के अन्तर्गत पुष्पचूलिका का संक्षिप्त परिचय, अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ४, पृ. २११०

शरीर को बार-बार धोना हमारे लिए कल्पनीय नहीं है। तुम बार-बार शरीर के अंगोपांग धोती हो, अतः इस दोष (स्थान) की आलोचना करो। परन्तु भूता आर्या ने उनकी बात सुनी-अनसुनी कर दी। अलग उपाश्रय में रहने लगी। अब वह बेरोकटोक, बेखटके, स्वच्छन्द बुद्धि से बार-बार हाथ, पैर आदि अंगोपांग धोती रहती। वह भूता आर्या उपवास, बेला, तेला आदि अनेक प्रकार की तपस्या करती थी। बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करके भूता आर्या ने उक्त दोष की आलोचना किये बिना ही यथासमय काल किया और सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) में श्रीवतंसक विमान में श्रीदेवी नाम की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

एक बार भगवान् महावीर का समवसरण राजगृह में गुणशीलक चैत्य में लगा हुआ था, वह श्रीदेवी श्रीवतंसक विमान से अपनी चार हजार सामानिक देवियों तथा चार सपरिवार महत्तरिकाओं के साथ वहाँ आई। वहाँ उन्होंने बहुपुत्रिकादेवी की तरह नाट्य के विविध प्रयोग प्रदर्शित किये और वापस लौट गईं।

भगवान् महावीर से पूछने पर उन्होंने फरमाया—इस प्रकार पूर्वभवं में तप-संयम की साधना विराधकरूप से की, तो भी वह प्रथम देवलोक में श्रीदेवी नाम की देवी हुई, और ऐसी दिव्य ऋद्धि उपलब्ध और प्राप्त की। इसकी यहाँ-एक पत्न्योयम की स्थिति है। यहाँ से च्यवकर यह महाविदेह में जन्म लेगी और चारित्र पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।”

शेष देवियों का जीवन : अन्त में पुण्य के सुखद फल की प्राप्ति

शेष देवियों का जीवन भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि पुष्पचूला आर्या जी के पास दीक्षित होकर ये सभी किसी न किसी रूप में संयम के उत्तरगुणों की विराधिका हुईं। अन्तिम समय में अपने उत्तरगुण में लगे दोषों की आलोचना एवं प्रायश्चित्त ग्रहण न करने के कारण ये विराधिका हुईं। फिर भी तपस्या की आराधना से तथा मूलगुणों की सुरक्षा के कारण ये सभी सौधर्म देवलोक में अपने-अपने नाम से देवी बनीं। इन्हें अपने द्वारा उपार्जित पुण्यराशि का सुखद फल प्राप्त हुआ।”

वृष्णिदशा के कथानायकों का संक्षिप्त परिचय

इसके पश्चात् निरयावलिका के पंचम स्कन्ध के पंचम वर्ग—वृष्णिदशा उपांग के

१. देखें—अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ७, पृ. ८५७-८५८ में सिरिदेवी का जीवनवृत्त।
२. देखें—निरयावलिया शब्द के अन्तर्गत शेष देवियों का संक्षिप्त परिचय, अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ४, पृ. २११०

दस कथानायकों के दस अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निषध, (२) अभिद्रह, (३) वह, (४) प्रगति, (५) युति (युति), (६) दशरथ, (७) दृढरथ, (८) महाधनु, (९) सप्तधनु, (१०) दशधनु।

इसका नाम वृष्णिदशा रखने का कारण बताते हुए टीकाकार कहते हैं—जो महान् आत्मा अन्धकवृष्णि नरेश के कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनकी दशा यानी अवस्था, चरित, गति एवं सिद्धिगमन का वर्णन जिस शास्त्र (उपांग) में है, वह वृष्णिदशा कहलाता है। चूर्णिकार के अनुसार यहाँ अन्ध शब्द का लोप करके वृष्णिदशा नाम रखा गया है। अथवा अन्धकवृष्णि कुल के दस कथानायकों के नाम से दस अध्ययनों में जो उपांग वर्णित है, उसे भी अन्धकवृष्णिदशा कहा है।^१

निषध द्वारा भोगमार्ग से त्यागमार्ग की साधना से सिद्धि

इसके प्रथम अध्ययन के कथानायक निषध (णिसढ) का संक्षेप में जीवनवृत्त इस प्रकार है—निषध बलदेव राजा और रेवतीदेवी का पुत्र था। गर्भ में आने से पूर्व उसकी माता ने सिंह का स्वप्न देखा। धूमधाम से जन्मोत्सव मनाया। कलाचार्य से कलाओं का प्रशिक्षण ग्रहण किया। पचास राजकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

एक बार तो ऐसा मालूम होता था, मानो निषधकुमार भोगों में आकण्ठ डूब जायेगा। परन्तु एक बार जब द्वारिका नगरी में भगवान् अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ, तब उनका प्रवचन सुनकर उसके हृदय में आनन्द का पार न रहा। उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया।

उस समय वरदत्त अनगार ने भगवान् से पूछा—भगवन्! यह निषधकुमार बहुत ही इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, सौम्य एवं प्रियदर्शन लगता है। इसने ऐसी ऋद्धि सम्पदा कैसे और क्या करके लब्ध और प्राप्त की?

भगवान् ने निषध के पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—भारतवर्ष में रोहीडक नामक नगर था। वहाँ के राजा का नाम महब्वल और रानी का नाम पद्मावती था। उनके एक पुत्र का जन्म हुआ। नाम रखा वीरंगत। यौवनवय में पदार्पण करते ही ३२ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण किया। विवाह के उपरांत वीरंगतकुमार सभी ऋतुओं के योग्य भोग सामग्री उपभोग करता हुआ जीवनयापन कर रहा था।

एक दिन रोहीडक नगर में सिद्धार्थ नाम के आचार्य पधारे। वीरंगतकुमार ने उनके दर्शन किये, प्रवचन सुना और संसार के भोगों से उसे विरक्ति हो गई। माता-पिता से पूछकर दीक्षा अंगीकार की। फिर वीरंगत अनगार ने सामायिकादि ११ अंगों का

१. देखें—अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ६, पृ. ८३० में वृष्णिदशा की व्याख्या।

अध्ययन किया। बहुत प्रकार की तपस्या की। अन्तिम समय में दौ मास का संल्लेखना संथारा (१२० टाइम का त्याग) करके आलोचना प्रायश्चित्त से आत्मा को शुद्ध करके यथासमय देहत्याग किया और उस सागरोपम की सिद्धि वाले ब्रह्मलोककल्प नामक वैमानिक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वीरगत देव वहाँ से च्यवकर इसी द्वारिका नगरी में बलदेव राजा की रेवतीदेवी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वकृत शुभकर्मों के प्रभाव से इसे सुखद फल के रूप में ऐसी ऋद्धि एवं सम्पन्नता मिली है।

भगवान् से पूछा गया कि क्या निषधकुमार आपके पास प्रव्रजित होगा ? भगवान् ने कहा—“अवश्य होगा।”

एक दिन निषधकुमार को अपनी पीपधशाला में अर्धरात्रि में धर्मजागरणा करते हुए ऐसा सुविचार उत्पन्न हुआ कि “यदि भगवान् अरिष्टनेमि वहाँ पधारें तो मैं गृहस्थ धर्म छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हो जाऊँ।”

भगवान् पधारें। निषधकुमार ने दीक्षा ली। सामायिक आदि ११ अंगों का स्थविरों से अध्ययन किया। अनेक प्रकार की उत्कट तपश्चर्या की। नौ मास से अधिक का श्रामण्यपर्याय चल रहा था। तपश्चर्या से शरीर कुश हो गया था। अतः यथावसर भगवान् से अनुज्ञा लेकर २१ दिन का संल्लेखना संथारा किया।

भगवान् ने निषध अनगार के दिवंगत हो जाने पर वरदत्त गणधर द्वारा निषध के भविष्य के विषय में पूछे जाने पर कहा—“वह सर्वश्रेष्ठ सर्वोच्च सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न होगा। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में विशुद्ध प्रीतिवंश नामक राजकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा। स्थविरों से अनगार धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण करेगा और अन्तिम समय में मासिक संल्लेखना की आराधना करके सर्वकर्मक्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।”

शेष अध्ययनों के कथानायकों का जीवनवृत्त भी प्रायः समान है। सिर्फ नामों में अन्तर है। तत्त्वतः सभी एक ही लक्ष्य को लेकर चले हैं। सबने तप-संयम की शुद्ध आराधना करके सिद्धि-मुक्तिरूप सर्वदुःखान्तरूप फल प्राप्त किया।

इस प्रकार पुण्य और पाप के सुखरूप और दुःखरूप फल के निमित्त से भी सबने अन्त में अनन्त सुखरूप मोक्ष फल प्राप्त किया।

जैन समाज के प्रतिभा पुरुष

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

गुरु चरणों में रहकर विनय एवं समर्पण भावपूर्वक सतत ज्ञानाराधना करते हुए श्रुतसेवा के प्रति सर्वात्मना समर्पित होने वाले प्रज्ञापुरुष श्री देवेन्द्रमुनि जी का आन्तरिक जीवन अतीव निर्मल, सरल, विनम्र, मधुर और संयमाराधना के लिए जागरूक है। उनका बाह्य व्यक्तित्व उतना ही मन भावन, प्रभावशाली और शालीन है। उनके वाणी, व्यवहार में ज्ञान की गरिमा और संयम की सहज शुभ्रता परिलक्षित होती है।

आप संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के अधिकारी विद्वान हैं, आगम, न्याय, व्याकरण, दर्शन साहित्य, इतिहास आदि विषयों के गहन अध्येता हैं। चिन्तक और विचारक होने के साथ ही सिद्धहस्त लेखक हैं।

वि.सं. १९८८ धनतेरस को उदयपुर के सम्पन्न जैन परिवार में दिनांक ७.११.१९३१ को जन्म।

वि. सं. १९९७ गुरुदेव श्री पुष्करमुनि जी म. के सान्निध्य में भागवती जैन दीक्षा।

वि. सं. २०४४ वैशाखी पूर्णिमा (१३.५.१९८७) आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म. द्वारा श्रमण संघ के उपाचार्य पद पर मनोनीत।

विविध विषयों पर अब तक ३५० से अधिक लघु/बृहद् ग्रन्थों का सम्पादन/संशोधन/लेखन। ज्ञानयोग की साधना/आराधना में संलग्न एवं निर्मल साधक।

—दिनेश मुनि

कर्म विज्ञान : एक परिचय

कर्म विज्ञान जीव-जगत की समस्त उलझनों/
समस्याओं को समझने/सुलझाने की कुजी है और
समस्त दुःखों/चिन्ताओं से मुक्त/निर्लेप रहने
की कला भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धार्मिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक,
वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिबिन्दुओं से कर्म
सिद्धान्त का स्वरूप समझाने का युक्ति पुरस्कार
एक अनूठा प्रयास किया गया है।

कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, आगरा-282 002.

कर्म विज्ञान